वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४१ : कि० १ जनवरी-मार्च १९८८

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

जैन साध्वाचार के आदर्श भगवान कुन्दकुन्द

☐ डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

आज के युग में, जब जैन साध्वाचार अनेकविध शिथिलाचार, विकृतियों एवं धनाश्रित कुरूढ़ियों से अभिभूत होता जा रहा है, सर्वमहान क्रियोद्धारक एवं भगवान तीर्थंकर देव की शुद्धाम्नाय के पुनरुद्धारक भगवत्-कुन्दकुन्दाचार्य के तद्विषयक उपदेश ही समर्थ प्रेरणास्रोत एवं मार्गदर्शक हो सकते हैं। साध्वाचार शुद्ध हो जाय तो श्रावकाचार स्वतः सुधरता चला जायेगा। भगवान के धर्म-तीर्थ एवं श्रीसंघ की शक्ति का प्रधान आधार शुद्ध एवं आदर्श साध्वाचार ही है।

प्रातःस्मरणीय मूलसंघाग्रणी श्रीमद् भगवत्कुन्दाचार्य का सुनाम मात्र जैन संस्कृति के ही इतिहास मे नही, अध्यात्म-विद्या के सार्वकालीन एव सर्वदेशीय इतिहास मे भी स्वर्णांकित हैं। वह युगान्तरकारी महापुरुष थे और कम से कम जैन इतिहास के तो ऐसे मोड़ पर खड़े थे जब अनेक आन्तरिक एवं बाह्य कारणों से परिस्थिति पर्याप्त विषम थी। अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर (ई० पू० ५९९-५२७) को निर्वाण प्राप्त किये लगभग पाँच सौ वर्ष बीत चुके थे, और इस बीच उनके द्वारा प्रवर्तित द्रव्यश्रुत, द्वादशांगवाणी अथवा ग्यारह अंग-चौदहपूर्वों के ज्ञान में क्रमशः ह्रास एवं व्युच्छित्ति होते रहने से अब कतिपय अंग-पूर्वों के गिने-चुने कुछ एकदेशज्ञाता ही अवशिष्ट रह गये थे। भगवान के श्रीसघ मे शनैः शनैः भारी विघटन, बिखराव, केन्द्र परिवर्तन, शिथिलाचार एव फूट प्रकट हो रहे थे। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु प्रथम (ई० पू० ३९४-३६५) की शिष्य-परंपरा के दाक्षिणात्य निर्ग्रन्थ श्रमणों का सगठन एवं मार्गदर्शन करने की भी परम आवश्यकता थी, क्योंकि अभी तक वे ही भगवान की मौलिक परंपरा का संरक्षण अपनी मुनिचर्या द्वारा करते आ रहे थे। उनमें भी अब बिखराव के सकेत मिलने लगे थे। ब्राह्मण परंपरा के षड्दर्शन अब तक रूढ़ हो चुके थे और बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान मे विभाजित होने पर भी फल फूल रहा था। सब ही परंपराएं बाह्य क्रिया-काण्ड एवं प्रवृत्तिमार्ग का पोषण कर रही थीं। उत्तर भारत में तो ईरानी- यूनानी, पह्लव, शक, कुषाण आदि विदेशी लोगों के आगमन एवं प्रभाव से भारतीय धर्मों का व्यावहारिक रूप भी पर्याप्त मिश्रित होने लगा था—*दक्षिण भारत अभी तक ऐसे अनिष्ट प्रभावो से अछूता बचा हुआ था।*

ऐसे समय मे भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का सुदूर दक्षिण में आविर्भाव हुआ। वह भगवान महावीर की आचार्य परपरा के २७वे गुरु, आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (ई० पू० ३७-१४) के, जो कि स्वय अष्टागधारी थे तथा शेष अग-पूर्वो के देशज्ञाता थे, साक्षात् शिष्य थे। लोहाचार्य, वट्टकेरि, गुणधर, अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, विमलार्य शिवार्य, स्वामिकुमार, उमास्वाति आदि अनेक धुरंधर आचार्य उनके प्रायः समसामयिक थे। अभी तक द्वादशांग-श्रुत गुरुपरंपरा में मौखिक द्वार से ही प्रवाहित होता आया था, और शायद यह भी एक बड़ा कारण था कि उसमें क्रमशः ह्रास एव व्युच्छित्ति होती चली जा रही थी। किन्तु सर्व परिग्रहत्यागी बनवासी निर्ग्रंथ श्रमणों की चर्या ही ऐसी थी। वे न किसी बस्ती मे ही रह सकते थे, न किसी एक स्थान में अधिक समय तक ठहर सकते थे और लेखन एव पठन-पाटन की साधन-सामग्री तक का परिग्रह भी नही रख सकते थे। अतएव श्रुतागम को लिपिबद्ध करने का सामूहिक विरोध ही चलता रहा। 'कलिंगचक्रवर्ती सम्राट खारवेल द्वारा कुमारी पर्वत पर, लगभग ई० पू० १५० मे, आयोजित महामुनि-सम्मेलन में यह प्रश्न जोर-शोर के साथ चर्चित भी हुआ और वहां से आकर उत्तर मथुरा के जैनसंघ ने पुस्तकधारिणी सरस्वती प्रतिमा को प्रतीक बना

कर सारस्वत अभियान भी छेड़ दिया, तथापि स्थितिपालक दल के प्रबल विरोध के कारण उसके सफल होने में कुछ देर लगी। अन्ततः आचार्य कुन्दकुन्द ने ही सर्वप्रथम वह साहसिक कदम उठाया। उन्होने स्वय को गुरुपरंपरा से प्राप्त श्रुतागम के आधार से अपने समयसारादि ८४ पाहुड़ (प्राभृत) ग्रन्थों की रचना की और लिपिबद्ध कर दिया। यह एक महान क्रान्तिकारी कदम था जिसका समुचित मूल्यांकन करना सहज नहीं है।

आचार्यप्रवर ने समस्त तत्कालीन परिस्थितियों और भावी संभावनाओं पर गंभीर चिन्तन-मनन करके अपने लिए जिनवाणी का निचोड एव सारतत्व अध्यात्मविद्या को चुना और व्यवहार नय तथा व्यवहार धर्म की उपेक्षा न करते हुए भी निश्चय नय, शुद्धात्मोपलब्धि, अतः भावतः एव द्रव्यतः भी शुद्धमुनिचर्या एव आत्मसाधना पर अधिक बल दिया। वह स्यात् सर्वप्रथम ऐसे मरमी साधक योगिराज थे जिन्होंने अपने लेखन द्वारा आत्मिक रहस्यवाद का उद्घाटन कर दिया और आने वाली पीढ़ियो के लिए आध्यात्मविद्या को ठोस आधार प्रदान कर दिया। स्यात् उन्ही से प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा लेकर उनके सघ के समसामायिक उपरोक्त अन्य आचार्यों ने भी अपने अपने क्षयोपशम, रुचि और ज्ञान के अनुसार श्रुतागम के आधार से चतुरानुयोग के विभिन्न विषयो पर मूलभूत रचना करके तद्विषयक भावी साहित्य सृजन के लिए ठोस आधार प्रस्तुत कर दिया। इतना ही नही, वट्टकेरि, गुणधर एवं धरसेन जैसे श्रुतधराचार्यों ने तो उन्हे प्राप्त श्रुतागम के महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत, कसायप्राभृत, आचारांग प्रभृति अगो को भी लिपिबद्ध करा दिया। इस प्रकार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के अप्रतिम ऋण से जैन संसार कभी भी उऋण नही हो सकता। इतिहास साक्षी है कि जब-जब बाह्य क्रियाकाण्ड, शिथिलाचार एवं विकृतियों ने धर्म के मौलिक स्वरूप को आवश्यकता से अधिक आच्छादित करना शुरू किया, कुन्दकुन्द-साहित्य ही उसे सही मोड़ देने और सम्यक् दिशानिर्देश करने मे प्रधान सम्बल बना। वस्तुतः जो कार्य श्रीमद् शकराचार्य ने अपने वेदान्त दर्शन एवं अद्वैतवाद द्वारा ८वीं शती के अन्त मे ब्राह्मण परंपरा एवं हिन्दू जाति के लिए किया, प्रायः वैसा ही कार्य उनसे ८०० वर्ष पूर्व श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य अपनी आध्यात्मिक विचारधारा के विशद प्रतिपादन द्वारा भारतीय सस्कृति, विशेषकर जैन परपरा के लिए सम्पन्न कर गये थे।

इधर कुछ दिनों से कुन्दकुन्दाचार्य-द्विसहस्राब्दि महोत्सव मनाने की चर्चा चली है और उसका कई माध्यमो से प्रचार किया जा रहा है। कई स्थानों में कुछ सेमिनार-संगोष्ठियां, समारोह-उत्सव आदि हुए भी हैं और हो रहे है तथा व्यापक स्तर पर द्विसहस्राब्दि महोत्सव मनाने की योजनाएं भी बन रही हैं। यों तो प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ में नित्य पढ़े जाने वाले मंगल श्लोक में तीर्थंकर भगवान महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम स्वामि के साथ-साथ जिन एकमात्र आचार्यपुंगव कुन्दकुन्द का नाम स्मरण किया जाता है उनके सुनाम या निमित्त से कभी भी, कही भी, कोई भी धर्म एवं संस्कृति-प्रभावक आयोजन किया जाय, वह सदैव श्लाघनीय होगा, किन्तु जब किसी महापुरुष या उनके जीवन की घटना विशेष की स्मृति मे कोई आयोजन किया जाय तो उसमें कुछ तुक होना उचित है। भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म ईसा पू० ४१ में हुआ था, ११ वर्ष की आयु में ई० पू० ३० मे उन्होंने मुनि दीक्षा ली थी, २२ वर्ष मुनि जीवन व्यतीत कर ३३ वर्ष की आयु मे ई० पू० ८ में वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और ५२ वर्ष पर्यन्त उस पद को सुशोभित करके ८५ वर्ष की आयु मे सन् ४४ ई० में उन्होंने स्वर्गगमन किया था इनमे से किसी भी विधि की संगति इस या आगामी वर्ष के साथ नही बैठती। हमें ज्ञात नही है कि किस महानुभाव की प्रेरणा से इस समय इस आयोजन का विचार प्रस्फुटित हुआ है। हमे उनकी सद्भावना में तनिक भी सन्देह नही है, और हो सकता है कि उनके इस निर्णय का कोई आधार भी रहा हो, परन्तु हमारे देखने सुनने मे उसकी कोई अभिव्यक्ति नही आई। बहुमान्य परंपराये अनुश्रुति के अनुसार तो आचार्य प्रवर के जन्म की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९५९ ई० में होती, उनकी दीक्षा की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९७० में होती, उनके आचार्य-पद-ग्रहण की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९९२ ई० में और उनके स्वर्गगमन की द्वि-सहस्राब्दि सन् २०४४ ई० में होनी चाहिए।

पार्श्वनाथ विषयक प्राकृत-अपभ्रंश रचनाएँ

□ डा० प्रेमसुमन जैन, (सुखाडिया वि०वि० उदयपुर)

श्रमण-परम्परा के महापुरुषों तीर्थंकरो में भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन का विशेष योगदान रहा है। ईसा पूर्व लगभग एक हजार वर्ष पूर्व भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। उस समय देश में उपनिषद्-दर्शन का विकास हो रहा था। पार्श्वनाथ के चिन्तन ने भारतीय दर्शन को आध्यात्मिक बनाने में विशेष योग किया है। नगर सस्कृति के साथ ही ग्राम्य जीवन एव अनार्य लोगो के बीच में जीवनमूल्यों का प्रचार पार्श्वनाथ की अध्यात्म-परम्परा ने भगवान् बुद्ध एवं भगवान् महावीर के दर्शन को भी गति दी है। महावीर की परम्परा मे पार्श्वनाथ के शिष्यो की जीवनचर्या एवं उनके विकारों को व्यक्त करने वाले कई प्रसंग शास्त्रो मे प्राप्त होते है। धीरे-धीरे पार्श्वनाथ के जीवन का विषद वर्णन भी जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप मे किया है।

अर्धमागधी आगम ग्रन्थों मे पार्श्वनाथ के जीवन के कुछ प्रसग प्राप्त हैं। उनके शिष्य एव अनुयायियो के जीवन की विस्तृत जानकारी यहां मिलती है। कल्पसूत्र में सक्षेप मे पार्श्वनाथ का जीवन वर्णित है। तिलोयपण्णति मे भी पार्श्वनाथ की जीवन-कथा का अधिक विस्तार नही मिल सका है। समवायांगसूत्र मे केवल इतना उल्लेख है कि पार्श्वनाथ का पूर्वभव मे सुदर्शन नाम था। तिलोयपण्णत्ति मे भी इतना ही कहा गया है कि पार्श्वनाथ का जीव प्राणत कल्प से इस भव मे आया है। अतः पार्श्व के पूर्वभवों का वर्णन लगभग ८वी शताब्दी के ग्रन्थो मे किया गया है। गुणभद्र के उत्तरपुराण मे सर्वप्रथम यह वर्णन प्राप्त है, जिसका अनुकरण परवर्ती प्राकृत एव अपभ्रंश के ग्रन्थकारो ने किया है। सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रंश की पार्श्वनाथ विषयक कुछ रचनाए प्रकाशित हो गई हैं, जिनमे पार्श्वनाथ के जीवन के सम्बन्ध मे विद्वान् सम्पादको ने विशेष प्रकाश डाला है।[1] जैन साहित्य और दर्शन के मनीषी देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन पर एक पुस्तक भी लिखी है।[2] ब्लूमफील्ड ने भी पार्श्वनाथ के जीवन एव तत्सम्बन्धी कथाओ पर प्रकाश डाला है।[3] किन्तु अभी भी प्राकृत-अपभ्रंश की कई रचनाएं अप्रकाशित हैं, जो पार्श्वनाथ के जीवन पर नया प्रकाश डाल सकती हैं। उनमे कुछ रचनाओं का संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्राकृत रचनाएं :

प्राकृत भाषा में भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन प्रमुख रूप से 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' मे शीलांक ने प्रस्तुत किया है। इसी का अनुसरण श्री देवभद्रसूरि (या गुणचन्द्र) ने अपने 'पासनाहचरिय' मे किया है। प्राकृत की ये दोनो रचनाएं प्रकाशित है। कुछ वर्ष पूर्व भद्रेश्वरसूरि की 'कहावलि' भी प्रकाशित हुई है, जिसमे पार्श्वनाथ का जीवनचरित वर्णित है। विद्वानों ने इस कहावलि का समय लगभग आठवी शताब्दी माना है।[4] अतः प्राकृत के रचनाकारो के लिए यह प्रेरणा-ग्रन्थ रहा है।

१: पार्श्वनाथ विषयक प्राकृत की रचनाओं मे १२वी शताब्दी के आम्रकवि द्वारा रचित 'चउपन्नमहापुरिस-चरिय' का प्रमुख स्थान है। इस ग्रन्थ मे ८७३५ गाथाएँ है तथा अन्य छन्दो की सख्या १०० है। खभात के विजय-नेमिसूरीश्वर शास्त्रभण्डार मे इस रचना की पाण्डुलिपि उपलब्ध है, जिसका लेखनकाल लगभग १६वीं शताब्दी है।[5]

२. किसी अज्ञात कवि ने प्राकृत मे 'पासनाहचरिय' नामक ग्रन्थ की रचना की । इस ग्रन्थ मे २५६४ गाथाए है। इसका दूसरा नाम 'पार्श्वनाथदशभवचरित' भी प्राप्त होता है। इस प्राकृत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि शातिनाथ जैन मंदिर जैसलमेर के ताड़पत्रीय ग्रन्थभण्डार मे उपलब्ध है।[6]

३. पार्श्वनाथ विषयक प्राकृत के एक अन्य ग्रन्थ की सूचना प्रो० वेलणकर ने दी है। किसी नागदेव नामक प्राकृत कवि ने 'पार्श्वनाथपुराण' की रचना की है।[7] इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नही हो सकी है। प्राच्यविद्या सस्थान, बड़ौदा, भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद, बी० एल० सस्थान, पाटन एवं राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों के अवलोकन से प्राकृत मे रचित कुछ और पार्श्वनाथ विषयक रचनाएं खोजी जा सकती है।

अपभ्रंश रचनाएं :

अपभ्रंश साहित्य में पार्श्वनाथ का जीवन प्रेरणा का स्रोत रहा है। १०वी शताब्दी से १५वीं शताब्दी के बीच अपभ्रंश में पार्श्वनाथ के जीवन पर कई रचनाएं लिखी गई हैं। महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण में पार्श्वनाथ का जीवन वर्णित है, जो प्रकाश में आ चुका है। स्वतन्त्र रूप से ११वीं शताब्दी के कवि पद्मकीर्ति का 'पासनाहचरिउ' हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। अभी तक अपभ्रंश की ज्ञात रचनाओ में पार्श्वनाथ विषयक निम्नांकित रचनाएं अप्रकाशित है। इनको सपादित कर प्रकाशित किया जाना चाहिए, जिससे पार्श्वनाथ के जीवन पर अधिक प्रकाश पड सकेगा।

१. पार्श्वपुराण (पं० सागरदत्त सूरि—वि० सं० १०७६ के कवि पं० सागरदत्त सूरि ने पार्श्वनाथ पुराण की रचना की थी। इन्होने जबुसामिचरिय भी लिखा है, ऐसी सूचना बृहत् टिप्पणिका सूची से प्राप्त होती है। किन्तु इनकी ये दोनों रचनाए अभी उपलब्ध नही हुई है।

२. पासणाहचरिउ (देवचंद)- लगभग १२वी शताब्दी के अपभ्रंश कवि देवचद द्वारा रचित पासणाहचरित की अब तक मात्र दो प्रतियां उपलब्ध हैं। एक प्रति प० परमानन्द शास्त्री के निजी सग्रह मे है, जिसमे पत्रसख्या ७, ७९ एवं ८१ उपलब्ध नही है। दूसरी प्रति सरस्वती भवन, नागौर के ग्रन्थ भण्डार में उपलब्ध है। यह प्रति पूर्ण है। इसमें कुल ६७ पत्र है तथा प्रति का लेखनकाल वि० सं० १५२० चैत्र सुदी १२ अंकित है। इस प्रति में ग्रन्थ का नाम 'पासपुराण' दिया हुआ है।[८]

इस पासणाहचरिउ मे कुल ११ सधिया है, जिनमें २०२ कडवकों में पार्श्वनाथ के जीवन को काव्यमय भाषा में प्रस्तुत किया गया है। कवि ने अपना यह ग्रन्थ गुंदिज्जनगर के पार्श्वनाथ मदिर मे निर्मित किया गया था। देवचद के गुरू का नाम वासवचन्द्र था। इनको दक्षिण भारत का विद्वान् मानते हुए पं० परमानन्द जी ने इनका समय १२वीं शताब्दी तक किया है।[९]

पार्श्वनाथ की ध्यान-समाधि का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि पार्श्वनाथ मोह रूपी अधकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान एवं क्षमा रूपी लता को चढ़ने के लिए उन्नत पर्वत की तरह है। उनका शरीर संयम और शील से विभूषित है. जो कर्मरूप कषाय की अग्नि के लिए मेघ की तरह है। कामदेव के उत्कृष्ट बाण को नष्ट करने वाले तथा मोक्षरूप महासरोवर मे क्रीड़ा करने वाले वे हंस की तरह हैं। वे इन्द्रिय रूपी सर्पों के विष को हरण करने वाले मन्त्र है तथा आत्म-साक्षात्कार कराने वाली समाधि मे वे लीन हैं—

मोह-तमंध-पयाव-पयगो, खतिलयारुहणे गिरितुंगो।
संजम-सील-विहूसिय देहो, कम्मकसाय हुआसण मेहो।
पुप्फधणु वर तोमर धसो, मोक्ख-महासरि-कीलण हंसो।
इंदिय-सप्पह विसहरमतो, अप्पसरूव-समाहि-सरंतो।

३. पासणाहचरिउ (विबुध श्रीधर)—विबुध श्रीधर १२वी शताब्दी के समर्थ अपभ्रंश कवि हैं। इनकी अपभ्रंश की छह रचनाओ का उल्लेख मिलता है, जिनमे से चार उपलब्ध हो चुकी है। उनमें 'पासणाहचरिउ' को कवि की प्रथम उपलब्ध रचना कहा जा सकता है। अपभ्रंश के मनीषी डा० राजाराम जैन ने कवि के 'वड्ढमाणचरिउ' नामक ग्रन्थ का सम्पादन कर हिन्दी अनुवाद के साथ उसे प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थ की भूमिका मे 'पासणाहचरिउ' के महत्त्व आदि पर प्रकाश डाला गया है।[१०] इसी कवि की छठी रचना 'सुकुमालचरिउ' का हमने सम्पादन कार्य सम्पन्न किया है, जो शीघ्र प्रकाश्य है।

विबुध श्रीधर के इस 'पासनाहचरिउ' की अभी तक दो प्रतिया उपलब्ध है। आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर मे उपलब्ध प्रति वि० सं० १५७७ की है, जिसमे कुल ९९ पत्र है। ग्रन्थ की दूसरी प्रति अग्रवाल दि० जैन बड़ा मदिर, मोतीकटरा, आगरा मे उपलब्ध है। इसमे कुल ९८ पत्र है, किन्तु ६२वा पत्र उपलब्ध नही है। इस ग्रन्थ मे कुल १२ सधिया एव २३८ कड़वक हैं। साहू नट्टल की प्रेरणा से इस 'पासणाहचरिउ' की रचना दिल्ली मे की गई थी। ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कवि श्रीधर जाति के अग्रवाल जैन थे तथा हरियाणा के निवासी थे। उन्होंने दिल्ली का सुन्दर वर्णन इस काव्य मे किया है। इतिहास एव संस्कृति स सम्बन्ध मे कई नई सूचनाएं इस ग्रन्थ से प्राप्त होती है। ग्रन्थ की रचना करते हुए कवि ने कहा है कि जिसने इस संसार के भ्रमण को नाश

कर दिया हैं, पापों को समाप्त कर दिया है तथा जो अनुपम गुणरूपी मणियों के समूह से भरा हुआ है उसे भव-बन्धन को तोड़ने वाले पार्श्व को प्रणाम कर मैं उसके चरित को प्रकट कर रहा हूं—

पूरिय भुअणासहो पावपणासहो,
णिरुवम गुणमणि वाण-भरिउ।
तोडिय भव-पासहो पणवेवि पासहो,
पुणु पयडमि तासु जि चरिउ।

इस ग्रन्थ की प्रशस्ति सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व की है।

४. पासनाहचरिउ (बुह असवाल)—कवि बुध असवाल १५वीं शताब्दी के अपभ्रंश कवि थे। इनकी अन्य रचनाओं का अभी पता नही चला है। इनकी ज्ञात एक मात्र कृति 'पासणाहचरिउ' उनकी विद्वता के परिचय के लिए पर्याप्त है। बुध असवाल ने कुशार्त देश (इटावा उ० प्र०) करहल नामक गाव मे यदुवंशी साहु सोणिग के अनुरोध से इस पासणाहचरिउ की रचना की थी। कवि ने अपनी प्रशस्ति मे ग्रन्थ के रचना स्थल के सम्बन्ध म अच्छी जानकारी दी है। इस ग्रन्थ की रचना वि० स० १४७९ मे भाद्रपद कृष्णा एकादशी को सम्पन्न की गई थी। ग्रन्थ लिखने मे लगभग एक वर्ष का समय कवि को लगा था। कवि असवाल का वश गोलाराड (गोलालार) था। वे पण्डित लक्ष्मण के पुत्र थे—

अहो पडिय लक्खड़ सुयगुलग, गुलराडवंसि धयवड अहंग।

ग्रन्थ की १३वीं संधि क अन्त मे पुष्पिका म एव ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ५वे घत्ते मे कवि ने स्पष्ट रूप से अपने नाम का उल्लेख किया है।

इउ सुणिवि मज्झु पोसेहि चित्तु,
करि कव्वु पासणाहहो चरित्तु।
त णिसुणवि कव्वहु तणउणाभु,
वुहु आसुवालु हुउ जो मधामु॥

इस पासणाहचरिउ की मात्र दो पाण्डुलिपिया उपलब्ध हैं। अग्रवाल दिगम्बर जैन बड़ा मदिर, मोतीकटरा, आगरा में जो प्रति है उसमे १५० पत्र है। किन्तु बीच के ६१ से ६७ तक पत्र लुप्त है।[११] ग्रन्थ की दूसरी प्रति सरस्वती भवन, बड़ा मदिर ग्रन्थभण्डार, घी वालो का रास्ता, जयपुर मे उपलब्ध है। इस प्रति मे १२१ पत्र है। कुछ पन्ने कीड़े लग जाने से कट-फट गये हैं। फिर भी प्रति पूर्ण और अच्छी है। इस भण्डार की सूची तैयार करने वाले विद्वान् डा० जैन ने इसे प्राकृत की रचना कहा है, जबकि यह अपभ्रंश का ग्रन्थ है।[१२]

५. पार्श्वनाथ पुराण (रइधू)—रइधू ने अपभ्रंश मे कई रचनाए प्रस्तुत की है। उनके व्यक्तित्व एव उनकी रचनाओ के सम्पादन-प्रकाशन का कार्य डा० राजाराम जैन सम्पन्न कर रहे है।[१३] डा० के० सी० कासलीवाल ने विभिन्न ग्रन्थभण्डारो का सर्वेक्षण कार्य सम्पन्न किया है।[१४] इसमे रइधू की कई रचनाए प्रकाश मे आई है। डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने रइधू के इस पार्श्वपुराण की ५ प्रतियों की सूचना अपनी पुस्तक में दी है। कोटा, ब्याबर, जयपुर एवं आगरा मे इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे कवि कहता है—

पणविवि सिरिपासहो,
सिवउरिवासहो विहुणिय पासहो गुणभरिउ।
भवियहं सुह-कारणु दुक्ख-णिवारणु,
पुणु आहासमि तहु चरिउ॥

इस ग्रन्थ मे ७ संधियां हैं और १३६ कडवक हैं। ग्रन्थ मे प्राकृत एव सस्कृत मे लिखे गये पार्श्वनाथचरित ग्रन्थो की विषयवस्तु को काव्यमय भाषा मे कवि ने प्रस्तुत किया है। कवि के द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ की आदि एवं अन्त की प्रशस्ति मध्यकालीन सस्कृति के विषय मे महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। विशेषकर ग्वालियर के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक जीवन पर ग्रन्थ की यह सामग्री विशेष प्रकाश डालती है। तत्कालीन जैन समाज की उन्नत दशा का ज्ञान इससे होता है। साहू खेमचन्द के परिवार का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त है।

६. पासणाहचरिउ (तेजपाल)—कवि तेजपाल १६वी शताब्दी के समर्थ अपभ्रंश कवि थे। इन्होंने १. संभवनाथचरित, २. वरागचरित एव ३. पार्श्वनाथचरित ये तीन रचनाए अपभ्रंश मे लिखी हैं। अभी ये तीनों ग्रन्थ अप्रकाशित है। अतः कवि के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्रचारित नही हुई है। कवि नेत्रपाल ने इस पासणाहचरिउ मे जो प्रशस्ति दी है उससे उनके परिवार के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। बासवपुर नामक गांव मे वरसावडह नामक वंश की परम्परा मे

तेजपाल का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम ताल्हुच था। तेजपाल ने ग्रन्थ के प्रेरणादायक घूघनु साहु (सुरजन साहु) के परिवार का भी विस्तृत परिचय दिया है। सुरजन साहु की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है—

णामें सुरजण साहु दयावरु, लंबकंचु जणमण-तोसायरु।
धणसिरि रमणि सुहणेहासिय, णिय जस पसरदि
सुरमुह-वासिय॥ —अंतिम सन्धि ३९ घत्ता

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कवि कहता है देवेन्द्र आदि के द्वारा पूजित, इस जन्म-समुद्र को पार कर जाने वाला, कर्मरूपी शत्रुओं का नाशक, भय-हरण करने वाला, कल्याण करने मे पटु एव ध्यान के द्वारा जिसने कर्म-समूह को जीत लिया है, उस पार्श्वनाथ के चरित को मैं कहूंगा—

देविंदेहि णुओ वरो सियरो जन्मवुही-पारणो,
कम्मारीण विद्दसणो भहरो कल्याण-मालायरो।
झाणे जेण जिओ चिर अणहियो कम्पट्टपुट्टासवो,
सोयं पासजिणिंदु संघवरदो वोच्छ चरित्त तहो॥

इस पासणाहचरिउ की दो पाण्डुलिपियां उपलब्ध है। बड़े धड़े का दि० जैन मंदिर, अजमेर मे भट्टारक हर्षकीर्ति का ग्रन्थभण्डार है। उसमें जो इस ग्रन्थ की प्रति है उसमें कुल १०१ पत्र है। अंतिम १०२वा पत्र नहीं है। प्रति में ग्रन्थ की रचना का समय वि०सं० १५१५ अंकित है।[15] ग्रन्थ की दूसरी पाण्डुलिपि आमेरशास्त्र भण्डार के कलेक्शन मे है।

पार्श्वनाथ के जीवन के सम्बन्ध मे विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों से जो जानकारी मिलती है, उसकी प्रामाणिकता के लिए एवं तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्राकृत-अपभ्रंश के इन अप्रकाशित ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। पार्श्वनाथ पूर्वभव, उपसर्ग, गृहस्थजीवन एव विहार क्षेत्र के सम्बन्ध मे जो बिखरी हुई सामग्री उपलब्ध है उसका अध्ययन इन अप्रकाशित ग्रन्थो के साथ करने पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। पार्श्वनाथ के जीवन के अतिरिक्त १०वी से १६वी शताब्दी तक के भारतीय जीवन के विभिन्न पक्ष भी इन ग्रन्थो के अध्ययन से उजागर हो सकते है। अतः पार्श्वनाथ से विशेष रूप से जुड़े हुए तीर्थ-स्थान, अतिशयक्षेत्र एव सस्थाओं का यह दायित्व है कि वे पार्श्वनाथ-सम्बन्धी इन अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाश मे लाने का दृढ-संकल्प करे। प्राकृत-अपभ्रंश के विद्वानों को भी इस दिशा मे प्रयत्नशील होना चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

१. (क) पार्श्वनाथचरित (वादिराजसूरि), माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, सं० १९७३,
(ख) सिरियासनाहचरिय (देवभद्रसूरि), अहमदाबाद, १९४५,
(ग) पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), प्राकृत ग्रन्थ परिषद' वाराणसी, १९६५
२. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि; भगवान् पार्श्व—एक समीक्षात्मक अध्ययन, पूना, १९६९
३. ब्लूमफील्ड; 'द लाइफ एण्ड स्टोरीज् आफ द जैन सेवियर पार्श्वंगा,' बाल्टीमोर १९१९ ज्ञान प्रकाशन; दिल्ली द्वारा १९८५ मे पुनः मुद्रित।
४. उमाकान्त, पी० शाह; आल इंडिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस, वर्ष २०, भाग २ पृ० १४८; जैन सत्य-प्रकाश, भाग १७, संख्या ४, १९५९
५. चौधरी, गुलाबचन्द; जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृ० ७२
६. बृहत् टिप्पणिका, जैन साहित्य संशोधक मण्डल, पूना, १९२५, स० २९८
७. जिनरत्नकोश पृ० २४७
८. शास्त्री, देवेन्द्रकुमार; अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, दिल्ली, १९७१, पृ० १४७
९. शास्त्री, परमानन्द; जैनग्रन्थ प्रशास्तिसग्रह, भाग ३, पृ० ७७
१०. जैन, राजाराम, वड्ढमाणचरिउ, दिल्ली, १९७५
११. शास्त्री, देवेन्द्रकुमार, वही, पृ० १४६
१२. जैन, पी० सी०; 'जैन ग्रन्थ भण्डार इन जयपुर एण्ड नागौर,' जयपुर, १९७८; पृ० १०४
१३. (क) रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली
(ख) रइधू-ग्रन्थावली भाग १, सोलापुर; मे यह पासणाहचरिउ प्रकाशित हो गया है।
१४. कासलीवाल, के० सी०; राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारो की सूची, ५ भागों में
१५. शास्त्री, परमानन्द, वही, पृ० ८८ (प्रस्तावना)

समयसार का दार्शनिक पृष्ठ

□ डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

प्राथमिक : आ: कुन्दकुन्दकी रचनाएँ, उनकी भाषा और उनका प्रभाव

"समयसार" आचार्य कुन्दकुन्दकी, जिन्हें शिलालेखो में "कौण्डकुन्द" के नाम से उल्लेखित किया गया है,। एक उच्च कोटि की आध्यात्मिक रचना है। यो उन्होने अनुश्रुति अनुसार ८४ पाहुडो (प्राभृतो-उपहार स्वरूप प्रकरण ग्रन्थो[1]) तथा आचार्य पुष्पदन्त-भूतावली—द्वारा रचित "षड्खण्डागम" मूलागमकी विशाल टीका की भी रचना की थी। पर आज वह समग्र ग्रन्थ-राशि उपलब्ध नही है फिर भी उनके जो और जितने ग्रन्थ प्राप्त है वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनसे समग्र जैन वाङ्मय समृद्ध एवं दैदीप्यमान है। उनके इन ग्रन्थो का, जिनकी सख्या २१ है, परिचय अन्यत्र दिया गया है[2]।

ध्यातव्य है कि कुन्दकुन्द ने अपने तमाम ग्रन्थ उस समय की प्रचलित प्राकृत, पाली और सस्कृत इन तीन भारतीय प्रमुख भाषाओ में से प्राकृत मे रचे हैं। प्रश्न हो सकता है कि कुन्दकुन्द ने अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए प्राकृत को क्यो चुना, पाली या संस्कृत को क्यो नही चुना ? इसके दो कारण ज्ञात होते है। एक तो यह कि प्राकृत साधारण जनभाषा थी—उसके बोलने वाले सामान्य-जन अधिक थे और कुन्दकुन्द तीर्थकर महावीर के उपदेश को जन-साधारण तक पहुचाना चाहते थे। दूसरे षड्खण्डागम, कसायपाहुड जैसे दिगम्बर आगम-ग्रन्थों के प्राकृत शौरसेनी, मे निबद्ध होने से उनकी सुदीर्घ परम्परा भी उन्हें प्राप्त थी। अतएव उन्होंने अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए प्राकृत को ही उपयुक्त समझा। उनकी यह प्राकृत शौरसेनी-प्राकृत है। यद्यपि कुन्दकुन्द की मातृ-भाषा तमिल थी और वे तमिलभाषी थे। किन्तु वे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व मे उत्तर भारत से दक्षिण भारत में जो विशाल मुनि-श्रावक संघ गया था और जो शौरसेनी-प्राकृत का पूरा अभ्यासी था उससे कुन्दकुन्द बहुत प्रभावित और उस भाषा के प्रकाण्ड पंडित बने होंगे। तभी उन्होने शौरसेनी प्राकृत मे विपुल ग्रन्थ रचे। उनका तमिल भाषा मे रचा "कुरल" एकमात्र उपलब्ध है, जिसे तमिलभाषी "पंचमवेद" के रूप मे मानते है। कुन्दकुन्द के उत्तरवर्ती शतश आचार्यों ने भी शौरसेनी प्राकृत मे प्रचुर ग्रन्थो की रचना की है।

शौरसेनी-प्राकृत साहित्य के निर्माताओं मे आचार्य कुन्दकुन्द का निस्सदेह मूर्धन्य स्थान है। वे यशस्वी प्राकृत साहित्यकार के अतिरिक्त मूल-सघ के गठन-कला के रूप मे भी इतने प्रभावशाली रहे है कि ग्रन्थप्रशस्तियो, शिला-लेखो एव मूर्ति-लेखनो के सिवाय शास्त्र-प्रवचन के आरभ मे और मगल-क्रियाओं के अवसर पर **"मंगलं भगवान् वीरो"** आदि पाठ्य द्वारा तीर्थंकर महावीर और उनके प्रथम गणधर गौतम इन्द्रभूति के पश्चात् उनका भी बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है[3]। इसमे आचार्य कुन्दकुन्द का एक महान् एव प्रामाणिक आचार्य के रूप मे सर्वाधिक महत्त्व प्रकट होता तथा उनके धवल यश की प्रचुरता स्थापित होती है।

समयसार : समयपाहुड : नाम-विमर्श

इतना प्राथमिक कहने के बाद हम कुन्दकुन्द की पस्तुत मे विचारणीय कृति के नाम के सम्बन्ध मे कुछ विचार करेंगे।

उनकी इस महत्त्वपूर्ण कृति का मूल नाम समयसार है या समय-पाहुड ? मूलग्रन्थ का आलोडन करने पर विदित होता है कि इसका मूल नाम **"समयपाहुड"** है। कुंदकुंद ने स्वयं ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण एवं ग्रन्थ-प्रतिज्ञा गाथा मे समस्त सिद्धान्तों की वन्दना करके "समयपाहुड" ग्रन्थ के कथन करने का निर्देश किया है[4] और ग्रन्थ का समापन करते समय भी उसका इसी नाम से समुल्लेख किया है।[5] इससे अवगत होता है कि ग्रन्थ-कार को इसका मूल नाम "समयपाहुड" (समयप्राभृत)

अभिप्रेत है। चूँकि इसमें उन्होंने समय-आत्मा के सार-शुद्ध रूप का कथन किया है, इससे उसे "समयसार" भी कहा जा सकता है। कुन्दकुन्द ने गाथा ४१३ में इसका भी उल्लेख किया है।[५] किन्तु यहा उन्होंने "समयपाहुड" के वाच्य शुद्ध आत्मा के अपने "समयसार" पद का प्रयोग किया है। उत्तरकाल मे तो "समयपाहुड" के प्रथम व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र (दशवीं शताब्दी) के वाच्य और वाचक दोनो मे अभेद-विवक्षा (एक मान) करके "समयाहुड" (वाचक) को ही "समयसार" (वाच्य) कहा है और इसी आधार पर उन्होने अपनी व्याख्या के आद्य मगलाचरण में "नमःसमयसाराय" आदि कथन द्वारा "समयसार" का उल्लेख करके उसे नमस्कार किया है[७] और उसे सर्व पदार्थों से भिन्न चित्स्वभावरूप भाव (पदार्थ) निरूपित किया है तथा वे यह मानकर भी चले है कि "समयसार" "समयपाहुड" है। तभी वह यह कहते है[८] कि "समयसार" की व्याख्या के द्वारा ही मेरी अनुभूति की परम शुद्धि हो। ऐसा भी नही कि अमृतचन्द्र "समय-पाहुड" नाम से अरुचि रखते हो, क्योंकि पहली गाथा की व्याख्या में न केवल उसका उन्होंने उल्लेख किया है, अपितु उसे "अर्हत्प्रवचनावयव" कहकर उसका महत्त्व भी प्रकट किया है[९]। वास्तव में उनकी दृष्टि नाम की अपेक्षा उनके अर्थ की ओर अधिक है, क्योंकि नाम तो पौद्गलिक (शब्दात्मक) है और अर्थ चित्स्वभाव शुद्ध आत्मा है। इसी कारण उन्हें इस ग्रन्थ को "समयसार" कहने और उसकी महिमा गाने मे अपरिमित आनन्द आता है। आगे भी उन्होने गाथाओ पर रचे कलशों और उनकी व्याख्या मे "समयसार" नाम का ही निर्देश किया है।[१०] आचार्य अमृतचन्द्र के बाद तो आचार्य जयसेन ने भी अपनी तात्पर्यवृत्ति (व्याख्या) मे "समयसार" नाम ही दिया है।[११] और "प्राभृत" का अर्थ "सार" कर के उससे उन्होने "शुद्धावस्था" का ग्रहण किया है।[१२] प० बनारसी दास, प० जयचन्द्र आदि हिन्दी टीकाकारों ने भी "समय-सार" नाम को ही ज्यादा अपनाया है। यह नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि आज भी जन-जन के कंठ पर यही नाम विद्यमान है, "समयपाहुड" नाम कम। किन्तु ग्रन्थ का मूल नाम "समयपाहुड" ही है, जो ग्रन्थकर्ता आ० कुन्दकुन्द को अतिशय अभीष्ट है।

समयसार में दार्शनिक दृष्टि

यद्यपि समयपाहुड अथवा समयसार मूलतः आध्यात्मिक कृति है। इसके आचार्य कुन्दकुन्द ने आरम्भ से लेकर अन्त तक शुद्ध आत्मा का ही प्रतिपादन किया है और उसी का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी को प्राप्त कर उसी मे स्थिर होने—रमने पर पूरा बल दिया है।[१३] यही कारण है कि उन्होंने मंगलाचरण में अरहन्तों को नमस्कार न करके पूर्ण शुद्ध; अबद्ध और प्रबुद्ध समस्त सिद्धो की बन्दना की है।[१४] तथापि उसे (शुद्ध आत्मा को) उन्होने दर्शन के द्वारा ही प्रदर्शित किया है। दर्शन का प्रयोजन है कि किसी भी वस्तु की सिद्धि प्रमाण के द्वारा करना और कुन्दकुन्द ने उसमें उस एकत्व-विभक्त शुद्धात्म-तत्व की सिद्धि स्पष्टतया स्वविभव (युक्ति, अनुभव और आगम से प्राप्त ज्ञान) द्वारा करने की घोषणा की है।[१५] स्वविभव को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकारों ने कहा है[१६] कि कुन्दकुन्द का वह सब विभव आगम, तर्क, परमगुरूपदेश और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। इसके द्वारा ही उस शुद्ध आत्मा को समयसार मे सिद्ध किया गया है।

आत्मा द्वैतवादी उपनिषदो एव वेदान्त दर्शन में[१७] भी आत्मा को सुनने के लिए श्रुतिवाक्यों, मनन (अनुमान) करने के लिए उपपत्तियो (युक्तियों) और स्वयं अनुभव करने के लिए स्वानुभव प्रत्यक्ष (निदिध्यासनः) इन तीन प्रमाणो को स्वीकार किया है। उस प्राचीन समय मे किसी भी वस्तु की सिद्धि इन प्रमाणों से ही की जाती थी। साख्यदर्शन में भी अपने तत्वों की सिद्धि के लिए यही तीन प्रमाण माने गये है।[१८] अतः कुन्दकुन्द के द्वारा दर्शन के अंगभूत इन तीन प्रमाणों से उस शुद्ध आत्मा को सिद्ध करना स्वाभाविक है।

समयपाहुड स्वरुचिविरचित नहीं : आगम और युक्ति का प्रस्तुतिकरण

सब से पहले कुन्दकुन्द यह स्पष्ट करते है कि मैं उस "समयपाहुड" को कहूंगा, जिसका प्रतिपादन आगम, श्रुत-केवली और केवली के द्वारा किया गया है। इससे वे अपने "समयपाहुड" को स्वरुचिविरचित न होने तथा श्रुतकेवली कथित होने के प्रमाण सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त

"सुयकेवलीभणियं" (श्रुतकेवलीकथितं) यह पद प्रथमा-विभक्ति का होते हुए भी हेतुपरक है। यहा वह "समय-पाहुड" की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए हेतु रूप मे प्रयुक्त किया गया है। न्यायशास्त्र में प्रथमा विभक्ति वाला पद भी हेतु रूप में स्वीकार किया हुआ है।[१९] अत: इस हेतु रूप पद के द्वारा कुन्दकुन्द ने अपने "समयपाहुड" को प्रामाणिक सिद्ध किया है।

समयसार में दर्शन

यहां हम कतिपय ऐसे तथ्य भी प्रस्तुत करेंगे, जिनके आधार पर हम यह ज्ञात करेंगे कि समयसार ने आ० कुन्दकुन्द ने अनेक स्थलों पर दर्शन के माध्यम से शुद्ध आत्मा को प्रदर्शित किया है, वे इस प्रकार है—

१. समयसार गाथा ५ मे कुन्दकुन्द कहते है कि मैं अनुभव, युक्ति और आगमरूप अपने वैभव से उस एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा को दिखाऊगा। यदि दिखाऊ तो उसे प्रमाण (सत्य) स्वीकार करना और कही चूक जाऊ तो छल नही समझना। यहां उन्होंने शुद्ध आत्मा को दिखाने के लिए अनुभव (प्रत्यक्ष), युक्ति (अनुमान) और आगम इन तीन प्रमाणों को स्पष्ट स्वीकार किया है। उनके कुछ ही उत्तरवर्ती आचार्य गृद्धपिच्छ[२०] और स्वामी समन्तभद्र[२१] जैसे दार्शनिको ने भी इन्ही तीन प्रमाणो से अर्थ (वस्तु) प्ररूपण माना है और उन्हे भ० महावीर का उपदेश कहा है। कुन्दकुन्द के उक्त कथन में स्पष्टतया दर्शन की पुट समाविष्ट है और यह तथ्य है कि दर्शन बिना प्रमाण के आगे नही बढ़ता।

२. कुन्दकुन्द गाथा ३ में बतलाते है[२२] कि प्रत्येक पदार्थ अपने एकपने मे सुन्दर-स्वच्छ अच्छा-भला है और इसलिए लोक मे सभी पदार्थ सब जगह अपने एकपने को प्राप्त होकर सुन्दर बने हुए है। किन्तु उस एकपने के साथ दूसरे का बन्ध होने पर झगड़े (विवाद) होते हैं और उसकी सुंदरता (स्वच्छपना-एकपना) नष्ट हो जाती है। वास्तव में मिलावट असुन्दर होती है, जिसे लोक भी पसन्द नही करता और अमिलावट (निखालिस-एकपना) सुन्दर होती है, जिसे सभी पसन्द करते हैं। यह सभी के अनुभवसिद्ध है। कुन्दकुन्द कहते है कि जब सब पदार्थों का एकत्व ही सुन्दर है तो एकत्व-विभक्त आत्मा सुन्दर क्यो नही होगा?

३, जब कुन्दकुन्द से किसी शिष्य ने प्रश्न किया कि वह एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा क्या है? तो वह उसका उत्तर देते हुए कहते है[२३] कि जो न अप्रमत्त है—अप्रमत्त आदि आयोगी पर्यन्त गुण स्थानो वाला है और न प्रमत्त हैं—मिथ्यादृष्टि आदि प्रमत्त पर्यन्त गुण स्थानों वाला है, मात्र ज्ञायक स्वभाव पदार्थ है वही एकत्व—विभक्त शुद्ध आत्मा है। उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र का भी उपदेश व्यवहारनय से है, निश्चयनय से न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन हैं। वह तो एक शुद्ध अखंड ज्ञायक ही है। कुन्दकुन्द का यह गुणस्थान-विभाग और नयविभाग से आत्मा का कथन आगम प्रमाण पर आधृत है।

४. वह शिष्य पुन: प्रश्न करता है कि हमें एकमात्र परमार्थ (निश्चयनय) का ही उपदेश दीजिए, व्यवहारनय की चर्चा यहाँ (एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा के प्रदर्शन मे) अनावश्यक है, क्योंकि वह परमार्थ का दिग्दर्शक नही है? इसका उत्तर आचार्य कुन्दकुन्द एक उदाहरण पूर्वक देते हुए व्यवहारनय की आवश्यकता प्रकट करते है[२४]—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) को उसकी म्लेच्छ भाषा के बिना वस्तु (अनेकान्त आदि) का स्वरूप समझाना आवश्यक है और उसकी भाषा मे बोलकर उसे उसका स्वरूप समझाना शक्य है, उसी प्रकार ससारी जीवों को व्यवहारनय के बिना एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाना भी अशक्य है, इसलिए उसकी आवश्यकता है। सर्वविदित है कि पानी पीने के लिए लोटा ग्लास, कटोरी आदि पात्रों को आवश्यकया रहती है और पानी पी लेने के बाद उनकी आवश्यकता नही रहती। यहा कुन्दकुन्द ने अनुमान के एक अवयव उदाहरण को स्वीकार कर स्पष्टतया दर्शन का समावेश किया है।

५. यो तो अध्यात्म मे निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों को यथास्थान महत्त्व प्राप्त है किन्तु अमुक अवस्था तक व्यवहार ग्राह्य होते हुए भी उसके बाद वह छूट जाता है या छोड़ दिया जाता है। निश्चयनय उपादेय है। व्यवहार जहाँ अभूतार्थ है वहां निश्चयनय भूतार्थ है। इस भूतार्थ का आश्रय लेने से वस्तुत: जीव सम्यग्दृष्टि होता है।[२५] आचार्य कुन्दकुन्द ने गाथा ११ व १२ मे यही सब प्रतिपादन किया है। यहां भी उनका स्याद्वाद समाहित

है, जो तीर्थंकरों का उपदेश है। यहां हम आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा व्याख्या (गाथा १२) मे उद्धृत एक प्राचीन गाथा को देने का लोभ संवरण नही कर सकते। यह इस प्रकार है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

"यदि जिनमत की प्रवृत्ति चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोडो। व्यवहार को छोड देने पर तीर्थ का उच्छेद हो जावेगा और निश्चय को छोड़ देने पर तत्त्व (स्वरूप) का नाश हो जावेगा। अत: दोनों नय सम्यक् हैं और ग्राह्य है।"

६. यथार्थ मे नयो के द्वारा वस्तु को समझना और समझाना भी दर्शनशास्त्र का विषय है। आचार्य गृद्धपिच्छ ने "**प्रमाणनयैरधिगमः**" (त० सू० १-६) द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि जहा प्रमाण वस्तु को जानने का साधन है वहा नय भी उसे जानने का साधन है और इसलिए प्रमाण और नय दोनों को न्याय कहा गया है।[१६] दोनो मे अन्तर यही है कि प्रमाण अखड वस्तु (धर्मो) को ग्रहण करता है और नय उसके अशो (धर्मो) को विषय करता है। अत. कुन्दकुन्द का निश्चय और व्यवहार नयो द्वारा विवेचन दार्शनिक दृष्टि को प्रदर्शित करता है। वे कहते है कि व्यवहारनय तो जीव और देह को एक कहता है। पर निश्चयनय कहता है कि जीव और देह ये दोनो कभी एक पदार्थ नही हो सकते।[१७]

७. शिष्य पूछता है कि आत्मा मे कर्मबद्ध-स्पृष्ट है या अबद्ध-स्पृष्ट है? इसका कुन्दकुन्द ने नय० विभाग से उत्तर देते है[१८] कि जीव मे कर्म बद्ध (जीव के प्रदेशो के साथ बधा हुआ) है और सयोग होने से स्पृष्ट (लगा हुआ) है, ऐसा व्यवहारनय कहता है तथा जीव मे कर्म न बंधा हुआ है; ऐसा शुद्ध नय बतलाता है। यहा भी कुन्दकुन्द शिष्य के प्रश्न का समाधान नय-विभाग (स्याद्वाद-सरणि) से देते हैं। उनसे उनकी यहां भी दार्शनिकता स्पष्ट विदित होती है। इसके सिवाय एक महत्त्वपूर्ण बात वे यह कहते हैं कि[१९] जीव मे कर्म बधे हुए हैं और नही बंधे हुए है, ये दोनों एक-एक पक्ष (नयदृष्टियां) है किन्तु जो इन दोनों पक्षों से अतीत (रहित) है वही समयसार (शुद्ध आत्म-तत्त्व) है।

८. कुन्कुन्द भेदविज्ञान की सिद्धि करते हुए कहते हैं[१०] उपयोग में उपयोग है, क्रोधादिक में उपयोग नही है, वास्तव में क्रोध में ही क्रोध है, उपयोग मे क्रोध नही है। आठ प्रकार के कर्मों में तथा शरीर आदि नो कर्मों मे भी उपयोग नही है और उपयोग में कर्म तथा नोकर्म भी नही है। जिस काल में ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है उस काल मे उपयोगस्वरूप शुद्ध आत्मा उपयोग के सिवाय अन्य कुछ भी भाव नही करता। ऐसा भेदविज्ञान ही अभिनन्दनीय है और इस भेदविज्ञान से ही उसी प्रकार शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है जिस प्रकार अग्नि से तपा हुआ भी सोना अपने स्वर्ण स्वभाव को नही छोडता। ज्ञानी जीव भी कर्मोदय से तप्त होने पर भी अपने ज्ञानस्वभाव को नही छोडता। सच तो यह है कि जीव शुद्ध को जानेगा तो शुद्ध की ही उपलब्धि होगी और यदि वह शुद्ध को जानता है तो उसे शुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होगी। यह और आगे जितना और जो भी कुन्दकुन्द का चिन्तन है वह सब दर्शन है—दर्शनशास्त्र है।

६. शिष्य प्रश्न करता है कि बन्ध कैसे टूटता है? कुन्दकुन्द इसका उत्तर देते हुए कहते है[११] कि बन्ध न तो उसके स्वरूप ज्ञान से टूटता है और न उसकी चिन्ता करने से वह नष्ट होता है। अपितु जैसे बन्धन मे बधा हुआ पुरुष उस बन्धन को तोड़ कर ही मुक्त होता है। उसी प्रकार जीव भी कर्म के बन्धन को छेद कर ही मुक्ति प्राप्त करता है। यहां उन्होने आचरण पर पूरा बल दिया है।

१०. आत्मा के कर्तृत्व को लेकर श्रमणो मे अनेक मत प्रचलित थे। उन सब की आलोचना कुन्दकुन्द ने गाथा ३२१, ३२२ और ३२३ मे की है और कहा है कि ऐसा मानने पर लोक और श्रमणों के कथन मे क्या भेद रहेगा? लोक बिष्णु को कर्ता मानते है और श्रमण आत्मा को। और इस प्रकार दोनो से ही मोक्ष सम्भव नही। कर्म कर्तृत्व मानने पर सांख्य मत के प्रसग का दोष देकर सांख्य मत को भी उन्होने प्रदर्शित किया है।[११] कहा है कि "तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे।"—प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु अकर्ता-प्रकृति कर्त्री है और पुरुष (आत्मा) अकर्ता है। कई मतो का और भी कुन्दकुन्द ने दिग्दर्शन कराया है। इसी प्रकरण में वे पुन: सांख्यमत को दिखाते

हुए कहते हैं[13] कि जो करता है वह वेदन नही करता— भोगता नही है। क्षणिकवादी बौद्धों का भी मत देते हैं[14] कि 'अन्य (क्षण) करता है और अन्य (क्षण) भोगता है। "ऐसे लोगों को क्या कहा जाय? उन्हे सत्य के परे ही जानना चाहिए।

इस प्रकार समयसार मे जहां एक अध्यात्म-पृष्ठ है वहां हम दूसरा दार्शनिक पृष्ठ भी देखते हैं। वस्तुत. बिना दर्शन के आध्यात्म को न समझा जा सकता है और न उसे प्राप्त किया जा सकता है।

कुन्दकुन्द का चिन्तन समयसार मे इतना गाढा हो गया है और लगता है कि इसे उन्होंने जीवन के अन्त में तब बनाया है जब वे इसके पूर्व कई ग्रन्थ रच चुके थे और समकालीन दार्शनिक मान्यताओ को अच्छी तरह अभ्यस्त कर चुके थे। तभी वे इसमे अपने समग्र मुनि-जीवन और आगमाभ्यास से अर्जित अनुभव को अस्खलित भाव से विन्यास कर सके। यह नि.सन्देह अमृत-कलश है। ओ शान्तिः।

सन्दर्भ सूची :—

१. वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्द.कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारूचारण-कराम्बुज-चंचरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥
श्रवणवेलगोला, चन्द्रगिरि-शिलालेख।
··········कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यंजयितु यतीशः।
रजः पद भूमितल विहाय चचार मन्ये चतुरंगुल सः॥
—श्रवणवेलगोला, विन्ध्यगिरि-शिलालेख,

२. डॉ० दरबारीलाल कोठिया, "आचार्य कुन्दकुन्द का प्राकृत वाग्मय और उनकी देन" शीर्षक लेख, "जैन-दर्शन और प्रमाणशास्त्रपरिशीलन"—पृ० २४ से ३०, वी० से० म० ट्रस्ट।

३. मगल भगवान् वीरो मगल गौतमो गणी।
मंगल कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मगल॥
शास्त्रप्रवचन का मंगलाचरणपद्य।

४. वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइ पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणिय॥
—समयपा० गा०—१।

५. जो समयपाहुडमिणं पढिदूण य अत्थतच्चदो णाऊ।
अत्थेठाही चेया सो होही उत्तम सोक्ख॥
—वही गा० ४१५।

६. पाखंडीलिंगेसु व गिहलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्त तेहिं ण णाय समयसार॥
—वही, गा० ४१३।

७. नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥
—अमृतचन्द्र, आत्मख्याति, मंगला० पद्य-१।

८. वही, मगला० पद्य ३।

९. "··· ·····समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचना-वयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्य-वाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते।"
—वही, गाथा २ की व्याख्या।

१०. ··· ····· "न खलु समयसारादुत्तर किंचिदस्ति"
—वही, कलश २४४, समयपाहुड गा० ४१३, ४१४ की आत्मख्याति।

११. वीतराग जिन नत्वा ज्ञानानन्दैकसम्पदम्।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्ति तात्पर्यसंज्ञिकाम्॥
—जयसेन, तात्पर्यवृत्ति, गा०-१, मगला०।

१२. "प्राभृत सार सारः शुद्धावस्था,
समयस्यात्मनः प्राभृत समयप्राभृत।"
—वही, ता० वृ० गा०-१, व्याख्या।

१३. स० पा० गा० ४१०, ४११।

१४. वही, गा०-१।

१५. वही, गा०-५।

१६. जयसेन, ता० वृ० गा-५।

१७. श्रोतव्य श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सतत ध्येय एते दर्शनहेतवः॥
"आत्मा वाऽरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्यः"
—उपनिषद्वाक्य।

१८. दृष्टमनुमानमाप्तवचन च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविध प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥
—ईश्वरकृष्ण, साख्यका० ४।

१९. अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमाला १-१।

२०. "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् तत्प्रमाणे,

(शेष पृ० २७ पर)

आगम-तुल्य ग्रन्थों की प्रामाणिकता का मूल्यांकन

डा० एन०एल० जैन, जैन केन्द्र, रीवां म०प्र०

वर्तमान वैज्ञानिक युग की यह विशेषता है कि इसमे विभिन्न भौतिक व आध्यात्मिक तथ्यो और घटनाओं की बौद्धिक परीक्षा के साथ प्रायोगिक साक्ष्य के आधार पर भी व्याख्या करने का प्रयत्न होता है। दोनों प्रकार के सपोषण से आस्था बलवती होती है। वैज्ञानिक मस्तिष्क दार्शनिक या सन्त की स्वानुभूति, दिव्यदृष्टि या मात्र बौद्धिक व्याख्या से सतुष्ट नही होता। इसीलिए वह प्राचीन शास्त्रों, शब्द या वेद की प्रमाणता की धारणा की भी परीक्षा करता है। जैन शास्त्रों मे प्राचीन श्रुत की प्रमाणता के दो कारण दिये है . (१) सर्वज्ञ, गणधर, उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा रचना और (२) शास्त्र वर्णित तथ्यो के लिये बाधक प्रमाणो का अभाव।[1] इस आधार पर जब अनेक शास्त्रीय विवरणों का आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है, तब मुनिश्री नदिघोष विजय[2] के अनुसार भी स्पष्ट भिन्नतायें दिखाई पडती है। अनेक साधु, विद्वान्, परपरापोषक और प्रबुद्धजन इन भिन्नताओ के समाधान में दो प्रकार के दृष्टिकोण अपनाते है :

(अ) **वैज्ञानिक दृष्टिकोण** के अनुसार ज्ञान का प्रवाह वर्धमान होता है। फलतः प्राचीन वर्णनो मे भिन्नता ज्ञान के विकास-पथ को निरूपित करती है। वे प्राचीन शास्त्रो को इस विकास पथ के एक मील का पत्थर मानकर इन्हे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे स्वीकृत करते है। इससे वे अपनी बौद्धिक प्राप्ति का मूल्याकन भी करते है।

(ब) **परंपरा पोषक दृष्टिकोण** के अनुसार समस्त ज्ञान सर्वज्ञ, गणधरों एव आरातीय आचार्यों के शास्त्रों मे निरूपित है। वह शाश्वत माना जाता है। इस दृष्टिकोण मे ज्ञान की प्रवाहरूपता एव विकास प्रक्रिया को स्थान प्राप्त नही है। इसलिये जब विभिन्न विवरणो, तथ्यो और उनकी व्याख्याओं मे आधुनिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे भिन्नता परिलक्षित होती है, तब इस कोटि के अनुसर्ता विज्ञान की निरन्तर परिवर्तनीयता एव शास्त्रीय अपरिवर्तनीयता की चर्चा उठाकर परपरापोषण को महत्त्व देते है। यह प्रयत्न अवश्य किया जाता है कि इन व्याख्याओ से अधिकाधिक सगतता आवे चाहे इसके लिये कुछ खीचतान ही क्यों न करनी पडे। अनेक विद्वानो को यह धारणा सभवत: उन्हे अरुचिकर प्रतीत होगी कि अग-साहित्य का विषय युगानुसार परिवर्तित होता रहता है। साथ ही, पोषण का अर्थ केवल सरक्षण ही नही, सवर्धन भी होता है। जैन शास्त्रो के कालदृष्टीय अध्ययन से ज्ञात होता है कि शास्त्रीय आचार-विचार की मान्यतायें नवमी दशमी सदी तक विकसित होती रही है। इसके बाद इन्हे स्थिर एव अपरिवर्तनीय क्यो मान लिया गया, यह शोधनीय है। शास्त्री[3] का मत है कि परपरापोषक वृत्ति का कारण सभवत: प्रतिभा की कमी तथा राजनीतिक अस्थिरता माना जा सकता है। पापभीरुता[4] भी इसका एक सभावित कारण हो सकती है। इस स्थिति ने समग्र भारतीय परिवेश को प्रभावित किया है।

शास्त्री[5] ने आरातीय आचार्यों को श्रुतधन, सारस्वत, प्रबुद्ध, परंपरापोषक एव आचार्यतुल्य कोटियो में वर्गीकृत किया है। इनमे प्रथम तीन कोटियो के प्रमुख आचार्यो के ग्रन्थो का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि प्रत्येक आचार्य ने अपने युग मे परपरागत मान्यताओ मे युगानुरूप नाम, भेद, अर्थ और व्याख्याओ मे परिवर्धन, सशोधन तथा विलोपन कर स्वतत्र चिन्तन का परिचय दिया है। इनके समय मे ज्ञानप्रवाह गतिमान् रहा है। इस गतिमत्ता ने भी हमे आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से गरिमा प्रदान की है। हम चाहते हैं कि इसी का आलंबन लेकर नया युग और भी गरिमा प्राप्त करे। इसके लिये मात्र परंपरापोषण की दृष्टि से हमे ऊपर उठाना होगा। आचार्यों की प्रथम तीन कोटियों की

प्रवृत्ति का अनुसरण करना होगा। उपाध्याय अमर मुनि[1] ने भी इस समस्या पर मंथन कर ऐसी धारणा प्रस्तुत की है। हम इस लेख में कुछ शास्त्रीय मन्तव्य प्रकाशित कर रहे है जिससे यही मन्तव्य सिद्ध होता है।

आचार्यों और ग्रन्थों की प्रामाणिकता

हमने जिनसेन के 'सर्वज्ञोक्त्यनुवादिन.' के रूप में आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों को प्रामाणिकता की धारणा स्थिर की है।[2] पर जब विद्वज्जन इनका समुचित और सूक्ष्म विश्लेषण करते है, तो इस धारणा मे सन्देह उत्पन्न होता है एवं संदेह निवारक धारणाओ के लिये प्रेरणा मिलती है।

सर्वप्रथम हम महावीर की परंपरा पर ही विचार करें। हमे विभिन्न स्रोतो से महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्षों की आचार्य परंपरा प्राप्त होती है।[3] इसमे कम-से-कम चार विसंगतियां पाई जाती है। दो का समाधान जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति से होता है, पर अन्य दो यथावत् बनी हुई हैं:

(१) महावीर के प्रमुख उत्तराधिकारी गौतम गणधर हुए। उसके बाद और जबूस्वामी के बीच मे लोहार्य और सुधर्मा स्वामी के नाम भी आते है। यह तो अच्छा रहा कि जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति मे स्पष्ट रूप से सुधर्मा स्वामी और लोहार्य को अभिन्न बनाकर यह विसगति दूर की और तीन ही केवली रहे।

(ii) पाँच श्रुतकेवलियों के नामो मे भी अतर है। पहले ही श्रुतकेवली कही "नन्दी' है तो कही 'विष्णु' कहे गये है। इन्हें विष्णुनन्दि मानकर समाधान किया गया है।

(iii) धवला मे सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु एव लोहाचार्य को केवल एक आचारांगधारी माना गया है जबकि प्राकृत पट्टावली मे इन्हें क्रमशः १०, ६, ८ अंगधारी माना है। इस प्रकार इन चार आचार्यों की योग्यता विवादग्रस्त है।

(iv) ६८३ वर्ष की महावीर परंपरा मे एकांगधारी पुष्पदंत-भूतबलि सहित पांच आचार्यों (११८ वर्ष) को समाहित किया गया है और कही उन्हें छोडकर ही ६८३ वर्ष की परपरा दी गई है जैसा सारिणी १ से स्पष्ट है। एक सूची में १०, ६, ८ अगधारियों के नाम ही नही हैं।

सारिणी १ धवला और प्राकृत पट्टावली की ६८३ वर्ष-परंपरा

	धवला परंपरा	प्राकृत पट्टावली परंपरा	
३ केवली	६२ वर्ष	६२ वर्ष	
५ श्रुतकेवली	१०० ,,	१०० ,,	
११ दशपूर्वधारी	१८३ ,,	१८३ ,,	
५ एकादशांगधारी	२२० ,,	१२३ ,,	
४ १०, ६, ८ अगधारी	—	९७ ,,	
४ एकांगधारी	११८ ,,	११८ ,,	(पाँच एकांगधारी)
	६८३	६८३	

फलतः आचार्यों की परपरा मे ही नाम, योग्यता और कार्यकाल में भिन्नता है। यह परपरा महावीर-उत्तर कालीन है। महावीर ने विभिन्न युग में आचार्यों के लिए भिन्न-भिन्न परंपरा के लेखन की दिव्य ध्वनि विकीर्ण न की होगी। आधुनिक दृष्टि से इन विसगतियो के दो कारण संभव है:

(अ) प्राचीन समय के विभिन्न आचार्यों और उनके साहित्य के संचरण एव प्रसारण की व्यवस्था और प्रक्रिया का अभाव।

(ब) उपलब्ध, प्रत्यक्ष, अपूर्ण या परोक्ष सूचनाओ के आधार पर परंपरा पोषण का प्रयत्न।

नगे युग मे ही कारण प्रमाणिकता में प्रश्नचिह्न लगाते है। फिर, यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि कौन सी सूची प्रमाण है?

मूलाचार[4] के अनुसार, आचार्य शिष्यानुग्रह, धर्म एवं मर्यादाओं का उपदेश, संघ-प्रवर्तन एव गण-परिरक्षण का कार्य करते है, अंतिम दो कार्यों के लिये एतिहासिक एव जीवन परंपरा का गुंथन आवश्यक है। पर आरम्भ के प्रायः सभी प्रमुख आचार्यों का जीवनवृत्त अनुमानतः ही निष्कर्षित है। आत्म-हितैषियो के लिये इसका महत्त्व न भी माना जावे, तो भी परंपरा या ज्ञानविकास की क्रमिक धारा और उसके तुलनात्मक अध्ययन के लिये यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में इस इतिहास-

निरपेक्षता की शक्ति को गुण माना जाय या दोष—यह विचारणीय है। एक ओर हमें 'अज्ञात कुलशीलस्य, वासो देयो न कस्यचित्' की सूक्ति पढ़ाई जाती है, दूसरी ओर हमे ऐसे ही सभी आचार्यों को प्रमाण मानने की धारणा दी जाती है। यह और ऐसी ही अन्य परस्पर-विरोधी मान्यताओं ने हमारी बहुत हानि की है। उदाहरणार्थ, शास्त्री[9] द्वारा समीक्षित विभिन्न आचार्यों के काल-विचार के आधार पर प्रायः सभी प्राचीन आचार्य समसामयिक सिद्ध होते है :

१. गुणधर	११४ ई० पू०	—	—
२. धरसेन	५०-१०० ई०	प्रथम सदी	सौराष्ट्र, महाराष्ट्र
३. पुष्पदत	६०-१०६ ई०	,,	आंध्र, महाराष्ट्र
४. भूतबलि	७६-१३६ ई०	१-२ सदी	आंध्र
५. कुंदकुंद	८१-१६५ ई०	१-२ सदी	तमिलनाडु
६. उमास्वाति	१००-१८० ई०	२ सदी	,,
७. वट्टकेर	—	प्रथम सदी	,,
८. शिवार्य	—	,,	मथुरा
९. स्वामिकुमार (कार्तिकेय)	—	२-३ सदी	गुजरात

इनमें गुणधर, धरसेन, पुष्पदत और भूतबलि का पूर्वापर्य और समय तो पर्याप्त यथार्थता से अनुमानित होता है। पर कुंदकुंद और उमास्वाति के समय पर पर्याप्त चर्चायें मिलती है। यदि इन्हें महावीर के ६८३ वर्ष बाद ही मानें, तो इनमे से कोई भी आचार्य दूसरी सदी का पूर्ववर्ती नही हो सकता (६८३-५२७=१५६ ई०)। इन्हे गुरु शिष्य मानने मे भी अनेक बाधक तर्क है ;

(i) उमास्वाति की बारह भावनाओं के नाम व क्रम कुंदकुंद से भिन्न है।

(ii) उमास्वाति ने वट्टकेर के पंचाचार और शिवार्य के चतुराचार को सम्यक् रत्नत्रय में परिवर्धित किया। उन्होने तप और वीर्य को चरित्र मे ही अन्तर्भूत माना।

(iii) कुंदकुंद के एकार्थी पांच अस्तिकाय. छह द्रव्य, सात तत्व और नौ पदार्थों की विविधा को दूर कर उन्होने सात तत्वों की मान्यता को प्रतिष्ठित किया।

(iv) उमास्वाति ने अद्वैतवाद या निश्चय-व्यवहार दृष्टियों की वरीयता पर माध्यस्थ्य भाव रखा।

(v) उमास्वाति ने ज्ञान को प्रमाण बनाकर जैन विद्याओं मे सर्वप्रथम प्रमाणवाद का समावेश किया।

(vi) उमास्वाति ने श्रावकाचार के अन्तर्गत ग्यारह प्रतिमाओ पर मौन रखा। संभवतः इसमे उन्हें पुनरावृत्ति लगी हो।

शिष्यता से मार्गानुसारिता अपेक्षित है। परंतु लगता है कि उमास्वाति प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने तत्कालीन समग्र साहित्य म व्याप्त चर्चाओ की विविधता देखकर अपना स्वय का मत बनाया था। यही दृष्टिकोण वर्तमान में अपेक्षित है।

उमास्वाति के समान अन्य आचार्यों ने भी सामयिक समस्याओ के समाधान की दृष्टि से परंपरागत मान्यताओं में संयोजन एवं परिवर्धन आदि किये है। इसलिये धार्मिक ग्रथो में प्रतिपादित सिद्धांत, चर्यायें या मान्यतायें अपरिवर्तनीय है, ऐसी मान्यता तर्क सगत नही लगती। विभिन्न युगो के ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि अहिंसादि पांच नीतिगत सिद्धांतों की परंपरा भी महावीर-युग से ही चली है। इसके पूर्व भगवान् रिषभ की त्रियाम (समत्व, सत्य स्वायत्तता) एवं पार्श्वनाथ की चतुर्याम परपरा भी।[10] महावीर ने ही अचेलकत्व तो प्रतिष्ठित किया। महावीर ने युग के अनुरूप अनेक परिवर्धन कर परंपरा को व्यापक बनाया। व्यापकीकरण की प्रक्रिया को भी परंपरापोषण ही माना जाना चाहिये। यद्यपि आज के अनेक विद्वान् इस निष्कर्ष से सहमत नही प्रतीत होते पर परपरायें तो परिवर्धित और विकसित होकर ही जीवन्त रहती है। वस्तुतः देखा जाय, तो जो लोग मूल आम्नाय जैसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं, उसका विद्वान् जगत के लिये कोई अर्थ ही नहीं है। बीसवी सदी मे इस शब्द की सही परिभाषा देना ही कठिन है ? भ० रिषभ को मूल माना जाय या भ० महावीर को ? इस शब्द की व्युत्पत्ति स्वय यह प्रदर्शित करती है कि यह व्यापकीकरण की प्रक्रिया के प्रति अनुदार है। हा बीसवी सदी के कुछ लेखक[11] समन्वय की थोड़ी बहुत सभावना को अवश्य स्वीकार करने लगे हैं।

सैद्धान्तिक मान्यताओं में संशोधन और उनकी स्वीकृति

उपरोक्त तथा अन्य अनेक तथ्यों से यह पता चलता है

कि समय-समय पर हमने अपनी पूर्वगत अनेक सैद्धान्तिक मान्यताओं के संशोधनों को स्वीकृत किया है जिसमे कुछ निम्न है :

(i) हमने विभिन्न तीर्थंकरो के युग मे प्रचलित त्रियाम, चतुर्याम और पचयाम धर्म के परिवर्धन को स्वीकृत किया।

(ii) हमने विभिन्न आचार्यों के पचाचार, चतुराचार एवं रत्नत्रय के क्रमशः न्यूनीकरण को स्वीकृत किया।

(iii) हमने प्रवाह्यमान (परंपरागत) और अनुवाह्यमान (सवधित) उपदेशो को भी हमने मान्यता दी।[१२]

(iv) अकलक और अनुयोग द्वार सूत्र ने लौकिक संगति बैठाने के लिये प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये जिनके विरोधी अर्थ है : लौकिक और पारमार्थिक। इन्हे भी हमने स्वीकृत किया और यह अब सिद्धान्त है।[१३]

(v) न्याय विद्या मे प्रमाण शब्द महत्वपूर्ण है। इसकी चर्चा के बदले उमास्वातिपूर्व साहित्य मे ज्ञान और उसके सम्यक्त्व या मिथ्यात्व की ही चर्चा है। प्रमाण शब्द की परिभाषा भी। 'ज्ञान प्रमाण' से लेकर अनेक बार परिवर्धित हुई है। इसका वर्णन द्विवेदी ने दिया है।[१४]

(vi) हमने अर्धफालक और यापनीय आचार्यों को अपने गर्भ मे समाहित किया जिनके सिद्धान्त तथाकथित मूल परपरा से अनेक बातो मे भिन्न पाये जाते है।

ये तो सैद्धान्तिक परिवर्धनों की सूचनायें है। ये हमारे धर्म के आधारभूत तत्व रहे है इन परिवर्धनो क परिप्रेक्ष्य में हमारी शास्त्रीय मान्यताओं की अपरिवर्तनीयता का तर्क कितना सगत है, यह विचारणीय है। मुनिश्री[६] ने इस समस्या के समाधान के लिये शास्त्र और ग्रन्थ की स्पष्ट परिभाषा बताई है। उनके अनुसार केवल अध्यात्म विद्या ही शास्त्र है जो अपरिवर्तनीय है, उनमे विद्यमान अन्य वर्णन ग्रन्थ की सीमा मे आते है और वे परिवर्धनीय हो सकते है।

शास्त्रों में पूर्वापर विरोध :

शास्त्रों की प्रमाणता के लिए पूर्वापर-विरोध का अभाव भी एक प्रमुख बौद्धिक कारण माना जाना है। पर यह देखा गया है कि अनेक शास्त्रों के अनेक सैद्धान्तिक विवरणों में परस्पर विरोध तो है ही, एक ही शाखा के विवरणो मे भी विसंगतियां पाई जाती हैं। परंपरापोषी टीकाकारों ने ऐसे विरोधी उपदेशों को भी ग्राह्य बताया है। यह तो उन्होंने स्वीकृत किया है कि विरोधी या भिन्न मतों में से एक ही सत्य होगा पर वीरसेन, वसुनदि जैसे टीकाकार और छद्मस्थों मे सत्यासत्य निर्णय की विवेक क्षमता कहां ?[१५] इन विरोधी विवरणों की ओर अनेक विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ है।

सबसे पहले हम मूल ग्रन्थों के विषय में ही सोचे। सारणी २ से ज्ञात होता है कि कषायप्राभृत, मूलाचार एव कुन्दकुन्द साहित्य के भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने तत्तत् *ग्रन्थो मे सूत्र या गाथा की सख्याओ मे एकरूपता ही नही* पाई। इसके अनेक रूप में समाधान दिए जाते हैं। इस *भिन्नता का सद्भाव ही इनकी प्रामाणिकता की जांच के* लिए प्रेरित करता है। ये अतिरिक्त गाथाएँ कैसे आई ? क्यों हमने —

सारणी २ : कुछ मूलग्रन्थों की गाथा/सूत्र संख्या ५

ग्रन्थ	गाथा सख्या प्रथम टीकाकार	गाथा सख्या द्वितीय टीकाकार
१ कसायपाहुड	१८०	२३३ (जयधवला)
२. कसाय पाहुड़चूर्णि	८००० श्लोक (ति.प.)	७००० ,,
३. सत्पुरूपणासूत्र	१७७	१००
४. मूलाचार	१२५२ (वसुनंदि)	१४०९ (मेघचद्र)
५. समयसार	४१५ अमृतचंद्र	४४५ जयसेन
६. पचास्तिकाय	१७३ ,,	१८१ ,,
७ प्रवचनसार	२७५ ,,	३१७ ,,

इनको भी प्रामाणिक मान लिया ? यही नही, इन ग्रन्थों मे अनेक गाथाओं का पुनरावर्तन है जो ग्रन्थनिर्माण प्रक्रिया से पूर्व परम्परागत मानी जाती है। ये सघभेद से पूर्व की होने के कारण अनेक श्वेताबर ग्रथों मे भी पाई जाती हैं। गाथाओ का यह अन्तर अन्योन्य विरोध तो माना ही जावेगा। कुन्दकुन्द साहित्य के विषय मे तो यह और भी अचरजकारी है कि दोनों टीकाकार लगभग १०० वर्ष के अन्तराल मे ही उत्पन्न हुए।

(शेष पृ० २८ पर)

आगम के मूल रूपों में फेर-बदल घातक है

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

निवेदन :—

एक ओर जब मुसलमानों के कुरान की स्थिति वही है, जो पहिले थी और आगे वैसी ही रहेगी जैसी आज है। उसके जेर-जबर, सीन-स्वाद, अलिफ-ऐन और तोय-ते में कहीं कोई फर्क नहीं आया। हिन्दुओं के वेद भी वे और वैसे ही प्रामाणिक हैं जैसे थे। तब दूसरी ओर कुछ जैनों ने आगमों में गलत शब्द रूपों के मिश्रित होने की (भ्रामक) बात को प्रचारित कर आगम भाषा के सही ज्ञान के विना ही, ना समझी में आगमों के संशोधन का उपक्रम चलाकर यह सिद्ध कर दिया है कि अब तक जो हम पढ़ते रहे हैं वह आगम का गलत रूप था। इससे यह भी सिद्ध हुआ है कि आगमरूप बदलता रहा है और पहिले की भांति आगे भी बदलता रह सकेगा। क्योंकि इसकी कोई गारण्टी नहीं कि अब जो संशोधन होगा वह ठीक ही होगा। फलतः हमारी समझ से कोई भी बदलाव जैन सिद्धान्त की प्रामाणिकता पर जबरदस्त चोट और जैनेतर ग्रन्थों के मुकाबले जैन आगम रूप को अप्रामाणिक सिद्ध करने वाला है। यदि लोग प्राकृत भाषा के रूप को समझेंगे—जैन-आगम की भाषा को समझेंगे तो वे अवश्य इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि हमारे आगमों में सिद्धान्तों की भांति भाषा-दृष्टि से भी कहीं किसी भी तरह से कोई मिश्रण या कोई विरूपता नहीं है—वे जैसे, जिस रूप में है प्रामाणिक हैं—उन्हें वैसे ही रहने दिया जाय। इसी भावना के साथ श्रद्धापूर्वक कुछ लिखा है—विचार करें। —लेखक

दिगम्बर गुरुओं मे विकृति आने और आगम के अर्थों में फेर-बदल के चर्चे तो चल ही रहे थे। अब कुछ लोगो ने संशोधनों के नाम पर मूल-आगमो की भाषा में परिवर्तन करने-कराने का लक्ष्य भी बनाया है—वे परिवर्तन कर रहे हैं। सोचें—जब पुराने पाषाण-खण्डों (पुरातत्त्व) की रक्षा महत्त्वपूर्ण मानी जा रही है तब क्या हमारे आगम-ग्रन्थ उनसे भी गए-बीते है? जो उन्हें विकृत किया जा रहा है। वास्तविकता तो यह है कि अभी तक कई लोग दि० जैन आगमों की भाषा का सही निर्णय ही नहीं कर पाए है। कभी किसी ने लिख या कह दिया कि 'दि० जैन आगमों की भाषा शौरसेनी है' तो उसी आधार पर आज कई विद्वान् आगम-भाषा को ठेठ शौरसेनी माने बैठे है। हमें एक लेख अब भी मिला है, जिसमे लेखक विद्वान् ने आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा को शौरसेनी लिखा है। जब कि तथ्य यह है कि दि० आगमों की भाषा शौरसेनी न होकर जैन-शौरसेनी है। ध्यान रहे कि शौरसेनी और जैन-शौरसेनी ये दो पृथक्-पृथक् भाषा हैं और दोनों में अन्तर है। जहां शौरसेनी में भाषा सम्बन्धी बंध नियम हैं, वहां जैन-शौरसेनी-नियम बंधन-मुक्त है—जैन-शौरसेनी कई भाषाओं का मिला जुला रूप है और इस विषय में प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् एक मत है। तथाहि—

'In his observation on the Digamber test Dr. Denecke discusses various points about some Digamber Prakrit works... He remarks that the language of there works is influenced by Ardhmagdhi, Jain Maharastri which Approaches it and Saurseni.' —Dr. A.N. Upadhye
(Introduction of Pravachansara)

'The Prakrit of the sutras, the Gathas as well as of the commentary, is Saurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharashtri on the other, and

this is exactly the nature of the language called 'Jain Saurseni.' Dr. Hiralal
(Introduction of षट् खडागम P. IV)

'जैन महाराष्ट्री का नामचुनाव समुचित न होने पर भी काम चलाऊ है। यही बात जैन शौरसेनी के बारे में और जोर देकर कही जा सकती है। इस विषय में अभी तक जो थोडी-सी शोध हुई है, उससे यह बात विदित हुई है कि इस भाषा मे ऐसे रूप और शब्द है जो शौरसेनी में बिल्कुल नही मिलते बल्कि इसके विपरीत वे रूप और शब्द कुछ महाराष्ट्री और कुछ अर्धमागधी में व्यवहृत होते हैं।

—पिशल, प्राकृत भाषाओ का व्याकरण पृ० ३८

'प्राचीन गाथाओं की भाषा शौरसेनी होते हुए भी महाराष्ट्रीपन से युक्त है। भाषाओ की दृष्टि से गाथाओं मे एकरूपता नही है।'—

'अर्धमागधी और महाराष्ट्री का सम्मिलित प्रभाव इन पर देखा जा सकता है।' —डा० नेमिचन्द्र, आरा
प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० २१७

उक्त मान्यता की पुष्टि मे हम दि० आगमो के विविध उद्धरण दे इससे पूर्व कुछ इन भाषाओं के नियमो का अवलोकन कर ले तो विषय और स्पष्ट होगा। उससे यह भी स्पष्ट होगा कि शौरसेनी के ऐसे कई रूप है। जिन्हे दि० आचार्यों ने ग्रहण नही किया और उनकी जगह सामान्य—अन्य प्राकृतो के रूपों को भी ग्रहण किया। जैसे—शोरसेनी के नियमों मे एक सूत्र है—'तस्मात्ता'—प्राकृत शब्दानुशासन, ३/२/१३. इसका अर्थ है—शौरसेनी में 'तस्मात्' शब्द को 'ता' आदेश होता है। जैसे कि—'**ता** अलं एदिणा माणेण।' इसमे तस्मात् के स्थान पर '**ता**' हुआ है। यदि दि० आचार्यों को केवल शौरसेनी मान्य रही होती तो वे अपनी कृतियो मे सभी जगह तस्मात् की जगह 'ता' का प्रयोग करते। पर, उन्होंने उक्त नियम की उपेक्षा कर अन्य भाषाओं के शब्द-रूपो को भी आगम मे स्थान दिया। जैसे—समयसार-गाथा १०, ३४, ११२, १२७, १२८, १२९; नियमसार गाथा १४३, १४४, १५६ में 'तम्हा' का ग्रहण है, जब कि शौरसेनी के नियमानुसार वहाँ 'ता' होना चाहिए था।

दूर क्यों जाते हैं, हमें तो कुन्दकुन्द के ग्रन्थ 'समय-पाहुड' के नामकरण मे भी शौरसेनी की उपेक्षा हुई दिखती है। तथाहि—'पाहुड' शब्द संस्कृत के 'प्राभृत' शब्द का प्राकृतरूप है जिसका अर्थ भेंट होता है। यदि इस शब्द-रूप को शौरसेनी के नियम से देखना चाहें तो वह 'पाहुद' होगा। क्योकि शौरसेनी मे नियमों में एक सूत्र है—'दस्तस्य शौरसेन्यामरवावचोऽस्तोः।' —प्राकृतशब्दानु-शासन ३/२/१, इसमें 'त' को 'द' होने का विधान है, 'ड' होने का विधान नही। पर आचार्य ने उक्त नियम की उपेक्षा कर अन्य प्राकृतो के नियमानुसार 'त' को 'ड' कर दिया है। अन्य प्राकृतो के नियम हैं—'तो डः पताका प्राभृति **प्राभृत** व्यापृत प्रते।' प्राकृतचन्द्रिका २/१७; 'ड प्रत्यादौ'—प्राकृत-सर्वस्व, २/१०; 'तस्य हत्व हरीत-क्यां प्राभृते मृतके तथा।'—वसन्तराज २/ ० Introduction of A.N. Upadhye in प्राकृत सर्वस्व।

इसी प्रकार दि० आगमों मे उन सभी प्राकृतो के रूप मिलते है जो रूप जन शौरसेनी की परिधि मे आते है। दि० आचार्यों ने न तो सर्वथा महाराष्ट्री को अपनाया और न सर्वथा शौरसेनी या अर्धमागधी को अपनाया। अपितु उन्होने उन सभी प्राकृतो के रूपो को (भिन्न-भिन्न स्थलो में) अपनाया जो जैन-शौरसेनी मे सहयोगी है और जैसा उपर्युक्त विद्वानों का मत है। और प्राचीन दि० आगमो और आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओ मे इसी आधार पर विविध प्राकृतो के प्रयोग मिलते है—दिगम्बर आचार्य किसी एक प्राकृत के नियमो को [illegible] कर नही चले। यदि बारीकी से देखें तो प्राकृत भाषा के नियमो की परिधि बहुत विशाल है—शौरसेनी मे तो कुछ ही परिवर्तन है; प्राकृत शब्दानुशासन मे तो शौरसेनी सम्बन्धी मात्र २६ सूत्र है (देखें अध्याय ३ पाद २) ऐसे मे क्या २६ सूत्र मात्र से जैन आगमों की रचना हो सकती है? जरा सोचिए! मानना पड़ेगा कि आगमो मे अन्य प्राकृत-नियमों का भी समावेश है। उदाहरण के लिए 'पाहुड' शब्द को ही लीजिए। इसमें जो 'भ' को 'ह' और 'ऋ'

को 'उ' हुआ है—वह अन्य प्राकृतो के नियमो से हुआ है। तथाहि—

'ख घ थ ध भाम्।'–त्रिविक्रम १/३/२० से भ् को ह् (महाराष्ट्री)।

'जैवात्रिके परभृते संभृते प्राभृते तथा।'—प्राकृत-चन्द्रिका, ३/१०८ (साधा०) से 'ऋ' को 'उ' आदेश हुआ। क्या शौरसेनी के सूत्रो मे कोई स्वतत्र नियम है जिनसे 'पाहुड' शब्द बन सका हो ? फलतः—भाषा की दृष्टि से आगमों के संशोधन की बात सर्वथा निराधार है।

उक्त स्थिति में हम तो यही कहेगे कि या तो सशोधकगण पूर्व महान् विद्वानो से अधिक विद्वान् है या उनमें 'अहं' भाव—अपनी यश कामना का भाव है कि लोग वर्तमान मे हमे विद्वान् समझें और बाद मे रिकार्ड रहे कि अमुक भी कोई आगम-पण्डित हुए जिन्होने आगमो का संशोधन किया। वरना, जैन आगमो के विविध प्रयोग हमारे सामने ही है। हमे तब और आश्चर्य होता है, जब आगम भाषा को 'जैन-शौरसेनी' स्वीकार करने वाले भी आगम-ग्रन्थो को किसी एक भाषा के नियमो मे बांधने का प्रयत्न करें और आगम की छवि को बिगाड़ें।

दिगम्बर जैन आगमों में उपलब्ध विविध प्रयोग—

१. षट्खण्डागम [१-१-१]

(क) (महाराष्ट्री के नियमानुसार 'द' को हटाया)
उप्पजइ (दि) पृ० ११०, कुणइ पृ० ११०, वण्णेइ पृ० ६८, परूवेइ पृ० ६६, उच्चइ पृ० १७१, गच्छइ पृ० १७१, ढुक्कइ पृ० १७१, भणइ पृ० २६६, सभवइ पृ० ७४, मिच्छाइट्ठि पृ० २०, वारिसकालो कओ पृ० ७१ इत्यादि।

(ख) (शौरसेनी के अनुसार 'द' को रहने दिया)
सुदपारगा पृ० ६५, वण्णेदि पृ० ६६, उच्चदि पृ० ७६, परूवेदि पृ० १०५, उपक्कमो गदो पृ० ८२, सदं पृ० १२२, णिग्गदो पृ० १२७।

(ग) ('द' लोप के स्थान मे 'य'* सभी प्राकृतों के अनुसार)
सुयमायरपारया पृ० ६६, भणिया पृ० ६५, सुयदेवया पृ० ६, सुयदेवदा पृ० ६८, वरिसाकालोकओ² पृ० ७१, णवयसया (ता)पृ० १२२, कायव्वा पृ० १२५, णिग्गया पृ० १२७, सुयणाणाइच्च (तिलो०प०) पृ० ३५।

२. कुन्दकुन्द 'अष्टपाहुड' के विविध प्रयोग :—
(ग्रन्थनाम, शब्द और गाथा क्रम)

	होवि	होइ	होई	हवइ	हवदि	हवेई
दर्शनपाहुड	२६	११, २७, ३१	१४	२०	—	—
सुत्तपाहुड	६, २०	११, १४, १७ २०, २४	—	१९	२२	—
चरित्तपाहुड	—	१६, ४५	—	३४, ३६	—	—
बोधपाहुड	—	१५, ३६	११, २९	—	—	—
भावपाहुड	—	—	१२७, १४० १४३, १५१	११६	२०	५१, २८, ७६
मोक्खपाहुड	७०, ८३, १०१	५२, ९०	हवइं ५०	१४, १८, ३८, ४७	५१, ४८	८७, १००
लिंगपाहुड	—	२, १३, १४	—	—	—	—
शीलपाहुड	—	६	१२१	—	—	—
नियमसार	१८, २९, ४५ ५५, ५८, ६४ ८२, ८३, ९४ १०७, १४२	२, ४, ३१ ५६, ५७ १६६, १६८ १६९, १७१ १७४, १७५	१०, १२७ १६३, १७९, १६६, १६८	—	११३, ११४ १६१, १६२	५, २०, १५०

* जैन महाराष्ट्री में लुप्त वर्ण के स्थान पर 'य' श्रुति का उपयोग हुआ है जैसा जैन-शौरसेनी मे भी होता है।
२. 'द' का लोप है 'य' नहीं किया। —षट्खडागम भूमिका पृ० ८६

नोट—टोडरमल स्मारक जयपुर से प्रकाशित 'कुंदकुंद शतक' में भी विभिन्न पाठ हैं—
दर्शनपाहुड गाथा २६ में 'होवि' गाथा २७ में 'होइ', 'समयसार' गाथा १९ मे 'हवदि'।

इसी प्रकार अन्य प्रचुर शब्द हैं जो विभिन्न रूपों में दि० जैन आगमो में प्रयुक्त किए गए हैं और कई ऐसे भी शब्द हैं जो शौरसेनी के नियम मे होते हुए भी इन आगमों मे कहीं-कही नही लिए गए है। जैसे शौरसेनी में एक सूत्र है—'इ अ दूणौ क्त्वः।'—प्राकृत शब्दानुशासन, ३/२/१० इसका अर्थ है—शौरसेनी मे क्त्व प्रत्यय को इ अ और दूण ये आदेश होते हैं। इसके अनुसार 'समय पाहुड' के मगलाचरण के 'वंदित्तु' शब्द के स्थान पर 'वन्दिअ या वंदिऊण' होना चाहिए जो नही हुआ। इससे तो ऐसा ही सिद्ध होता है कि यदि समयसार शौरसेनी का आगम होता तो यह 'प्रथमे ग्रासे—(मगलाचरण के प्रथम शब्द मे) मक्षिकापातः' न होता।

आज स्थिति ऐसी है कि बाज लोग जैन-शौरसेनी के नियमो की अवहेलना कर आगम में आए शब्दों को बदल रहे हैं। जैसे—पुग्गल को पोंग्गल, लोए को लोगे, एइ को एदि, वत्तुं को वोत्तु आदि। प्रवचनसार में पुग्गल और पोग्गल दोनो रूप मिलते है—गाथा २/७६, २/६३, २/७८; पिशल मे लिखा है 'जैन-शौरसेनी मे पुग्गल' रूप भी मिलता है'—पैरा १२४; षट्खण्डागम के मंगलाचरण—मूलमंत्र णमोकार मे 'लोए' अक्षुण्ण रूप में पाया जाता है जो आबाल-वृद्ध सभी मे श्रद्धास्पद है। पिशल मे लिखा है—'प्राकृत' मे निम्न उदाहरण मिलते हैं—'एति' के स्थान में 'एइ' बोला जाता है, 'लोके' को 'लोए' कहते हैं।'—पैरा १८६; यदि सभी जगह 'द' को रखना इष्ट होगा तो 'पढम होइ मगलं' इस आबाल-वृद्ध प्रचलित पद को 'पढम होदि मगलं' रूप मे पढ़ना पड़ेगा—जैसा कि चलन जैन के किसी सम्प्रदाय मे नही।

यद्यपि प्राकृत-वैयाकरणियों ने जैन-शौरसेनी को प्राकृत को मूल-भेदो मे नही गिनाया, तथापि जैन-साहित्य में उसका अस्तित्व प्रचुरता से पाया जाता है। दिगम्बर-साहित्य इस भाषा से वैसे ही ओत-प्रोत है जैसे श्वेताम्बर-मान्य आगम अर्धमागधी से। सम्भवतः उत्तर से दक्षिण में जाने के कारण दिगम्बराचार्यों ने जैन-शौरसेनी को जन्म दिया—प्रचार की दृष्टि से भी ऐसा किया जा सकता है। जो भी हो, यह दृष्टि बड़ी विचारपूर्ण और पैनी है। इससे जैन-सिद्धान्त को समझने मे सभी को आसानी हुई होगी और सिद्धान्त सहज प्रचार में आता रहा होगा—देश-देश के शब्द आचार्यों ने इसीलिए अपनाए होंगे—शूरसेन जनपद मे आए तो उन्होने शौरसेनी शब्द लिए और महाराष्ट्र मे गए तो कुछ महाराष्ट्री रूप। इस तरह जैन आगमों की भाषा जैन-शौरसेनी' बनी दिखती है।

हम स्मरण दिला दें कि हमें देव-शास्त्र गुरु के प्रति और निर्ग्रन्थ-वीतराग जिनधर्म के प्रति जैसी श्रद्धा बनी है, वह दिगम्बर समाज के व्यवहार से ही बनी है। कही निराशा और कही आशा—इन दोनो ने ही हमें वस्तु स्वरूप-चिन्तन की दिशा दी है। फलतः धर्म-समाज के हित में जो भाव हमें उठते है, लिख देते हैं—लोग समझते हैं—यह हमारी खिलाफत करता है। हमे याद है—कभी हमने 'अनुत्तर योगी' की भी ऐसी ही विसगतियो की ओर पाठकों का ध्यान खीचा था और प्रबुद्धों ने हमारा साथ दिया। जिन लोगो को तब पछतावा नही हुआ था, वे तब जागृत हुए जब आचार्य तुलसी की सस्था से 'दिगम्बर-मत' शीर्षक द्वारा दिगम्बरो पर चोट की गई। वे भी विरोध को बौखला उठे। खैर, 'देर आयद दुरुस्त आयद।'

हम चाहते है—देव-शास्त्र-गुरु के मूलरूपो मे किसी प्रकार की विसगति न हो और समाज सावधान हो। यदि आगमो के मूल-शब्दरूपो मे बदलाव आता है तो निश्चय समझिए—आगम विरूप और लुप्त हो जायगा, इसमें सन्देह नही। हम नही चाहते कि जैसे हमारी शिथिलता से, हमारे दि० गुरुओ मे विरूपता आने लगी है वैसे आगम भी दूषित हो। यतः आगम मार्ग-दर्शक और मूल हैं, गुरु के रूप को भी वही सभारता है और मोक्षमार्ग का सकेत भी वही देता है। आशा है—प्रबुद्ध वर्ग हमारी विनती पर ध्यान देगा।

एक बात और। तत्त्वार्थसूत्र में देवों के प्रति एक स्वाभाविक नियम है—'परिग्रहाभिमानतो हीनः।'—अर्थात् ऊपर-ऊपर के स्वर्ग-देवों में परिग्रह और अभिमान हीन है। जब कि देव अव्रती हैं। ऐसी स्थिति मे हमें सोचना है कि—कही व्रत-धारण करने के शक्तिधारी हम, देवगति से हीन तो नही हो रहे जो 'परिग्रहाभिमानतो हीनः' की अवहेलना कर, देव-शास्त्र-गुरु के रूप को विरूप करने मे लगे हों! □

श्री ब्र० कुंवर दिग्विजयसिंह जी के शास्त्रार्थ ने मेरे द्वार खोले

श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

लगभग सन् १६२७ के चैत्र मास की बात है, जब श्री कुँवर दिग्विजयसिंह जी अहिक्षेत्र के मेले के बाद बिलसी पहुंचे। उनके साथ मथुरा ब्रह्मचर्याश्रम के प्रचारक प० सिद्धसेन गोयलीय और एक पगडी धारी पडित जी श्री देवीसहाय जैन—(सम्भवत: सलावा वाले थे) भी थे। उन दिनो आर्य समाज के प्रचार का युग था। आये दिन समाजियो से जैनियों के विवाद चलते रहते थे। मेरे पिता जी की ऐसे विवादो में रुचि थी—उन्हें ज्यादा रस आता था—जैन की बात पोषण में। कुँवर सा० के आने से शास्त्रार्थ का वातावरण बन गया। नियम-समय आदि निर्धारित हो गए। आर्य समाज ने अपनी ओर से बरेली के पं० बंशीधर शास्त्री को नियुक्त किया और जैन की ओर से कुँवर साहब बोले। कुँवर सा० को वहाँ कई दिन ठहरना पड़ा।

मुझे याद है कटरा बाजार मे मेरे ताऊ श्री दुर्गाप्रसाद जी की दुकान के सामने काफी भीड थी। दोनो ओर मेजे लगी थी। दोनो विद्वान बारी-बारी बोलते थे। सभापति का आसन बिलसी के प्रमुख रईस श्री गेंदनलाल ने (जो अजैन थे) ग्रहण किया था। नतीजा क्या रहा मुझे नही मालूम? हाँ, दोनों ओर की तालियो की गड़गड़ाहट और जयकारो का मुझे ध्यान है। अगले दिन कुँवर सा० के सुझाव पर, वातावरण से प्रभावित मेरे पिता ने मुझे विद्वान् बनाने का संकल्प ले लिया और मथुरा ब्रह्मचर्याश्रम मे भेजने का निश्चय प्रकट किया। कुँवर सा० ने मेरे सिर पर हाथ रखकर मुझे विद्वान् पंडित बनने का आशीर्वाद दिया और गोयलीय जी से कहा—इस बालक की अच्छी व्यवस्था कराना। मुझे भली भांति याद है उस समय कुँवर सा० सफेद चादर ओढ़े, सफेद चाँदी फ्रेम वाला चश्मा लगाए थे और उनकी दाढ़ी मन मोह रही थी। कुछ महीनों में मैं आश्रम में पहुंच गया। मेरे पिता नही चाहते थे कि वे मेरा बोझ समाज पर डालें, फलत:—उन्होने खुशी से आश्रम को पाच रुपए मासिक देना स्वीकार किया और राशि बराबर पहुचती रही। उन दिनों पांच रुपयो की बड़ी कीमत थी।

पढ़ाई के बाद सन् ३६ मे जब अम्बाला शास्त्रार्थ संघ में उपदेशक विद्यालय खुलने की बात मेरे पिता के ध्यान मे आई तब उन्होने पुराने शास्त्रार्थ की बात याद कर मुझे आदेश दिया कि शास्त्रार्थ संघ मे चले जाओ। बस, स्वीकृति आने पर मैं पहुच गया। २५-५-३६ के उद्घाटन पर उपदेशक विद्यालय का मैं तत्त्वोपदेशक विभाग का सबसे छोटी उम्र का और प्रथम छात्र था। उन दिनो प० बलभद्र जी सघ के मैनेजर थे—हमारे आफीसर। फिर भी सादा, सरल। उन्होने मुझे भाई सरीखा स्नेह दिया। आश्रम का छात्र होने के कारण सघ मे मुझे ब्रह्मचारी का सबोधन मिला। मैं खुश था आश्रम के गौरव अनुरूप और प्रारम्भिक आशीर्वाददाता ब्र० कुँवर दिग्विजयसिह जी के अनुरूप नाम को पाकर।

होनी की बात है जिनका नाम मैं भुला बैठा, उन्हें मेरी स्मृति मे लाने का श्रेय डा० नन्दलाल, डा० कन्छेदी लाल और श्री खुशालचन्द्र गोरावाला ने लिया—मुझसे कुँवर साहब का परिचय चाहा। यद्यपि मुझे विशेष मालुम नही था और मना भी लिख चुका था। परन्तु संघ के संपर्क और कुँवर सा० के उपकारों को स्मरण कर कुँवर सा० की जीवनी की खोज मे लगा रहा। और अन्तत: सुखद नतीजे पर पहुंच ही गया—बहुत खोजने पर मेरी अम्बाला की नोट बुक मे कुँवर सा० का परिचय मिल ही गया जो मैंने उन दिनो कभी किसी पुस्तक से लिया था।

कुँवर सा० बड़े प्रभावक व्यक्तित्व के उत्साही कार्यकर्ता थे। वे जन्मत: क्षत्रिय थे और प्राचीन अग्निकुल के भदौरिया वंश की कुलहिया शाखा के थे। उनका जन्म

श्रावण कृष्ण ८ सं०वि० १९४२ दिनांक ५ अगस्त १८८५ ई० मगलवार को हुआ था। उनके पिता ठाकुर भारत-सिंह जी बीधूपुरा (इटावा) के रईस व जमीदार थे। और चाचा ठाकुर सा० रघुवर सिंह जी उन दिनों महाराज बीकानेर के प्रधान मन्त्री थे। कुँवर सा० का कुटुम्ब उन दिनो धन, जन, विद्या और राज सम्मानादि सुखों से परिपूर्ण था। उन्होने ५ वर्ष की आयु मे ग्राम्य पाठशाला में दाखिला लिया। उसके बाद वे छोटी जुही कानपुर मे अपने नाना बाबू ब्रह्मासिंह पडिहार के पास चले गये वहाँ परेडवाले डिस्ट्रिक्ट स्कूल मे अग्रेजी पढ़े। वे इन्ट्रेन्स (दसवी) तक पढ़े। नागरी और सस्कृत मे भी धीरे-धीरे योग्यता प्राप्त कर ली। आप स्वदेश-प्रेमी, सदाचारी, दृढ़ प्रतिज्ञ थे और धर्म श्रद्धालु भी। भागवत, रामायण, महाभारत आदि सस्कृत ग्रन्थो और वेदान्त का उन्होने अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। आर्य समाजियों के ससर्ग से उनका श्रद्धान उस समाज की ओर ढुल गया और उसी के अनुरूप सध्या वन्दन आदि क्रिया-काण्डो म सचेष्ट रहने लगे। ठाकुर सा० के जैन होने का सुयोग ही है कि—

सन् १९०९ के फाल्गुन मास का दिन धन्य है जब आप अपनी जमीन्दारी हक्कियत का बयनामा कराने इटावा आए तब उनका मिलन इटावा के तत्कालीन जैन विद्वान् प० पुत्तूलाल जी से हो गया। उनसे अनेको शका-समाधान हुए। बाद को कई बार चर्चाएँ होती रही। जब भादो मास आया तब पण्डित जी ने दशलक्षण पर्व में उन्हें शास्त्र-सभा मे निमत्रित किया। कुँवर सा० ने दस दिन तक दश धर्मों और तत्त्वार्थसूत्र का वाचन सुना और इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने को जैनतत्त्वज्ञान की जानकारी की ओर मोड़ दिया और लगातार इसके अध्ययन-मनन मे पूरा-पूरा समय देने लगे और निष्णात हो गए। जो पहिले आर्य समाज के भक्त थे अब वे उनसे वाद-विवाद करने लगे। अन्ततः उनके अटूट जैन श्रद्धान का स्पष्ट पता तब लगा जब उन्होने आर्य समाज के सामने अपनी शंकाएँ खुले रूप में रख दी। ये दिन था कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी सन् १९१० का—जब आर्य समाज इटावा का वार्षिकोत्सव था। उत्सव में बाहर से आर्य समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पधारे। स्वामी सत्यप्रिय संन्यासी, आगरा के प० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य जैसे दिग्गजों से कुँवर सा० की 'परमात्मा के सृष्टिकर्तृत्व' विषय पर चर्चा चली। ये चर्चा तीन दिनो तक चली। अन्तिम दिन स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज आगरा से आये वे भी कुँवर सा० का समाधान न कर सके। निदान कुँवर सा० ने आर्य समाज का परित्याग कर 'जैन' मे श्रद्धान की घोषणा की।

स्मरण रहे कि दिनांक १४ मार्च '९१० फागुन सुदी ३, चन्द्रवार को इटावा में प्रथम जैन सम्मेलन हुआ। यहाँ जैन तत्त्व प्रकाशनी सभा थी—उन दिनों उस सम्मेलन मे कुँवर सा० का जैन स्टेज से प्रथम भाषण हुआ। भाषण इतना प्रभावक था कि उससे गद्गद् होकर न्याय-दिवाकर प० पन्नालाल जी ने मगल आशीर्वादात्मक श्लोक बोलकर कुँवर सा० के गले में माला पहिनाई। प० गोपालदास जी ने कुँवर सा० की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए धन्यवाद देकर सभा विसर्जित की। बाद में सभा ने कुँवर सा० की जीवनी व भाषण दोनों का प्रकाशन कराया।

कुँवर सा० ने शास्त्रार्थ सघ अम्बाला के माध्यम से जैसा प्रचार कार्य किया उसे संघ के तत्कालीन पत्र जैन-दर्शन की फाइलों से जाना जा सकता है। वे लौह पुरुष थे, लोग कभी-कभी मुझे कहते हैं कि आप इतना स्पष्ट निर्भीकता पूर्वक कैसे बोल और लिख देते हैं? और मेरा उत्तर होता है—मुझे क्षत्रिय कुँवर दिग्विजय सिंह जी का आशीर्वाद प्राप्त है, उन्ही ने मेरे जीवन द्वार को सुनहरा बनाया। फिर, हमारे सभी तीर्थंकर भी तो क्षत्रिय थे। ऐसे उपकारी वीरो के लिए मेरे सादर-सादर नमन।

कुँवर सा० का निधन दिनांक ७ अप्रैल सन् १९३५ की साय अम्बाला-छावनी के शास्त्रार्थ सघ भवन में हुआ। उनका जीवन धन्य है।

ग्रन्थ-प्रशस्तियों का उपयुक्त प्रकाशन

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

इतिहास के प्रमुख साधन स्रोतों के रूप में, शिलालेखों के पश्चात्, ग्रन्थ-प्रशस्तियों का भी अतीव महत्वपूर्ण स्थान है। अनेक ग्रन्थों की या छोटी-बडी रचनाओं की भी, पांडुलिपियों में किसी न किसी प्रकार की प्रशस्ति प्राप्त हो जाती है, जिसमें बहुधा बड़ी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी निहित रहती है। प्रशस्तियाँ कई प्रकार की होती हैं, यथा—(१) मूल रचनाकार की प्रशस्ति, जिसमे रचनाकार का नाम, कुल-वश आदि, या आम्नाय एव गुरुपरम्परा, रचना स्थल, रचनातिथि, उक्त ग्रन्थ के सहायक आदि, अथवा जिसके हितार्थ लिखा गया है उसका नाम, परिचय आदि, तत्कालीन शासक या राजा का नाम आदि, ज्ञातव्य दिए जाते है। कभी-कभी उक्त ग्रन्थ के आधारभूत अथवा तद्विषयक पूर्ववर्ती साहित्य एव साहित्यकारों का नामोल्लेख भी रहता है। कहीं-कही किसी तत्कालीन रोचक या महत्त्वपूर्ण घटना का भी उल्लेख हो जाता है। अधिकांशतः ये प्रशस्तियाँ ग्रन्यात मे होती है, किन्तु कभी-कभी ग्रन्थ के आद्य मे उपोद्घात रूप से भी उपयोगी ज्ञातव्य रहता है, विशेषकर पूर्ववर्ती साहित्य या लेखकों के विषय मे अनेक ग्रन्थो के प्रत्येक सर्ग, पर्व या अधिकार के अन्त में, तथा ग्रन्थांत मे मूल लेखक रचित पुष्पिकायें भी रहती है, जिनमें भी अनेक बार महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य प्राप्त हो जाता है। किसी-किसी ग्रन्थ के मध्य मे भी कही-कहीं किसी समसामयिक ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख हो जाता है। इस प्रकार का समस्त ज्ञातव्य जो मूललेखक द्वारा स्वय प्रदत्त होता है, रचना या रचनाकार की प्रशस्ति के अन्तर्गत आता है। (२) टीकाकार की प्रशस्ति जिन ग्रन्थो की कालान्तर मे एक या अधिक टीकाएँ, वचनिकाएँ, व्याख्याएँ, विवृत्तियाँ आदि हुई, उक्त टीकाकारादि ने भी बहुधा अपनी टीका में प्रायः आद्य, अन्त्य अथवा दोनो स्थलों में स्वयं अपना परिचय, तिथि, स्थान, प्रेरक, तत्कालीन शीर्षक, मूलग्रन्थ और कर्ता, अपने से पूर्ववर्ती उस ग्रन्थ के अन्य टीकाकार आदि का भी उल्लेख किया है। (३) दान-प्रशस्ति—जैन परम्परा से चतुर्विधदान प्रवृत्ति के अन्तर्गत शास्त्रदान का, प्रभूत महत्त्व रहा है। अनेक श्रावक-श्राविकायें पुरातन ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ कराकर उन्हें मुनिराजो, आर्यिकाओं गृहत्यागी, ब्रह्मचारी या उदासीन श्रावको आदि को भेंट करते रहे है। बहुधा किसी व्रत के उद्यापन या अनुष्ठान आदि के उपलक्ष्य मे भी इस प्रकार का शास्त्र दान किया जाता रहा है। अपने ग्राम या नगर के अथवा अन्यत्र के जिनमन्दिरों के शास्त्र भण्डारों मे भी, भण्डार के संवर्द्धन, प्राचीन साहित्य के संरक्षण अथवा स्वाध्याय प्रेमियो के हितार्थ शास्त्रो की प्रतिलिपियाँ कराकर दी जाती रही है। (४) प्रतिलेखक प्रशस्ति—एक-एक ग्रन्थ की समय-समय पर कई-कई प्रतिलिपियाँ बनी, जो विभिन्न शास्त्र भण्डारों या व्यक्तिगत सग्रहो मे संरक्षित रही। बहुधा प्रत्येक प्रतिलेखक अपने द्वारा लिखित प्रति के अन्त मे अपना नाम, लेखन स्थान, प्रतिलेखन तिथि, प्रेरक का नाम आदि दे देता है। इस प्रकार की प्रशस्तियों से तत्सम्बन्धित ऐतिहासिक ज्ञातव्य के अतिरिक्त, बडा लाभ यह होता है कि एक ही ग्रन्थ की विभिन्न प्रतियो के मिलान से ग्रन्थ-गत मूलपाठ का सशोधन-सम्पादन सन्तोषजनक हो सकता है। दूसरे, यदि ग्रन्थ के मूल लेखक की तिथि, स्थानादि अज्ञात हो या अल्पज्ञात हो तो उसकी विभिन्न प्रतियों में जो प्राचीनतम उपलब्ध प्रति होती है उससे मूल लेखक के समयादि का भी बहुत कुछ सही अनुमान हो जाता है। कभी-कभी एक नाम के कई-कई आचार्य या ग्रन्थकार हो गये हैं।—उनमें भेद करने तथा उनका पूर्वापर निश्चित करने मे भी ये प्रशस्तियाँ अनेक बार सहायक हो जाती है।

इसमे सन्देह नही कि उपरोक्त विभिन्न प्रकार की

ग्रन्थ-प्रशस्तियों के अध्ययन से न केवल विभिन्न भाषाओं में निबद्ध एवं विविध विषयक हमारे साहित्य के इतिहास के संशोधन एवं निर्माण में तो कभी-कभी अभूतपूर्व सहायता मिलती ही है, विभिन्न युगो एव प्रदेशों के समृद्ध जैन सांस्कृतिक केन्द्रों, प्रभावक आचार्यों एव साहित्यकारों, धर्मप्राण दानी एवं साहित्यप्रेमी, श्रावक-श्राविकाओं आदि के विषय मे अच्छी जानकारी प्राप्त हो जाती है। जाति-कुल-वंश आदि तत्तद समाज व्यवस्था, आर्थिक दशा, राजनैतिक परिस्थितियाँ, भौगोलिक स्थानो की पहिचान, आम्नाय भेद, साम्प्रदायिक स्थिति, मुनिसंघों का रूप एव दशा, धार्मिक प्रवृत्तियो का रूप एव प्रकार आदि अनेक उपयोगी ज्ञातव्य भी प्राप्त हो सकती है।

ऐसा नही है कि प्रशस्तियो की उपयोगिता एव उनके प्रकाशन की आवश्यकता की ओर विद्वानो का ध्यान नही गया है—विगत पचास-साठ वर्षो मे कई प्रशस्ति सग्रह प्रकाशित हो चुके है, यथा—

१. प० के० भुजबलि शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा १६४२ ई० मे श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा द्वारा प्रकाशित "प्रशस्ति सग्रह"—जिसमे उक्त भवन मे सग्रहीत कतिपय पांडुलिपियो की महत्त्वपूर्ण प्रशस्तियां सग्रहीत हैं, साथ में शास्त्री जी द्वारा लिखित उनका विवेचन, व्याख्या आदि भी है।

२. प० जुगल किशोर मुख्तार एव प० परमानन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित, तथा वीर सेवा मन्दिर, सरसावा द्वारा १६५४ ई० मे प्रकाशित "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग—१०"—जिसमे विभिन्न शास्त्र भण्डारो से चयनित, संस्कृत भाषा निबद्ध हस्तलिखित ग्रन्थों की··· प्रशस्तियाँ सकलित है।

३. "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह, भाग —२", सम्पादक एवं प्रकाशक वही, वर्ष १६६३ ई०—जिसमे अपभ्रंश तथा कुछ एक प्राकृत ग्रन्थो की—प्रशस्तियाँ सकलित है। दोनों ही भागो के प्रेरक-निर्देशक वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक, सचालक स्व० पं० जुगल किशोर मुख्तार थे, किन्तु उनका सम्पादन, विस्तृत परिचयात्मक प्रस्तावनायें, विविध अनुक्रमणिकाएँ आदि कार्य मुख्यतया उनके सहायक स्व० पं० परमानन्द शास्त्री का है।

४. "राजस्थान के शास्त्र भण्डारो की सूची एव प्रशस्ति संग्रह"—भाग १, सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक—शोध सस्थान श्री महावीर जी, १६५० ई० मे भी सूचीगत ग्रन्थों में से अनेको की प्रशस्तियाँ भी प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त, १६५८ ई० मे जैन सस्कृति संघ शोलापुर से प्रकाशित प्रो० वि० जोहरापुरकर की पुस्तक "भट्टारक सम्प्रदाय" मे, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से प्रकाशित तथा पं० के० भुजबलि शास्त्री द्वारा सम्पादित कन्नड प्रान्तीय ताडपत्र ग्रन्थसूची (१६४८ ई०) और प्रो० कुन्दन लाल जैन द्वारा सम्पादित "दिल्ली जिनग्रन्थ रत्नावली" (१६८१) में, अहमदाबाद से (१६६३ से ७२ ई० मे) प्रकाशित मुनि पुण्यविजय जी की सस्कृत प्राकृत हस्तलिखित ग्रन्थो की सूचियो के ६-७ भागो मे, अन्यत्र प्रकाशित कतिपय अन्य ग्रन्थ-सूचियों मे, और फुटकर रूप से भी जैन सिद्धान्त भास्कर आदि शोध पत्रिकाओ के कुछ अंको मे प्रकाशित विविध प्रशस्तियों की सख्या भी कम नही।

उपरोक्त विभिन्न प्रकाशनो में प्रकाशित अधिकांश प्रशस्तियों के मूल पाठ मात्र ही प्राप्त है। बहुधा तो पूरी प्रशस्ति भी नही रहती, केवल नमूने के लिए कुछ अन्त्य या आद्यांश देकर ही सन्तोष कर लिया गया है। प्रथम तीन प्रशस्ति संग्रहों मे सकलित प्रशस्तियों का परिचय, संक्षेपसार और ऐतिहासिक विवेचन भी है, अन्यत्र वह भी नही है। इस प्रकार न कुछ होने से, इस दिशा में भी कुछ तो हुआ, यह सन्तोष की बात है। उनका उपयोग भी हुआ। किन्तु जिसके पाठक, विशिष्ट अध्येता, इतिहासकार एवं शोधकर्ता उनका समुचित उपयोग कर सकें और यथोचित रूप मे लाभान्वित हो सके, यह आवश्यक है कि जो भी प्रशस्ति-सग्रह आगे से प्रकाशित हो, जिनमें पूर्व प्रकाशनों के नवीन सस्करण भी हो सकते है, उन सबमें (१) प्रत्येक हस्तलिखित ग्रन्थ प्रति में प्राप्त सभी प्रकार की प्रशस्तिया व पुष्पिकाएँ (रचनाकार, टीकाकार, दाता प्रतिलेखक आदि की) एक साथ अपने मूलरूप मे संकलित हो, (२) साथ में उनका अन्वयार्थ एव अविकल भाषानुवाद रहें, (३) पाठ सशोधन-संपादन की टिप्पणियां, (४) विशेषार्थ, ऐतिहासिक या तुलनात्मक विवेचन यथा-

(शेष पृ० २५ पर)

(द्वि-सहस्राब्दी उपक्रम में)

क्या कुन्दकुन्द भारती बदलेगी ?

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

लगभग दस वर्ष पूर्व सन् ७८ जून में मेरे मन में एक विकल्प उठा था और तब मैंने 'आ० कुन्दकुन्द की प्राकृत' शीर्षक के माध्यम से कुछ लिख कर अपने मन को शान्त कर लिया था। पर, आज आचार्य कुन्दकुन्द की द्वि-सहस्राब्दी समारोह के उपक्रम-समाचारों को पढ़-सुनकर वह विकल्प पुनः जागृत हो बैठा है। विकल्प है— **'क्या कुन्दकुन्द भारती बदलेगी ?'**

वर्तमान में हमारे समक्ष दो कुन्दकुन्द भारती हैं—एक आगमरूप और दूसरी संस्थारूप। प्रसंग में संस्था के विषय में हमे कुछ नही कहना। क्योंकि हम मान कर चलते है कि समय, साधन और साधकों के अनुरूप संस्थाएँ निर्मित और विघटित होती रहती है, इसमें हर्ष-विषाद कैसा ? हाँ, यदि मूल आगमरूप कुन्दकुन्द भारती बदलती है तो 'सर्वं वै पूर्णंस्वं स्वाहा' में संदेह नहीं।

सर्व विदित है कि षट्खण्डागम शास्त्र आचार्य कुन्द-कुन्द से बहुत पूर्व हुए आचार्य भगवत् भूतवलि-पुष्पदंत की कृति है। प्रथम पुस्तक के पृ० १३३ पर चौथे सूत्र में **'इंदिए, काए, कसाए'** शब्द प्रयुक्त हैं और ये शब्द क्रमशः **'इन्द्रिये, काये, कषाये'** इन संस्कृत शब्दों के स्थान पर (परिवर्तित रूप प्राकृत मे) दिए गए हैं। अर्थात् उक्त रूपों में प्राकृत भाषा के नियम रूप सूत्र 'प्रायः क ग च ज त द प ब य वां लोपः'—प्राकृतसर्वस्व २/२ और 'प्रायो लुक्क-गचजतदपयवां'—प्राकृत शब्दानुशासन १/३ के नियमानुसार संस्कृत के शब्दों से 'य' को हटा दिया गया है। उक्त तीनों शब्द सप्तमी विभक्ति के रूप हैं। इतना ही क्यों ? उक्त चौथे सूत्र से पूर्व भी आचार्य ने षट्खण्डागम के मंगलाचरण में इसी नियम के अनुरूप क या ग को हटाकर लोके या लोगे के स्थान पर **'लोए'** शब्द का प्रयोग किया है—'णमो लोए सव्वसाहूणं।' इसके अतिरिक्त बाद के आचार्यों ने भी 'लोए' को मान्यता दी है। स्वयं कुन्द-कुन्दाचार्य ने भी इस शब्द का खुलकर प्रयोग किया है। देखें—पंचास्तिकाय प्राभृत गाथा ८५, ९० आदि*। उक्त रूप के सिवाय दि० आगमों में लोयो, लोओ, लोय जैसे सभी रूप मिलते है卐 और सभी उचित हैं। क्योंकि प्रकाण्ड प्राकृत विद्वानो के मतानुसार दि० आगमो की भाषा, अन्य कई प्राकृत भाषाओं का मिला जुला रूप है और इस भाषा का नाम ही जैन-शौरसेनी है। स्मरण रहे कि शौरसेनी और जैन-शौरसेनी में महद् अन्तर है। आज हमारे कई विद्वान् भी भ्रम में हैं वे शौर-सेनी को ही दि० आगमों की भाषा मान बैठे हैं और रूप बदल रहे हैं।

षट्खण्डागमकार से पूर्ववर्ती आचार्य गुणधर हैं इनकी रचना 'कसाय पाहुड सुत्त' है। इसमें भी इसी जाति के

(पृ० २४ का शेषांश)

वश्यक, (५) ग्रन्थ प्रति का सक्षेप मे पूरा परिचय, प्राप्ति स्थान सहित, (६) ग्रन्थ, अप्रकाशित है या प्रकाशित, प्रकाशित है तो कब और कहाँ से, (७) प्रशस्तियों का संकलन भाषा वार तथा कालक्रम से हो, और (८) अन्त मे उपयुक्त वर्गीकृत नामानुक्रमणिकाएँ आदि रहें।

यों तो देश भर मे अनगिनत छोटे-बड़े जैनशास्त्र भण्डार मे सग्रहीत प्रायः प्रत्येक ग्रन्थप्रति मे एक व अधिक प्रकार की प्रशस्तियां प्राप्त हो जाती हैं। उन सभी भडारों का सम्यकरीत्या सर्वेक्षण-पर्यवेक्षण करके अनगिनत प्रशस्तियां एकत्र की जा सकती है। अतएव एक-एक भण्डार मे यदि छोटे-छोटे हों तो, ग्रामपास के या सम्बद्ध कई-कई भण्डारों मे, संग्रहीत ग्रन्थों की प्रशस्तियों के पृथक-पृथक प्रशस्ति-संग्रह उपरोक्त प्रकार से सुसम्पादित होकर प्रकाशित किये-कराये जा सकते हैं। यथासम्भव सर्वांगपूर्ण, उपयुक्त ज्ञातव्य पूरित एवं स्तरीय प्रकाशन समय और युग के लिए अपेक्षित है। —चारबाग, लखनऊ

---

* द्वादशानुप्रेक्षा गा० ८, सुतपाहुड गा० ११, दर्शनपा० गा० ३३। 卐 देखें—पंचास्तिकाय।

अन्य शब्दों का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग है। जैसे तृतीये के स्थान पर **तदिए**, संपराये के स्थान पर **संपराए**, कषाये के स्थान पर **कसाए** आदि। ये सभी सप्तमी के रूप है और सभी मे से (प्राकृत सर्वस्व और प्राकृत-शब्दानुशासन के उपर्युक्त नियमानुसार) **य** को हटा दिया गया है। हमारा अभिमत प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० हीरालाल, डॉ० नेमीचन्द आरा व पिशल के अनुरूप है—कि जैन-शौरसेनी को दिगम्बर आचार्यों ने अपनाया जो कि कई प्राकृत भाषाओं का मिला-जुला रूप है—(देखें हमारा अन्य लेख)—फलत: दिगम्बर आगमों में सभी रूप मिलते है। कही **त** को **द** भी होना है, कही **व** का लोप भी होना है, कही **क** को **ग** होता है और कही **क** या **ग** का लोप भी होता है और कही इनके लोप के स्थान में **य** भी होता है। जैसे—गति = गदि, गति = गइ; वेदक = वेदग, एकेंद्रिय = एइंदिय; इसके सिवाय मध्यवर्ती क ग च ज त द प व य का लोप तो बहुश: पाया जाता है। फलत:—जहाँ जो है, ठीक है।

हमारा निवेदन है कि यदि इस रहस्य को न समझा गया और हम भावुकता मे बह गए तो (संशोधित ? समयसार गाथा न० ३ **'लोगे'** के अनुसार) जिसे हम अब तक 'णमो लोए सव्वसाहूण' पढते रहे है कभी उसे गलत मान कर 'णमो लोगे सव्वसाहूणं' भी पढने लगेगे। और तब कहाँ जायगा स्वामी समंतभद्र का कथन—'न हि मंत्रोक्षर-न्यूनोनिहन्ति विषवेदना।' जब कि णमोकार हमारा महामंत्र है। सोचें क्या भाषा के बदलाव की भांति इस मत्र में लोए का लोगे न होगा? और न होगा तो क्यो, किस नियम से? यदि न होगा तो उस नियम को समयसार गाथा न० ३ मे लागू क्यों नही किया जा रहा? अब ये सोचना आपका काम है कि वर्तमान संशोधनों के नाम पर आगमरूपी कुन्दकुन्द भारती बदलेगी या नही? यदि बदलेगी तो समयसार में परिवर्तित शब्दरूपों की भाँति आगमसम्मत प्राचीन अनादि मूलमत्र णमोकार भी आपके हाथों से खिसक कर अन्यों के हाथो मे रह जायगा—वह आपका सिद्ध न हो सकेगा। क्योंकि आपका भाषा-शुद्धिमोह **'लोए'** को अशुद्ध मान उसे 'लोगे' कर चुका है और प्राचीन मूलबीज मंत्र में 'लोगे' है नही—देखें—षट्खण्डागम, मंगलाचरण 'णमो लोए सव्वसाहूणं।' अब आपको सोचना है कि आप प्राचीन मूल बीजमत्र को जैन-शौरसेनी के अनुसार **'लोए'** के रूप मे स्वीकारते है या मात्र **'लोगे'** रूप को स्वीकारने के कारण उसे मात्र अर्धमागधी के लिए छोड़ते हैं? निर्णय आपके हाथ है।

हमारी दृष्टि से आगमरूप कुन्दकुन्द भारती के मूल जैन-शौरसेनी (जिसमें कई प्राकृत भाषाएँ समिलित है) के रूप को यथावत् सुरक्षित रखना ही कुन्दकुन्द की द्वि-सहस्राब्दी मनाने की सार्थकता है। अन्यथा, हम उत्सवो मे बाजे बजवाने, भाषणादि सुनने-सुनाने के तो अभ्यासी है ही—कोई नई बात नही। यदि आप अपनी अज्ञानता या कायरतावश अथवा भावावेशवश भाषा-बदलाव (संशोधन ?) को न रोक सके तो आप अपने आगम का स्वयं घात कराएँगे।

डॉ० रिचर्ड पिशल प्राकृत-भाषाओ के जाने-माने प्रामाणिक उच्चतम विद्वान माने जाते है उन्होने प्राकृत मे उपलब्ध प्रभूत साहित्य और आगमिक ग्रन्थो को बड़ी बारीकी से देखा और उनके आधार पर प्राकृत भाषाओ के पारस्परिक भेद के जो निष्कर्ष अपनी कृति 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' द्वारा सन्मुख रखे, उनमें उन्होंने शौरसेनी और जैन-शौरसेनी दोनों को पृथक्-पृथक् भाषाएँ माना। उन्होंने दोनों भाषाओं का पृथक्-पृथक् नामोल्लेख किया, दोनो के शब्द रूपो मे भेद दर्शाया और दोनो के साहित्य को भिन्न बतलाया। फलत:—दोनों भाषाएँ एक नही है और दि० जैन आगम भी शौरसेनी के नही है—वे सभी जैन-शौरसेनी भाषा के है। अत. दि० आगमो को शौरसेनी की प्रमुखता देकर उनमे शौरसेनी की भरमार करना और उनमें गृहीत जैन-शौरसेनी के रूपों का तिरस्कार करना सर्वथा ही अनुचित है—जैसा कि किया जा रहा है। डॉ० पिशल द्वारा निर्दिष्ट कुछ उद्धरण (पाठको की जानकारी के लिए) इस प्रकार है—

(एक) पृथक्-पृथक् नामोल्लेख :

(क) 'सौख्य शब्द के लिए महाराष्ट्री, अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री, जैन-शौरसेनी, शौरसेनी और अपभ्रंश मे सोक्ख होता है।—पैरा ६१ अ०

(ख) जैन शौरसेनी और शौरसेनी मे ओसह शब्द काम में लाया जाता है।' —पैरा ६१ अ०

(ग) 'जै० शौर० और शौर० मे ओसह रूप भी चलता है।'—पैरा २१५

(घ) 'जै०शौर०, शौर० माग० और अप० रूप बहिणी जो बघिणी से निकला है। —पैरा २०४

(च) 'जै०शौर०, शौर०, माग०, ढ० मे बोली के रूप मे तथा अप० मे त का द और थ का ध रूप बन जाता है।'—पैरा १९५

(छ) 'जै०शौर०, शौर०, माग० और ढ० मे मौलिक द और ध बने रह जाते है।' - पैरा १९५

(नोट—दोनो भाषाओ के नाम अर्ध-विराम देकर पृथक्-पृथक् बतलाए है।)

(दो) दोनों के शब्द रूपों में भेद :

(क) 'जैन शौरसेनी मे रयण रूप पाया जाता है। शौरसेनी मे रदण का व्यवहार होता है।' —पैरा १३१

(ख) जैन शौरसेनी मे वसह रूप है किन्तु शौरसेनी मे वृषभ के लिए सदा वुसह शब्द आता है।' —पैरा ४६

(ग) 'जै०शौर० जध, शौर० जधा' जै०शौर तध शौर और माग० तधा।' —पैरा १९५

(तीन) दोनों के साहित्य में भिन्नता .

डॉ० पिशल ने जैन शौरसेनी के शब्द-रूपो मे अन्य-भाषारूपो से पृथक्ता सूचक सभी उदाहरणो का चयन दि० आगमग्रन्थो (जैसे - पवयणसार, कत्तिगेया० आदि) से किया तथा शौरसेनी के सभी उदाहरण जैनेतर ग्रन्थो (जैसे—मृच्छ० शकु० आदि) से चुने। इसका तात्पर्य ऐसा है कि शौरसेनी दि० आगमो की भाषा नही है—यदि दि० आगम शौरसेनी के होते तो शौरसेनी शब्दरूपों की पुष्टि में उदाहरण दि० आगमो से दिये गये होते।

(चार) जैन-शौरसेनी (भाषाओं का संगम) :

दि० आगमो मे अर्धमागधी के शब्दों का भी प्रयोग है और अन्य भाषा के शब्दो का भी प्रयोग है अर्थात् इसमे किसी एक भाषा के शब्दरूपो का बन्धन नही है—ये भाषा मुक्त भाषा है। पिशल ने स्वयं जैन शौरसेनी का अर्ध-मागधी से अधिक मेल बताया है और इसीलिए दि० आगमो मे 'त्ता', 'ग' आदि जैसे रूप (जो अर्धमागधी के है) पाए जाते है। पिशल के शब्दो मे—

(क) 'क्त्वा का त्ता जो अर्धमागधीरूप है।'—पैरा १२१

(ख) 'जैन शौरसेनी का अर्धमागधी से अधिक मेल है।' —पैरा २१

(ग) 'क का ग मे परिवर्तन अर्धमागधी की विशेषता है।' —पैरा १९

स्मरण रहे भाषा सम्बन्धी यह आवाज हमारी ही नही अपितु पूर्वाचार्यों की भाषा से फलित और प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड दिवंगत-विद्वानो से सम्मत है। पहिले भी आगम के रूप को बदलना घातक हुआ है और आगे भी घातक होगा, भले ही अर्थ मे अन्तर न पड़ता हो। भविष्य मे लोग भी अपनी बुद्धि से, सशोधन की परम्परा बना लेगे और आगम का लोप होगा। इसे विचारिए—कुन्दकुन्द द्वि-सहस्राब्दी के समारोह मे। धन्यवाद !

(पृ० १२ का शेषांश)

आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्, मतिपूर्वं श्रुतम्।" त० सू० १-९, १०, ११, २०।

२१. दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपण युक्तयनुशासनते। —युक्त्यनुशासन, कारि० ४८।

२२. एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ॥ बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होइ ॥ ३ ॥

२३. ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो। एवं भणंति शुद्ध णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥ ववहारेणुवदिस्सह णाणिस्स चरित्त दंसणं णाण। ण वि णाणं ण चरित्त ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

२४. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ। तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्क ॥ ८ ॥

२५. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ। भूयत्थमस्सिदो, खलु सम्मादिट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

२६. "प्रमाणनयात्मको न्यायः।" —धर्मभूषण, न्यायदीपिका, पृ० ५।

२७. ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को। ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ॥ —सा० पा० गा० २७।

२८. जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं। सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१

२९. कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं। पक्खातिक्कन्तो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ —वही, गा० १४२।

३०. वही, गा० १८१, १८२, १८३, १८४, १८६।

३१. वही, गा० २८८, २८९, २९०, २९१, २९२।

३२. वही, गा० ३४० "एवं सखुवदेसं जे उवदिसंति एरिस समणा। ३३. वही, गा.३४७, ३४. वही, गा० ३४८।

(पृ० १६ का शेषांश)

शास्त्रों में सैद्धान्तिक चर्चाओं के विरोधी विवरण :

यह विवरण दो शीर्षकों मे दिया जा रहा है :—

(१) एक ही ग्रन्थ में असंगत चर्चा—मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार की गाथा ७९-८० परस्पर असगत हैं :

सोधर्म स्वर्ग की देवियो की उत्कृष्ट आयु ५ पल्य ५ ४०
ईशान स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ७ पल्य ५ ४०
सानत्कुमार स्वर्ग मे देवियोकी उत्कृ. आयु ९ प० १७ ४०

धवला के दो प्रकरण[१६]—(१) खुद्दक बंध के अल्प बहुत्व अनुयोग द्वार मे वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण सूत्र ७४ के अनुसार सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवो से विशेष अधिक होता है जबकि सूत्र ७५ के अनुसार सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवों का प्रमाण वनस्पतिकायिक जीवों से विशेष अधिक होता है। दोनों कथन परस्पर विरोधी है। यही नही, सूक्ष्मवनस्पतिकायिक जीव और सूक्ष्म निगोद जीव वस्तुतः एक ही हैं, पर इनका निर्देश पृथक् पृथक् है।

(२) भागाभागानुगम अनुयोग द्वार के सूत्र ३४ की व्याख्या में विसगतियों के लिए वीरसेन ने सुझाया है कि सत्यासत्यका निर्णय आगमनिपुण लोग ही कर सकते है।

(२) **भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में असंगत चर्चायें**—(१) **तीन वातवलयों का विस्तार** यतिवृषभ और सिंहसूर्य ने अलग-अलग दिया है :

(अ) त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे क्रमशः ११/२, ११/६ व ११-१/२ कोश विस्तार है।

(ब) लोकविभाग मे क्रमशः २, १ कोश एवं १५७५ धनुष विस्तार है।

इसी प्रकार **सासादन गुणस्थानवर्ती जीव के पुनर्जन्म** के प्रकरण में यतिवृषभ नियम से उसे देवगति ही प्रदान करते हैं जब कि कुछ आचार्य उसे एकेन्द्रियादि जीवों की तिर्यंच गति प्रदान करते है। उच्चारणाचार्य और यतिवृषभ के विषय के निरूपण के अन्तरो को वीरसेन ने जयधवला मे नयविवक्षा के आधार पर सुलझाने का प्रयत्न किया है।[१७] इसी प्रकार, उच्चारणाचार्य का यह मत कि बाईस प्राकृतिक विभक्ति के स्वामी चतुर्गतिक जीव होते हैं—यतिवृषभ के केवल मनुष्य-स्वामित्व से मेल नही खाता। भगवती आराधना मे साधुओ के २८ व ३६ मूलगुणो की चर्चा के समय कहा है। "प्राकृतटीकाया तु अष्टविंशति गुणा:। आचारवत्वादयश्चाष्टौ—इति षट्त्रिंशत्।" इसी ग्रन्थ में १७ मरण बताये है पर अन्य ग्रन्थो में इतनी संख्या नही बताई गई है।[१८]

शास्त्री ने बताया है कि 'षट्खण्डागम' और 'कषायप्राभृत' मे अनेक तथ्यों में मतभेद पाया जाता है। इसका उल्लेख 'तन्नान्तर' शब्द से किया गया है। उन्होने धवला, जयधवला एवं त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनेक मान्यताभेदों का भी सकेत दिया है। इन मान्यता भेदो के रहते इनकी प्रामाणिकता का आधार केवल इनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ही माना जावेगा।

आचार विवरण संबंधी विसंगतियां :

शास्त्रों मे सैद्धान्तिक चर्चाओं के समान आचार-विवरण में भी विसगतिया पाई जाती हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

श्रावक के आठ मूल गुण—श्रावको के मूलगुणों की परम्परा बारह व्रतों से अर्वाचीन है। फिर भी, इसे समन्तभद्र से तो प्रारम्भ माना ही जा सकता है। इनकी आठ की सख्या मे किस प्रकार समय-समय पर परिवर्धन एव समाहरण हुआ है; यह देखिए :—

१. समतभद्र तीन मकार त्याग पचाणु व्रत पालन
२. आशाधर तीन मकार त्याग पचोदुम्बर त्याग
३. अन्य तीन मकार त्याग पचोदुम्बर त्याग, रात्रि भोजन त्याग, देव पूजा, जीव दया, छना जल पान

समयानुकूल स्वैच्छिक परिवर्तनों को तेरहवी सदी के पं० आशाधर तक ने मान्य किया है। यहां शास्त्री[१९] समन्तभद्र की मूलगुण-गाथा को प्रक्षिप्त मानते हैं।

बाईस अभक्ष्य—सामान्य जैन श्रावक तथा साधुओ के आहार से सम्बन्धित भक्ष्याभक्ष्य विवरण मे तेरहवी सदी तक बाईस अभक्ष्यो का उल्लेख नही मिलता। मूलाचार एवं आचाराग के अनुसार, अर्पित किए गए कन्दमूल, बहुबीजक (निर्वीजित) आदि की भक्ष्यता साधुओं के लिए वर्जित है[२१]। पर उन्हें गृहस्थो के लिए भक्ष्य नही माना

जाता। वस्तुत: गृहस्थ ही अपनी विशिष्ट चर्या से साधुपद की ओर बढ़ता है, इस दृष्टि से यह विरोधाभास ही कहना चाहिए। सोमदेव आदि ने भी गृहस्थो के लिए प्रासुक-अप्रासुक की सीमा नही रखी। सम्भवत: दौलतराम के समय ५३ क्रियाओ मे अभक्ष्यो की सख्या बाईस तक पहुच गई। फलत: भक्ष्याभक्ष्य विचार विकसित होते होते सत्रहवी सदी में ही रूढ हो सका है।

आहार के घटक—भक्ष्य आहार के घटकों मे भी अन्तर पाया जाता है। मूलाचार की गाथा ८२२ मे आहार के छह घटक बताये गए है जबकि गाथा ८२६ मे चार घटक ही बताए हैं। ऐसे ही अनेक तथ्यो के आधार पर मूलाचार को संग्रह ग्रन्थ मानने की बात कही जाती है[११]।

श्रावक के व्रत— कुन्दकुन्द और उमास्वाति के युग से श्रावक के बारह व्रतो की परम्परा चली आ रही है। कुन्दकुन्द ने सल्लेखना को इनमे स्थान दिया है पर उमास्वाति, समंतभद्र और आशाधर इसे पृथक् कृत्य के रूप मे मानते हैं। इससे बारह व्रतो के नामो मे अन्तर पड गया है। इसमे पाँच अणुव्रत तो सभी में समान हैं, पर अन्य सात शीलों के नामो मे अन्तर है*।

यहाँ कुन्दकुन्द और उमास्वाति की परम्परा स्पष्ट दृष्टव्य है। अधिकाश उत्तरवर्ती आचार्यों ने उमास्वाति का मत माना है। साथ ही भोगोपभोग परिमाण व्रत के अनेक नाम होने से उपभोग शब्द की परिभाषा भी भ्रामक हो गई है :—

	एक बार सेव्य	बारबार सेव्य
समंतभद्र	भोग	उपभोग
पूज्यपाद	उपभोग	परिभोग
सोमदेव	भोग	परिभोग

श्रावक की प्रतिमाएँ—श्रावक से साधुत्व की ओर बढ़ने के लिए ग्यारह प्रतिमाओं की परम्परा कुन्दकुन्द युग से ही है। संख्या की एकरूपता के बावजूद भी अनेक के नामो और अर्थों मे अन्तर है। सबसे ज्यादा मतभेद छठी प्रतिमा के नाम को लेकर है। इसके रात्रिमुक्त त्याग (कुंदकुंद, समंतभद्र) एव दिवा मैथुन त्याग (जिनसेन, आशाधर) नाम मिलते है। रात्रिभुक्तित्याग तो पुनरावृत्ति लगती है। यह मूलगुण है। आलोकित पान-भोजन का दूसरा रूप है। अतः परवर्ती दूसरा नाम अधिक सार्थक है। सोमदेव ने अनेक प्रतिमाओ के नये नाम दिये है। उन्होंने १ मूलव्रत (दर्शन), ३ अर्चा (सामायिक), ४ पर्वकर्म (प्रोषध), ५ कृषि कर्म त्याग (सचित्त त्याग), ८ सचित्त त्याग (परिग्रह त्याग) के नाम दिये है। हेमचन्द्र ने भी इनमें पर्वकर्म, प्रासुक आहार, समारभ त्याग, साधु निस्संगता का समाहार किया है[१२]। सम्भवत: इन दोनों आचार्यों ने प्रतिमा, व्रत व मूलगुणो के नामो की पुनरावृति दूर करने के लिए विशिष्टार्थक नामकरण किया है। यह सराहनीय है। परम्परापोषी युग की बात भी है। बीसवी सदी में मुनि क्षीर सागर ने भी पुनरुक्ति दोष का अनुभव कर अपनी रत्नकरड श्रावकाचार की हिन्दी टीका मे ३ पूजन ४ स्वाध्याय ७ प्रतिक्रमण एव ११ भिक्षाहार नामक प्रतिमाओ का समाहरण किया है[१३]। पर इन नये नामों को मान्यता नही मिली है।

व्रतों के अतीचार—श्रावको के व्रतो के अनेक अतीचारों में भी भिन्नता पाई गई है।

भौतिक जगत के वर्णन में विसंगतियां : वर्तमानकाल–

भौतिक जगत के अन्तर्गत जीवादि छह द्रव्यो का वर्णन समाहित है। उमास्वाति ने "उपयोगो लक्षण" कह कर जीव को परिमापित किया है। पर शास्त्रों के अनुसार,

---

* (अ) गुण व्रत—

कुन्दकुन्द	दिशा-विदिशा प्रमाण,	अनर्थदडव्रत,	भोगोपभोगपरिमाण
उमास्वाति	दिग्व्रत	अनर्थदडव्रत,	देशव्रत
आशाधर, समंतभद्र	दिग्व्रत	,,	भोगोपभोगपरिमाण

(ब) शिक्षाव्रत—

कुंदकुंद	सामायिक,	प्रोषधोपवास,	अतिथिपूज्यता,	सल्लेखना
समंतभद्र, आशाधर	सामायिक,	प्रोषधोपवास,	वैयावृत्य,	देशावकाशिक
उमास्वाति	सामायिक,	प्रोषधोपवास,	अतिथिसविभाग,	उपभोग परिभोग परिमाण
सोमदेव	सामायिक,	प्रोषधोपवास,	वैयावृत्य	भोग-परिभोग परिमाण

जरा-सोचिए !

१. क्या जैन जिन्दा रह सकेगा ?

जैसे चन्द लोग इकट्ठे होते है और आकाश गुंजाने को जोर से नारा लगाते हैं—'जैन धर्म की जय ।' नारे से आकाश तो गूंजता है, पर, क्षण भर मे वह गूज कहा विलीन हो जाती है ? इसे सोचिए : कही वह अस्तित्व रखते हुए भी अरूपी आकाश मे तो नही समा जाती। इसी प्रकार आज जैन को ढूढना भी मुश्किल है, वह भी चूर-चूर होकर बिखर चुका है ? शायद कही वह भी तो अरूपी आकाश में नही समा गया ? देखिए, जरा गौर से—यदि ज्ञान-दीपक लेकर ढूढें तो शायद मिल जाय !

आप किसी मन्दिर में जाइए वहां आप समवसरण के कीमती से कीमती वैभव को देख सकेंगे, पाषाण-निर्मित प्रतिबिम्बों को देख सकेंगे—वे बिम्ब चादी, सोने, हीरे और पन्नों के भी हो सकते है, आप आसानी से देख सकेंगे। पर, जैन आपको अपनी आंखो या भावों मे कदाचित् ही दिखे।

ऐसे ही किसी त्यागी समाज मे जाकर देखिए, वहा आपको लाल, गेरुआ, पीत, श्वेत या दिगम्बर चोला तो दिखेगा, पर, जिसे आप खोज रहे है वह 'जैन' न मिलेगा। ऐसे ही किसी पण्डित के पास जाइए—उसे सुनिए : आपको सिद्धान्त और आगम की लम्बी-चौडी व्याख्याएं मिलेंगी, क्रिया-काण्ड मिलेगा पर, 'जैन' के दर्शन वहां भी मुश्किल से हो सकेंगे। धन-वैभव मे तो जैन के मिलने का प्रश्न ही नही—जहा लोग आज खोजते हैं।

आप पूछेंगे भला, वह जैन क्या है, जिसे देखने की आप बात कर रहे हैं ? आखिर, उस जैन को कहाँ देखा जाय ? तो सुनिए—

'जैन' आत्मा का निर्मल, स्वाभाविक रूप है, वह सरल-आत्माओं के भावों और आचार-विचारों मे मुखरित होता है। जहां मलीनता, बनावट और दिखावा न हो. वहां झलकता है। आप देखें—ये जो कई श्रावक हैं, पण्डित है, त्यागी और नेता है, इनमें कितने, किस अंश में मलीनता, बनावट और दिखावे से कितनी दूर है ? जो इनमे जैन हो। क्या कहें ? आज तो त्याग की परिभाषा भी बदली जैसी दिखती है। त्याग तो जैन बनने का सही मार्ग है और वह मार्ग अन्तरग व बहिरंग दोनो प्रकार के परिग्रहो को कृश करने और परिग्रहो के अभाव मे मिलता है। अर्थात् परिग्रह की जिस स्थिति को छोडकर व्यक्ति घर से चला हो उस स्थिति की अपेक्षा परिग्रह मे हीनता होते जाना त्याग की सच्ची पहचान है। पर, आज तो परिस्थिति अधिकाश ऐसी है कि—जो पुरुष दीक्षा—नियम से पूर्व किसी झोपड़ी, साधारण से सुविधारहित कच्चे-पक्के घर मे रहता था वह त्यागी नामकरण होने के बाद सुन्दर, स्वच्छ सुविधायुक्त मकानों, कोठियो, बगलो और यहाँ तक कि वह बकिंघम पैलेस जैसे महलों मे रहने के स्वप्न देखता और वैसे प्रयत्न करता है। जिसे दीक्षा से पूर्व ख्याति, पूजा-प्रतिष्ठा की चाह न थी, वह उत्सवो, कार्यक्रमों आदि के बहाने बडे-बड़े पोस्टरो मे बड़ी-बड़ी पदवियों सहित अपने नाम-फोटो और वैसी किताबे छपाना चाहता—छपाता है। जिसे दीक्षा पूर्व लोग जानते भी न थे—कोने मे बैठा रहता हो वह दीक्षा के बाद सिंहासना-रूढ होकर सभाओ मे अपने जयकारे चाहता है। जो घर से सीमित परिवार का मोह त्याग, वैराग्य की ओर बढ़ा था वह उपकार के बहाने सीमित की बजाय श्रावक-श्राविका और सेठ-साहूकारो जैसे बड़े परिवारों के फेर मे फंस जाता है, उसके वैभव से घिर जाता है। ये सब तो ग्रहण करने के चिन्ह हैं और ग्रहण करने मे जैन कहां ? जैन तो उत्तरोत्तर त्याग मे है, आकिंचन्य मे है। हाँ, सच्चे त्यागी होंगे अवश्य—उनको खोजिए, जहाँ वे हों, जाइए और नमन कीजिए, इसमे आपका भी भला है।

श्रावकों की मत पूछिए, वे भी कहाँ, कितने है ? होंगे बहुत थोड़े कही—किन्ही आकाश प्रदेशों मे, श्रद्धा

और विवेकपूर्वक श्रावक की दैनिक षट्क्रियाओं में लीन। वरना, अधिकांश जन समुदाय तो इस पद से अछूता ही है—रात्रि-भोजी और मकार-सेवी तक। जिन्हें हम श्रावक माने बैठे है, तथोचित सर्वोच्च जैसे सम्मान आदि तक दे रहे है, शायद कदाचित् उनमे कुछ श्रावक हो तो दैनिक षट्क्रियाओं की कसौटी पर कस कर उन्हे देखिए। वरना, वर्तमान वातावरण से तो हम यह ही समझ पाए हैं कि—इस युग मे पैसा ही श्रावक और पैसा ही प्रमुख है—सब उधर ही दौड रहे है।

पण्डित, 'पण्डा' वाला होता है और 'पण्डा' बुद्धि को कहते हैं—'पण्डा-बुद्धिर्यस्यमः पण्डितः' अर्थात् जिसमें बुद्धि हो वह पण्डित है। आज कितने नामधारियों में कैसी बुद्धि है, इसे जिनमार्ग की दृष्टि से सोचिए। जब जिनमार्ग विरागरूप है तब वर्तमान पीढ़ी मे कितते नामधारी, प० प्रवर टोडरमल जी, प० बनारसीदास जी और और गुरुवर्य पं० गोपालदास जी बरैया, प० गणेशप्रसाद वर्णी जैसे सन्मार्ग-राही और अल्प-सन्तोषी है? जो उक्त परिभाषा मे खरे उतरते हो या जो लौकिक लाभों और भगो की सीमा लांघ—बिना किसी झिझक के सही रूप मे जिन वाणी के अनुसर्ता या उपदेष्टा हों? कडुवा तो लगेगा, पर, आज के त्यागी वर्ग की शिथिलता मे कुछ पण्डितो, कुछ सेठो या श्रावको का कुछ हाथ न हो—ऐसा सर्वथा नहीं है। कई लोग हा, मे हाँ करके (भी) मार्ग बिगाड़ने मे सहयोगी हो तब भी सन्देह नही। कुछ पंडितो की अहं-पण्डा (बुद्धि) के कारण, उनके सहयोग से मूल-आगम-रूप भी बदलाव पर हों तो भी सन्देह नही। हम आगम के पक्षपाती हैं। हम नही चाहते कि कोई अपनी बुद्धि से आगमों मे परिवर्तन लाए। हम तो पूर्वाचार्यों की चरण-रज-तुल्य भी नही, जो उनकी भाषा मे किन्ही बहानों से परिवर्तन लाएँ—आचार्यों ने किस शब्द को किस भाव मे कहा, किस रूप में रखा है इसे वे ही जानें—इस विषय को आचार्यों की स्व-हस्तलिखित प्रतियो की उपलब्धि पर—सोचा जा सकता है, पहिले नही। जैसा हो, विचारें।

अब रह गए नेता। सो नेताओं की क्या कहें? वे हमारे भी नेता हैं। गुस्ताखी माफ हो, इसमे हमारा वश नहीं। नेता शब्द ही ऐसा बहुमुखी है जो चाहे जिधर मोड़ा जा सकता है—नेता अच्छों के भी हो सकते हैं और गिरों के भी—धर्मात्माओ के भी हो सकते है। पर, हम यहां 'मोक्ष मार्गस्य नेतारं' की नही, तो कम से कम जैन-समाज और जैन धर्म के नेताओ की बात तो कर ही रहे हैं कि वे (यदि ऐसा करते हों तो) केवल नाम धराने के उद्देश्य से दिखावा न कर जनता को धर्म के मार्ग में सही रूप में ले चले और स्वय भी तदनुरूप सही आचरण करें। जिससे जैन धर्म टिका रह सके। यदि ऐसा होता है तो हम कह सकेंगे—'हा, जैन जिन्दा रह सकेगा'। असलियत क्या है? जरा-सोचिए—

—सम्पादक

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित श्री बाबूलाल जैन, २ अन्सारी रोड, दरियागज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

मुद्रक—गीता प्रिंटिंग एजेंसी न्यू सीलमपुर, दिल्ली-११००५३

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

मौलिक विचार

'हमारी विनम्र राय मे भाषा मे शुद्ध या अशुद्ध होने का कोई प्रश्न ही नही है। जो लोग भाषा शास्त्र का ककहरा भी जानते है वे जानते है कि किसी भी भाषा या भाषारूप का जैसा वह उपलब्ध हो उसका वैसा अध्ययन करना चाहिए अपेक्षया इसके कि उसे किसी खास खूटे से बाँधा जाय और शुद्ध करने का ढोंग किया जाए।'

'वस्तुतः जैन शौरसेनी पहली दो प्राकृतो से जुडा है, इस तथ्य को पूरी तरह समझ लेना चाहिए।'

'हमारे खयाल से अब उसे मानक बनाने का जो कष्ट उठाया जा रहा है, वह व्यर्थ और अनावश्यक है। भाषा के शुद्ध करने की सनक मे कही ऐसा न हो कि हम जैन-शौरसेनी के मूल व्यक्तित्व से ही हाथ धो बैठें।'

—'तीर्थंकर'—सम्पादकीय, मार्च १९८८

'आगम के मूलरूपो मे फेर बदल घातक है' नामक आपका लेख सार्थक एव आगम की सुरक्षा के लिए कवच है।'

'कोई भी प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ/आगम किसी व्याकरण के नियमो से बधी भाषा मात्र का अनुगमन नही करता। उसमे तत्कालीन विभिन्न भाषाओं/बोलियो के प्रयोग सुरक्षित मिलते है।'

'एक ही ग्रथ मे कई प्रयोग प्राकृत बहुलता को दर्शाते है अत. उनको बदलकर एकरूप कर देना सर्वथा ठीक नही है।'

'सस्कृत छाया से प्राकृत पढ़ने वाले विद्वानो के द्वारा इस प्राकृत भाषा के साथ छेडछाड करना अनधिकार चेष्टा कही जायेगी। उसे रोका जाना चाहिए।'

'प्राचीन ग्रन्थो का एक-एक शब्द अपने समय का इतिहास स्तम्भ होता है।'

'केवल अपने विचार व्यक्त किए जा सकते है या टिप्पणी दी जा सकती है, मूलपाठ मे शब्द नही बदला जा सकता है।'

—डॉ० प्रेमसुमन जैन, अध्यक्ष—जैन विद्या एव प्राकृत विभाग, सुखा० वि० वि०, उदयपुर

'तीर्थंकर मे आपका लेख जैन-शौरसेनी के बारे मे पढा। अच्छा लगा। पर यहाँ कौन सुनने वाला है। सब तो लघु-सर्वज्ञ बनने जा रहे है और जो जिसके मन मे आता है सो करने लग जाता है।' —नीरज जैन, सतना

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४१ : कि० २ अप्रैल-जून १९८८

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

—इतिहास मनीषी, विद्यावारिधि—

स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन को

— श्रद्धांजलि —

इतिहास-मनीषी, विद्यावारिधि स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन से सभी परिचित हैं। सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक जैसे सभी क्षेत्रो में उनकी अप्रतिम प्रतिभा और सहयोग रहे। वे सदा प्रामाणिक लिखते और कहते रहे। वीर सेवा मन्दिर से उनके पुराने सम्बन्ध थे। सन् १९७४ मे वे शोध-निमित्त सरसावा भी रहे। वे सरल स्वभावी, हँसमुख और पठन-पाठन के शौकीन थे। उन्होने समाज को जो भी दिया वह चिर-काम आएगा और आदर्श रहेगा। वे वर्षों से अनेकान्त के सम्पादक मडल में थे। गत ७-८ वर्षों से तो ऐसा अनेकान्त का शायद ही कोई अंक हो जिसमें उनका लेख न हो।

"अनेकान्त' के माध्यम से प्रसारित उनके अन्तिम लेख की कड़ियां पाठको को अब भी विचारणीय हैं।" कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी की तिथि को लक्ष्य कर वे लिखते हैं—

"जब किसी महापुरुष या उनके जीवन की घटना विशेष की स्मृति में कोई आयोजन किया जाय तो उसमे कुछ तुक होना उचित है। भगवत् कुंदकुंदाचार्य का जन्म ई० पू० ४१ मे हुआ था, ११ वर्ष की आयु में ई० पू० ३० में उन्होंने मुनि दीक्षा ली थी, २२ वर्ष मुनि जीवन व्यतीत कर ३३ वर्ष की आयु में ई० पू० ८ में वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और ५२ वर्ष पर्यन्त उस पद को सुशोभित करके ८५ वर्ष की आयु में सन् ४४ ई० में उन्होंने स्वर्गगमन किया था इनमे से किसी भी विधि की संगति इस या आगामी वर्ष के साथ नही बैठती। हमे ज्ञात नही है कि किस महानुभाव की प्रेरणा से इस समय इस आयोजन का विचार प्रस्फुटित हुआ है। बहुमान्य परम्पराएँ अनुश्रुति के अनुसार तो आचार्य प्रवर के जन्म की द्विसहस्राब्दि सन् १९५९ ई० मे होती, उनकी दीक्षा की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९७० मे होती, उनके आचार्य पद ग्रहण की द्वि-सहस्राब्दि सन् १९९२ ई० मे और उनके स्वर्गगमन की द्वि सहस्राब्दि सन् २०४४ ई० में होनी चाहिए।"

आगम-रक्षा के सम्बन्ध मे डा० सा० का सन्देश है—"किसी भी प्राचीन ग्रन्थ के मूल-पाठ को बदलना या उसमे हस्तक्षेप करना किसी के लिए उचित नहीं है। जहाँ संशय हो या पाठ त्रुटित हो उसी स्थिति में ग्रन्थ की विभिन्न प्रतिलिपियों मे प्राप्त पाठान्तरों का पाद-टिप्पण में सकेत किया जा सकता है और अपना संशोधन या सुझाव भी सूचित किया जा सकता है।"

डा० सा० के निधन से हुई क्षति-पूर्ति सर्वथा असम्भव है। वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी ने अपनी बैठक में स्व० आत्मा मे श्रद्धा व्यक्त करते हुए उनकी आत्म-शांति और सद्गति की प्रार्थना की और परिवार के प्रति सम्वेदना प्रकट की। समाज डा० सा० के उपकारों का सदा ऋणी रहेगा।

—सुभाष जैन

महासचिव

ओम् अर्हम्
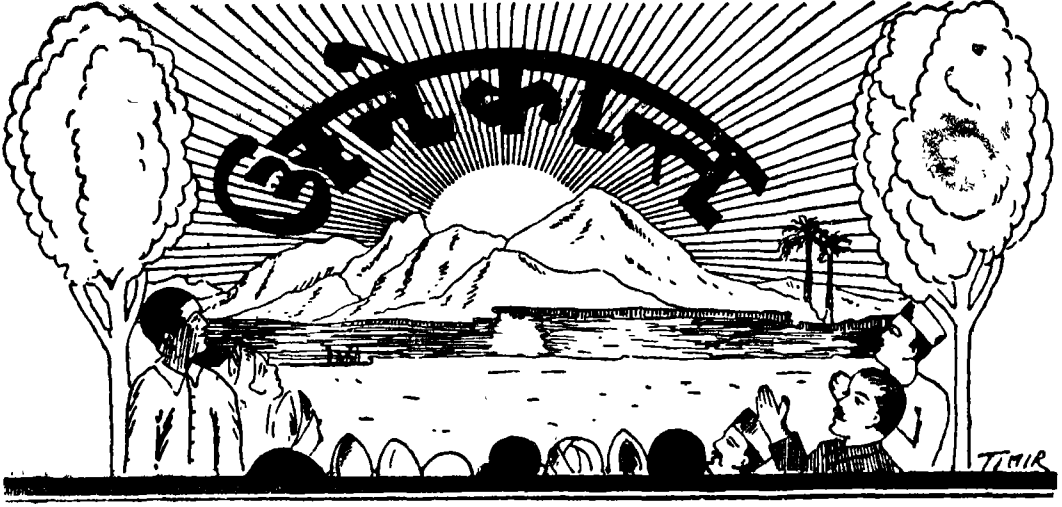
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४१ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | अप्रैल-जून
वीर-निर्वाण संवत् २५१३, वि० सं० २०४५ | १९८८

श्रीसुपार्श्व-जिन-स्तवन

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां । स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्ति—रितीव माख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ।।१।।

—समन्तभद्राचार्य

'यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है—वह विभाव परिणति से रहित अपने अनन्तज्ञानादिमय स्वात्म-स्वरूप में अविनश्वरी स्थिति है—वही पुरुषों का—जीवात्मा का—सच्चा स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—इन्द्रिय-विषय—सुख का अनुभव—स्वार्थ नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सुख के सेवन से उत्तरोत्तर तृष्णा की—भोगाकांक्षा की—वृद्धि होती है और उनसे ताप की—शारीरिक तथा मानसिक दुःख की—शान्ति नहीं होने पाती। यह स्वार्थ और अस्वार्थ का स्वरूप शोभनपार्श्वों—सुन्दर शरीराङ्गों के धारक (और इसलिए अन्वर्थ-संज्ञक) भगवान सुपार्श्व ने बतलाया है।

भावार्थ—इस पद्य में आचार्य समन्तभद्र ने सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का स्तवन करते हुए स्वार्थ और अस्वार्थ का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है, वह महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानी जीवों का स्वार्थ स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति है। वे उसी की सम्प्राप्ति का निरन्तर प्रयास करते हैं। क्षणभंगुर इन्द्रिय-विषयों की ओर उनका झुकाव नहीं होता, क्योंकि वे सन्ताप बढ़ाने वाले हैं, शान्ति के घातक हैं, अतएव वह ज्ञानी जनों का अस्वार्थ है। भगवान सुपार्श्व ने उसी सम्यक् स्वार्थ को प्राप्त किया, और जगत को उसी की सम्प्राप्ति का मार्ग बतलाया है।

—:०:—

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट–डीड–संशोधन-प्रसंग

पाठकों को स्मरण हो कि वीर सेवा मन्दिर सोसायटी ने पं० टोडरमल स्मारक के ट्रस्ट डीड में संशोधन कराने हेतु एक अपील प्रकाशित की थी। उस पर पाठकों ने अपनी सहमति देकर उसका आदर किया। हम पाठकों के सहयोग के लिए आभारी है। पाठकों की जानकारी के लिए संक्षिप्त-विवरण निम्न प्रकार है :—

वीर सेवा मन्दिर द्वारा अपील–

आज जहाँ एक ओर मूल आगमों के सार्वजनिक शब्द रूपों में मनमाना बदलाव किया जा रहा है वहीं दूसरी ओर दिगम्बर जैन धर्म को कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित घोषित किया जा रहा है। पंडित टोडरमल स्मारक, बापू नगर, जयपुर के ट्रस्ट डीड सन् १९६४ के अनुसार तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित दिगम्बर जैन धर्म को कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित वीतराग दिगम्बर जैन धर्म बताया जा रहा है। यह कैसी विडम्बना है ? ट्रस्ट डीड के आपत्तिजनक अनुच्छेद नीचे दिए जा रहे है :—

Para–5

OBJECT OF THE TRUST SHALL BE :

To propagate "the tenets of Vitrag Digamber Jain Religion as propounded by "Parampujya Sadgurudav Shri Kanji Swami" (here in after refered to as 'Digamber Jain Religion" for the sake of brevity but it shall always mean religion as propounded by parampujya Sadgurdev Shri Kanji Swami) in general and to carry out any activity in any manner for the purpose."

Para No. 28

Any person who is following the tenets of the Digamber Jain Religion as propounded by Parampujya Shri Kanji Swamy will be at liberty to attend and to worship in the temp'e at such time or times of the day as may be prescribed by the Trustees"

हिन्दी अनुवाद

ट्रस्ट के उद्देश्य होंगे

"अनुच्छेद–५

साधारणतया परमपूज्य सदगुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित वीतराग दिगम्बर जैन धर्म के तत्वों का प्रचार-प्रसार करना तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी भी गतिविधि को चलाना। वीतराग दिगम्बर जैन धर्म को ही संक्षेप की दृष्टि से आगे दिगम्बर जैन धर्म कहा गया है, किन्तु इससे सदैव परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कान जी स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्म ही अभिप्रेत होगा :"

"अनुच्छेद २८

प्रत्येक व्यक्ति जो परमपूज्य कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म के सिद्धान्तो का अनुयायी है, इस बात के लिए स्वतन्त्र होगा कि वह दिन के ऐसे समय या समयो पर जो न्यासियों द्वारा निश्चित किए जाएँ, मन्दिर में जाएँ और उपासना करें।"

वीर सेवा मन्दिर को पंडित टोडरमल स्मारक के ट्रस्ट की फोटो प्रति प्राप्त होने पर संस्था की कार्यकारिणी ने अपनी बैठक १३ मई १९८८ मे निर्णय लिया है कि प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के डीड़ की उक्त धारायें जैन

आगम के प्रतिकूल है। इस सम्बन्ध में उक्त ट्रस्ट से अनुरोध किया जाय कि वह उक्त धाराओं को अपने ट्रस्ट डीड से निकाल दें क्योंकि तीर्थंकरों का स्थान अन्य कोई भी व्यक्ति नही ले सकता।

आशा है आप कार्यकारिणी के उक्त निर्णय से सहमत होंगे इसलिए आप भी व्यक्तिगत रूप से अथवा दिगम्बर जैन संस्थाओं की ओर से पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापू नगर, जयपुर को उक्त धाराओं को हटाने के लिए पूरे प्रयत्न करें। कहीं ऐसा न हो कि दिगम्बर जैन समाज की उदासीनता के कारण भविष्य मे तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित धर्म कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित धर्म बन कर न रह जाय। इस सम्बन्ध मे आप अपनी प्रतिक्रिया से हमें अवश्य अवगत कराने का कष्ट करें। धर्म की रक्षार्थ आपका सहयोग अपेक्षित है।

सधन्यवाद !

भवदीय :
सुभाष जैन
(महासचिव)

समाज द्वारा समर्थन—

पण्डित टोडरमल स्मारक जयपुर—ट्रस्ट डीड मे कान जी भाई के द्वारा दि० जैन धर्म को प्रतिपादित किया गया है, वह अत्यन्त घोर निन्दनीय है। —**मल्लिनाथ शास्त्री, मद्रास**

आपने प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट–डीड के अनुसार जो अनुच्छेद ५ व २८ की व्याख्या की है वह अनुकरणीय है। परन्तु समाज के श्रीमन्त लोग जयपुर के ट्रस्ट की ओर झुक रहे है और श्री कानजी स्वामी का सदेश फैला रहे है। हमे सबसे पहिले उन्हें ही इस ओर आकर्षित करना चाहिए। —**जीवन लाल बहेरिया वाले**

मैंने भी ट्रस्ट डीड सन् १९६४ के पैरा न० ५ और २८ की नकलें आपने भेजी, उनकी भाषा पर खूब ऊहापोह किया है और इस नतीजे पर पहुंचा हू कि ट्रस्ट डीड के अनुसार सद्गुरु देव कानजी स्वामी द्वारा प्रतिपादित वीतराग दिगम्बर जैन धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है। अतः आपकी आपत्ति उचित है। —**बिरधी लाल सेठी**

श्री टोडरमल स्मारक नियमावली मे भगवान महावीर को, या उनकी परम्परा के किसी आचार्य को नही मानते हुए 'परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कान जी स्वामी को ही जैन धर्म का प्रतिपादक कहा गया है। समाज को धोखे में डालने वाले ऐसे प्रयासो का पर्दाफाश किया जाना चाहिए और उनसे अपेक्षा की जानी चाहिए—अपना हठाग्रह छोड़ कर अपने डीड में परिवर्तन करके दिगम्बरत्व की मूलधारा मे बने रहने का प्रयास करें। —**नीरज जैन, सतना**

वीर सेवा मन्दिर कार्यकारिणी के निर्णय हेतु हार्दिक बधाई। डीड ने अनुच्छेद ५ व २८ को तुरन्त हटावें तभी टोडरमल ट्रस्ट अथवा कान जी स्वामी के अनुयायी दिगम्बर जैन धर्म की धारा में आ सकेंगे। यह एक यथोचित बात है। —**जिनेन्द्रप्रकाश जैनी, मेरठ शहर**

आपने जो Printed Letter about कानजी डीड निकाला है वह बहुत मुद्दे की बात है और जयपुर वालो को इसे स्वीकार कर सत्यपथ का समर्थन करना चाहिए। —**कैलाशचन्द जैन, डिप्टीगंज**

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद का निर्णय :

"पं० टोडरमल स्मारक, बापूनगर, जयपुर के अनुयायियों को हम दि० जैन धर्म और दि० जैन समाज का अंग मानते हैं। किन्तु उक्त स्मारक के ट्रस्ट डीड की धाराएँ ५, २८ दि० जैन के सर्वथा विपरीत है क्योकि वीतराग दि० जैन धर्म का प्रतिपादन कानजी स्वामी के द्वारा नही हुआ है, अपितु दि० जैन धर्म अनादि से तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत चला आ रहा है। अतः प० टोडरमल स्मारक के ट्रस्टीज विद्वानो से यह बैठक पुरजोर अपील करती है कि वह अपनी ट्रस्ट डीड की उक्त धाराओं में आगमानुकूल संशोधन करें।"

साहू श्री श्रेयांस प्रसाद जी, अध्यक्ष दि० जैन महासमिति की मनोव्यथा :

"पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के ट्रस्ट डीड में कुछ ऐसे आपत्तिजनक मुद्दे हैं, जिनको संशोधित करने की आवश्यकता है। मेरा सस्था के पदाधिकारियो से निवेदन है कि वे उसमे सुधार करें ताकि समाज में शान्ति का वातावरण बन सके।"

हम निवेदन कर दें कि वीर सेवा मन्दिर की इस प्रक्रिया के फलस्वरूप हमें टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के महामंत्री द्वारा एक पत्र प्राप्त हुआ है कि वे ट्रस्ट डीड का पैरा ५ एव २८ परिवर्धित कर रहे हैं। पाठकों की जानकारी के लिए उनके पत्र के आवश्यक अंश नीचे दिये जा रहे हैं। ताकि वे इनके औचित्य-अनौचित्य पर विचार कर सकें। साथ ही हमने जो उनसे पुनः आग्रह किया है, वह भी हम इसी अंक में छाप रहे हैं।

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से प्राप्त पत्र के अंश :

"वर्तमान भ्रमित वातावरण को देखते हुए दिगम्बर जैन महासमिति, दिगम्बर जैन परिषद, भारतवर्षीय दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, वीर सेवा मन्दिर आदि प्रतिष्ठित एव ट्रस्ट की हितैषी संस्थाओं ने हमें अनुरोध किया एवं हमे परामर्श दिया कि समाज के वातावरण को ठीक करने के लिए ट्रस्टडीड में आवश्यक स्पष्टीकरण देना चाहिए। उन सबकी भावनाओं का आदर करते हुए एवं आदरणीय साहू श्री श्रेयांस प्रसाद जी एवं आदरणीय साहू श्री अशोककुमार जी व श्री बाबूलाल जी पाटोदी आदि महानुभावो के अनुरोध का सम्मान करते हुए ट्रस्ट ने अपने ट्रस्टडीड मे निम्नानुसार स्पष्टीकरण के रूप मे परिवर्धन करने का निर्णय लिया है जिसकी आवश्यक कार्यवाही की जा रही है।

ट्रस्ट डीड का पैरा न० ५ एव २८ को इस प्रकार परिवर्धित किया गया है :—

5/Objects of the trust :

The objects of the trust shall be as follows :—(1) To propogate "The tenets of Vitrag Digambar Jain Religion, as preached by our parampujya Tirthankar from Bhagwan Rishabhdev to Bhagwan Mahavir and as explained by our Pujya Acharyas like Acharya Shri Bhutbali, Pushpdant,Kund Kund, Umaswami and Samantbhadra etc and furthe explained in simple language by Pandit Shri Banarsidasji, Todarmalji, Daulatramji, Jaichandji and Shri KanjiSwami" (hereinafter referred to as 'Digamber Jain Religion' for the sake of brevity) in manner for the purpose.

28/Right of Worship :

Any person who is following the tenets of the Vitrag Digamber Jain Religion shall be at liberty to attend and to worship the deities in the temples belonging to the Trust at Jaipur (Rajasthan) according to Shuddh (Tarapanth) Amnaya at such time or times of the day as may be prescribed by the Trustees but no person shall be entitled to reside in the temple or its premises without the previous permission in writing of the Chairman or any other person appointed by the Trustees in this behalf, provided always that it shall be lawful for the Chairman or any other persons authorised in this behalf by the Trustees to remove or cause to be removed from the temple and its precincts any devotees or other such person

residing there or who may conduct himself or herself in a disorderly or objectionable manner or may contravene the religious discipline of the temple.

हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास भी है कि शान्तिप्रिय एवं प्रबुद्ध समाज को इससे पूर्ण सन्तोष एवं समाधान होगा।"

निवेदक :

नेमीचन्द पाटनी महामंत्री,
पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

वीर सेवा मन्दिर का पत्र :

श्री नेमिचन्द पाटनी, महामन्त्री,
पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

प्रिय महोदय !

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की डीड के सम्बन्ध में अत्यन्त आवश्यक स्पष्टीकरण शीर्षक से आपका परिपत्र मिला। वीर सेवा मन्दिर आपका आभारी है कि आपने समाज की भावना को समझा और डीड में परिवर्तन करने के लिए निर्णय लिया। आपने जिस प्रकार से शब्दों का अर्थ किया है उसी प्रकार वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी द्वारा भी यही अर्थ समझ कर निर्णय लिया गया था। कार्यकारिणी आपके इस विचार से सहमत है कि दिगम्बर जैन धर्म अनादिकाल से तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म है। अत: ट्रस्ट डीड की धारा ५(१) में इतना लिखना ही पर्याप्त होगा :

५(१) परमपूज्य तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट दिगम्बर जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार प्रसार करना।

स्वाभाविक है कि मूल उद्देश्य की पूर्तिके लिए इसी अनुच्छेद के दूसरे और नवें पैरे में तदनुसार बदलाव आवश्यक है।

५(२) और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मन्दिर अथवा स्वाध्याय भवन निर्माण कराना, बनवाना-चिनवाना अथवा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु मदद करना अथवा मरम्मत के लिए मदद करना अथवा वर्तमान मन्दिरों, स्वाध्याय भवनों की देख-रेख करना।

५(६) दिगम्बर जैन धर्म के सिद्धान्तों को विभिन्न साधनों से प्रकाशित कराना एवं उन्हें वितरित कराना जिसमें उन्हें टेप पर रिकार्ड कराना और बजाना और इस प्रकार के टेपों को वितरित कराना और बजवाना भी सम्मिलित है।

हमारी पहचान दिगम्बर जैन धर्म के नाम से ही प्रचलित है। दिगम्बर से पहले वीतराग शब्द जोड़ने से यह भ्रान्ति होती है कि वीतराग दिगम्बर जैन धर्म एव दिगम्बर जैन धर्म दोनों अलग-अलग हैं। अत: केवल दिगम्बर जैन धर्म लिखना ही उपयुक्त होगा। ऐसा करने से उक्त धारा ५(१) मे धर्म का स्पष्टीकरण स्वयमेव ही हो जाता है और इसमें किसी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश नहीं रह जाती।

दिगम्बर जैन धर्म में देव-शास्त्र गुरु को ही आधार माना गया है। अत: ट्रस्ट डीड के अनुच्छेद २८ में आपने जो प्रस्ताव दिया है कि बिना आज्ञा के मन्दिर में कोई नही रह सकता, इसमें केवल यह बढ़ाना अनिवार्य होगा कि दिगम्बर जैन त्यागियों एवं मुनियों पर यह प्रतिबंध लागू नहीं होगा।

यह कार्यकारिणी महसूस करती है कि उक्त सुधार होने के बाद समाज में किसी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश नहीं रहेगी और समाज की एकता को एक दृढ़ आधार मिलेगा।

कृपया कार्यकारिणी के उक्त सुझाओं को सम्बन्धित अनुच्छेदों में सुधार कर सुधरे हुए डीड की प्रति शीघ्र भेजें ताकि समाज में एक अरसे से ट्रस्ट के प्रति चली आ रही भ्रान्ति एक दम दूर हो जाए।

(सुभाष जैन)
महासचिव

दिगम्बर आगम रक्षा-प्रसंग

वीर सेवा मन्दिर को प्राप्त कुछ पत्र

(१)

अकलंक जैसे महान आचार्यों ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए एक-एक अक्षर और मात्रा पर विचार करके यह साबित किया है कि इस सूत्र मे यह मात्रा होनी जरूरी है। एक-एक मात्रा पर विचार किया और पूर्वाचार्यों की रचना को प्रामाणिक साबित किया।

पण्डितवर टोडरमल जी ने गोम्मटसार की टीका करते हुए जगह-जगह पर यह लिखा है कि—'इसका अर्थ हमारी समझ मे खुलासा नही हुआ है।" परन्तु मूल ग्रन्थो को बदली करने का काम तो आज तक किसी ने नहीं किया, जो आज हो रहा है। क्या कुन्दकुन्द भारती की स्थापना इन्हीं कामों के लिए की गई है—जो विद्वान और समाज ऐसे कार्यों मे सहयोग दे रहे है, उनको सोचना चाहिए। पैसा ही सब कुछ नही है। अतः वीर सेवा मन्दिर को आगे आना चाहिए और आगम की रक्षा करना चाहिए।

जिनागम की प्रमाणता इसी बात पर रही है कि आचार्यों ने अपनी तरफ से कुछ नही कहा, जो गुरु-परम्परा से मिला उसी का वर्णन किया है।

षट्खण्डागम की रचना आचार्य पुष्पदन्त भूतबली ने की उसकी टीका महान् समर्थ आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने की। उन्होने भी कही किसी विषय मे मतभेद मिला तो यही लिखा है कि हमें तो दोनो ही बात प्रमाण हैं; परन्तु किसी विषय मे फेर-फार नही किया।

'संजद' शब्द को लेकर इस काल मे महान् आचार्य शान्तिसागर जी के समय मे विवाद चला और एक शब्द को बदली करने पर समस्त समाज ने विरोध किया।

इसी प्रकार क्षीरसागर नाम के मुनि ने तत्त्वार्थसूत्र और धवलादि मे गलती निकालने की कोशिश की। समाज ने उनका वहिष्कार कर दिया कि इनको मुनि न माना जाय।

जो प्राचीन आचार्यों की बनाई हुई गाथा है, उसमे चाहे मात्रा ज्यादा कम हो, अथवा शौरसेनी हो, चाहे अन्य प्राकृत हो, किसी को कलम चलाने का कोई हक नही है। ग्रन्थ की भाषा शुद्ध है। अगर हमने किसी बहाने भी कलम चलानी चालू कर दी तो कलम चलती ही चलेगी और मूल ग्रन्थों का लोप हो जायगा। किसी को कुछ भी लिखना है वह अलग से लिखे, मूल गाथाओं को बदली करना सरासर आगम की हत्या करना है।

अभी कुछ वर्षों से भगवान कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों की गाथाओं में कही अक्षर बदले जा रहे हैं, कहीं मात्रा बदली जा रही हैं और समाज चुप बैठा है। ऐसा लगता है समाज मूच्छित हो गई है उसको जगाना जरूरी है। यह काम वीर सेवा मन्दिर को उठाना चाहिए, जिससे कोई ऐसा दुस्साहस न करे। आगम की रक्षा करना जरूरी है। किसी व्यक्ति विशेष की, आगम की रक्षा के सामने कोई कीमत नही है। अतः वीर सेवा मन्दिर की तरफ से इसका समुचित विरोध होना जरूरी है। **श्री बाबूलाल जैन, वक्ता**

(२)

मेरा अभिप्राय

अनेकान्त (वर्ष ४१, कि० १) देखने को मिला। मान्य पं० पद्मचन्द जी शास्त्री इस काल में स्व० मुख्तार सा० का स्थान ले रहे है। ऐसा उनके कार्यों और इस अंक के लेखों से मालूम पड़ता है।

ग्रन्थों के सम्पादन और अनुवाद का मुझे विशाल अनुभव है। नियम यह है कि जिस ग्रन्थ का सम्पादन किया जाता है उसकी जितनी सम्भव हों उतनी प्राचीन प्रतियां प्राप्त की जाती हैं। उनमें से अध्ययन करके एक प्रति को

आदर्श प्रति बनाया जाता है। दूसरी प्रतियों में यदि कोई पाठभेद मिलते हैं तो उन्हें पाद टिप्पण में दिया जाता है। यह एक सर्वमान्य नियम है।

जो विद्वान इस पद्धति का अनुसरण करता है वह सिद्धान्त रक्षा मे सफल माना जाता है। जो इस नियम का उल्लंघन करता है, उसकी समाज में भले ही पूछ हो, सिद्धान्त रक्षा में उसकी कोई कीमत नहीं की जा सकती।

सामान्य से नय दो प्रकार के हैं, भेद की अपेक्षा वे सात प्रकार के हैं और अनेक प्रकार के है। देखा जाता है कि किस नय से कहाँ क्या लिखा गया है। उस नय से स्पष्टीकरण करने मे कोई बाधा नहीं। उसे अस्वीकार करना यही जिनमार्ग को तिलांजलि देना है।

जब षट्खण्डागम धवला जी की प्रथम पुस्तक का सम्पादन हो रहा था उस समय मैं और स्व० श्री पं० हीरालाल जी शास्त्री अमरावती से उस भाग के सम्पादन, अनुवाद मे लगे हुए थे। सम्पादन करते हुए सत्प्ररूपणा में ९३ सूत्र में यह अनुभव हुआ कि इसमे 'संजद' पद छूटा हुआ है। यह बात डा० हीरालाल जी के ध्यान मे लाई गई परन्तु समस्या का हल न देख कर पाद टिप्पण मे यह लिखना पड़ा कि 'अत्र सयतपद: त्रुटित: प्रतिभाति'।

इसका जो फल हुआ वह समाज के सामने है। इसलिए मैं सोचता हूं कि जो ग्रन्थ हस्तलिखित प्रतियों में जैसा प्राप्त हो, उसको आधार मानकर उसे वैसा मुद्रित कर देना चाहिए। हमको यह अधिकार नहीं है कि हम उसमें हेर-फेर करें। आप अपने विचार लिख सकते हैं या पाद टिप्पण मे अपना सुझाव दे सकते है। मूल ग्रन्थ बदलवाने का आपको अधिकार नहीं है। इसी तथ्य की ओर मान्य प० जी का समाज के सामने ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न है। उससे आम्नाय की मर्यादा बनाने मे सहायता मिलती है और मूल आगमों की सुरक्षा बनी रहती है।

वेदो के समान मूल आगम प्राचीन है। वे व्याकरण के नियमों से बधे नही हैं। व्याकरण के नियम बाद मे उन ग्रन्थों के आधार पर बनाये जाते है। फिर भी कुछ अश मे कमी रह जाती है, इसलिए व्याकरण के आधार पर संशोधन करना योग्य नही। जो जैसा पाठ मिले वह रहना चाहिए। मान्य पं० जी का इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का छोटा-सा प्रयत्न है, उसका सबको और स्वय किसी भी ग्रन्थ सम्पादक को स्वागत करना चाहिए। विज्ञेषु किमधिकम्।

—पं० फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री
बनारस वाले हस्तिनापुर

(३)

जनवरी-मार्च ८८ का 'अनेकान्त' त्रैमासिक पत्र मिला। उसमे आपका एक लेख "आगम के मूलरूपों में फेर-बदल घातक है" शीर्षक पढने को मिला। उसमें आपने जो कुछ लिखा है वह बहुत उचित और युक्तियुत लिखा है। यह समय कलियुग के नाम से विख्यात है, इस कलियुग के प्रभाव से ही मनुष्य की बुद्धि सुधार और सशोधन के नाम पर बिगाड और विनाश की ओर जा रही है। यही कारण है कि आज लोग आगम ग्रन्थो की भाषा के सुधार में लगे हुए है।

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द जैन भारती के रचयिता आचार्यों में अपनी प्रधानता रखते हैं। बारह वर्ष के दुर्भिक्ष के बाद जैनधर्म और जैन साधुओं में जो विकृतियां आई थी उस समय जैन धर्म अनेक सघों में बिखर गया था और अपनी-अपनी बुद्धि तथा सुविधा के अनुसार उन्होंने अपने-अपने पृथक संघ बना लिए। उस समय चतुर्थ काल से चले आये मूल सघ की सुरक्षा आचार्य कुन्दकुन्द ने ही की थी। नीतिसार समुच्चय ग्रन्थ में आचार्य इन्दनन्दि ने लिखा है :—

भरते पञ्चमे काले नानासङ्घ समा समाकुलम्। वीरस्य शासनं जातं विचित्रा काल शक्तय: ॥२॥

अर्थ—भरत क्षेत्र में पञ्चम काल में भगवान महावीर का शासन अनेक संघों में बट गया। काल शक्तियां भी बड़ी विचित्र होती हैं।

अलग-अलग बंट जाने वाले संघों के नाम उन्होंने इस प्रकार दिए हैं :—

गो पुच्छिका श्वेतवासा द्राविड़ो यापनायक: । नि: पिच्छश्च पञ्चैते जैनाभासा प्रकीर्तिता: ॥१॥

१ गोपुच्छक संघ, २ श्वेताम्बर संघ, ३ द्राविड़ संघ, ४ यापनीय संघ, ५ नि.पिच्छ संघ ।

इन पांचों संघों को आचार्य ने जैनाभास बताया है परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने मूल जैनधर्म की रक्षा की और उस रक्षा की वजह से उनके संघ का नाम मूलसंघ रक्खा गया । आचार्य कुन्दकुन्द ने गिरनार आदि तीर्थ क्षेत्रों पर संशय मत आदि विभिन्न मतो से शास्त्रार्थ किया एवं मूल जैन धर्म की रक्षा की । जिनका नाम मंगल करने वालों (महावीर, गौतम, कुन्दकुन्द) मे तीसरे नम्बर पर आता है । क्या उनसे यह आशा की जा सकती है कि उनकी भारती में अनेक भाषा या शब्दों की अशुद्धि है ।

आचार्य कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थ प्राय: प्राकृत भाषा में हैं । प्राकृत भाषा का अर्थ है कुदरती भाषा । बहुत प्राचीन काल में जिस देश मे जो भाषा बोली जाती थी वह उस देश की प्राकृत भाषा थी । एक प्राकृत भाषी देश वाला यदि दूसरे प्राकृत भाषी देश में रहने लगे तो वह उस देश की प्राकृत भाषा सीख लेगा और बोलने लिखने में दोनों भाषाओं का सम्मिलित प्रयोग कर सकता है । आज भी हम देखते हैं कि हम हिन्दी भाषा के साथ कभी-कभी उर्दू एवं अंग्रेजी भाषा का भी प्रयोग करते हैं । दोनों भाषाओं के मिश्रित प्रयोग में हम उर्दू भाषा के प्रयोग को गलत बता देवें तो यह कहा की बुद्धिमानी है । उदाहरण के लिए एक व्यक्ति भाषण करते हुए कह रहा है कि "आज का इंसान कितना बदल गया है" सुनने वाला कहता है यह गलत क्यों बोलता जा रहा है, सही बोलना चाहिए । "आज का युगीन पुरुष कितना बदल गया है ।" भाषाओं का मिश्रण हो सकता है पर उसका अभिप्राय गलत नही होना चाहिए ।

शौरसेनी भाषा मथुरा एवं उसके आसपास के क्षेत्रों की भाषा है । कुन्दकुन्द मथुरा प्रदेश के रहने वाले नहीं थे, उनका विहार उत्तर दक्षिण सभी ओर था । अतः उन्हें अपने देश की प्राकृत भाषा के साथ अन्य देश की भी प्राकृत भाषा का ज्ञान था ।

भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि विपुलाचल पर्वत पर खिरी थी । विपुलाचल पर्वत मगध देश में है । अत: भगवान की भाषा को कहा जाता है वह अर्द्धमागधी भाषा थी । इस अर्द्धमागधी भाषा का अर्थ ग्रन्थकारों ने किया है कि आधी भाषा मगध देश की और आधी भाषा अन्य देशों की थी । क्योकि समवशरण में दिव्यध्वनि सुनने वालों में आधी संख्या तो मगध देश के लोगों की थी तथा आधी सख्या अन्य सब देशों के लोगों की थी । इसका अभिप्राय यह है वास्तव में भगवान की वाणी सभी देशों की वाणी थी, परन्तु अधिक सख्या की अपेक्षा उसे अर्धमागधी कहा गया हैं । व्याकरण शास्त्रो मे प्राकृत भाषा के मुख्य पांच भेद किये है, ये सभी भाषाएँ अपनी-अपनी जगह ठीक हैं । यदि इनमे कही शब्दो का मिश्रण आता है तो ठीक है कोई हानि नही है । लेकिन अगर हम उसके शब्दों कों बदल देते हैं तो ऐतिहासिक दृष्टि से यह बहुत अनुचित है और जिन्होने उन शब्दों का प्रयोग किया उन शब्दों को बदल कर हम उनका अनादर कर रहे हैं ।

आज हिन्दी पूजा, पाठ, स्तुतियों की भाषाओं का बहुत कुछ मिश्रण है, फिर तो हमे उस मिश्रण को हटा कर अपना शुद्ध शब्द रख देना चाहिए ।

हम हिन्दी का मंगल पाठ बोलते हैं उसमें ऐरावत हाथी के लिए रूपचन्द जी ने लिखा है :—

'जोजन लाख गयंद बदन सौ निरमये ।

इसकी जगह अगर हम इसका निम्न प्रकार सुधार कर दें तो बुरा है; जैसे—

"योजन लाख गजेन्द्र बदन शत निरमयं" क्या इस सुधार को ठीक मान लिया जायगा । यदि ठीक मान लिए तो हिन्दी में भी ऐसे सैकड़ों हजारों छन्दों की भाषाएँ हैं जो दूसरे शब्दों मे उसी अभिप्राय की हैं, बदली जा सकती है तथा णमोकार मंत्र की प्राकृत भाषा भी बदली जा सकती है फिर वह अनादि मूल मंत्र नहीं रहेगा । मंत्र की

प्रशंसा में एक श्लोक है :— एसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसि पढम होइ मङ्गल।।

यही प्रशंसा श्वेताम्बर धर्म के शास्त्रों मे इस प्रकार की गई है—
एसो पच णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणं।
मंगलाणं च सव्वेसि पढमं हवइ मंगलं ॥

इन श्लोकों को देखकर दिगम्बर लोग भी अपने णमोकार मंत्र में 'णमोयारो' शब्द की जगह णमोक्कारो और 'होइ' की जगह 'हवइ' कर ले तो दिगम्बर समाज को कोई एतराज नही होना चाहिए क्योंकि अर्थ तो दोनों के समान हैं पर शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न है। लेकिन कोई भी दिगम्बर यह मानने को तैयार नहीं है कि अपने णमोकार मंत्र के शब्द बदल देना चाहिए। क्योंकि इससे हमारे दिगम्बर धर्म के इतिहास पर चोट लगती है।

बदलने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में भी बहुत-सी गाथाओं को बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए समयसार का मंगलाचरण लीजिए। मंगलाचरण की गाथा इस प्रकार है :—

"वंदित्तु सव्व सिद्धे धुवमचल मणोवमं गई पत्ते वोच्छामि समयपाहुड **मिणमो** सुयकेवली भणियं।" इसमें **मिणमो** शब्द को बदल कर यो गाथा को सुधारना चाहिए—"वंदित्तु सव्व सिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते वोच्छामि समयपाहुण **केवलि** सुयकेवली भणिय।"

अर्थात् 'मिणमो' की जगह केवली शब्द होना चाहिए क्योंकि धर्म का मूल उपदेश तो अर्हंत केवली का है न कि श्रुत केवली का है।

क्या विद्वान् लोग इम परिवर्तन को स्वीकार करेंगे ? क्योंकि मूल गाथा में यह लिखा है श्रुतकेवली द्वारा कहे हुए समयसार को कहूंगा। जबकि वास्तविकता यह है कि श्रुतकेवली ने भी अरहंत की वाणी सुनकर ही तो सब कहा है। लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द का अपना अभिप्राय ही दूसरा है। अतः उन्होने केवली शब्द का प्रयोग नही किया, इसलिए मात्र बोलने की भाषा के आधार पर शब्दो को अशुद्ध नही समझना चाहिए। हां अगर उन शब्दो में कोई भाषा की अशुद्धि हो तो हमे उसी भाषा के व्याकरण के अनुसार शब्द शुद्ध करदेना चाहिए। जैसे अगर सौरसेनी भाषा में कोई मागधी प्राकृत भाषा का शब्द प्रयुक्त किया गया है तो हमेमागधी भाषा के ही व्याकरणानुसार उसे ठीक कर देना चाहिए। हिन्दी भाषा मे तो कविता पर के अक्षर और मात्राओं की मर्यादा को लेकर अशुद्ध शब्द भी रखने पड़ते हैं। जैसे आठ को अठ, दृष्टि को दिठ, गोस्वामी को गुसाईं। अतः ग्रन्थकर्ता और रचना, रचनाकाल, परिस्थिति आदि सभी बातो को ध्यान रखना चाहिए। भाषाओं मे सस्कृत भाषा ही एक ऐसी है जो सभी क्षेत्रो में एक जैसी है। क्योंकि उस भाषा का सस्कार किया गया है। संस्कार करने से ही उसे संस्कृत कहा गया है। प्राकृत भाषा संस्कृत से प्राचीन है विभिन्न देशों मे उस प्राचीन भाषा की विभिन्न स्थिति देखकर उस भाषा मे सस्कार किया गया तो वह संस्कृत हो गई। हमारे प्राचीन आगम ग्रन्थ प्राकृत भाषा में ही है तथा अर्वाचीन संस्कृत में है।

आपने अनेकान्त मे आगम के मूल रूप को लेकर जो कुछ लिखा है वह बहुत अच्छा। हमे कुन्दकुन्द भारती को बदलने से बचाना चाहिए। अन्यथा लोग आगम ग्रन्थ तो दूर रहे वे अनादि मूल मत्र णमोकार मत्र को भी बदल कर रख देंगे।

आपका दूसरा लेख 'क्या कुन्दकुन्द भारती बदलेगी ?' वह भी मैं पढ़ चुका हू। आगम ग्रन्थों की भाषा रक्षा में आप संलग्न हैं इसके लिए आपको धन्यवाद है।

आपका :
(पं०) लाल बहादुर शास्त्री

आर्ष-भाषा को खण्डित न किया जाय

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

सर्व विदित है कि वेदों की भाषा आर्ष-भाषा है और उसमें संस्कृत व्याकरण के प्रचलित नियम लागू नही होते। पाणिनीय जैसे वैयाकरण को भी वेदो के मूल शब्दों की सिद्धि के लिए वेद-भाषा के अनुसार ही पृथक् से स्वर-वैदिकी प्रक्रियाओं की रचना करनी पड़ी और यास्काचार्य को वेद-विहित शब्दों की सिद्धि और अर्थ समझाने के लिए अलग से तदनुरूप निरुक्त (निघण्टु) रचना पड़ा।

वेदों की भांति दिगम्बर प्राचीन आगम भी आर्ष है और उनकी रचना व्याकरण से शताब्दियों पूर्व हुई है— उनमें पर-वर्ती व्याकरण की अपेक्षा नहीं की जा सकती। आर्ष मे प्राकृत भाषा सम्बन्धी अनेक रूप पाए जाना भी इसकी साक्षी हैं। और दिगम्बरो की आर्ष-भाषा का नाम ही जैन शौरसैनी है।

प्राकृत व्याकरण के रचयिता आचार्य हैमचन्द्र जी १२वीं शताब्दी के महान् प्रामाणिक विद्वान् थे और आर्ष का निर्माण उनसे शताब्दियो पूर्व हो चुका था और हेमचन्द्रादि ने उपलब्ध रचनाओं के आधार पर बहुत बाद मे व्याकरण की रचना की। हैमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' मे दो सूत्र दिए है—'आर्षम्' और 'बहुलम्'। उनका आशय है कि आर्ष प्राकृत में व्याकरण की अपेक्षा नही होती उसमे प्राकृत भाषा के सभी रूप 'बहुलम्' सूत्र के अनुसार पाए जाते हैं और बहुलम् का अर्थ—'क्वचित्प्रवृत्ति, क्वचिदप्रवृत्ति, क्वचिद्विभाषा, क्वचिदन्यदेव।'—कही नियम लागू होता है कही ला . नही होता, कही अन्य का अन्य-रूप होता है।

स्व० डा० नेमिचन्द्र, आरा ने प्राकृत को दो विभागो में विभक्त किया गया माना है। वे लिखते है—

'हैम ने प्राकृत और आर्ष-प्राकृत ये दो भेद प्राकृत के किए है। जो प्राकृत अधिक प्राचीन है उसे 'आर्ष' कहा गया है।' —आ० हैम० प्राकृत शब्दानु० पृ० १३४

इसके सिवाय त्रिविक्रम द्वारा रचित 'प्राकृत शब्दानुशासन' के Introduction मे पृ० ३२ पर लिखा है—"Trivikram also makes reference to ARSHA But he says that ARSHA and DESYA are rudha (रूढ़) forms of the language, they are quite independent; and hence, do not stand in need of grammer."इसी में पृ० १८ पर लिखा है—'The sutra 'बहुलम्' occurrings in both Trivikram and Hemchandra, which means. 'क्वचित्प्रवृत्ति. क्वचिदप्रवृत्ति. क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव, and Hemchandra's statement 'आर्षे तु सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते।'—आगम मे सभी विधियां विकल्प्य है।

उक्त स्थिति मे जब कि आचार्य हैमचन्द्र के 'बहुलम्' और 'आर्षम्' सूत्र हमारे समक्ष हों और हमें बोध दे रहे हो कि—आर्ष–आगमग्रन्थ सदा व्याकरण निरपेक्ष और है प्राकृत व्याकरण के नियम अन्यत्र ग्रन्थो में भी क्वचित् प्रवृत्त व क्वचित् अप्रवृत्त होते है तथा क्वचित् शब्दरूप अन्य के अन्य ही होते है। इस बात को स्पष्ट समझ लिया जाय कि आगम आर्ष है और आर्ष-भाषा बन्धनमुक्त है। और जैन शौरसेनी का यही रूप है। दि० आगमो की भाषा यही है इसमे किसी एक जातीय प्राकृत व्याकरण से सिद्ध शब्द नही होते। जब कि शौरसेनी इससे सर्वथा भिन्न और बन्धनयुक्त है। ऐसी दशा मे आर्ष को व्याकरण की दुहाई देकर उसे किसी एक जातीय व्याकरण में बांधने का प्रयत्न करना या निम्न सन्देश देना कहाँ तक उपयुक्त है? इसे पाठक विचारें।

"उपलब्ध सभी मुद्रित प्रतियों का हमने भाषा शास्त्र, प्राकृत व्याकरण और छन्द शास्त्र की दृष्टि से सूक्ष्म अवलोकन किया है। हमे ऐसा लगा कि उन प्रतियो मे परस्पर में तो अन्तर है ही, भाषा शास्त्र आदि की दृष्टि से भी

त्रुटियों की बहुलता है। अधिकांश कमियाँ जैन शौरसेनी भाषा के रूप को न समझने का परिणाम है। प्राकृत व्याकरण और छन्द शास्त्र के नियमो का ध्यान न रखने के कारण भी अनेक भूलें हुई जान पड़ती है।"
—मुन्नुडि० पृ० १२ (समयसार कुदकुद भारती प्रकाशन)

यदि उक्त सस्करण के प्रकाशकों, सयोजकों का आर्ष-भाषा और कथित जैन-शौरसेनी के स्वरूपो पर तनिक भी लक्ष्य रहा होता तो वे न तो उक्त बात लिखते और न ही समयसार के वर्तमानकालिक क्रिया-रूपो और अन्य शब्दरूपो में परिवर्तन कर उन्हे मात्र शौरसेनी के रूप बना देते। सयोजको का यह कैसा भयानक साहस है कि उन्होने पूरे ग्रन्थ में कही भी होइ, हवइ, हवेइ का नाम निशान नही छोड़ा—जब कि पूरे जैन आगमो मे उक्त रूप बहुतायत से पाए जाते है। क्या सयोजको को इष्ट है कि धवला आदि से भी उक्त रूपो का बहिष्कार करके उनके स्थान पर सयोजकों द्वारा निर्धारित होदि, हवदि, हवेदि कर दिए जाँय और पूरे आगमो को अशुद्ध मान कर बदला जाय? णमोकार मत्र-माहात्म्य को ही लीजिए? क्या उसमे भी 'होइ या हवइ मगलं' की जगह 'होदि या हवदि मगल' कर दिया जाय? लोए को लोगे कर णमोकार मत्र के बदलने का मार्ग तो वे खोल ही चुके है। क्या, श्रद्धालु चाहते है कि—जो अब 'णमो लोए सव्वसाहूणं' है वह 'णमो लोगे सव्वसाहूणं' हो जाय—मूल मंत्र बदल जाए? यह तो मूल का घात ही होगा। हम पूछते हैं कि क्या? समयसार की गाथा ३ और ३२३ मे 'लोए' गलत था जो उसे लोगे करने की जरूरत पड़ गई। हमारी ही नही, प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से भी लोए, लोगे और लोक के लिए लोगो, लोय, लोओ आदि सभी रूप आगमो मे प्रयुक्त हैं तब किसी जगह के परम्परित शुद्ध रूप की जगह दूसरा शब्दरूप बिठाने की क्या आवश्यकता थी? यदि संयोजक आगमो मे इसी भांति शौरसेनी की भरमार करने लगे तो 'पढम' के स्थान पर 'पधमं' होते देर न लगेगी। क्योंकि शौरसेनी मे 'थ' को 'ध' हो जाने का भी नियम है—देखें सूत्र 'थो धः'—प्राकृत सर्वस्व ३।२।४. यद्यपि शब्दानुशासन में ऐसा नही है।

यदि शौरसेनी और जैन-शौरसेनी में भेद न किया जायगा और आगमो के क्रियारूपो होदि, हवदि की भांति अन्य सभी रूप भी ठेठ शौरसेनी में किए जायँगे तो 'तम्हा के स्थान में ता[1], तहा के स्थान पर तधा[2] तुज्झ के स्थान पर ते-दे;तुम्ह[3], मज्झ के स्थान पर मे-मम[4], जहा के स्थान पर जधा[5] चेव के स्थान पर ज्जेव[6] आदि भी करने पड़ेगे—जबकि आगमों मे तम्हा, तहा तुज्झ, मज्झ, जहा और चेव आदि जैसे सभी रूप मिलते हैं।

इसी भाँति आगमो में अन्य अनेक शब्दों के विभिन्न रूपों के और भी अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं, जिन्हें शौरसेनी के नियमो मे बदला जा सकेगा। जैसे आगम मे 'भरत' के लिए कई जगह 'भरह' शब्द आया है, जो महाराष्ट्री का है, देखे—'भरहक्खेत्तम्मि, भरहम्मि—(ति० प० ४/१०० व ४/१०२) इसे शौरसेनी मे भरधक्खेत्तम्मि और भरधम्मि करना पड़ेगा क्योकि शौरसेनी मे त को ध होने का नियम है—'भरते धस्तस्य'—प्रा०स० ९/२५. इसी प्रकार आगम मे रत्न के लिए रयण शब्द है जो महाराष्ट्री का है—रयणप्पह, (ति०प० २/१६८); रयणमया (३/१३५), रयणत्थभा (३/१३८) यहाँ शौरसेनी के अनुसार 'य' की जगह 'द' होकर—'रदण' हो जायगा। (देखें पिशल पैरा १३१) आदि। फलतः—

हमारा कथन है कि आगमों में (समयसार में भी) सभी रूप मिलते है और जैन-शौरसेनी में सभी समाहित हैं। समयसार मे जिनरूपों को शुद्धि के नाम पर बदला गया है—जैन-शौरसेनी की दृष्टि से वे सभी ठीक थे। संशोधकों ने शौरसेनी को जैन-शौरसेनी समझ लिया यही उनका भ्रम था। हमें आश्चर्य है कि उन्होंने सभी शब्द शौरसेनी मे क्यों न किए? खैर, गनीमत है कि उनकी मुख्य दृष्टि अपने अभीष्ट शब्दों तक ही सीमित रही,

(शेष पृ० १४ पर)

---

१. तस्मात्ता, २. थोधः, ३. तेदे तुम्हा ङसा, ४. न मज्झ ङसा, ५. थोधः,
६. एवार्थे ज्जेव स्यात्—सभी (प्राकृत सर्वस्व)।

श्री कुन्दकुन्द का विदेह गमन

□ श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी

इस वक्त कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि महोत्सव का प्रारम्भ है यह हमारे लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है। शिलालेखों (६ सौ वर्ष) टीकाओं (८ सौ वर्ष) कथा ग्रन्थों (५-६ सौ वर्ष) में आ० कुन्द कुन्द के चारण ऋद्धि होने और विदेह गमन के उल्लेख पाये जाते हैं। ये युक्ति और आगम से कहां तक ठीक हैं आज उन पर विचार किया जाता है ताकि वास्तविकता का ज्ञान हो सके :—

चारण ऋद्धिधारी मुनि तो एकल नही होते ज्यादातर युगल ही होते हैं जैसा कि सारे कथा ग्रन्थों में जहाँ भी चारण मुनियों के उल्लेख है प्रायः दो मुनिराज ही युगल रूप से विहार करते बताए गये है (देखो—मुनि सुव्रत काव्य में देशभूषण कुलभूषण (इनके जन्म, दीक्षा, कैवल्य, निर्वाण साथ-साथ हुए है) महावीर काल मे सजय विजय) क्योकि एकल बिहारी होना मुनि के लिए मूलाचार और भगवती आराधना में महान् दोषास्पद बताया है। अगर कुन्द कुन्द के चारण थी तो दूसरे साथी मुनि कौन थे ? चारण ऋद्धिधारी तो सदा चारण ऋद्धिधारी मुनियों के साथ ही रहते है अन्य के साथ नही जबकि आचार्य कुन्द कुन्द के संघ मे अन्य किसी भी मुनि के चारण ऋद्धि होने की बात नहीं बताई गई है। अतः कुन्दकुन्दाचार्य को चारण ऋद्धि बताना युक्तियुक्त नही, असंगत है।

अभी डा० हुकमचन्द जी भारिल्ल कृत "आ० कुन्द कुन्द और उनके पंच परमागम" ग्रंथ जयपुर से प्रकाशित हुआ है उससे एक वर्ष पूर्व उनकी सुपुत्री का "आ० कुन्द कुन्दः एक अध्ययन" प्रकाशित हुआ है दोनों में "ज्ञान प्रबोध" की कथानुसार लिखा है :—

"सीमंधर स्वामी की समवशरण सभा में कुन्द कुन्द के पूर्व भव के दो मित्र चारण ऋद्धिधारी मुनिराजा उपस्थित थे वे आ० कुन्द कुन्द को विदेह ले गए।"

यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि ले जाने वाले क्या अपने कन्धों पर बिठाकर ले गए ? आकाश मार्ग में कैसे ले गए ? महाव्रती साधु न तो किसी को बैठा सकते हैं और न कोई महामुनि किसी के कन्धे पर बैठ कर कहीं जा सकता है तब कैसे ले गए ? और फिर ये दोनों चारणर्षि पहुंचाने को भी आए गए क्या ? १—"तिलोय पण्णत्ती" अधिकार ४ (भाग २ सम्पादिका विशुद्धमति जी) में बताया है कि—

अत्तो चारण मुणिणो, देवा विज्जाहरा य णायान्ति।

(इस पचम काल मे यहा चारण ऋद्धिधारी मुनि, देव और विद्याधर नही आते।

२—'परमात्म प्रकाश' पृ० २५६ (अ० २ दोहा १३६ की ब्रह्मदेव कृत ठीका) में लिखा है :

देवागम परीहीणे, कालेऽतिशय वर्जिते।
केवलोत्पत्ति हीनेतु, हल चक्रधरोज्झिते॥

(इस पचम काल मे यहा देवताओं का आगमन नही होता, कोई अतिशय नही होता किसी को केवलज्ञान नही होता, बलदेव चक्री आदि शलाका पुरुष नहीं होते)।

३—"पुण्याश्रव कथाकोश" पृष्ठ २२४ में लिखा है : आगच्छतो विमानस्य व्याघुटन अदय प्रभृत्यत्र सुर चारणादीनां आगमनाभावं ब्रूते॥३॥ (आते हुए विमान का लौटना यह बताता है कि—आज से यहां देव और चारण ऋषियों का आगमन नही होगा। (चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों का फल)।

४—भद्र बाहु चरित (भ० रत्ननंदि कृत १७ वीं शती) परिच्छेद २ में लिखा है :

व्याघुट्यमानं गीर्वाण विमान वीक्षितं ततः।
कालेऽस्मिन्नागमिष्यन्ति, सुर खेचर चारणाः॥३६॥

(इस विषम काल में देव, विद्याधर और चारण मुनि नही आयेंगे, यह स्वप्न में जो सम्राट् चन्द्र गुप्त ने लौटना

हुआ देव विमान देखा है उसका फल है ।)

५—भद्र बाहु चरित (किशन सिंह जी पाटणी कृत १७८३ सं०)—

जात अपूठा देव विमान, इस स्वप्ना को येह बखान ।
सुर खेचर चारण मुनि जोय, पंचमकाल न आवे कोय ।।

६—प्रति बोध चिन्तामणि (काष्ठासंघी श्री भूषण विजय सूरि १६३६ सं०) में लिखा है :—पंचम काल मे उत्पन्न पुरुष विदेह मे नही जा सकता ।

तब कुन्द कुन्द का सदेह विदेह गमन कैसे सगत हो सकता है। तटस्थ होकर विद्वानों को विचार करना चाहिए। कुन्दकुन्द को दो हजार वर्ष हो गए १२ सौ वर्ष तक तो किसी ने उनके विदेह गमन और चारण ऋद्धि को बात कही की नही उनके टीकाकार आ० अमृतचद्र ने भी इस विषय का कही कोई संकेत तक नहीं नहीं दिया। न स्वय कुन्दकुन्द ने कही कोई उल्लेख किया है। एका-एक आठ सौ वर्षों के शिला लेखों से ऐसी बातें बिना आधार के उत्कीर्ण होना आश्चर्यजनक है। उत्कीर्ण करने वालों की प्रामाणिकता का भी कोई नाम पता नही। आज तक किसी विद्वान् ने इस पर गम्भीरता से विशेष विचार ही नही किया। भारिल्ल साहिब तो महान् तार्किक प्रतिभाशाली मनीषी विद्वान् है वे कैसे गतानु-गतिक बन गये ? आश्चर्य है ।

कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह (सन् १६६० पण्डित कैलाश चन्द जी शास्त्रीकृत) की विशाल प्रस्तावना मे (जिसका अनुसरण जयपुर के उक्त प्रकाशनो में थोड़ा बहुत है) कुन्दकुन्द के विदेह गमन और चारण ऋद्धि पर विस्तृत विचार करते हुए अन्त में लिखा है—"तथापि इन्हें अभी ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता, उनके लिए अभी और भी अनुसन्धान की आव-श्यकता है।" इसी से प्रेरित होकर वर्षों से मैं, श्रद्धातिरेक से कुन्दकुन्द के साथ जुड़ी ऐसी अनेक घटनाओं का युक्त्यागम पूर्वक अध्ययन कर रहा हूं उसी का परिणाम यह और आगे के लेख है। दर्शनसार गाथा ४३ मे सिर्फ यह लिखा है कि—"सीमंधर स्वामी के दिव्य ज्ञान द्वारा कुन्दकुन्द विबोध नहीं देते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे जानते ?" वहां कहीं भी चारण ऋद्धि और विदेह गमन की बात नहीं लिखी है। क्योंकि यह सब युक्तयुक्त्यागम विरुद्ध है जैसाकि ऊपर दिए ६-प्रमाणादि से सिद्ध है। मेरे ख्याल से कुछ ऐसा हो सकता है कि—"स्वप्न में कुन्दकुन्द को सीमंधर प्रभु के दर्शन हुए हों और उनसे वे विबोध को प्राप्त हुए हो।" धीरे-धीरे परम्परागति से यही कल्पना और जनश्रुति विदेह गमन चारण ऋद्धि के रूप मे प्रस्फुटित हुई हो।

तत्वार्थ सूत्र के कर्ता उमा स्वामी और सर्वार्थसिद्धि टीकाकार पूज्यपाद दोनों के भी, शिलालेखादि में चारण ऋद्धि और बिदेह गमन बताए हैं। जैसे लोक में England Returned—विदेश जाकर आए हुए को विशेष महत्त्व दिया जाता है शायद उसी शैली मे इन आचार्यों के साथ विदेह-गमन की बात जोड़ी गई है। किन्तु गलत बातों से किसी का गौरव और महत्ता नही बढती। गरिमा तो सदा गुणों और प्रामाणिकता की ही होती है। मान्य तो वे ही है अन्ध श्रद्धादि नहीं। अपनो की झूठी प्रशंसा करना और दूसरो की गलत निन्दा करना दोनो मिथ्या है। भले ही विनय और कषायादि सही सोचने की हमारी शक्ति को कुण्ठित कर दें परन्तु—

सचाई छिप नही सकती बनावट के उसूलों से ।
खुशबू आ नही सकती कभी कागज के फूलों से ।।

"मूलाचार" प्रस्तावना पृष्ठ १० मे श्री जिनदास पार्श्वनाथ जी फड़कुले लिखते है—भद्रबाहु चरित में स्वप्नफल के रूप मे जो पचमकाल मे चारण ऋद्धि आदि निषेध किया है, श्री कुन्दकुन्द के विषय मे उसका समा-धान यो समझना चाहिए कि—"वह सामान्य कथन है। पचम काल में ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। पंचमकाल के प्रारम्भ मे ऋद्धि का अभाव नही है परन्तु आगे उसका अभाव है ऐसा समझना चाहिए। यह कथन प्रायिक व अपवाद रूप है। इस सम्बन्ध मे हमारा कोई आग्रह नही है।"

समीक्षा

महापुराण पर्व ४१ श्लोक ६१ से ८० में भरत चक्री को आये सोलह स्वप्नो का फल ऋषभ प्रभु ने यह बताया कि—

प्रांसु धूसर रत्नौघ निध्यानाद् ऋद्धि सत्तमाः ।
नैव प्रादुर्भविष्यंति मुनयः पचमे युगे ।।७३।।

धूल से मलिन रत्नराशि देखने का फल यह है कि—पंचम काल में ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नही होगे ।)

इसमे और ऊपर जो छः प्रमाण दे आए है उनमें कही भी पंचमकाल मे ऋद्धि निषेध के कथन को न तो सामान्य बताया है न प्रायिक (अधिकाश रूप) न आपवादिक । फडकुले जी ने अपने मन से ही यह सब लिख दिया है इसी से आगे उन्हे लिखना पड़ा है कि—इस सम्बन्ध में हमारा कोई आग्रह नही है । अगर इस तरह नियमो और सिद्धांतों को सामान्य करने लगेगे तो फिर तो स्वप्न फलों मे जो इस काल मे अवधि-मनः पर्याय और केवल ज्ञान का भी निषेध किया है वह भी किन्ही को होने लगेगा किन्तु ऐसा नही ये तीनो प्रत्यक्ष ज्ञान इस काल मे किसी को नही होते । यहा यह शका नही करना चाहिए कि फिर पचम काल में गौतम, सुधर्मा, जम्बू ये ३ केवली और श्रीधरादि अननुबद्ध केवली कैसे हुए ? समाधान—ये सब चतुर्थ काल के अन्त मे पैदा हुए थे और पचम काल के आदि मे मुक्त हो गए । पचमकाल मे पैदा होने वाले कभी प्रत्यक्ष ज्ञान के धारी नहीं हो सकते । इसी तरह पचम काल में उत्पन्न कोई मुनि कभी ऋधिधारी नहीं हो सकते । जैन नियम त्रिकालावाधित है किसी की लिहाज नही करते । लिहाज मानने लगेगे तो सिद्ध जीव भी कभी न कभी ससार मे आने लगेगे किन्तु ऐसा अनन्त कल्पकाल बीतने पर भी नहीं होने वाला । नियम नियम हैं घर का राज नही । फड़कुले जी सा० लिखते है—"पचम काल मे ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है ।" समीक्षा—पूर्वकाल मे भी ऋद्धिया तो सर्व सुलभ नहीं थी दुर्लभ ही थी । इस काल में तो दुर्लभ क्या अत्यन्त असम्भव है । इसी से महापुराण में "एव" लगा कर निषेध किया हैं ।

विदेह भारत से अत्यन्त दूर है वहाँ की भाषा, रहन-सहन, जल-वायु, भोजन-पान, आयु, शरीराकार आदि आदि सब यहा से भिन्न है तब कथानुसार कुन्दकुन्द वहां ७ दिन तक कैसे रहे ? और भी कथादि मे दिया कुन्दकुंद का जीवन-चारित्र कितना कल्पित, असगत तथा अयुक्त है आगे क्रमशः उसकी समीक्षा को जाएगी । इसके सिवा, स्त्री मुक्ति की तरह शूद्र मुक्ति का भी कुन्दकुन्द स्वामी ने निषेध किया है यह उनके ग्रथो से स्पष्ट किया जाएगा ।

—:०:—

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

अन्यथा पूरा आगम ही अशतः के स्थान पर पूर्णतः विलुप्त हो जाता । हम नही चाहते कि बाद मे कभी नारा लगने की सम्भावना बने कि कभी कोई अमुक महान् हुए जिन्होने आगम या कुन्दकुन्द को ठीक किया—भले ही वर्तमान में कुन्दकुन्द की जय बोल—बुलवाकर यह सब बदलाव किया जा रहा हो ।

जब कोई किसी की प्रशंसा करता हो, उसे बढ़ाता हो, तब हमे हर्ष होता है : पर, जब कोई व्यक्ति अतिशयोक्तियों में पूर्वाचार्यों—विद्वानो को पीछे धकेल झूंठी ठकुरसुहाती करता हो तब हमे कष्ट होता है । ऐसा एक ही क्यों; यदि मिलकर सभी विद्वान भी कहें कि मूल आगम गलत है और वे बदले जा सकते है—या वे किसी एक जातीय प्राकृत भाषा के हैं, हम तब भी नही मानेंगे । हमारी दृष्टि से तो वे उसी जैन-शौरसेनी के हैं जिसमें सभी रूप समाहित होते है और यही आर्ष-भाषा का स्वरूप है इसे बदल कर शुद्ध करने के गीत गाना मिथ्या है ।

समय ऐसा आ गया है कि अब अर्थ-दाता दानी को भी सोचकर सावधान होना होगा कि उसका द्रव्य आगम-ध्वंस में लग, कही प्रश्न तो नही पूछ रहा—कि क्या तेरी कमाई न्याय नीति की थी ? क्योंकि अन्यायोपार्जित द्रव्य कभी सत्कार्य में नही लगता—ऐसा सुना गया है । लोगों को इन बातों पर पूरा ध्यान देना चाहिए । □□

राजस्थानी कवि ब्रह्मदेव के तीन ऐतिहासिक पद

◻ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

ब्रह्मदेव १८वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे। राजस्थानी एवं विशेषतः ढूढारी भाषा में अपने पदों की रचना करके उन्होंने एक कीर्तिमान स्थापित किया था। वे सम्भवतः जयपुर अथवा इसके समीपस्थ किसी ग्राम के निवासी थे। उनके अब तक सैकड़ों पद प्राप्त हो चुके है। ७० से भी अधिक पद तो हमारे सग्रह में हैं। लेकिन पद साहित्य के अतिरिक्त इनकी कोई बड़ी रचना अभी तक प्राप्त नही हो सकी है। इसलिए कवि का विशेष परिचय भी कही उपलब्ध नही होता। फिर भी इनके पदों के लिपि काल के आधार पर कवि का समय सवत् १८०० से १८६० तक का माना जा सकता है।

राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भण्डारो मे ब्रह्मदेव की जो रचनाएँ उपलब्ध हुई है वे सभी गुटकों मे सग्रहीत है। कवि निबद्ध भक्तिमय पदों के अतिरिक्त सास बहू का झगड़ा, शिखर विलास आदि लघु रचनाएं भी पदो के रूप में मिलती हैं। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण कवि द्वारा निबद्ध तीन ऐतिहासिक पद है जो केशोराय पाटन के मुनि सुव्रत नाथ, राजोरगढ़ के नौ गजा भगवान एव चदन गाव के महावीर स्वामी की भक्ति मे लिखे गए है। जैन कवियों ने हिन्दी मे हजारो पद तो अवश्य लिखे है लेकिन तीर्थों, अतिशय क्षेत्रों एव अन्य मन्दिरों के बारे में बहुत कम लिखा है। मैंने कुछ समय पूर्व "जैन हिन्दी कवियो की महावीर यात्रा" लेख मे कुछ कवियों द्वारा निबद्ध चदन गांव के भगवान महावीर की भक्तिपूर्ण पदों पर प्रकाश डाला था उसमे देवाब्रह्म द्वारा निबद्ध एक पद था। उक्त पद सहित ब्रह्मदेव के तीन ऐतिहासिक पद हो गए हैं, जिनको लेकर प्रस्तुत लेख में प्रकाश डाला जा रहा है—

मुनि सुव्रतनाथ का पद

कवि का प्रथम पद राजस्थान का प्राचीन जैन तीर्थ केशोराय पाटन स्थित भगवान मुनि सुव्रतनाथ के स्तवन मे लिखा गया है। यद्यपि केशोराय पाटन पर मेरी एक पुस्तक सन् १९८५ में प्रकाशित हो चुकी है लेकिन उस समय तक प्रस्तुत पद प्राप्त नही हुआ था इसलिए पुस्तक मे उसका उल्लेख नही किया जा सका। अभी मैं दिनांक २७ मार्च को झालावाड़ का जब शास्त्र भण्डार देख रहा था तो उन समय एक गुटके मे लिपिबद्ध यह पद अथवा विनती मिली है। कवि ने लिखा है कि हाडौती प्रदेश के चम्बल नदी के तट पर स्थित पाटनपुर नगर है। इस नगर के मन्दिर में भगवान मुनि सुव्रतनाथ की श्यामवरण सुन्दर प्रतिमा है जो पद्मासन है। जिनके दर्शनार्थ देश-विदेश के विभिन्न यात्रीगण आते है। अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजा करते है। कार्तिक सुदी १४ के शुभ दिन यहां मेला लगता है जिसमे बड़ी संख्या मे दर्शनार्थी एकत्रित होते है। पूरा पद निम्न प्रकार है—

मुनि सुव्रत जी की विनती ढाल

मुनि सुव्रत जी पूजस्यां मन वांछित दातार। मुनि०।
जम्बू डीप की बीच जी मेर सुदरसण थाये।
भरत क्षेत्र दक्षिण दिशा हाडौती देश कहाये ।।मुनि० १।।
चामला नदी तट उपरे पाटण पूर सार।
नगर बीच मन्दिर बण्यो सोभा अधिकार ।।मुनि० २।।
स्यामवरण सुन्दर सदा, पद्मासण धार।
राजे चुहेरा में सदा, अति से अधिकार ।।मुनि० ३।।
देस देस का जातरी, आवे बारम्बार।
आठ दव्य पूजा रचे; ध्यावे नवकार ।।मुनि० ४।।
कार्तिक सुदी मेलो जुडे, चौदस दीन सार।
नर नारी आवे घणा, गावे गुण सार० ।।मुनि० ५।।
सुरग मुकत कोपंथ जी, उपदेस कराये।
ज्यों सेवक आसा करे, पूर हीतकार ।।मुनि० ६।।
आठ करम बेरी घणे; त्रिजग त्रास सुपार।
देवा ब्रह्म वीनती करे, आवागमन नीवार ।।मुनि० ७।।
मुनि सुव्रत पूजस्यां, मन वांछित दातार।

उक्त पद में कवि ने केशोराय पाटन के स्थान पर पाटण नाम का ही उल्लेख किया है जो उसके प्राचीन नाम की ओर संकेत है। केशोराय पाटन स्थित भगवान मुनि सुव्रत नाथ का मन्दिर राजस्थान के प्राचीनतम मन्दिरों में से है जिसकी अतिशय क्षेत्र के रूप में सर्वत्र प्रसिद्धि है।

नो गजा पर

कवि का दूसरा ऐतिहासिक पद राजस्थान के अलवर जिले में राजोरगढ़ स्थित नो गजा नाम से प्रसिद्ध भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति के स्तवन में लिखा गया है। पद मे नो गजा बिम्ब के सम्बन्ध मे लिखा गया है कि वह गेहूं वरणी है जो राजपुर अथवा राजोरगढ जो वन मे पर्वत पर गढ़ बना हुआ है उसी में वह मूर्ति विराजमान है। घने जंगल के कारण मन्दिर तक पहुंचना कठिन लगता है। वहाँ कितने ही जैन मन्दिर हैं। अजबगढ़ होकर राजोरगढ़ जाना पड़ता है। स्वय अजबगढ भी प्राचीन नगर है। नो गजा की यात्रा की जाती थी ऐसा पद में वर्णित हैं। डॉ कैलाशचद जैन के मतानुसार राजोरगढ ८वीं शताब्दी से लेकर १२वी शताब्दी का नगर है जहा पहिले बड़ा गूजर राजपूतो का राज्य था।

दूसरे पद मे पाँच अन्तरे हैं। पाठको के पठनार्थ पूरा पद ही यहाँ दिया जा रहा है—

राग रेखता

सरसा उत्री बम्ही प्रतिमा राजोरगढ़ मैं विराजे है।
नो गजा बिम्ब छाजै है, गेहूं बरण कहा जे है।१।
देस है जोध ए नामा, नगर है राजपुर धामा।
निकरि परबल बना गढ़ है, मारिग अति कठिन चालै है।२।
जैन मन्दर घणा दरसै भव्य जीव आणि परसै है।
पूजै आहूं द्रव्य लै चित सै, करम सव भाग ऐ डर सै।३।
अजब गढ़ थे सबै ध्यावै, प्रभू की जतरा पावै।
गुरा जुत संग थावै, मंगल पूजा रचावै है।४।
प्रभू जी जी अरज ऐ सुणिये, करम का फद टाल्योगे।
देवा ब्रह्म वीनती करि है, तुम्हरी भगति मो धोये।५।

तीसरा पद पूजो श्री महावीर जी

तीसरा पद चान्दन गांव के भगवान महावीर की स्तुति में लिखा गया है। यद्यपि ब्रह्मदेव के पूर्व भी जैन कवियों ने चांदन गाँव के महावीर के सम्बन्ध में पद लिखे हैं लेकिन प्रस्तुत पद विस्तृत है जो २० लघु अन्तरों में पूरा होता है। इसमें गाय चरने, गाय के स्तनों से दूध वर्षा होने, गाय के मालिक द्वारा उक्त घटना देख कर नगर मे जाकर वृत्तांत कहना, चौबीसवां तीर्थंकर की प्रतिमा होने का शब्द होना; पाँचों द्वारा एकत्रित होकर जमीन खोद कर मूर्ति का प्रकट कराना. देश के यात्रियों का दर्शनार्थ आने लगना, महावीर भगवान को शहर में विराजमान करने का विचार करके बैलगाड़ी मे विराजमान करना, बैल गाड़ी का नही चल सकना, स्वप्न आना, चैत्र शुक्ला पूर्णिमा का मेला भरना; वही पर भगवान का मन्दिर बनवाना, दर्शनार्थियो का लगातार आते रहना आदि का वर्णन किया गया है। पद मे मन्दिर निर्माता का नाम नही दिया गया है। किस ग्राम के पंच आए थे इसका भी उल्लेख नही किया गया है। फिर भी पद महत्त्वपूर्ण है तथा अपने समय में काफी लोकप्रिय रहा है इसलिए राजस्थान के शास्त्र भण्डारों मे सग्रहीत कितने ही गुटको में मिलता है। पूरा पद निम्न प्रकार है—

ढाल—असडौ बधावो म्हारै आइयौ

पूजो श्री महावीर जी

जीवा चांदण गाँव नदी,
जीवा अतिशय अधिक अपार जी।पू० १।
जीवा गाय धणी वन मे चरै,
जीवा नदी दरडा माहि जी।पूजो० २।
जीवा एक गऊ सिरदार हो,
जीवा दरडो पूजै आय जी।पूजो० ३।
जीवा दूध धार बरखा करै,
जीवा ढोकै मस्तक नाय जी।पूजो० ४।
जीवा गाय धणी इम देखिके,
जीवा कहो नगर मैं आय जी।पूजो० ५।
जीवा सबद दैव का तब हुआ;
अठै चौबीसमा छे जिनराय जी।पूजो० ६।
जीवा पंच सबै भेला हुआ,
जीवा खोदन लागा जाणी जी।पूजो० ७।

मध्य-प्रदेश का जैनकेन्द्र सिहोंनिया

डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' जैन विद्या संस्थान, महावीर जी

मूलपाठ

संवत् १०१३ माधवसुतेन महिन्द्रचन्द्रकेनकभा (खो) दिना।[1]

प्रथम प्रतिमा लेख :

पाठ-टिप्पणी

पं० विजयमूर्ति ने 'खोदिता' पद को 'प्रतिष्ठिता' का अपभ्रंश बताया है।[2] दुर्जनपुर से प्राप्त गुप्तकालीन एक प्रतिमा-लेख में 'कारिता' पद इस अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[3] अतः प्रस्तुत लेख में 'कारिता' पद रहा प्रतीत होता है।

अभिलेखों में कारिता या खोदिता पद प्रतिमा-निर्माण के अर्थ में आये हैं। इन पदों के पूर्व प्रतिमाओं के नाम बताये गये हैं। दुर्जनपुर प्रतिमा-लेख मे 'कारिता' पद के पूर्व प्रतिमा का नाम चन्द्रप्रभ बताया गया है।[4] अतः प्रस्तुत लेख में भी 'खोदिता' पद के पहले 'चन्द्रप्रभ' नाम उत्कीर्ण रहा प्रतीत होता है।

इस लेख मे दो नाम आये हैं माधव ओर महिन्द्रचन्द्र, इनमें पिता का नाम माधव और पुत्र का नाम महिन्द्र-चन्द्र बताये जाने से महिन्द्र के साथ सयोजित 'चन्द्र' पद चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का प्रतीक ज्ञात होता है।

भावार्थ

सवत् १०१३ में माधव के पुत्र महेन्द्र ने चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई।

प्रतिमा-परिचय

प्रस्तुत लेख जिस प्रतिमा की आसन पर उत्कीर्ण रहा है, वह प्रतिमा सम्प्रति यहाँ के मन्दिर में नहीं है। जो मुख्य तीन प्रतिमाएं हैं, उनकी आसनें भूगर्भ में होने से यदि यह लेख उनमें किसी प्रतिमा की आसन पर उत्कीर्ण है, तो यह नही कहा जा सकता कि वह लेख किस तीर्थंकर-प्रतिमा की आसन पर है।

व्याख्या

माधव—यह वहाँ का आरम्भिक शासक ज्ञात होता है। इसके पुत्र का नाम महेन्द्र था।

महेन्द्र—यह सिहोनियाँ के महाराज माधव का पुत्र था। डॉ० ज्यतिप्रसाद ने बताया है कि यह अर्ध स्वतन्त्र राजा था। इसने ६५६ ईसवी में ग्वालियर के निकट सिहोनियाँ में विपुल द्रव्य व्यय करके एक जैन मन्दिर बनवाया था।[5] भूगर्भ से प्राप्त प्रतिमाओं से यह स्पष्ट है कि यहाँ का मन्दिर ध्वस्त हो गया और प्रतिमाएँ कालान्तर में भूगर्भ में आवृत हो गई।

अभिलेख का महत्व

प्रस्तुत लेख एक ही पक्ति का होने पर भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। राजा माधव और उनके पुत्र महेन्द्र का नाम इसी लेख से ज्ञात हुआ है।

प्राप्तिस्थल-परिचय

सिहोंनिया—ग्वालियर से २४ मील उत्तर की ओर तथा कोतवाल से १४ मील उत्तर-पूर्व में आसन नदी के उत्तरी तट पर स्थित है। यह नगर प्राचीन काल में समृद्ध था। कहा जाता है कि यह बारह कोस विस्तृत मैदान में बसा था। इसके चार फाटक थे। यहाँ से एक कोस दूर बिलौनी ग्राम में दो खम्भे, पश्चिम में एक कोस दूर पोरीपुरा ग्राम में एक द्वार अंश, पूर्व में दो कोस दूर पुरावस ग्राम में तथा दक्षिण में बाढा ग्राम में दरवाजों के अवशेष इसके प्रतीक हैं।[5]

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने एक लेख में बताया कि यहाँ प्राचीनकाल में विभिन्न सम्प्रदायों के मन्दिरों में ग्यारह जैन मन्दिर थे, जिनका निर्माण जैसवाल जैनों ने कराया था।[7] मुरैना के जैसवाल जैन श्रावकों की समृद्धि को देखकर लगता है कि वे मूलतः सिहोंनिया या उसके निकट बसे ग्रामो के निवासी रहे होंगे।

कनिंघम को विक्रम संवत् १०१३, १०३४ और १४६७ के ये तीन प्रतिमा लेख प्राप्त हुए थे। उन्हें वहाँ पाँचवीं-छठी शताब्दी का एक लेख ऐसा भी मिला था जो चौदह पंक्ति में उत्कीर्ण था। यह शिलाखण्ड उन्होंने लंदन भेज दिया बताया है।[8] इस उल्लेख से नगर की धार्मिक समृद्धि का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

नगर के नामकरण का इतिहास

जनश्रुति है कि ग्वालियर के संस्थापक सूरजसेन के पूर्वजों ने आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस नगर को

बसाया था। कहा जाता है कि राजा सूरजसेन को कुष्ट रोग हो गया था जो यहाँ अम्बिका देवी के पार्श्व में स्थित तालाब में स्नान करने से नष्ट हुआ था। इस घटना से वे बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने अपना नाम शुद्धनपाल तथा नगर का नाम सुद्धनपुर या सुधियानपुर रखा था[९], जो कालान्तर में सुहानिया या 'सिहोंनिया' हो गया प्रतीत होता है।

इस नगर पर ईसवी ११६५ से ११७५ के मध्य कनोज के राजा अजयचन्द्र द्वारा आक्रमण किया गया था। इस समय नगर का शासन एक राव ठाकुर के आधीन था, जो ग्वालियर के अन्तर्गत था। युद्ध में राव ठाकुर पराजित हुआ। कन्नौज के शासक भी अधिक दिन तक न रह सके।[१०]

द्वितीय प्रतिमा-लेख

मूलपाठ

संवत् १०३४ श्री वज्रदाम महाराजाधिराज वइसाख वदि……।[११]

पाठ-टिप्पणी

पं० विजयमूर्ति ने जरनल एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल जिल्द ३१ का सन्दर्भ देते हुए 'संवत्' को 'सम्वतः' तथा 'पाचमी' को 'पाचमि' बताया है।[१२] लेख का अंतिम अंश अपूर्ण है। इस अंश में प्रतिमा का नाम तथा 'कारिता' पद उत्कीर्ण रहा प्रतीत होता है।

भावार्थ

संवत् १०३४ के बैशाख वदि पंचमी (तिथि) मे महाराजाधिराज श्री वज्रदाम ने (प्रतिष्ठा कराई)।

अभिलेख-परिचय

यह अभिलेख कनिंघम को एक जैन प्रतिमा पर अंकित मिला था। पं० परमानन्द शास्त्री ने इसे सिहोंनिया के शान्तिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा के पृष्ठ भाग में उत्कीर्ण बताया है।[१३] वर्तमान में प्रतिमा के पीछे एक दीवाल खड़ी कर दी गई है जिससे लेख लुप्त हो गया है।

प्रतिमा-परिचय

मन्दिर में तीन मनोज्ञ प्रतिमाएँ है। इनमे शान्तिनाथ तीर्थंकर की मूलनायक प्रतिमा है। इस प्रतिमा की केश-राशि, नासाग्र-दृष्टि, मन्दस्मित-मुख, कपोल, चिबुक, कर्ण और नाभि का अंकन मूर्तिकार के शिल्प ज्ञान और सुन्दर हस्त-कौशल का परिचायक है।

प्रतिमा के हाथों के नीचे चँवरधारी सौधर्म और ईशान इन्द्रों को खड्गासन मुद्रा में अंकित बताया गया है। पीछे भामण्डल भी अंकित है।

यह प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में इनके कत्थई वर्ण के पत्थर से निर्मित है। चरण से नीचे का अंश भूगर्भ मे है। इसकी अवगाहना लगभग तेरह फुट है।

इस प्रतिमा की दाईं ओर सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ की प्रतिमा है। इसकी आसन पर मध्य में अर्ध चन्द्राकृति के बीच चिह्न स्वरूप बकरे की आकृति अंकित है। चिह्न के नीचे धर्मचक्र तथा धर्मचक्र के दोनों ओर आमने सामने मुख किए एक-एक बैठा हुआ सिंह दर्शाया गया है। आसन पर कोई लेख उत्कीर्ण नही है।

मूल नायक शान्तिनाथ-प्रतिमा की बाईं ओर अठारहवें तीर्थंकर अरहनाथ की प्रतिमा है। इस प्रतिमा के हाथों के नीचे चँवरवाही इन्द्र, आसन के मध्य में एक अर्ध चन्द्राकृति के बीच मच्छ और इसके नीचे आमने सामने एक-एक सिंह अंकित है। इस प्रतिमा की बाईं ओर पद्मासन मुद्रा मे छोटी-छोटी कुछ प्रतिमाओ का अंकन भी है।

शान्तिनाथ-प्रतिमा के समान कुन्थुनाथ और अरहनाथ की प्रतिमाएँ भी कायोत्सर्ग मुद्रा में कत्थई रंग के बलुए पाषाण से निर्मित है। गुच्छकों के रूप में दर्शाई गई केश राशि, उन्नत नासिका, नासाग्र-दृष्टि, मन्दस्मित मुख, भरे हुए कपोल, ओठ, चिबुक और कर्ण दोनों प्रतिमाओ में विन्यास की दृष्टि से समान है। अभिलेख तीनों प्रतिमाओं पर नही है।

इन प्रतिमाओं से सम्बन्धित शान्ति, कुन्थु और अरह तीनो कामदेव, चक्रवर्ती और हस्तिनापुर के निवासी तथा तीर्थंकर थे। इन तीनों प्रतिमाओ मे शान्तिनाथ-प्रतिमा अन्य प्रतिमाओ की अपेक्षा अधिक ऊँची है। सम्भवतः यही कारण है जो कि यह मन्दिर 'शान्तिनाथ-मन्दिर' के नाम से विश्रुत हुआ। प्रस्तुत मन्दिर मे विराजमान ये तीनो प्रतिमाएँ एक टीले को खोदकर भूगर्भ से निकाली गई हैं।

व्याख्या

वज्रदाम—प्रस्तुत लेख में इन्हें 'महाराजाधिराज' कहा गया है। 'महाराजाधिराज' इस पद से यह स्पष्ट है

कि ये अन्य नरेशों को पराजित कर स्वतन्त्र हो गये थे। यहाँ से प्राप्त संवत् १०१३ के प्रतिमा-लेख से ज्ञात होता है कि इन्होंने सिहोनिया के शासक माधव के पुत्र महेन्द्र से सिहोंनिया का शासन प्राप्त किया था तथा यहाँ सवत् १०३४ में एक जैन प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी।

कच्छपघात राजवश की ग्वालियर शाखा के संवत् ११५० के प्रशस्ति लेख में भी इस नाम के एक नृप का नाम आया है।[१४] इतिहासकार गागुली ने सिहोंनिया के इस प्रतिमा लेख और ग्वालियर के संवत् ११५० के प्रशस्ति-लेख मे उल्लिखित वज्रदाम नामक दोनों शासको को एक ही माना है तथा इसका शासनकाल ९७७ ईसवी से ९९९ ईसवी तक की अवधि का बताया है।[१५] डॉ० रे० ने इसका शासनकाल ९७५ ई० माना है।[१६]

ग्वालियर के सवत् ११५० के इस प्रशस्ति-लेख से ज्ञात होता है कि इसने कन्नौज के राजा को पराजित कर ग्वालियर पर अधिकार किया था। सम्भवतः ग्वालियर पर अधिकार हो जाने के पश्चात् इसने सिहोनिया पर अधिकार किया होगा।

अन्य प्राचीन कलावशेष

सिहोंनिया के जैन मन्दिर मे खण्डित और अखण्डित कुल बाईस प्रतिमाएँ है। इनमे एक प्रतिमा तीर्थंकर कुंथुनाथ के पार्श्व मे खड्गासन मुद्रा मे स्थित है। इसके शीर्ष भाग पर जटा जूट, मुख पर दाढी, गले मे हार, सिर के पीछे प्रभावर्तुल, कटि मे मेखला, कलाई मे दस्तबन्द, बाहो भुजबन्ध और दायाँ हाथ जांघ पर रखा हुआ अंकित है। चरणों के पास खड्गासन मुद्रा में इसके सेवको की प्रतिमाएँ भी अंकित की गई है।

तीर्थंकर प्रतिमाओ मे यहाँ तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और तीर्थंकर महावीर की प्रतिमाएँ उल्लेखनीय है। सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा के सिर पर पाच सर्पफण अकित है। तीर्थंकर महावीर की प्रतिमा के शीर्ष भाग पर दुन्दुभिवादक है। प्रतिमा के दोनों पार्श्व में सूंड उठाये एक-एक हाथी अंकित है। बाईं ओर का हाथी खण्डित हो गया है। इन हाथियों के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा मे दोनों ओर एक-एक तीर्थंकर प्रतिमा उत्कीर्ण है। इनके नीचे चँवरधारी इन्द्र चँवर ढोरते हुए अंकित है। प्रतिमा के पीछे सुन्दर प्रभामण्डल है।

आसन पर मध्य में धर्मचक्र तथा दोनों ओर एक-एक सिंहाकृति अंकित है। नीचे दाईं ओर उपासक तथा बाईं ओर उपासिका की प्रतिमाएँ भी निर्मित है। चिह्न स्वरूप सिंह दर्शाया गया है। यह 'सिद्ध बाबा' के नाम पर घी, गुड़, दूध चढ़ाकर पूजी जाती थी।

अन्य तीर्थंकर प्रतिमाओ में यहाँ एक तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और एक तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी है। सभी प्रतिमाएँ भू-गर्भ से प्राप्त बताई जाती हैं।

भीमलाट

इस ग्राम के निकट एक टीले पर प्राचीन पाषाण-स्तम्भ है, जिसे आजकल 'भीमलाट' कहा जाता है। यह स्तम्भ जैनों का मानस्तम्भ ज्ञात होता है। इस पर यद्यपि आज कोई मूर्ति उत्कीर्ण नहीं है, किन्तु यहाँ उपलब्ध प्रतिमाओं से यह स्पष्ट है कि यहाँ कोई विशाल जैन मन्दिर था। सम्भव है यह किसी जैन मन्दिर में स्थापित किया गया हो। यह भी सम्भावना है कि इस स्तम्भ के शीर्ष भाग पर प्रतिमाएँ विराजमान की गई होंगी जो कालान्तर में स्तम्भ के शीर्षभाग से अलग हो गई और यह जिन-प्रतिमा विहीन हो गया। दमोह जिले के कुंअरपुर ग्राम में ऐसे आज भी स्तम्भ है जिनमे एक पर चारो दिशाओं में प्रतिमाओं का अंकन भी उपलब्ध है।[१७]

सिहोंनिया ग्राम से दो मील दूर उत्तर-पश्चिम में "ककनमठ" नाम से प्रसिद्ध एक मन्दिर है। इसका निर्माण विशाल शिलाखण्डों से हुआ है। पं० बलभद्र जैन ने बताया है कि यह मन्दिर राजा कीर्तिराज ने अपनी पत्नी काकनवती के नाम पर बनवाया था।[१८] यह अब ध्वस्त होने लगा है। इसमें मूर्ति नहीं है। मण्डप के ऊपर शिखर है।

ग्वालियर के संवत् ११५० के सास-बहू मन्दिर प्रशस्ति लेख में राजा कीर्तिराज के द्वारा 'सिंहपानीयनगर' मे शंकर का मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख है।[१९] इस लेख के परिप्रेक्ष्य में लगता है 'सिंहपानीयनगर' यह सिहोनिया है तथा सिहोनिया का 'ककनमठ' कीर्तिराज द्वारा बनवाया गया 'शिव मन्दिर' है। मूलतः यह मन्दिर काकनमठ के नाम से प्रसिद्ध रहा प्रतीत होता है। यहाँ अम्बिका देवी का मन्दिर तथा हनुमान की मूर्ति भी दृष्टव्य है।

सिहोंनिया अपर नाम सिंहपानीयनगर

ग्वालियर के संवत् ११५० के प्रशस्ति-लेख में उल्लि-

खित 'सिंहपानीयनगर' और 'सिहोंनिया' एक ही नगर के दो नाम ज्ञात होते हैं। इस प्रशस्ति लेख में उल्लिखित राजा कीर्तिराज और उसके पूर्वज वज्रदाम, दोनों राजाओं ने इस नगर में पुनीत कार्य किए थे। वज्रदाम ने यहाँ जैन-प्रतिमा स्थापित कराई थी और कीर्तिराज ने 'ककन मठ' नाम से प्रसिद्ध शिव मन्दिर बनवाया था। अतः इन अभिलेखों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि ये एक ही नगर के दोनों नाम हैं। इनमें 'सिंहपानीयनगर' नाम प्राचीन है।

जनश्रुति के अनुसार यह नगर राजा सूरजसेन ने बसाया था। कहा जाता है कि उसका यहाँ कुष्ट रोग दूर हो गया था। अतः उसने इस घटना से प्रभावित होकर अपना नाम शोधनपाल और नगर का नाम सुद्धनपुर या सुधियानपुर रखा था। कालान्तर मे किसी घटना विशेष के कारण पुनः नाम में परिवर्तन हुआ और इसे 'सिंहपानीयनगर' कहा जाने लगा।

हमारा अनुमान है कि नगर के इस नाम में अम्बिका देवी की कोई अद्भुत घटना समाहित है। इसमें पूर्व पद 'सिंह' है जो अम्बिका का वाहन होने से अम्बिका देवी का प्रतीक है। तथा नाम का उत्तर पद 'पानीय' है। इससे प्रतीत होता है कि कभी यहाँ पानी का संकट रहा है, जो अम्बिका देवी की आराधना से दूर हुआ होगा। अतः देवी की स्मृति में यहां 'अम्बिका देवी' का मन्दिर बनवाया गया तथा नगर का नाम 'सिंहपानीयनगर' रखा गया।

दूसरी सम्भावना यह है कि लेख पढ़ने में भ्रान्ति हुई है। 'सिंहपानीय' पद में 'प' वर्ण के स्थान में 'य' वर्ण रहा होगा जिसे 'प' समझा गया है। यदि 'प' वर्ण को 'य' वर्ण मान लिया जावे तो 'सिंहयानीय' पढ़ा जावेगा, जिसका अर्थ होगा—सिंह है यान अर्थात् वाहन जिसका वह देवी अम्बिका। इस प्रकार इस व्युत्पत्ति से भी नगर का नाम अम्बिका देवी की स्मृति में रखा गया प्रतीत होता है।

सम्पूर्ण लेख संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण होने से 'सिंहपानीय' नाम में 'पानी' शब्द का व्यवहार विचारणीय है। निश्चित ही यहां 'पानी' शब्द अशुद्ध है। भाषा की दृष्टि से भी इस नाम मे 'प' वर्ण के स्थान में 'य' वर्ण अधिक शुद्ध और अर्थसगत है। अतः नगर का प्राचीन नाम 'सिंहपानीय नगर' रहा है। 'सिहोनिया' इसी नाम से निष्पन्न नाम ज्ञात होता है।

वर्तमान मे इस नगर के शान्तिनाथ मन्दिर को तीर्थ क्षेत्र बताया जा रहा है। मुरैना जिले के प्रसिद्ध समाजसेवी विद्वान् प० सुमतिचन्द्र शास्त्री की अध्यक्षता में एक समिति के सतत् प्रयत्नो से मन्दिर तक पक्का मार्ग हो गया है। मन्दिर मे यात्रियो के लिए कुछ कमरे बन चुके है, कुछ निर्माणाधीन है।

सन्दर्भ-सूची

१. पूर्णचन्द्र नाहर, जैनशिलालेख संग्रह भाग २, लेख संख्या १४३०।

२. जैनशिलालेख संग्रह भाग २, ले. सं. १४८, पृ. १११।

३. प्रस्तुत कृति का प्रथम लेख। ४. वही, प्रथम पंक्ति।

५. डॉ. ज्योतिप्रसाद, भारतीय इतिहास, एक दृष्टि: भारतीय ज्ञानपीठ, १९६१ ई०, पृ० १७५–७६।

६. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १५, किरण १।

७. वही, किरण प्रथम।

८. आर्किलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द २, ई० १८६४-६५, पृ० ३९९-४०१। ९. वही।

१०. जैन सिद्धांत भास्कर, भाग १५, कि० १।

११. श्रीपूर्णचन्द्र नाहर, जैनशिलालेख सग्रह भाग २, लेख संख्या १४३१।

१२. जैनशिलालेख स० भाग २, ले.सं. १५३, पृ. १९८।

१३. अनेकान्त वर्ष १६, अक १-२, पृ० ६४।

१४. तस्माद्वज्रधरोपमः क्षितिपति श्रीवज्रदामाभवद्
दुर्वारोर्जित वाहुदण्ड विजिते गोपाद्रि दुर्गे युवा।
निर्व्याज परिभूयवैरि नगराधीशप्रतापोदय
यद्वीर व्रतसूचकः समभवन् प्रोद्‌गोषणाकिकमः ॥६॥
—पूर्णचद्र नाहर, जैनशिलालेख सग्रह भाग २, ले.स १४२६

१५. श्री डी.सी. गांगुली, हिस्ट्री आफ दि परमार डायनस्टी, ढाका विश्वविद्यालय, १९३३ ई०, पृ० १०६।

१६. डॉ एच.सी.रे; डायनस्टिक हिस्ट्री ऑफ दार्दर्न इंडिया, भाग २, पृ० ८३५।

१७. जैन सिद्धांत भास्कर, भाग ३८, किरण १।

१८. अद्भुतः सिंहपानीय नगरे येन कारितः
कीर्तिस्तम्भ इवाभाति प्रासादः पार्वतीपतेः ॥११॥
पूर्णचद्र नाहर, जैनशिलालेख सग्रह भाग २, ले स. १४२६

१९. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग ३, पृ० ३२।

जैन कवि विनोदीलाल की अर्चचित रचनाएँ

□ डा० गंगाराम गर्ग

विनोदीलाल शहिजादपुर के गर्ग गोत्रिय अग्रवाल जैन थे। डॉ० प्रेमसागर जैन ने अपने शोध प्रबन्ध हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि एवं पं० परमानन्द शास्त्री ने अपने एक लेख 'अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान' में कवि की सात रचनाएँ बतलाई हैं—भक्तामर कथा, सम्यक्त्व कौमुदी, श्रीपाल विनोद, राजुल पच्चीसी, नेमि व्याह, फूलमाला पच्चीसी, नेमिनाथ का बारहमासा। चाकसू (जयपुर) के कोट मंदिर मे विनोदीलाल की श्रेष्ठ काव्य कृति 'नेमिनाथ नव मंगल' दो प्रतियों मे प्राप्त है। अग्रवाल जैन मन्दिर कामां (भरतपुर) में विनोदीलाल की कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्राप्त हुई है—सुमति कुमति को झगरो, चेतन गारी (१७४३) नवकार मंत्र की महिमा, रेखता, चूनड़ी, नेमिनाथ की विनती आदि। कामा मे प्राप्त इन रचनाओं का सम्वादात्मकता बाह्याचार-खडन और भाषा की दृष्टि से विशेष महत्व है।

'नवकार मंत्र महिमा' में यद्यपि अभी ३३ कवित्त ही प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनके भाषा-प्रवाह एवं काव्य-सौष्ठव से ऐसा लगता है कि कुछ अधिक कवित्त होने चाहिए। नवकार मंत्र महिमा मे जिनेन्द्र के नाम-स्मरण के महिमा-गान की अपेक्षा कवि का अनैतिकता के प्रति तीखा स्वर अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने समय मे व्याप्त तीर्थ-स्नान, शख वादन, बाहरी वेशभूषा, गोरखपंथियों के काया-कष्टो से विनोदी लाल को कबीर की सी चिढ़ है। इसीलिए उनकी वाणी मे उग्रता आ गई है—

द्वारिका के न्हाये काहा, अंग के दगाये कहा।
संख के बजाये काहा, राम पाइयतु है।
जटा के बढ़ाये काहा, भसम के चढ़ाये कहा।
धुनी के लगाये काहा, सिव ध्यायतु है॥
कान के फराये काहा, गोरख के ध्याये कहा।
सींगी के सुनाये काहा, सिद्ध ल्याइतु है।
दया धर्म जाने बिनु, श्रप्पा पहिचाने बिनु।
कहैयतु 'विनोदीलाल' मोष पाइयतु है॥३३॥

उत्तर मध्यकाल मे खुशामदप्रिय सामन्त और सम्पन्न लोग अपने चाटुकारों एवं धर्मान्धो को ही दान दिया करते थे। दान भी हाथी, घोड़े और सोने तक का कर्म काण्डी साधुओं और ब्राह्मणों को दिन-प्रतिदिन अच्छे भोजनों से इसलिए प्रसन्न रखा जाता था कि सामान्य निर्धन जनता को वे धर्म के भुलावे मे फंसाये रखें। इस तरह धर्म, धन एवं निरकुश सत्ता का त्रिगुट अधिसख्य जन समूह को अपने शिकजे में जकड़े हुआ था। ऐसे वातावरण मे बड़े-बड़े भोजों और दानराशि का विरोध करके सामान्य जन के प्रति दया रखने का निर्देश एक उल्लेखनीय प्रसंग है—

कहा भूमिदान, अस्वदान कहा कंचन के दान महा,
कहूं मोक्ष पाइहै।
ब्राह्मण जिमाये कोटि जाप के कराये, लख तीरथ के नहाये,
काके सिद्ध श्राई है।
धरम न जानत, बखानत मन में श्रानत,
जो सुगुरु बताई है।
कहत 'विनोदीलाल' करनी सब विकार, जपो एक ठीक दया,
दया नहीं श्राई है॥

बाह्याचार का विरोध करते हुए भी जैन कवि विनोदी लाल यह अनुभव करते हैं कि यदि भाव को शुद्ध और मन को निर्विकार रखते हुए यदि अष्ट द्रव्य से पूजा की जाय तो उपयोगी है। भक्त को प्रभु पर चन्दन, पुष्प, अक्षत चढाते समय शान्ति, यश तथा अक्षयता का बोध होना चाहिए। दीप जलाते समय मोह-नाश तथा धूप चढ़ाते समय वसु कर्मों के विनाश की ओर दृष्टि रहनी चाहिए। भगवान की आरती उतारना, मन्दिर में नृत्य करना अथवा दुन्दुभी बजाना तभी सार्थक है जब उद्देश्य प्रेरित हो :—

नीर के चढ़ाये नीर भवदध पार हूजे,
चन्दन चढ़ाये दाह दुरति मिटाइये।
पुष्प के चढ़ाये पूजनीक होत जग मांहि,
अक्षत चढ़ाये ते सु श्रखं पद पाइये।
चरु के चढ़ाये क्षुधा रोग को विनाश होत,
दीप के चढ़ाये मोह तम को नसाइये।
धूप के चढ़ाये वसुकर्म को विनास फल,
अर्घ पूजे तें परम पद पाइये॥

हिन्दी जैन काव्य में बूचराज कृत चेतन पुद्गल कमाल, ब्रह्मरायमल्ल कृत परमहंस चौपई, बनारसीदास कृत मोह विवेक तथा भैया भगवतीदास का चेतन कर्म चरित आदि श्रेष्ठ रूपक काव्यों के माध्यम से जैन तत्व के मधुर विवेचन की परम्परा प्रारम्भ हुई थी। इसी परम्परा में विनोदीलाल कृत 'सुमति कुमति को झगरो' महत्वपूर्ण रचना है। भाषा के सरल प्रवाह और सवाद तत्व की प्रधानता से ग्रन्थ काफी रोचक बन गया है। 'कुमति' और 'सुमति' दोनों नारियाँ एक-दूसरी की निन्दा करते हुए 'चेतन' पति को अपनी ओर आकृष्ट करने का कैसा प्रयत्न कर रही है :—

कुमति कहै सुनि नाह बावरे, यह तोकूं फुसलावै।
यह दूती चंचल सिवपुर की, केतेक छंद यह भ्रावै॥
हूं सूधी अपने घर बैठी, जाको अंक लगावै।
तो सों कंत पाय के भोंदू, क्यों नहिं नांच नचावै॥
सुमति कहै इनको सूधापन, जांन परेगो तोकों।
वैहै डारि जरा मनमथ की, यह अपनो गोकों॥
अपनों कियो आप ही पैहैं, हूं काहे को रोकौं।
तब ही समझि परेगी चेतन, जब छांड़ेगो मोकों॥

फागुन सुदि १३ सवत् १७४३ मे लिखित 'चेतन गारी' मे आत्मा द्वारा जन्म-जन्मान्तरों मे काया कष्ट झेलने की निन्दा करते हुए उसे सिद्ध वधू से विवाह करने को कहा गया है:—

यह तो है बारे की बिगरी, अब कैसे जात सुधारी।
छांड़ों सग कुमति गणिका को, घर से देहु निकारि।
ब्याहो सिद्ध वधू सी वनिता, और निबाहन हारी।
तृष्णा छांडि गहो निज संवर, तजहु परिग्रह भारी॥

विनोदी लाल द्वारा साठ वर्ष की उम्र में लिखित नेमिनाथ की वीनती तथा एक अन्य रचना रेरवता खड़ी बोली के विकास-क्रम की दृष्टि से महत्वपूर्ण रचनाएँ है। जयपुर नरेश सवाई प्रताप सिंह जी निधि तथा उनके दरबारी कवि अमृतराम आदि द्वारा लिखित रेरवते विरह और गेयता की प्रधानता के कारण तो रोचक है ही किन्तु शब्द और क्रिया के रूपो मैं खड़ी बोली हिन्दी के प्रारम्भिक मानदण्ड भी है। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखित निम्नांकित रेरवता मे राजुल के विरह को केवल विनोदीलाल जी ने ही नये रूप में प्रस्तुत किया है। मुगल काल मे फारसी शब्दो के सहज बोधगम्य हो जाने के कारण इस रेरवता में भी नफासत आ गई है :—

ब्याहों कूं आया श्री सिर सेहरा बंधाया।
सीस पंच कौ जावौं सब संग भी रहा है।
कहां गया नाथ मेरा, किया न विगर फेरा,
परवर दिगार मेरा, दिल संग ही रहा है॥
पशु देख महर आई, सब धन धगी छुड़ाई,
इतनी खबर मैं पाई, गिरिनार गढ़ गया है।
मैं जाऊंगी जहाँ ही, जहाँ गया मेरा साईं,
मैं वे अज भरौंगी, मुझ कूं मुकति रहा है।
मरे चस्यौ दातारा, महताब सा उजारा,
जिन मन हरा हमारा, वे मन हंस रहा है॥
उसकी खबर जो ल्यावै, वोहोत सबाब पावै,
मुझकूं कोई बतावै, उसका वतन रहा है।
मुझे छांड़ि किधर भागा, दिलजांन वसे लागा,
आतस वियोग लगा, दिल खाक-२ हो रहा है।
खाने में क्या करूंगी, दिन रैन को मरोंगी,
मैं वे अजल भरौंगी, मुझको मुकति कहा है।
परहैजु मुझे वीना, उन्हीं के इश्क भी ना,
मैं खूब तुझे चीना, मश्ताक हो रहा है।
दिल जांन यार मेरा, किया बन में बसेरा,
करो नाथ फेरा मुकतन के वाह है।
अब खोप लाज नाहीं, मै जाऊँ कंत ताहीं,
नयो दस्त मुझ गाहीं तो कौं सुख महा है।
लाचार हो रहौंगी, उसके कदम गहौंगी,
मैं वे अजल मरौंगी, मुझको मुकति महा है।
राजुल खड़ी पुकारे, जुगवस्त सीस मारे,
मुख नाथ का निहारे, क्या गुम हो रहा है।
मुश्ताक में दरस की, तेरे कदम परस की,
तुझे न मेरे तरस की, वे परद ही महा है।
तू मान अरज मेरी, मव आठ की मैं चेरी,
मैं पांव खाक तेरी, कब का गुस्सा गहा है।
लाल विनोदी गावै, तुझे महर भी न आवै,
मैं वे अजल मरौंगी, मुझको मुकति कहा है॥

११०-ए, रणजीतनगर, भरतपुर (राज०)

'द्वादशानुप्रेक्षा'

□ डॉ० (कुमारी) सविता जैन

अनित्य :

सूर्य रश्मि है सोख लेती तत्क्षण ओस की बूंद ज्यों।
क्रूर मृत्यु की तांडव लीला चल रही चहुं ओर त्यों।।
रूप यौवन थिर नहीं इक पल जहाँ इस देह का।
ध्रुव आत्मा को छोड़कर फिर उसी से प्रीति क्यों ?

अशरण :

काल खड़ा जब दे रहा दस्तक हमारे द्वार पर।
चतुरंगिनी सेनाएँ भी उस पल तेरी रक्षक नहीं।।
ध्रुव आत्मा को कोई भी जब अस्त्र छू सकता नहीं।
फिर मरण की भीति क्यों, फिर शरण की प्रीति क्यों ?

संसार :

कस्तूरी मृग सम चंचल मन दौड़ रहा इस भव-वन में।
सुख की खोज यहाँ ऐसे ही जैसे जल की मरुथल में।।
तृष्णाओं की दाहक ज्वाला शीतल होगी शुद्ध घनों से।
अनित्य और अशरण जग में पर पदार्थ से प्रीति क्यों ?

एकत्व :

एकाकी आया था जग में, एकाकी ही जाना है।
फिर क्यों लगाता द्वार पर है अर्गला अनुराग से ?
यदि वरण करना ही है तो शुद्धात्म ही इक मीत हो।
साथी कोई चुनना ही है तो एकत्व से ही प्रीति हो।।

अनयत्व :

जब देह ही अपनी नहीं, तब गेह से फिर मोह क्यों ?
जब द्वेष भी अपना नहीं, तब शत्रु से फिर रोष क्यों ?
जब कर्म ही अपने नहीं, फिर कर्तत्व की हो बुद्धि क्यों ?
जब राग भी अपना नहीं, फिर प्रिया से हो प्रीति क्यों ?

अशुचि :

नव द्वारों से रिसता रहता निसि वासर मल जिस देह से।
इत्र, तेल, फुलेल भी दुर्गन्धित हों पड़ जिस गेह में।।
सातों जलधि की जलधारा भी धो सकती न जिस कीच को।
परम अशुचि उस तन से फिर निर्मल आत्मा की प्रीति क्यों।।

आश्रव :

इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग की ज्वाला में प्रतिपल जलता।
राग द्वेष से पीड़ित हो नित आस्रव का द्वार खुला रखता॥
शुभ और अशुभ पर दृष्टि रख बेड़ी में जकड़ा फिरता।
चौरासी की योनि में तू भ्रम वश भ्रमण किया करता॥

संवर :

कुछ भी शेष नहीं जग में मेरे करने के हेतु।
मैं संकल्प विकल्प किया करता केवल कर्मों के हेतु॥
कर्तृत्व बुद्धि को त्याग यदि बन जाऊँ ज्ञाता-द्रष्टा।
तब आस्रव का द्वार रुके बन जाऊँ संवर का कर्ता॥

निर्जरा :

पर से विमुख होकर हो जाऊँ निज स्वभाव में लीन।
डूबूं और रमूं उसी में, हो जैसे जल बिच मीन॥
ब्रह्मचर्य के साहचर्य से करूँ निर्जरा कर्मों की।
शुद्धोपयोग में ही हो जाए थिरता मन व इन्द्रियों की॥

लोक भावना :

षट् द्रव्यमय इस लोक में, दुर्लभ आत्मा ही है शरणभूत।
उसमें जो विचरण करे, वह परलोक से भयभीत क्यों॥
चाहें नरक हों या निगोद, फिर किसी से भीति क्यों?
स्वर्ग और ग्रैवेयक से भी हो फिर किसी को प्रीति क्यों?

बोधि दुर्लभ :

पूर्व संचित पुण्य से सब कुछ सुलभ संसार में।
नर देह उत्तम कुल हो कंचन कामिनी भी साथ में॥
बस तत्त्व का श्रद्धान ही है कठिन इस संसार में।
मर कर भी तू रमण कर इस बोधि दुर्लभ भाव में॥

धर्म :

वीतराग विज्ञानमय, शुद्ध बुद्ध, अरि नाशकारी।
परम चैतन्य, अखण्ड रूप, 'सविता' सम आलोक कारी॥
निर्विकल्प समाधि में हो लीन धर्म का जो धारी।
चार गतियों के दुःखों से फिर उसे हो भीति क्यों?

७/३५, दरियागंज, नई दिल्ली-२

"दसवीं शताब्दी के अपभ्रंश काव्यों में दार्शनिक समीक्षा"

☐ श्री जिनेन्द्र कुमार जैन, शोध-छात्र

जन-जीवन की आचार संहिता का प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य मे देखने को मिलता है। साहित्य मानवीय विचारों भावनाओं एवं आकांक्षाओं का मूर्तरूप है। भारतीय इतिहास व संस्कृति के निर्माण, विकास व संरक्षण के क्रम में जैनधर्म-दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतीय आध्यात्मिक पृष्ठभूमि मे जैनधर्म-दर्शन उत्पन्न हुआ, विकसित हुआ और समृद्ध हुआ। जैनसाहित्य संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश के साथ-साथ अन्य क्षेत्रीय भाषाओ में भी लिखा हुआ प्राप्त होता है। मध्ययुगीन जैन साहित्य धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं के परीक्षण का युग था। अतः इस दृष्टि से १०वी शताब्दी के जैनाचार्यों ने अपभ्रंश साहित्य मे तत्कालीन धार्मिक व दार्शनिक तत्वो को प्रतिपादित किया है। उन्होंने दार्शनिक तत्वों के मण्डन व खण्डन की परम्परा का अनुसरण किया है। उन्होंने दार्शनिक निबन्ध मे १०वी शताब्दी के अपभ्रंश साहित्य मे प्रतिपादित धार्मिक व दार्शनिक तत्वों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

मध्ययुग वैचारिक क्रान्ति का युग था। इस युग के साहित्य मे वैचारिक असमानता से धार्मिक एवं दार्शनिक विरोध तथा वैमनस्य के सन्दर्भ प्राप्त होते है। धर्म एव दर्शन के क्षेत्र में अपनी धार्मिक एव दार्शनिक अवधारणाओ की पुष्टि एव विरोधी अवधारणाओ के खण्डन की प्राचीन परम्परा इस युग के जैनाचार्यो मे भी परिलक्षित होती है। उन्होने अन्य भारतीय दर्शनों के साथ-साथ सामाजिक अन्धविश्वासो, बाह्य आडम्बरो व दूषित धारणाओ पर टिप्पणियाँ प्रस्तुत की है। किन्तु अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे सिद्धान्तो के परिप्रेक्ष्य मे उन्हे नाप-तौलकर समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना इन जैनाचार्यों की अपनी विशेषता कही जा सकती है।

प्राच्य विद्याओं के शोध-परक विश्लेषण एवं गहन अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि अपभ्रंश अन्य भाषाओं की तरह एक स्वतंत्र भाषा थी। इसका उद्भव ईसा की तीसरी शताब्दी[1] एव विकास ईसा की छठी शताब्दी से माना जाता है।[1] अपभ्रंश साहित्य का पूर्वमध्यकाल (ई० ६०० से ई० १२०० तक) साहित्य-सृजन का स्वर्ण युग माना जाता है। देवसेनकृत सावयधम्मदोहा, पद्मकीर्तिकृत पासणाहचरिउ, पुष्पदन्तकृत महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, हरिषेणकृत धम्मपरिक्खा मुनिकनकामरकृत करकण्डचरिउ तथा मुनिरामसिंहकृत पाहुड़दोहा आदि १०वी शताब्दी की प्रमुख कृतियां है। इनमें जैन धर्म एवं दर्शन तत्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, आचारमीमांसा, प्रमाण-मीमांसा, अहिंसा, कर्म, पुनर्जन्म एवं मोक्ष विषयक सामग्री को प्रस्तुत किया गया है।

वैदिक दर्शन के आत्मा सम्बन्धी विचार एवं यज्ञ प्रधान क्रियाओं, दर्शन के भौतिकवाद एवं तत्वमीमांसा, बौद्ध दर्शन के आत्मा, निर्वाण, क्षणिकवाद व प्रतीत्यसमुत्पादवाद, सांख्यदर्शन के पुरुष व प्रकृति के स्वरूप एवं सम्बन्ध तथा कारण-कार्यवाद (सत्कार्यवाद) आदि प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन इन काव्यों में प्राप्त है। वैशेषिक, न्याय, मीमासा, शैव आदि दर्शन तथा अन्य प्रचलित मान्यताओं का भी समीक्षात्मक इस शताब्दी के अपभ्रंश कवियो ने किया है।

जैन धर्म एवं दर्शन :

जैनधर्म विरक्तिमूलक सिद्धान्तों पर आधारित है। इसीलिए अपभ्रंश कवियो ने श्वेतबाल, टूटता हुआ तारा एव कामवासना हेतु परपुरुष का संसर्ग आदि प्रसंगों को वैराग्य का कारण बताया है। जैनधर्म एवं दर्शन के अहिंसा, आचारमीमासा, तत्वमीमासा, ज्ञानमीमांसा, कर्म, पुनर्जन्म, आत्मा, मोक्ष व अनेकान्तवाद आदि सिद्धान्तों

को व्यापक रूप से इन काव्यों में प्रस्तुत किया गया है।

वैदिकी हिंसा के निरसन के संदर्भ मे अहिंसा सिद्धांत की महत्ता प्रस्तुत की गई है।[३] जसहरचरिउ में वर्णित स्वप्नदोष को मिटाने के लिए जब माता ने नाना जीवों की बलि करने को कहा तब यशोधर उत्तर में हिंसा की निन्दा करते हुए कहता है—

पाणिवहु भडारिए अप्पवहु,
किं किज्जइ सो दुक्कियणिवहु।
कहिं चुक्कइ माणउ पसु हणिवि,
पावेण पाउखज्जइ खणिवि ॥[४]

"प्राणियों का बध आत्मघात ही है। अतएव इस प्राणी का हिंसा रूपी दुष्कर्म का पुञ्ज क्यों एकत्रित किया जाये? पापी को उसका ही पाप खा जाता है।" अहिंसा को जगत में परमधर्म व परमार्थ कहा गया है। अत: जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[५] हिंसक प्राणी नीच, दरिद्री व नरकगामी होते हैं।[६]

धर्म श्रमण व श्रावक के भेद से २ प्रकार का कहा गया है।[७] इसी प्रकार व्रत के भी श्रमणव्रत (महाव्रत) तथा श्रावक या ग्रहस्थव्रत (अणुव्रत) ये दो भेद होते हैं। इन व्रतों को श्रमणो द्वारा सूक्ष्मरूप (बडी कठोरता पूर्वक) पालन करने के कारण महाव्रत व श्रावको द्वारा स्थूलरूप से पालन करने के कारण अणुव्रत कहते हैं।[८] श्रावक धर्म हेतु जैनधर्म १२ व्रतों (५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत व ४ शिक्षाव्रत) के पालने का विधान है।[९] इसी प्रकार आचार मीमांसा के अन्तर्गत १२ तप, ५ आचार, त्रिरत्न, ५ समितियाँ, ३ शल्य और सलेखना आदि सिद्धान्तो का भी पालन करने व चार कषाय तथा सप्तव्यसनो आदि के सर्वथा त्यागने का निर्देश दिया गया है।[१०]

गुण व पर्याय से युक्त वस्तु द्रव्य कहलाती है।[११] वस्तु या पदार्थ मे अनेक धर्म या गुण होते हैं। आचार्यों ने पदार्थ की अनेकान्तिकता सिद्ध करने के लिए सप्तभंगी या स्याद्वाद जैसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वस्तु के गुण विशेष को प्रमुख मानकर अन्य गुणों को गौण मानना ही स्याद्वाद है। आचार्य पुष्पदन्त ने अपने काव्यो मे इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है।[१२] इस जगत को नश्वर मानते हुए ससार के प्रपंच को त्यागने का निर्देश आचार्यों द्वारा किया गया है। अपभ्रंश महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है कि :—

जहिं णिद् ण भुक्ख ण भोयरइ,
देहु ण पंचिंदियह सुहु।
जहिं कहिं मि ण दीसइ णारिमुहु,
तहो देसहो लहु लेहि महु ॥[१३]

जहाँ न नींद हो, न भूख हो, न भोगरति हो, न शारीरिक शुद्धि हो और न ही नारी दर्शन हो।" अर्थात् ऐसी अवस्था मोक्ष प्राप्ति पर होती है। अतः वह (कवि) मोक्ष की कामना करता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए त्रिरत्न-रूपी प्रथम सोपान का आश्रय अति आवश्यक है।[१४] इस युग के अपभ्रंश कवियों ने जैनधर्म व दर्शन के आत्मा, मोक्ष कर्म[१५] व पुनर्जन्म[१६] आदि सिद्धान्तो का भी वर्णन किया है।

वैदिक दर्शन की समीक्षा :

वैदिक दर्शन आस्तिक दर्शन है। क्योंकि वह जगत मे वेदों को ही सत् शाश्वत व मूल मानता है।[१७] उसके मतानुसार वेदों को किसी ने नहीं बनाया। अतः वेद अपौरुषेय (स्वयभू) हैं। वेदों की ऋचाओ को भी जगत में किसी ने नही बनाया।[१८] किन्तु जैनाचार्यों को "वेद अपौरुषेय है" उनकी यह बात उचित प्रतीत नही हुई। इसीलिए उन्होंने कहा है कि :—

ण हि सयमेव थंति पंतीए णहे मिलिऊण सद्दया।[१९]

"शब्दों की पक्तिया स्वय आकाश में मिलकर स्थित नही रह सकती।" बिना जीव के कही (प्रमाणभूत) शब्द की प्राप्ति हो सकती है? बिना सरोवर के नया कमल कहाँ से उत्पन्न हो सकता है? अतः जगत मे वेद प्रमाण (अपौरुषेय) नही हो सकते।[२०]

वैदिक दर्शन में पशुबलि व मांस भक्षण को भी 'मोक्ष प्राप्ति का साधन' कहा गया है।[२१] यदि इस कर्म से भी मोक्ष की प्राप्ति होती है तो फिर धर्म से क्या? शिकारी की ही पूजा (सेवा) करनी चाहिए।[२२] याज्ञिकी की हिंसा मांस-भक्षण तथा रात्रिभोजन को पुण्य का प्रतीक मानने वाले वेद पुराण सम्बन्धी मत की समीक्षा करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि—मृगों का आखेट करने वाले जो मांस-भक्षण से अपना पोषण करते हैं, वे अहिंसा क

घोषणा क्या कर सकते हैं।[23] पशुबलि-हिंसा के विरोध में आचार्य सोमदेव सूरि[24] ने भी अपने यशस्तिलक चम्पू में विशद वर्णन किया है। पुष्पदन्त ने भी इस प्रकार की वैदिक मान्यता को उचित नही माना है, क्योंकि हिंसा करने वाले महापापी व मायाचारी होते हैं।[25] इसलिए कवि ने वेदों का अनुसरण करने वाले को नरकगामी कहा है।[26]

ब्राह्मणधर्म की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि—
"हा हा बम्भणेय माराविय, रायहु रायवित्ति दरिसाविय।
पियरपक्खु पच्चक्खु णिरिक्खइ मंसखडु दियपडिय भक्खइ ॥
धोयंतउ दुद्धे पक्खालउ होइ कहिं मि इग।लु ण धवलउ।
एहु देहु कि सलिल धुप्पइ हिंसारम्भे डम्भे लिप्पइ ॥"[27]

"पशुओं का वध करके पितृपक्ष पर जो द्विज-पंडित मास खाते है, हिंसा दम्भ तो उनसे पूर्णतः लिपटे है। तब उनके द्वारा देह को जल से क्या होगा? कहीं अगार दूध से धोने पर श्वेत हो सकता है?" आचार्य कहते है कि—वैदिक मान्यतानुसार यदि यज्ञ मे बलि दिए जाने वाले प्राणी (जीव) स्वर्ग के अधिकारी होते है तो लोगो को अपने पुत्रों व स्त्रियों सहित स्वय को भी बलि चढ़ जाना चाहिए।[28]

वैदिक मान्यतानुसार तत्व एक ही है—'ब्रह्म' जो नित्य है।[29] इस मान्यआ की समीक्षा करते हुए कवि कहता है कि—"यदि ब्रह्म एक व नित्य होता, तो जो एक देता है उसे दूसरा कैसे लेता है? एक स्थिर है तो दूसरा कैसे लेत। है? एक स्थिर होता है तो दूसरा दौड़ता है। एक मरता है तो अनेक जीवित रहते हैं। अतः जो नित्य है, वह बालकपन, नवयौवन व वृद्धत्व कैसे प्राप्त करेगा"[30] इत्यादि।

चार्वाक दर्शन :—

केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले भौतिकवादी या जड़वादी (चार्वाक दर्शन सुख को ही जीवन का परम लक्ष्य मानते है। चार्वाक दर्शन के अनुसार 'जीवो नास्ति' अर्थात जीव नहीं है।[31] वह शरीर से पृथक जीव की सत्ता स्वीकार नहीं करता बल्कि शरीर को ही आत्मा मानता है। क्योंकि शरीर से पृथक आत्मा मूर्तरूप में दिखाई नहीं देती। अतः यह दर्शन शरीर पर्यन्त ही जीव की सत्ता स्वीकार करता है। इस मत की पुष्टि करते हुए कवि कहता है कि—"जिस प्रकार पुष्प से गंध भिन्न नहीं है, किन्तु पुष्प के नष्ट होने पर गध स्वतः नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर जीव भी स्वतः नष्ट हो जाता है।[32] इस मत का खण्डन करते हुए जसहर-चरिउ में कहा गया है कि—

"जी आहारदेहु सो अण्णु जिमइ गहिओ अचेयणो।"[33]

'यह शरीर जीव से भिन्न व अचेतन है।" जिस प्रकार चम्पक पुष्प की वास तेल में भी लग जाती है और गध की पुष्प से पृथक सत्ता सिद्ध होती है, उसी प्रकार देह और जीव की भिन्नता देखी जाती है।[34] जीव की सत्ता के संदर्भ में कहा गया है कि यदि जीव शरीर से पृथक है, तो क्या उसे किसी ने देखा है।[35] इसके प्रत्युत्तर ये कहा गया है कि—

दूरा एन्तु सद्द णउ दीसइ पर कणम्भि लग्गओ।
णज्जइ जेम तेम जगि जीउ वि वहु जोणीकुलं गओ ॥"[36]

"दूर से आता हुआ शब्द यद्यपि दिखाई नही देता। परन्तु जिस शब्द का कान मे लगने पर अनुमान-ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार नरक-योनियों मे जीव की गति होती। अतः जीव अनुमान से सिद्ध है।"

चार्वाक दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ही जगत के मूल तत्व हैं। इन्ही भूतचतुष्टयों से अर्थ और काम पुरुषार्थ उत्पन्न होते है। कोई परलोक नहीं है, मृत्यु ही निर्वाण है।[37] चार्वाक दर्शन के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परस्पर ससर्ग से ही जीव की उत्पत्ति होती है। अर्थात् उसकी सत्ता है।[38] इस मत की समीक्षा करते हुए अपभ्रंश कवि कहता है कि—उन चारो में परस्पर विरोधी गुण होने के कारण इनका सयोग कैसे हो सकता है?

जल जणहं विरोहु ससहावे ताइं थंति किह उक्के भावे।
पवणु चवलु महि थक्क थिरत्ते, हा कि झखिउ सुरगुरुपुत्तें।[39]

"जल और अग्नि स्वभाव से विरोधी गुण युक्त हैं, फिर वे एक स्वरूप कैसे रह सकते हैं? पवन चंचल है और पृथ्वी अपनी स्थिरता लिए हुए स्थिर है।" यदि जीव चार भूतों के संयोग से उत्पन्न है तो सभी जीवों का स्वभाव व शरीर एकसा क्यों नहीं है। अतः यह एक वितण्डामात्र है।[40] यदि भूतचतुष्टय के सम्मिलन मात्र

से जीव की उत्पत्ति सिद्ध है, तो औषधियों के क्वाथ (काढ़ा)से किसी पात्रमे जीव-शरीर उत्पन्न होना चाहिए।[४१]

अपभ्रंश कवियो ने भी चार्वाक दर्शन के "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है" नामक मत की समीक्षा विभिन्न प्रमाणों द्वारा की है। इसके अनुसार मात्र दृष्टिगत पदार्थों की सत्ता नहीं है, अथवा जो नेत्रों से दिखाई नही देते वे पदार्थ नही है। तो हमारे पूर्वजों (पितामह आदि) को जिन्हें हमने नही देखा, उनकी भी सत्ता नही स्वीकारी जा सकती।[४२] जबकि हमारी सत्ता होने पर पूर्वजो की सत्ता-सिद्धि के लिए आगम-प्रमाण माना जाए, तो भी चावार्क दर्शन का यह मत स्वत: खण्डित हो जाता है।[४३]

बौद्ध दर्शन की समीक्षा :—

जगत को नश्वर, क्षणविध्वंसी व अनित्य मानने वाला बौद्ध-दर्शन आत्मा की नित्य सत्ता भी स्वीकार नहीं करता है। जीव अनित्य इस मायने मे है कि वह क्षणिक है, प्रत्येक क्षण वह परिवर्तित होता रहता है। यदि 'पचस्कन्ध'[४४] को आत्मा मान भी लिया जाये तो उसे क्षणिक ही माना जायेगा, नित्य नही। इसलिए आत्मवादी मतो द्वारा जीव को नित्य मानना उचित नही है।[४५] बौद्ध-दर्शन में जीव को शरीरपर्यन्त माना गया है किन्तु चार्वाक से इस मत मे भिन्न है कि इस दर्शन की यह यह मान्यता है—शरीर के नष्ट होते ही जीव पचस्कन्ध समुच्चय (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार एवं विज्ञान) का समूह होने के कारण अन्य रूप धारण कर लेता है।

बौद्ध-दर्शन मे यद्यपि आत्मा को समस्त क्रियाओं का मूल माना गया है फिर भी क्षणिकवाद के कारण आत्मा की पृथक एव नित्य सत्ता स्वीकार नही की गई।[४६] इस मत का खण्डन करते हुए कहा गया है कि क्षणिकवाद सिद्धात के कारण आत्मा की नित्य सत्ता स्वीकार न कर जीव को क्षण-क्षण में परिवर्तनशील माना जाये तो छ: माह की व्याधि (रोग) की वेदना (दुख) कौन सहन करता है।[४७] महापुराण[४८] राजा महाबल के एक मन्त्री द्वारा क्षणिकवाद का समर्थन किया गया है। जिसका खण्डन अन्य मत्री स्वय बुद्ध नामक ने करते हुए कहा है कि—

जइ दव्वइं तुह खणभगुराइ तो खणधसिणि वासणणकाइ।[४९]

"द्रव्य को क्षणस्थायी मानने से वासना (जिसके द्वारा पूर्व मे रखी गई वस्तु का स्मरण होता है) का भी अस्तित्व नहीं रह जाता है।" बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि वासना के नष्ट होने पर ज्ञान प्रकट होता है। किन्तु वासना भी पचस्कन्धों से भिन्न न होने के कारण क्षणमात्र मे नष्ट हो जाती है। अत: उन्ही की यह उक्ति क्षणिकवाद को भग कर देती है।[५०] इसी प्रकार जो जीव घर से बाहर जाता है क्षणिकवाद के सन्दर्भ मे देखे तो वही जीव घर कैसे लौटता है? जो वस्तु एक ने रखी, उसे दूसरा नही जान सकता।[५१]

समार मे प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य है। "अस्मिन् सति इद भवति" अर्थात् इसके होने से यह होना—इस प्रकार का भाव ही प्रतीत्यसमुत्पादवाद (कारण-कार्यवाद) कहा जाता है। बुद्ध के चार आर्य सत्यों के दुख रूपी कार्य की उत्पत्ति व विनाश द्वादश निदान (अविद्या-अज्ञान आदि) रूपी कारण पर ही निर्भर है। बौद्ध दर्शन के प्रस्तुत 'वाद' सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है.—

सतइ सताणइ सगाहयइ, गोवग्गामि कहिं दुद्धइ दहियइ।
दीवक्खए कहिं लब्भइ भजणु; सच्चउ भासइ णोमिणिरजणु।[५२]

"यदि क्षणविनाशी पदार्थों मे कारण-कार्यरूप धारा प्रवाह माना जाए, वे जैन—गाय (कारण) से दूध (कार्य) एव दीपक (कारण) से अजन (कार्य) की प्राप्ति माना जाये, तो प्रतिक्षण गौ और दीपक (कारण) के विनष्ट हो जाने पर दूध एव अजन (कार्य) की प्राप्ति कैसे हो सकती है।[५३]

(शेष अगले अंक मे)

सन्दर्भ-सूची

१. पातञ्जलि—महाभाष्य।
२. (क) भामह—काव्यालकार, १।१६।२८.
(ख) इडियन एन्टिक्वेरी, भाग १० अक्टू० ८८ पृ. २८४
३. जसहरचरिउ (पुष्पदतकृत) संपादक व अनु० डा० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ १९७२.
४. वही—२।१४।६-७
५ परमत्थु अहिंसा धम्मुजए, मारिज्जइ जीउ ण जीवकए। जसहरचरिउ, २।१५।६
६. ते दालिद्दिय इह उप्पज्जहिं, णरय-पडता केण धरिज्जहि। ३।८।८।३. पासणाहचरिउ(पद्मकीतिकृत)—

संपा० एवं अनु० प्रफुल्लकुमार मोदी, प्रकाशक प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी १९४४.
७. ओ धम्मतरु राय, सोहोइ दुहुभेय—९।२०।३. करकण्डचरिउ (मुनिकनकामरकृत)—सपा० व अनु० डा. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, १९४४.
८. करकण्डचरिउ—९।२२।२-३
९. (क) पासणाहचरिउ ३।९-११
(ख) करकण्डचरिउ—९।२२-२३
१०. (क) महापुराण (पुष्पदंतकृत) संधि ७, कड़वक १४, सम्पादक डा० पी. एल. वैद्य तथा अनुवादक डा. देवेन्द्र-कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ। ६७९.
(ख) जसहरचरिउ ३।१७. (ग) करकण्डचरिउ ९।२१।६
११. 'गुणपर्यायवद्' द्रव्यम्' तत्वार्थसूत्र(उमास्वातिकृत)५।३७
१२. (क) महापुराण ३।२।७. (ख) णायकुमारचरिउ (पुष्प-दन्तचरिउ) १।१।६, सपा. व अनु० डा. हीरालाल जैन भारतीय ज्ञानपीठ १९९२.
१३. णायकुमारचरिउ ९।१५
१४. 'मोक्खमग्गु सुन्दर मुणसु तिण्णि वि दंसणणाणचरित्ताइ णायकुमारचरिउ ९।१३।१४.
१५. (क) पासणाहचरिउ ६।१५ (ख)महापुराण ध।७, ७।१३
१६. (क) महापुराण ९।६, (ख) करकण्डचरिउ ५।११
१७. जगिवेउ मूल धम्मधिवहो··· । जसहरचरिउ २।१५।८
१८. किं केणवि जयम्भि ण कयाउ रियाउ भणन्ति णिद्दया।
जसहरचरिउ ३।२९ १
१९. जसहरचरिउ ३।२९।२
२०. वेउ पमाणु ण होउ जएविणु जीवेणसइ कहिलब्भइ। विणुसरेणकहिं णवकमलु विण धेणुयए गयणु किं युब्भइ।
—णायकुमारचरिउ ९।८।८-९
२१. पसुहम्मइ फलु जिम्मइ सग्गहोमोक्खहो गम्मइ।
—जसहरचरिउ २ १५।१०
२२. जइ एण जि कम्मे ता किं धम्मे पारधिउ सेविज्जइ।
—महापुराण ७।२।१२
२३. मिगमारउ अहिंसा किं धोसइ,
जो मासे अप्पाणउ पोसइ। णायकुमारचरिउ ९।८।१
२४. यशस्तिलकचम्पू—आश्वासचतुर्थ।
२५. जसहरचरिउ २।६।१४. २६. वही ३।११।१०.
२७. महापुराण ७।८।१०-१३.
२८. पसुसग्गुगच्छन्ति। दीखन्ति सकयत्थ तो अप्पयं तत्थ। होमेवि मतेहिं महुं पुत्तकतेहिं। महापु. ६९।३२।२१-२३
२९. णायकुमारचरिउ ९।१०।३. ३०. वही ९।१०।३-५.
३१. चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दिकृत) २।५४।५३.
३२. जसहरचरिउ ३।२१।१२-१३ ३३. वही ३।२१।१.
३४. चपयवासु विलग्गउ तेल्लहो, एमगधु जिह भिण्ण फुल्लहो तिह देहहो जीवहो भिण्णत्तणु दिट्ठउ किं किर चवहि-जिड्त्तणु ॥ —जसहरचरिउ २।२१।१७
३५ ......इंतुड दीसइ जीउ पहतरि। जसहरच० २।२१।१७
३६. जसहरचरिउ ३।२२।१-२.
३७. प्रबोधचन्द्रोदय (कृष्णमिश्रकृत) रूपक के द्वितीय अक मे द्रष्टव्य।
३८. महापुराण २०।१७
३९. (क) णायकुमारचरिउ ९।११।१-२.
(ख) चवलयरु पवणु थिरजउ धरित्ति, असरुवह कहिं नेलावजुत्ति ॥ —महापुराण २०।१८।८
४०. णयकुमारचरिउ ९।११।४-६.
४१. महापुराण २०।१८।१०-११. ४२. वही २३।१६.
४३. यशस्तिलकचम्पू (दीपिक) उत्तरार्ध पृ० २७४.
४४. मलिन्द प्रश्न. ४५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी-१।२।८
४६. ····· जगु णिद्दिट्ठउ खणबिद्धवसणु।
—णाय कुमार चरिउ, ९।५।२
४७. खणि खणि अण्ण होइ जइ चेयण ताको मुणइ छमासं वेयण। —जसहचरिउ, ३।२६।३
४८. महापुराण-२०।१९। ८-१० ४९. वही-२०।२०।५
५०. वासणाइ जइणाणु पयासइ तो
वासण खणि किं णउ णासइ।
किं सा पचह खधहं भिण्णी जीव
सिद्धि एमइ पडिवण्णी ॥
—जसहरचरिउ, ३।२६।४-५
५१. खणि-खणि अण्णु जीउ जइ जायउ,
तो वाहिरे गउ किह घरु आयउ।
अण्णे यवियउ अण्णु ण याणइ,
सुण्णु वि वाइ काई वक्खाणइ ॥
५२. णायकुमारचरिउ ९।५।८-९
५३. सर्वदर्शन सग्रह (माधवाचार्यकृत) पृ० ६३-६४.

यह शोचनीय अवश्य है कि जब वर्तमान विद्यमान प्राकृतज्ञ जिस व्याकरण को (के आधार पर) पढ़कर प्राकृतज्ञ बने हैं वह व्याकरण आर्ष-निर्माण के बहुत (शताब्दियों) बाद आर्षों के आधार पर बना है—तब वे पूर्ववर्ती आगमों में व्याकरण द्वारा विभक्त किसी एक भाषा का निर्धारण कैसे कर सकेंगे, जब कि आगमों में परवर्ती विभिन्न जातीय व्याकरणों से सिद्ध विभिन्न शब्दरूप मिलते हैं।

फिर इसका निर्णय एक-दो दिन का विषय भी नहीं—लम्बे विचार का विषय है। फलतः एक-दो दिन के कमीशन बिठाने की अपेक्षा हम उचित समझते है कि विद्वान् इस विषय में खोज करें और सप्रमाण मैटर (लेख) तैयार करें। वीर सेवा मन्दिर उपयुक्त लेखों पर उपयुक्त पुरस्कार भेंट करेगा। इससे लेखकों को विचार करने का अवसर भी मिलेगा और लेखों का संग्रह भी होगा। लेख सादर आमंत्रित हैं। हमारी भावना विरोध की नहीं, अपितु हम चाहते हैं कि—प्राचीन कोई प्रति आदर्श मानी जाकर वैसेही पूरे पाठ छपाए जांय और पाठ-भेद या अपना अभिमत हो तो टिप्पण में दिए जांय।

ग्रन्थों का सम्पादन और सुझाव :

जब हमने मूल-आगम के बदलाव को रोकने की बात उठाई तो एक महाशय ने शत-प्रतिशत् हमारा समर्थन करके भी हमें बाद में सलाह दी कि इस विरोध के बजाय यदि आप किसी ग्रन्थ का सम्पादन करके कोई आदर्श उपस्थित करते तो और अच्छा होता। शायद उन्होने हमारी कमजोरी और हमारे दृष्टिकोण को नही समझा, जो वे हमारी जांच मे उतर पड़े। हम बता दें कि हम इतने योग्य नही कि आगम ग्रन्थों पर कलम चला सकें। फिर हमारा यह धन्धा भी तो नही। हमारी दृष्टि से जब कई बड़े बड़े विद्वान् जिनग्रंथों के कई-कई सपादन करके आदर्श उपस्थित कर चुके हों और उन्ही सम्पादनों से किसी को आदर्श न मिल सका हो, तब हम किस खेत की मूली जो आदर्श दे सकें? फिर, हम तो एक-एक ग्रन्थ के अनेक-२ संपादनों के पक्ष में भी नहीं। क्योंकि जितने संपादन उतनी विविधताएँ। कई बार तो पाठक को ऐसा भ्रम तक हो जाता है कि कौन-सा ठीक है, और कौन-सा नही। साथ ही पाठक संपादकों के शब्दजाल में भी उलझ जाता है। उदाहरण के लिए समयसार के संपादनों को ही लीजिए। कितने-कितने उद्भट विद्वान् समयसार के पृथक्-पृथक् कितने ही संपादन कर चुके हैं फिर भी कार्यसिद्धि नही—विसंवाद ही हैं—किसी को कोई ठीक है और किसी को कोई ?

काश, हमारा प्रयत्न समयसार आदि के मूल और आचार्यों कृत उसकी संस्कृत टीकाओं के शब्दार्थ मात्र के अनुसरण मात्र मे होता—हम लोगों को शब्दशः अर्थ देते —उन्हें अपने भाव न देकर आचार्यों के शब्दशः मन्तव्य समझाते तो विवादों से तो बचे ही रहते—संपादनों मे पुन-पुनः प्रभूत द्रव्य भी व्यय न हुआ होता और जिनवाणी का मूलरूप भी सुरक्षित रहा होता।

इसका अर्थ यह नही कि हम संपादनों के खिलाफ है—सम्पादन तो हम चाहते है—वे हों और जानकार योग्य संपादकों से हो और ऐसे ग्रन्थो के हों जो प्रकाश मे न आ सके हों। जैसे किसी समय भाषा के दिग्गज विद्वानो द्वारा षट्खण्डागम का सपादन हुआ था। आदि।

एक सुझाव यह भी था कि समाज में वैसे ही बहुत से विवाद हैं आप भाषा का नया विवाद क्यों छेड़ते हैं? यह सुझाव भी उल्टा होने से हमे रास नहीं आया। हम सोचते है कि कैसे कैसे लोग हैं—जिन्हे हमारा आगम-रक्षा का प्रसंग तो विवाद दिखा और आगम के मूल-लोप जैसे श्री गणेश के समय और आज भी वे मौन साधे रहे? हम नहीं समझे उनकी क्या साध थी या उन्हें किसका क्या भय या लालच था? जो वे जिनवाणी के लोप को गुप-चुप देखते रहे? इसे वे ही जानें। जरा, आप भी सोचिए, कि ठीक क्या है? हमारा कोई आग्रह नही—विचार है।

—संपादक

श्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् का पत्र

दिनांक २३-६-८८

श्रीमान् ला० सुभाषचन्द जी जैन
(महासचिव) एवं
श्रीमान् पं० पद्मचन्द जी शास्त्री एम०ए०
संपादक "अनेकान्त"
श्री वीर सेवा मन्दिर
दरियागंज, नई देहली

सादर जयजिनेश।

दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों में मूल शब्दों के बदलने की प्रक्रिया के विषय में अध्यक्ष महोदय के पास जयपुर भेजा हुआ आपका पत्र प्राप्त हुआ। मैं षट्खण्डागम स्वाध्याय हेतु ललितपुर में आयोजित स्वाध्याय शिविर के समापन के अवसर पर ३ दिन ललितपुर रहा। वहाँ माननीय डा० पन्नालाल जी, डा० कोठिया जी तथा अन्य कई विद्वानों से इस विषय पर चर्चा हुई। आगमों की भाषा कौन-सी प्राकृत है, यह तो एक गम्भीर विचारणीय बात है। इस पर समाज के सुप्रसिद्ध प्राचीन शोध संस्थान "वीर सेवा मन्दिर" को प्राकृत के अधिकारी विद्वानों को एक साथ बिठाकर उनसे निर्णय कराना चाहिए। ताकि हमेशा के लिए यह विषय सुलझ जाय।

प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के संपादन में शब्दों के बदलने के विषय में—

"प्राचीन ग्रन्थों के संपादन की सर्वमान्य परिपाटी यह है कि उनके शब्दों में उलटफेर न करके अन्य प्रतियों में जो दूसरे रूप मिलते हों, परिशिष्ट में या टिप्पणी में उनका उल्लेख कर दिया जाय। यदि सम्पादक महोदय को उस विषय में अपनी ओर से किसी नये रूप का सुझाव देना है तो वह भी नीचे टिप्पणी में दे दिया जाय। ग्रन्थ लेखक के समय भाषा और व्याकरण की क्या स्थिति थी और लेखक ने किस रूप में शब्दों का प्रयोग किया है उसकी सुरक्षा हेतु छेड़छाड़ न करना ही सम्यक् मार्ग है। इसी मार्ग का संपादन में अनुसरण होना चाहिए।"

"भाषाओं के विकास का अपना इतिहास है। क्षेत्र और काल के भेद से उनके रूपों में भेद होना भी स्वाभाविक है। २००० वर्ष के लम्बे समय के बाद उनकी सही स्थिति पर पहुंच पाना अत्यन्त कठिन है। ऐसी दशा में जो लिखा है उसमें परिवर्तन न करके अपनी राय टिप्पणी में दिया जाना ही उन ग्रन्थों की प्राचीनता और वास्तविकता की रक्षा का परिचायक है।" शेष शुभ,

आपका अपना :
हीरालाल जैन 'कौशल'
मंत्री

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादक परामर्श मण्डल डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४१ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८८

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

निन्नानवे के चक्कर से बचिए

'इतिहास मनीषी विद्यावारिधि' स्व० डा० ज्योतिप्रसाद जैन

अपरिग्रह का अर्थ है परिग्रह का अभाव और 'परिग्रह' उसे कहते हैं जो आत्मा को सर्व ओर से घेरे व बांधे रखता है--"परितो गृह्णाति आत्मानमिति-परिग्रहः।" चेतन-अचेतन, घर-जायदाद, धन-दौलत आदि अनगिनत बाह्य भौतिक पदार्थ मनुष्य को बांधे रखते है। वह अहर्निश उनके अर्जन, सग्रह, सुरक्षा की चिन्ता में तथा उनके नष्ट हो जाने या छिन जाने के भय से व्याकुल रहता है। वह उन्हे ही अपना जीवन प्राण समझता है। अतएव वे सब पदार्थ सामान्यतया परिग्रह कहलाते है, किन्तु वास्तव मे स्वय वे पदार्थ परिग्रह नही है, वरन् उनमे जो व्यक्ति की मूर्च्छा है, ममत्वभाव है, आसक्ति है, वही परिग्रह है और इस परिग्रह का मूल कारण उसकी कामनाए, इच्छाएँ, आकाक्षाएँ, लोभ, तृष्णा या आशा है। जिसका चित्त इन आशा-तृष्णादि विकारो से ग्रस्त रहता है, उसके पास अटूट धन वैभव हो तो भी उसे सुख व शान्ति प्राप्त नही होती। इसीलिए एक शायर ने कहा है कि—

जमीयते दिल कहां हरीमों को नसीब।
निन्नानवे ही रहे कभी सौ न हुए॥

तृष्णा ग्रस्त जीवो को कभी भी चित्त की शान्ति प्राप्त नही होती। वे सदा निन्नानवे के चक्कर मे पड़े रहते है क्योंकि पुरानी इच्छाओ की पूर्ति के साथ ही साथ तृष्णा की सीमा आगे-आगे बढ़ती जाती है। अत. वह धनी होते हुए भी निर्धन है, वैभव सम्पन्न होते हुए भी रक है — स हि दरिद्री यस्य तृष्णा विशाला। वह यह भूल जाता है कि—

दिल की तस्की भी है जिन्दगी की खुशी की दलील।
जिन्दगी सिर्फ जरोसीम का पैमाना नही॥

जीवन के सुख का प्रमाण चित्त का सन्तोष व शान्ति है, मात्र धन-दौलत उसका मापदड नही है--वह बाह्य वैभव मे नही मापा जा सकता।

पुरातन जैनाचार्य कह गये है कि जो निर्ग्रन्थ होता है, भीतर-बाहर दोनों से सर्वथा निष्परिग्रह होता है, वही सच्चा चक्रवर्ती होता है—लौकिक चक्रवर्ती सम्राट का अपार वैभव भी उस महात्मा की दिव्य विभूति के समक्ष सर्वथा नगण्य है, हेय है। प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी डेविड थोरो की उक्ति है कि "सबसे बड़ा अमीर वह है जिसके सुख सबसे सस्ते हैं—आत्मा की आवश्यकताएं जुटाने के लिए पैसों की आवश्यकता नही होती।" गोल्डस्मिथ कहता है कि—"हमारी प्रमुख सुविधाएं व आरामतलबियाँ ही बहुधा हमारी सर्वाधिक चिन्ता का कारण होती है और जैसे-जैसे हमारे परिग्रह मे—हमारी धन सम्पत्ति मे बढोत्तरी होती जाती है हमारी चिन्ताएँ भी बढती जाती है, नित्य नवीन चिन्ताए उत्पन्न होती जाती है। शायद इसीलिए किसी ने कहा है कि—"जिसने धन की सर्वप्रथम खोज की, उसी ने मनुष्य के सारे दु.ख भी साथ ही साथ खोज लिए।"

अपने धर्म को, स्वरूप व स्वभाव को आत्मा और चित्त की शांति को प्राप्त करने का आधार धन-सम्पत्ति या परिग्रह नहीं है, वरन् उसके त्याग में, उसकी आशा व तृष्णा के घटाने में ही निहित है।

अहमक पूछता है वहा जाने की राह क्या है?
जेब गर हल्की करे हर जानिब से रास्ता है।

जिन महानुभावो ने "परिग्रह पोट उतारकर लीनो चारित पथ" उन्होंने आतम धर्म प्राप्त किया है। जरा यह सोचना तो शुरू कीजिए कि धनवान होने की वह कौन-सी सीमा है कि जिसपर पहुचकर आपके और अधिक धनवान बनने की इच्छा समाप्त हो जाय? स्वय समझ मे आ जायेगा कि इस मृगतृष्णा मे पार नही पाया जा सकता।

आशैव मदिराक्षाणाम आशैव विषमञ्जरी।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्ती देहिनाम्॥
येषामाशा कुनस्तेषां मनः शुद्धि शरीरिणाम्।
अतो नैराश्यमवलम्ब्य शिवीभूता मनीषिणः॥
तस्य सत्य-श्रुत-वृत्त-विवेकस्तत्त्वनिश्चय।
निर्ममत्वं च यस्याशा पिशाची निधनगता॥

बडी भयंकर है यह धनलिप्सा! यह तृष्णा ही समस्त दुःखों की जड़ है। इस आशा पिशाचिनी के नष्ट होने पर ही सत्य, श्रुतज्ञान, चारित्र, विवेक, तत्वनिश्चय और

(शेष पृ० ३ पर)

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चय-व्यवहार का समन्वय

☐ डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोपरि है। आपने भगवान महावीर की वाणी का मन्थन करके हमे नवनीत प्रदान किया है। भगवान महावीर ने जिस वीतरागता का उपदेश दिया था उसे मात्र बाह्यलिङ्ग के रूप मे समझा जाने लगा तो आपने भगवान् महावीर दर्शन के बाह्य और आभ्यन्तर वीतराग भाव को स्पष्ट किया। अभ्यन्तर वीतरागभाव को प्रकट करना उनका प्रमुख लक्ष्य था। अत: आपने उन्ही बातों का अधिक व्याख्यान किया है। इसका यह तात्पर्य नही है कि उन्हे बाह्य वीतराग मुद्रा अभीष्ट नही थी। वस्तुत: आपने बाह्य और आभ्यन्तर वीतरागभाव के उपदेशो का व्यवहार और निश्चय उभय नयो के द्वारा सम्यक् आलोडन करके अपने जीवन मे तथा स्व-रचित ग्रन्थो मे समावेश किया है। आपके ग्रन्थो के अन्त: साक्ष्य से तथा आपकी स्वय की जीवनशैली से आपकी निश्चय-व्यवहार की यथायोग्य समन्वय दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है।

सामान्य रूप से कोई भी लेखक अपनी रचनाओ के प्रारम्भिक अशो मे अपने अनुभवो को भूमिका रूप में स्थापित करता है और अन्त मे उपसहार के रूप मे उन्हे परिपुष्ट करता है। अत. उन्ही अशो को यहा इस लेख में प्रमुख रूप से माध्यम बनाकर आपकी समन्वयदृष्टि का प्रतिपादन किया गया है—

आपकी मान्य रचनायें हैं—१. पचास्तिकाय संग्रह, २. समयसार, ३. प्रवचनसार, ४. नियमसार, ५. अष्टपाहुड, ६. द्वादशानुप्रेक्षा और ७. भक्तिसंग्रह। 'रयणसार' के सन्दर्भ मे विद्वानो का मतभेद अधिक होने से उसे यहा नही लिया गया है। क्रमश: उनके उक्त ग्रथों का परिचय दिया जा रहा है।

१. पचास्तिकाय संग्रह—यह ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में बिभक्त है। दोनों श्रुतस्कन्धों का प्रारम्भ ग्रन्थकार 'जिन' स्तुतिपूर्वक करते है।[1] यह नमस्कार निश्चय ही भक्तिरूप व्यवहार नय का आश्रय लेकर किया गया है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध मे षड्द्रव्यो का और द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे नव पदार्थों एव मोक्षमार्ग का वर्णन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपसहार करते हुए लिखा है— "प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकाय सग्रह को जानकार जो रागद्वेष को छोडता है वह दुखो से मुक्त हो जाता है। इसके अर्थ को जानकर तदनुगमनोद्यत, विगतमोह और प्रशमित राग-द्वेष वाला जीव पूर्वापरबन्धरहित हो जाता है।[2] द्वितीय श्रुतस्कन्ध में तत्वश्रद्धानादिरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करके[3] निश्चय मोक्षमार्ग का कथन करते हुए लिखा है—"रत्नत्रय से समाहित (तन्मय) हुआ आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग है जिसमे वह अन्य कुछ भी नही करता है और न कुछ छोडता ही है।[4] यह कथन निश्चय ही निर्विकल्प शुद्ध ध्यानावस्था को लक्ष्य करके कहा गया है। इसके आगे बतलाया है कि अर्हदादि की भक्ति से बहुत पुण्यलाभ एव स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। यही अर्हदादि की भक्ति से कर्मक्षय का निषेध और निर्वाणप्राप्ति की दूरी को भी बतलाया है, भले ही वह सर्वागमधारी और सयम-तपादि से युक्त क्यों न हो।[5] यह कथन भी छठे आदि गुण स्थान वालों को लक्ष्य करके कहा गया है। यहीं पर यह भी कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रही और निर्ममत्व होकर सिद्धों मे भक्ति करता

(पृष्ठ २ का शेषांश)

निर्ममत्व या अपरिग्रह जैसे गुण आतमा मे प्रगट होते हैं—उसके रहते वे व्यर्थ हैं।

अस्तु, परिग्रह मे निरासक्त रहने का अभ्यास करने, उसका परिमाण करने का तथा उक्त परिमाण की सीमा को निरन्तर घटाते जाने का अभ्यास करने से ही व्यक्ति शनै: शनै: अपरिग्रही हो जाता है, और सच्चे सुख एव शान्ति का उपभोग करता है।

चारबाग, लखनऊ

है और उससे वह निर्वाण प्राप्त करता है।[5] यहां टीकाकारों ने 'सिद्धेषु' का अर्थ शुद्धात्म द्रव्य में विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति अर्थ किया है।[6] गाथा १७२ की व्याख्या में अमृतचन्द्राचार्य और सिद्धसेनाचार्य ने केवल निश्चयावलम्बी उन जीवों को लक्ष्य करके कहा है जो वस्तुत: निश्चय नय को नहीं जानते हैं :—कोई शुभभाव वाली क्रियाओं को पुण्यबन्ध का कारण मानकर अशुभ भावों मे वर्तते हुए वनस्पतियों की भांति केवल पापबंध को करते हुए भी अपने में उच्च शुद्धदशा की कल्पना करके स्वच्छन्दी और आलसी है—

णिच्छयमालम्बन्ता णिच्छयदो णिच्छय अयाणता।
णासति चरणकरण बाहरिचरणालसा केई॥

अन्त में इस ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—प्रवचन (जिन वाणी) की भक्ति से प्रेरित होकर मैंने (मोक्ष) मार्ग की प्रभावना के लिए प्रवचन का सार भूत यह पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र (शास्त्र) कहा है।[8]

इससे स्पष्ट है कि जो व्यवहाररूप अर्हदादि की भक्ति को मात्र स्वर्ग का साधन बतलाकर और मोक्षप्राप्ति मे प्रतिबन्धक बतलाकर तुरन्त उपसंहार करते हुए जिन मार्ग प्रभावनार्थ "प्रवचनभक्ति प्रेरित" जैसे वाक्यो का कथन क्यों करेगा। नमस्कार वाक्यों मे महावीर को "अपुनर्भव का कारण" कहना व्यवहार नयाश्रित कथन है क्योंकि निश्चय से कोई किसी का कारण नही है। इत्यादि कथनो से सिद्ध होता है कि व्यवहार रूप बाह्य क्रियाये भी निर्वाणप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं परन्तु वही तक सीमित न रह जाएं। अत: उन तपस्वियों के प्रतिबोधनार्थ निश्चय का कथन करके आचार्य ने दोनो नयो का सम्यक् समन्वय करना चाहा है। किसी एक नय को हेय और दूसरे को उपादेय कहना स्याद्वाद सिद्धान्त का और आचार्य कुन्दकुंद का उपहास है। अपेक्षा भेद से अपने-अपने स्थान पर दोनो नय सम्यक् है। परमदशा की प्राप्ति तो नयोपरि अवस्था है।

'दर्शनविशुद्धि' आदि भावनाए जो तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध की कारण मानी जाती हैं वे व्यवहार से बन्ध की कारण भले ही हैं परन्तु तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध करने वाला जीव नियम से निर्वाण प्राप्ति करने वाला माना गया है। इस तरह व्यवहार और निश्चय का सम्यक् समन्वय ही निर्वाण का हेतु है, न केवल व्यवहार और न केवल निश्चय नय। यही ग्रन्थकार का अभिमत है। नय मात्र वस्तु-परिज्ञान के लिए स्वीकृत है शुद्धात्मा नयातीत है।

(२) समयसार—

यहां "जीव" पदार्थ को "समय" शब्द से कहा गया है। जब वह अपने शुद्ध स्वभाव मे स्थित होता है तब उसे "स्वसमय" कहते है और जब परस्वभाव (राग-द्वेषादि के कारण पुद्गल कर्मप्रदेशो) मे स्थित होता है तब उसे 'परसमय" कहते हैं।[1] इस ग्रन्थ में जीव के इस स्वसमय और परसमय का ही विवेचन किया गया है।

ग्रन्थारम्भ मे ग्रन्थकार ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सभी सिद्धो को नमस्कार करके श्रुत केवलियो के द्वारा कथित इस समय प्राभृत को कहने का सकल्प करते है।[2] इसके बाद एकत्व विभक्त (सभी पर पदार्थों से भिन्न-पुद्गलकर्मबन्ध से रहित) आत्मा की कथा की दुर्लभता का कथन करते हुए[3] उसके कथन करने की प्रतिज्ञा करते है—मैं अपनी शक्ति के अनुसार उस एकत्व-विभक्त आत्मा का यदि प्रमाणरूप से दर्शन करा सकू तो प्रमाण मानना अन्यथा (ठीक से न समझा सकने पर या ठीक न समझने पर) छलरूप ग्रहण न करना।[4]

इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य इस ग्रथ मे आत्मा के दुर्बोध शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराना है। अत: वे व्यवहार पक्ष को गौण करके निश्चय का कथन मुख्यता से करते है। इसका यह तात्पर्य नही कि व्यवहार मिथ्या है। इस सन्दर्भ मे उनका यह निवेदन ध्यान देने योग्य है कि "ठीक न जान सकने पर छल रूप ग्रहण न करना।" इस तरह से निश्चय ही व्यवहार और निश्चयनय से समन्वित कर आत्मा को दर्शाना चाहते है। अन्यथा वेदान्त दर्शन के साथ जैन दर्शन का भेद करना कठिन हो जायेगा। इसीलिए ग्रन्थकार व्यवहार नय से कहते है कि ज्ञानी जीव के चारित्र, दर्शन और ज्ञान हैं परन्तु (निश्चय नय से) न चारित्र है, न दर्शन है और न ज्ञान है, अपितु वह शुद्ध ज्ञायकरूप है।[5] यही ग्रन्थकार व्यवहार नय की अनुपयोगिता की अशंका का समाधान करते हुए कहते है कि जैसे अनार्य (साधारण) जन को अनार्य भाषा के बिना समझाना

(वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराना) कठिन है उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।[६]

इस तरह यहां स्पष्टरूप से साधारण जन को परमार्थ तक पहुंचाने मे व्यवहारनय को अनिवार्य साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है। इसके आगे व्यवहार को "अभूतार्थ" तथा शुद्धनय (निश्चयनय) को "भूतार्थ" कहते हुए भूतार्थनयाश्रयी को सम्यग्दृष्टि कहा है।[७] यहा ग्रन्थकार भ्रम निवारणार्थ पुनः कहते है—जो परम भाव (उत्कृष्ट दशा) में स्थित है उसके द्वारा शुद्ध तत्त्व का उपदेश देने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरम भाव (अनुत्कृष्ट दशा) में स्थित है वे व्यवहारनय से उपदेश करने के योग्य है।[८] इस तरह व्यवहारनय को त्याज्य न बतलाते हुए अपेक्षा भेद से ग्रन्थकार दोनो नयों की प्रयोजनवत्ता को सिद्ध करते है। अधिकाश जीव अपरम भाव में ही स्थित है। यहा टीकाकार "अमृतचन्द्राचार्य" "उक्तं च" कहकर एक गाथा उद्धृत करते हैं—

"जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उणतच्च ॥"[९]

अर्थ—यदि तुम जिनमत की प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहार ओर निश्चय दोनो नयों को मत छोडो, क्योकि व्यवहार नय के बिना तो तीर्थ (व्यवहार मार्ग) का नाश हो जायेगा और निश्चय नय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा क्योंकि जिनवचन को स्याद्वाद रूप माना गया है, एकान्तवादरूप नही। अतः जिनवचन सुनना, जिनविम्बदर्शन आदि भी प्रयोजनवान् है।

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आचार्य ने कहा है "जो बहुत प्रकार के गृहस्थ आदि बाह्य लिङ्गो मे ममत्व करते है वे समयसार को नही जानते।[१०] व्यवहार नय दोनो (मुनि और गृहस्थ) लिङ्गो को इष्ट मानता है।[११] पर यहा जो अलिङ्गी को मोक्षमार्ग निश्चय नय से कहा है वह विशुद्धात्मा की दृष्टि से कहा है। जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव-अजीव द्रव्यों मे से कुछ भी न तो ग्रहण करता है और न छोडता है।[१२]

इस प्रकार जो इस समयप्राभृत को पढ़कर अर्थ एव तत्त्व को जानकर इसके अर्थ मे स्थित होगा वह उत्तम सुख प्राप्त करेगा।[१३] यहां पडिहूड (पढ़कर), अत्थतच्चदो णाउं (अर्थ तत्त्व को जानकर) और अत्थे ठाही चेया (अर्थ मे स्थित आत्मा) पद चिन्तनीय हैं जो निश्चय व्यवहार के समन्वय को ही सिद्ध करते है। शुद्ध निश्चय नय तो स्वस्वरूप स्थिति है वहां कुछ करणीय नही होता, जब कि ससारी को करणीय कर्म भी जानना जरूरी है।

(३) **प्रवचनसार**—

यह ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन अधिकारों में विभक्त है। इसकी प्रारम्भिक पांच गाथाओ मे तीर्थंकरों, सिद्धो, गणधरो, उपाध्यायो और साधुओ को नमस्कार किया गया है तथा उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रय को प्राप्त करके निर्वाण सम्प्राप्ति के साधनभूत समताभाव को प्राप्त करने की कामना की गई है। इसके बाद सराग चारित्र वीतराग चारित्र आदि का कथन किया गया है।

तृतीय चारित्राधिकार का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार सिद्धों और श्रमणो को बारम्बार नमस्कार करके दुःखनिवारक श्रमणदीक्षा लेने का उपदेश देते है।[१] इसके बाद श्रमणधर्म स्वीकार करने की प्रक्रिया आदि का वर्णन करते हुए निश्चय व्यवहाररूप श्रमणधर्म का विस्तार से कथन करते है। प्रसङ्गवश प्रशस्तराग के सन्दर्भ मे कहा है—

"रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥२२५॥"

अर्थ जैसे एक ही बीज भूमि की विपरीतता से विपरीत फल वाला देखा जाता है वैसे ही प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग भी पात्र की विपरीतता से विपरीत फल वाला होता है। इससे सिद्ध है कि प्रशस्त राग पात्रभेद से तीर्थंकर प्रकृति के बन्धादि के द्वारा मुक्ति का और निदानादि के बन्ध से ससारबन्ध का, दोनों का कारण हो सकता है। श्री जयसेनाचार्य ने २५४वी गाथा की व्याख्या करते हुए इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है। इससे वे खोटे ध्यानों से बचते हैं तथा साधु-सगति मे निश्चय-व्यवहार मोक्ष मार्ग का ज्ञान होता है, पश्चात् परम्परया निर्वाणप्राप्ति होती है।'[२]

उपसहाररूप २७४वी गाथा मे शुद्धोपयोगी मुनि को सिद्ध कहकर नमस्कार किया गया है तथा २७५वी गाथा

में ग्रन्थ का फल बतलाते हुए लिखा है—

बुज्झदि सासणमेय सागारणगार चरितया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ।।२७५।।

अर्थ—जो गृहस्थ और मुनि की चर्या से युक्त होता हुआ (अरहन्तभगवान् के) इस शासन (शास्त्र) को जानता है वह शीघ्र ही प्रवचन के सार (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। यहा "सागारणगारचरियया" शब्द ध्यान देने योग्य है जिसकी व्याख्या करते हुए जयसेनाचार्य ने लिखा है—'अभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेय कृत्वा बहिरङ्गरत्न-त्रयानुष्ठानं सागारचर्या श्रावकाचर्या। बहिरङ्गरत्नत्रया-धारेण भ्यन्तर रत्नत्रयानुष्ठानमनगारचर्या प्रमत्तसयतादि-तपोधनचर्येत्यर्थः।"

इस तरह इस प्रवचनसार मे विशेष रूप से व्यवहार निश्चयरूप मुनिधर्म का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार दोनों नयों का सम्यक् समायोजन चाहते है। ज्ञान और ज्ञेय अधिकार मे भी निश्चय-व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो नयों का समन्वय करते हुए वस्तु तत्त्व का विवेचन करते है।

(४) नियमसार—

जो अवश्यकरणीय (नियम से करने योग्य) हो उन्हे "नियम" कहते है। नियम से करने योग्य है सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिए नियम शब्द के साथ "सार" पद का प्रयोग किया गया है।[१] इस तरह यह नियमसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप नियम निर्वाण का कारण (मोक्षोपाय) है तथा उसका फल परम निर्वाण प्राप्ति है।[२] इसमे १६ अधिकार है। इस ग्रन्थ के लिखने का प्रयोजन ग्रन्थकार ने यद्यपि निज भावना बतलाया है परन्तु प्रवचन भक्ति भी इसका प्रयोजन रहा है।[३]

ग्रन्थारम्भ करते हुए ग्रन्थकार "जिन" को नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवलियो के द्वारा कथित नियम-सार को कहने का सकल्प करते है।[४] पश्चात् व्यवहार और निश्चय दोनों नयो की दृष्टि से रत्नत्रय का कथन करते हैं। प्रथम जीवाधिकार के अन्त मे ग्रन्थकार निश्चय-व्यवहार तथा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो प्रकार के नय विभाजना का समन्वय करते है :—

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्म जंभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ।।८
दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जया।
पज्जवणयेण जीवा सजुत्ता होंति दुविहेहिं ।।९

दशम परम भक्त्यधिकार के प्रारम्भ मे ग्रन्थकार व्यवहार नय की अपेक्षा से उसकी प्रशसा में लिखते है—"जो श्रावक अथवा मुनि रत्नत्रय मे भक्ति करता है अथवा गुणभेद जानकर मोक्षगत पुरुषो में भक्ति करता है उसे निवृत्ति-भक्ति (निर्वाण भक्ति) होती है।"[५]

अन्त मे ग्रन्थकार अपनी सरलता को बतलाते हुए हृदय के भाव को प्रकट करते है—'प्रवचन की भक्ति से कहे गये नियम और नियमफल मे यदि कुछ पूर्वापर विरोध हो तो समयज्ञ (आगमज्ञ) उस विरोध को दूर करके सम्यक् पूर्ति करे।"[६] किन्तु ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की यदि कोई निन्दा करे उनके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति न करे क्योंकि यह जिनोपदेश पूर्वापरदोष से रहित है।"[७] यहाँ पूर्वापरविरोध परिहार की बात करके ग्रन्थ-कार दोनों नयो का सम्यक् समन्वय करना चाहते है। इसे सुनकर ईर्ष्या भाव उत्पन्न होने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थकार व्यवहार नयाश्रित भक्ति को न छोडने की बात करते है।

इस तरह ग्रन्थकार सरल हृदय से किसी एक नय का ऐकान्तिक ग्रहण अभीष्ट न मानते हुए पूर्वापरविरोध रहित स्याद्वाद का सिद्धान्त ही प्रतिपादन करना चाहते है।

(५) अष्टपाहुड—

दर्शनादि सभी पाहुडो के प्रारम्भिक पद्यो में वर्द्धमान आदि तीर्थङ्करो को नमस्कार किया गया है।[१] शील पाहुड मे शील और ज्ञान के अविरोध को बतलाते हुए लिखा है कि शील के बिना पन्चेन्द्रिय के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते है।[२] अत. सही ज्ञान के लिए चारित्र अपेक्षित है। लिङ्गपाहुड मे केवल बाह्यलिङ्ग से धर्मप्राप्ति मानने वालो को प्रतिबोधित किया गया है।[३] इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ-का पथभ्रष्ट बाह्यलिङ्गी साधुओ को ही प्रतिबोधित करना मुख्य लक्ष्य रहा है। इस तरह इस ग्रन्थ में भी दोनो नयों का समन्वय देखा जा सकता है।

(६) द्वादशानुप्रेक्षा—

इसका प्रारम्भ सिद्धों और चौबीस तीर्थङ्करो के नमस्कार से होता है।[1] अन्तिम से पूर्ववर्ती दो गाथाओं (८९ ९०) में अनुप्रेक्षाओ का माहात्म्य बतलाकर उनके चिन्तन से मोक्ष गये पुरुषों को बारम्बार नमस्कार किया गया है। अन्तिम गाथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों के मर्मज्ञ किसी अन्य विद्वान् के द्वारा जोडी गई जान पड़ती है क्योंकि वहा ज भणिय कुन्दकुन्दमुणिणाहे" वाक्य का प्रयोग किया गया है जबकि पंचास्तिकाय की अन्तिम गाथा में "मया भणिय" का प्रयोग किया गया है।[2] द्वादशानुप्रेक्षा की पूरी अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

इदि णिच्छयववहार ज भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावई परमणिव्वाण ॥९१॥

इस गाथा मे ग्रन्थकार के निश्चय-व्यवहार के समन्वय को स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। "सुद्धमणो" शब्द से यहा एकान्त आग्रह रहित वीतराग हृदय का सकेत किया गया है।

(७) भक्ति संग्रह—

यह पूर्णतः भक्तिग्रन्थ होने से आदि से अन्त तक व्यवहारनयाश्रित है। जैसे—"तित्थयरा मे पसीयन्तु,[3] आरोग्गणाणलाह दितु समाहिं च मे बोधि[4], सिद्धासिद्धि मम दिसतु[5], दुक्खखयं दितु[6] मगलमत्थु मे णिच्च[7], णिव्वाणस्स हु लद्धो तुम्ह पसाएण[8], एयाण णमुक्कारा भवे भवे मम सुह दितु इत्यादि।"

ये कथन अपेक्षाभेद से सिद्धान्तविपरीत नही है। बाह्य रूप से देखने पर लगता है कि पूर्ण शुद्ध निश्चयनय का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ईश्वरकर्तृत्ववाचक व्यवहारपरक वाक्योंका प्रयोग कैसे कर सकते है परन्तु निश्चय और व्यवहार के समन्वय के इच्छुक आचार्य के ये प्रयोग अनुपपन्न नही है। क्योंकि तटस्थ निमित्तकारणो को भक्तिवश यहां सक्रियनिमित्त कारणो के रूप में कहा गया है जो 'स्यात्' पद के प्रयोग से असगत नही है।

इस प्रकार ग्रन्थकार के सभी ग्रन्थो के आलोकन से सिद्ध होता है कि उन्हें उभयनयो का समन्वय है। अभीष्ट है जो जिनमत के अनुकूल है। इसीलिए वे शुद्ध निश्चयनय से सिद्धादि के प्रति व्यावहारिक भक्तिभाव का निषेध करते हुए भी प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में, कहीं-कहीं मध्य और अन्त मे भी सिद्धादि के प्रति नमस्कार रूप भक्ति को प्रदर्शित करते हैं। भक्ति सग्रह पूर्णतः भक्ति का पिटारा है। इसी प्रकार मात्र बाह्यलिग का निषेध करके भी उसका न केवल प्रतिपादन ही करते है अपितु स्वयं भी भावलिङ्ग के साथ बाह्यलिङ्ग को भी धारण करते है।

शुद्ध निश्चय नय से ससारी और मुक्त आत्माओं को नियमसार में जन्म जरादिरहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणों से अलंकृत, अतीन्द्रिय, निर्मल विशुद्ध और सिद्धस्वभावी कहा है।[10] परन्तु क्या अपेक्षाभेद से इतना जानने मात्र से संसारी और मुक्त सर्वथा समान हो जायेगे। ऐसा होने पर मुक्ति के लिए प्रयत्न हितोपदेशादि सब व्यर्थ हो जायेगे। किञ्च वही परद्रव्य को हेय और स्व को उपादेय कहा है।[11] क्या निश्चयनय से हेयोपादेय भाव बन सकता है? कभी नही सम्भव है। यह हेयोपादेय भाव व्यवहारनय से ही सम्भव है। अत ग्रन्थकार के किसी एक कथन को उपादेय मानना एकान्तवाद का स्वीकार करना है जो स्याद्वादसिद्धान्त से मिथ्या है। जब तक समग्र दृष्टि से चिन्तन नही करेंगे तब तक ग्रन्थकार के काल का सही मूल्याकन नही हो सकेगा। ग्रन्थकार ने किन परिस्थितियो मे किनके लिए निश्चय नय का उपदेश दिया है, यह ध्यान देने योग्य है। व्यवहार (अभूतार्थ) को सर्वथा हेय उन्होने कभी नही कहा अपितु उसे ही पकड़कर बैठ जाने अथवा उसकी ओट मे जीविका चलाने का निषेध किया है।[12] आचार्य ने स्वयं समयसार के कर्तृकर्माधिकार के अन्त मे दोनो नयो से अतिक्रान्त समयसार है, किसी नयाश्रित नही कहकर सारभूत अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट शब्दो मे कहा है। जैसे—

जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिद।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठ हवई कम्म ॥१४१॥
कम्म बद्धमबद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्ख।
पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२
सम्मद्दसणणाण एद लहदित्ति णवरि ववदेस।
सव्वणयपक्खरहिदा भणिदा जो सो समयसारो ॥१४४

अर्थात् व्यवहार नय से जीव मे कर्म बद्ध स्पृष्ट है परन्तु निश्चयनय से अबद्ध स्पृष्ट है। "जीव मे कर्म बधे

हैं अथवा नही बंधे हैं" ऐसा कथन नय पक्ष है परन्तु जो इससे दूर (पक्षातिक्रान्त) है वही समयसार है। जो शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध है, दोनों नयो के कथन को केवल जानता है, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता है, वही पक्षातिक्रान्त है। जो सभी नयपक्षो मे ·हित है वही समयसार है। यह समयसार ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और (सम्यक्चारित्र) इस नाम को प्राप्त होता है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन मे निश्चय व्यवहार का समन्वय देखा जाता है जो जैन दर्शन के अनुकूल और युक्तिसंगत है। —काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सन्दर्भ-सूची

१. पंचास्तिकाय —

१. (क) प्रथम श्रुतस्कन्ध में —

इंदसदवंदियाण तिहुअणहिदमधुर विशदवक्काण।
अतातीदगुणाण णमो जिणाण जिदभवाण। पचा. १
समणमुहुग्गदमट्ठ चदुग्गदिनिवारण सणिव्वाण।
एसहणमिय सिरसा समयमिम सुणह वोच्छामि। पचा. २

(ख) द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे —

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारण महावीर।
तेसिं पयत्थभंग मग्ग मोक्खस्स वोच्छामि॥ पचा. १०५

२. एवपवयणसार पच त्थियसगह वियाणि ा।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्ख॥ प.१०३
मुणिऊण एतदट्ठ तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो॥ पचा. १०४

३. पचा १०७, १६०   ४. पंचा. १६१-१६३

५. पंचा. १६६, १६८, १७०-१७१

६. पंचा. १६६   ७. पचा. १६६ (वही)

८. मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणिय पवयणसारं पंचत्थियसंगह सुत्त॥ पंचा. १७३

२. समयसार—

१. समयसार गाथा २

२. वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइ पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणिय॥ सम. १

३. समय० ३-४

४. तं एयत्तविहत्त दाएह अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाण चुक्किज्ज छल ण घेतव्व॥ समय. ५

५. ववहारेणुवदिस्सई णाणिस्स चरित्तदसण णाणं।
ण वि णाण ण चरित्त ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥समय. ७

६. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं॥ समय, ८
तथा देखिए, वही गाथा ९-१०

७ ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो उ सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो॥ समय. ११

८. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहि।
ववहारदेसिदापुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे॥ समय. १२

९. समयसार गाथा १२ (टीका)

१०. पाखडीलिंगेसु वा गिहलिंगेसु वा बहुप्पयारेसु।
कुव्वति जे ममत्त तेहिं ण णाय समयसार॥ समय. ४१३

११. ववहारिओ पुणणओ दोण्णिवि लिंगाणि भणई मोक्खपहे
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहो सव्वलिंगाणि॥ ४१४

१२ तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णेवविमुचई किंचिवि जीवाजीवाग दव्वाण॥समय. ४०७

१३. जो समयपाहुडमिण पठिदूण अत्थतच्चदो णाउ।
अत्थेठाही चेया सो होही उत्तम सोक्ख॥ समय. ४१५

(३) प्रवचनसार—

१. प्रवचनसार गाथा २०१

२. प्रवचनसार गाथा २५४ जयसेनाचार्य टीका

(४) नियमसार—

१. णियमेण य जं कज्जं तण्णियम णाणदसणचरित्त।
विवरीयपरिहरत्थ भणिद खलु सारमिदि वयण॥ निय. ४

२. नियम० गाथा २, ४

३ नियम० गाथा १८४, १८६ (देखें नियम० टि. ६, ७

४, नियम० गाथा १

५. सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणहि पण्णत्त॥ नि० १३४
मोक्खगयपुरिसाण गुणभेद जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्ति ववहारणयेण परिकहिय॥ नि० १३५

६. णियम णियमस्स फलं णि दिट्ठ पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधी जदि अवणीय पुरयतु समयण्हा॥ १८४

७. ईसाभावेण पुणो केई णिदति सुंदर मग्गं।
तेसिं वयण सोच्चाऽभत्ति मा कुणह जिणमग्गे॥ नि. १८५

(शेष पृ० १० पर)

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४१ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१४, वि० सं० २०४५ | जुलाई-सितम्बर १९८८

गुरु-स्तुति

कबधौं मिलै मोहिं श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो ।
भोग उदास जोग जिन लीनों, छांड़ि परिग्रह भारा हो ।
इन्द्रिय-दमन वमन मद कीनों, विषय-कषाय निवारा हो ।।
कंचन-कांच बराबर जिनके, निंदक वंदक सारा हो ।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निज घर, मन वच तन कर धारा हो ।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतर ठारा हो ।
करुणा भीन, चीन त्रस थावर, ईर्यापंथ समारा हो ।।
मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महामल टारा हो ।
मास छमास उपास, वास वन, प्रासुक करत अहारा हो ।।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो ।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो ।।
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो ।
"दौलत" ऐसे जैन जतिन को, नित प्रति धोक हमारा हो ।।

निन्नानवे के चक्कर से बचिए

'इतिहास मनीषी विद्यावारिधि' स्व० डा० ज्योतिप्रसाद जैन

अपरिग्रह का अर्थ है परिग्रह का अभाव और 'परिग्रह' उसे कहते है जो आत्मा को सर्व ओर से घेरे व बांधे रखता है—"परितो गृह्णाति आत्मानमिति-परिग्रहः।" चेतन-अचेतन, घर-जायदाद, धन-दौलत आदि अनगिनत बाह्य भौतिक पदार्थ मनुष्य को बांधे रखते है। वह अहर्निश उनके अर्जन, सग्रह, सुरक्षा की चिन्ता में तथा उनके नष्ट हो जाने या छिन जाने के भय से व्याकुल रहता है। वह उन्हे ही अपना जीवन प्राण समझता है। अतएव वे सब पदार्थ सामान्यतया परिग्रह कहलाते हैं, किन्तु वास्तव में स्वय वे पदार्थ परिग्रह नही है, वरन् उनमे जो व्यक्ति की मूर्च्छा है, ममत्वभाव है, आसक्ति है, वही परिग्रह है और इस परिग्रह का मूल कारण उसकी कामनाए, इच्छाएँ, आकाक्षाएँ, लोभ, तृष्णा या आशा है। जिसका चित्त इन आशा-तृष्णादि विकारो से ग्रस्त रहता है, उसके पास अटूट धन वैभव हो तो भी उसे सुख व शान्ति प्राप्त नही होती। इसीलिए एक शायर ने कहा है कि—

जमीयते दिल कहां हरीसों को नसीब।
निन्नानवे ही रहे कभी सौ न हुए॥

तृष्णा ग्रस्त जीवों को कभी भी चित्त की शान्ति प्राप्त नही होती। वे सदा निन्नानवे के चक्कर मे पडे रहते है, क्योकि पुरानी इच्छाओ की पूर्ति के साथ ही साथ तृष्णा की सीमा आगे-आगे बढती जाती है। अतः वह धनी होते हुए भी निर्धन है, वैभव सम्पन्न होते हुए भी रक है—स: हि दरिद्री यस्य तृष्णा विशाला। वह यह भूल जाता है कि—

दिल की तस्की भी है जिन्दगी की खुशी की दलील।
जिन्दगी सिर्फ जरोसीम का पैमाना नही॥

जीवन के सुख का प्रमाण चित्त का सन्तोष व शान्ति है, मात्र धन-दौलत उसका मापदड नही है—वह बाह्य वैभव से नही मापा जा सकता।

पुरातन जैनाचार्य कह गये है कि जो निर्ग्रन्थ होता है, भीतर-बाहर दोनों से सर्वथा निष्परिग्रह होता है, वही सच्चा चक्रवर्ती होता है—लौकिक चक्रवर्ती सम्राट का अपार वैभव भी उस महात्मा की दिव्य विभूति के समक्ष सर्वथा नगण्य है, हेय है। प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी डेविड थोरो की उक्ति है कि "सबसे बड़ा अमीर वह है जिसके सुख सबसे सस्ते है—आत्मा की आवश्यकताए जुटाने के लिए पैसों की आवश्यकता नही होती।" गोल्डस्मिथ कहता है कि—"हमारी प्रमुख सुविधाएं व आरामतलबियाँ ही बहुधा हमारी सर्वाधिक चिन्ता का कारण होती है और जैसे-जैसे हमारे परिग्रह में—हमारी धन सम्पत्ति मे बढोत्तरी होती जाती है हमारी चिन्ताएँ भी बढ़ती जाती है, नित्य नवीन चिन्ताए उत्पन्न होती जाती है। शायद इसीलिए किसी ने कहा है कि—"जिसने धन की सर्वप्रथम खोज की, उसी ने मनुष्य के सारे दुःख भी साथ ही साथ खोज लिए।"

अपने धर्म को, स्वरूप व स्वभाव को आत्मा और चित्त की शांति को प्राप्त करने का आधार धन-सम्पत्ति या परिग्रह नहीं है, वरन् उसके त्याग मे, उसकी आशा व तृष्णा के घटाने मे ही निहित है।

अहमक पूछता है वहां जाने की राह क्या है?
जेब गर हल्की करे हर जानिब से रास्ता है।

जिन महानुभावो ने "परिग्रह पोट उतारकर लीनो चारित पंथ" उन्होने आत्म धर्म प्राप्त किया है। जरा यह सोचना तो शुरू कीजिए कि धनवान होने की वह कौन-सी सीमा है कि जिसपर पहुंचकर आपके और अधिक धनवान बनने की इच्छा समाप्त हो जाय? स्वय समझ मे आ जायेगा कि इस मृगतृष्णा से पार नही पाया जा सकता।

आशैव मदिराक्षाणाम आशैव विषमञ्जरी।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्ती देहिनाम्॥
येषामाशा कुतस्तेषा मनः शुद्धि शरीरिणाम्।
अतो नैराश्यमवलम्ब्य शिवीभूता मनीषिण.॥
तस्य सत्य-श्रुत-वृत्त-विवेकस्तत्त्वनिश्चय।
निर्ममत्वं च यस्याशा पिशाची निधनंगता॥

बडी भयंकर है यह धनलिप्सा! यह तृष्णा ही समस्त दुःखों की जड़ है। इस आशा पिशाचिनी के नष्ट होने पर ही सत्य, श्रुतज्ञान, चारित्र, विवेक, तत्वनिश्चय और

(शेष पृ० ३ पर)

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चय-व्यवहार का समन्वय

□ डॉ० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोपरि है। आपने भगवान महावीर की वाणी का मन्थन करके हमे नवनीत प्रदान किया है। भगवान महावीर ने जिस वीतरागता का उपदेश दिया था उसे मात्र बाह्यलिङ्ग के रूप मे समझा जाने लगा तो आपने भगवान् महावीर दर्शन के बाह्य और आभ्यन्तर वीतराग भाव को स्पष्ट किया। आभ्यन्तर वीतरागभाव को प्रकट करना उनका प्रमुख लक्ष्य था। अतः आपने उन्ही बातो का अधिक व्याख्यान किया है। इसका यह तात्पर्य नही है कि उन्हे बाह्य वीतराग मुद्रा अभीष्ट नही थी। वस्तुतः आपने बाह्य और आभ्यन्तर वीतरागभाव के उपदेशो का व्यवहार और निश्चय उभय नयो के द्वारा सम्यक् आलोडन करके अपने जीवन मे तथा स्व-रचित ग्रन्थो मे समावेश किया है। आपके ग्रन्थो के अन्तः साक्ष्य से तथा आपकी स्वय की जीवनशैली से आपकी निश्चय-व्यवहार की यथायोग्य समन्वय दृष्टि स्पष्ट परिलक्षित होती है।

सामान्य रूप से कोई भी लेखक अपनी रचनाओ के प्रारम्भिक अशो मे अपने अनुभवों को भूमिका रूप में स्थापित करता है और अन्त में उपसहार के रूप मे उन्हे परिपुष्ट करता है। अतः उन्ही अशो को यहा इस लेख में प्रमुख रूप से माध्यम बनाकर आपकी समन्वयदृष्टि का प्रतिपादन किया गया है—

आपकी मान्य रचनायें हैं—१. पचास्तिकाय संग्रह, २. समयसार, ३. प्रवचनसार, ४. नियमसार, ५. अष्टपाहुड, ६. द्वादशानुप्रेक्षा और ७. भक्तिसग्रह। 'रयणसार' के सन्दर्भ मे विद्वानो का मतभेद अधिक होने से उसे यहा नही लिया गया है। क्रमशः उनके उक्त ग्रथों का परिचय दिया जा रहा है।

१. पंचास्तिकाय सग्रह—यह ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धो मे बिभक्त है। दोनों श्रुतस्कन्धों का प्रारम्भ ग्रन्थकार 'जिन' स्तुतिपूर्वक करते है।[1] यह नमस्कार निश्चय ही भक्तिरूप व्यवहार नय का आश्रय लेकर किया गया है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में षड्द्रव्यो का और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नव पदार्थों एव मोक्षमार्ग का वर्णन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपसंहार करते हुए लिखा है—"प्रवचन के सारभूत पचास्तिकाय सग्रह को जानकार जो रागद्वेष को छोड़ता है वह दुखों से मुक्त हो जाता है। इसके अर्थ को जानकर तदनुगमनोद्यत, विगतमोह और प्रशमित राग-द्वेष वाला जीव पूर्वापरबन्धरहित हो जाता है।[2] द्वितीय श्रुतस्कन्ध में तत्वश्रद्धानादिरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन करके[3] निश्चय मोक्षमार्ग का कथन करते हुए लिखा है—"रत्नत्रय से समाहित (तन्मय) हुआ आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग है जिसमे वह अन्य कुछ भी नही करता है और न कुछ छोड़ता ही है।[4] यह कथन निश्चय ही निर्विकल्प शुद्ध ध्यानावस्था को लक्ष्य करके कहा गया है। इसके आगे बतलाया है कि अर्हदादि की भक्ति से बहुत पुण्यलाभ एव स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। यही अर्हदादि की भक्ति से कर्मक्षय का निषेध और निर्वाणप्राप्ति की दूरी को भी बतलाया है, भले ही वह सर्वागमधारी और सयम-तपादि से युक्त क्यों न हो।[5] यह कथन भी छठे आदि गुण स्थान वालों को लक्ष्य करके कहा गया है। यही पर यह भी कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रही और निर्ममत्व होकर सिद्धों मे भक्ति करता

(पृष्ठ २ का शेषांश)

निर्ममत्व या अपरिग्रह जैसे गुण आत्मा मे प्रगट होते हैं—उसके रहते वे व्यर्थ है।

अस्तु, परिग्रह मे निरासक्त रहने का अभ्यास करने, उसका परिमाण करने का तथा उक्त परिमाण की सीमा को निरन्तर घटाते जाने का अभ्यास करने से ही व्यक्ति शनैः शनैः अपरिग्रही हो जाता है, और सच्चे सुख एवं शान्ति का उपभोग करता है।

चारबाग, लखनऊ

है और उससे वह निर्वाण प्राप्त करता है।[१] यहां टीकाकारों ने 'सिद्धेषु' का अर्थ शुद्धात्म द्रव्य में विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति अर्थ किया है।[२] गाथा १७२ की व्याख्या में अमृतचन्द्राचार्य और सिद्धसेनाचार्य ने केवल निश्वयावलम्बी उन जीवों को लक्ष्य करके कहा है जो वस्तुतः निश्चय नय को नहीं जानते हैं :—कोई शुभभाव वाली क्रियाओं को पुण्यबन्ध का कारण मानकर अशुभ भावों मे वर्तते हुए वनस्पतियों की भाति केवल पापबध को करते हुए भी अपने में उच्च शुद्धदशा की कल्पना करके स्वच्छन्दी और आलसी हैं—

णिच्छयमालम्बन्ता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणता।
णासंति चरणकरण बाहरिचरणालसा केई॥

अन्त मे इस ग्रन्थ का उपसहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—प्रवचन (जिन वाणी) की भक्ति से प्रेरित होकर मैंने (मोक्ष) मार्ग की प्रभावना के लिए प्रवचन का सार भूत यह पंचास्तिकाय सग्रह सूत्र (शास्त्र) कहा है।[८]

इससे स्पष्ट है कि जो व्यवहाररूप अर्हदादि की भक्ति को मात्र स्वर्ग का साधन बतलाकर और मोक्षप्राप्ति मे प्रतिबन्धक बतलाकर तुरन्त उपसहार करते हुए जिन मार्ग प्रभावनार्थ "प्रवचनभक्ति प्रेरित" जैसे वाक्यो का कथन क्यों करेगा। नमस्कार वाक्यों मे महावीर को "अपुनर्भव का कारण" कहना व्यवहार नयाश्रित कथन है क्योंकि निश्चय से कोई किसी का कारण नहीं है। इत्यादि कथनो से सिद्ध होता है कि व्यवहार रूप बाह्य क्रियाये भी निर्वाणप्राप्ति के लिए आवश्यक हैं परन्तु वही तक सीमित न रह जाएं। अतः उन तपस्वियो के प्रतिबोधनार्थ निश्चय का कथन करके आचार्य ने दोनो नयों का सम्यक् समन्वय करना चाहा है। किसी एक नय को हेय और दूसरे को उपादेय कहना स्याद्वाद सिद्धान्त का और आचार्य कुन्दकुंद का उपहास है। अपेक्षा भेद से अपने-अपने स्थान पर दोनों नय सम्यक् हैं। परमदशा की प्राप्ति तो नयोपरि अवस्था है।

'दर्शनविशुद्धि' आदि भावनाएं जो तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध की कारण मानी जाती हैं वे व्यवहार से बन्ध की कारण भले ही हैं परन्तु तीर्थङ्कर प्रकृति बन्ध करने वाला जीव नियम से निर्वाण प्राप्ति करने वाला माना गया है। इस तरह व्यवहार और निश्चय का सम्यक् समन्वय ही निर्वाण का हेतु है, न केवल व्यवहार और न केवल निश्चय नय। यही ग्रन्थकार का अभिमत है। नय मात्र वस्तु-परिज्ञान के लिए स्वीकृत है शुद्धात्मा नयातीत है।

(२) समयसार—

यहां "जीव" पदार्थ को "समय" शब्द से कहा गया है। जब वह अपने शुद्ध स्वभाव मे स्थित होता है तब उसे "स्वसमय" कहते हैं और जब परस्वभाव (राग-द्वेषादि के कारण पुद्गल कर्मप्रदेशो) मे स्थित होता है तब उसे 'परसमय" कहते हैं।[१] इस ग्रन्थ में जीव के इस स्वसमय और परसमय का ही विवेचन किया गया है।

ग्रन्थारम्भ में ग्रन्थकार ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सभी सिद्धो को नमस्कार करके श्रुत केवलियो के द्वारा कथित इस समय प्राभृत को कहने का सकल्प करते हैं।[२] इसके बाद एकत्व विभक्त (सभी पर पदार्थों से भिन्न-पुद्गलकर्मबन्ध से रहित) आत्मा की कथा की दुर्लभता का कथन करते हुए[३] उसके कथन करने की प्रतिज्ञा करते है—मैं अपनी शक्ति के अनुसार उस एकत्व-विभक्त आत्मा का यदि प्रमाणरूप से दर्शन करा सकू तो प्रमाण मानना अन्यथा (ठीक से न समझा सकने पर या ठीक न समझने पर) छलरूप ग्रहण न करना।[४]

इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य इस ग्रथ मे आत्मा के दुर्बोध शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराना है। अतः वे व्यवहार पक्ष को गौण करके निश्चय का कथन मुख्यता से करते है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यवहार मिथ्या है। इस सन्दर्भ मे उनका यह निवेदन ध्यान देने योग्य है कि "ठीक न जान सकने पर छल रूप ग्रहण न करना।" इस तरह से निश्चय ही व्यवहार और निश्चयनय से समन्वित कर आत्मा को दर्शाना चाहते है। अन्यथा वेदान्त दर्शन के साथ जैन दर्शन का भेद करना कठिन हो जायेगा। इसीलिए ग्रन्थकार व्यबहार नय से कहते है कि ज्ञानी जीव के चारित्र, दर्शन और ज्ञान है परन्तु (निश्चय नय से) न चारित्र है, न दर्शन है और न ज्ञान है, अपितु वह शुद्ध ज्ञायकरूप है।[५] यही ग्रन्थकार व्यवहार नय की अनुपयोगिता की अशंका का समाधान करते हुए कहते है कि जैसे अनार्य (साधारण) जन को अनार्य भाषा के बिना समझाना

(वस्तु स्वरूप का ज्ञान कराना) कठिन है उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।[९]

इस तरह यहां स्पष्टरूप से साधारण जन को परमार्थ तक पहुंचाने मे व्यवहारनय को अनिवार्य साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके आगे व्यवहार को "अभूतार्थ" तथा शुद्धनय (निश्चयनय) को "भूतार्थ" कहते हुए भूतार्थनयाश्रयी को सम्यग्दृष्टि कहा है।[७] यहा ग्रन्थकार भ्रम निवारणार्थ पुनः कहते हैं—जो परम भाव (उत्कृष्ट दशा) में स्थित है उसके द्वारा शुद्ध तत्त्व का उपदेश देने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरम भाव (अनुत्कृष्ट दशा) मे स्थित है वे व्यवहारनय से उपदेश करने के योग्य है।[८] इस तरह व्यवहारनय को त्याज्य न बतलाते हुए अपेक्षा भेद से ग्रन्थकार दोनो नयों की प्रयोजनवत्ता को सिद्ध करते है। अधिकाश जीव अपरम भाव में ही स्थित है। यहा टीकाकार "अमृतचन्द्राचार्य" "उक्तं च" कहकर एक गाथा उद्धृत करते हैं—

"जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उणतच्चं॥"[९]

अर्थ—यदि तुम जिनमत की प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो नयों को मत छोडो, क्योंकि व्यवहार नय के बिना तो तीर्थ (व्यवहार मार्ग) का नाश हो जायेगा और निश्चय नय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा क्योंकि जिनवचन को स्याद्वाद रूप माना गया है, एकान्तवादरूप नहीं। अतः जिनवचन सुनना, जिनविम्बदर्शन आदि भी प्रयोजनवान् है।

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आचार्य ने कहा है "जो बहुत प्रकार के गृहस्थ आदि बाह्य लिङ्गो से ममत्व करते हैं वे समयसार को नही जानते।[१०] व्यवहार नय दोनो (मुनि और गृहस्थ) लिङ्गो को इष्ट मानता है।[११] पर यहा जो अलिङ्गी को मोक्षमार्ग निश्चय नय से कहा है वह विशुद्धात्मा की दृष्टि से कहा है। जो विशुद्ध आत्मा है वह जीव-अजीव द्रव्यों मे से कुछ भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है।[१२]

इस प्रकार जो इस समयप्राभृत को पढकर अर्थ एव तत्त्व को जानकर इसके अर्थ मे स्थित होगा वह उत्तम सुख प्राप्त करेगा।[१३] यहां पडिहूड (पढकर), अत्थतच्चदो णाउं (अर्थ तत्त्व को जानकर) और अत्थे ठाही चेया (अर्थ मे स्थित आत्मा) पद चिन्तनीय हैं जो निश्चय व्यवहार के समन्वय को ही सिद्ध करते है। शुद्ध निश्चय नय तो स्वस्वरूप स्थिति है वहां कुछ करणीय नही होता, जब कि संसारी को करणीय कर्म भी जानना जरूरी है।

(२) **प्रवचनसार**—

यह ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन अधिकारों में विभक्त है। इसकी प्रारम्भिक पांच गाथाओ में तीर्थंकरों, सिद्धो, गणधरों, उपाध्यायों और साधुओ को नमस्कार किया गया है तथा उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रय को प्राप्त करके निर्वाण सम्प्राप्ति के साधनभूत समताभाव को प्राप्त करने की कामना की गई है। इसके बाद सराग चारित्र वीतराग चारित्र आदि का कथन किया गया है।

तृतीय चारित्राधिकार का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार सिद्धो और श्रमणो को बारम्बार नमस्कार करके दुःखनिवारक श्रमणदीक्षा लेने का उपदेश देते है।[१] इसके बाद श्रमणधर्म स्वीकार करने की प्रक्रिया आदि का वर्णन करते हुए निश्चय-व्यवहाररूप श्रमणधर्म का विस्तार से कथन करते है। प्रसङ्गवश प्रशस्तराग के सन्दर्भ में कहा है—

"रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि॥२२५॥"

अर्थ जैसे एक ही बीज भूमि की विपरीतता से विपरीत फल वाला देखा जाता है वैसे ही प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग भी पात्र की विपरीतता से विपरीत फल वाला होता है। इससे सिद्ध है कि प्रशस्त राग पात्रभेद से तीर्थंकर प्रकृति के बन्धादि के द्वारा मुक्ति का और निदानादि के बन्ध से संसारबन्ध का, दोनों का कारण हो सकता है। श्री जयसेनाचार्य ने २५४वी गाथा की व्याख्या करते हुए इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'वैयावृत्य गृहस्थों का मुख्य धर्म है। इससे वे खोटे ध्यानों से बचते हैं तथा साधु-सगति मे निश्चय-व्यवहार मोक्ष मार्ग का ज्ञान होता है, पश्चात् परम्परया निर्वाणप्राप्ति होती है।'[२]

उपसहाररूप २७४वी गाथा मे शुद्धोपयोगी मुनि को सिद्ध कहकर नमस्कार किया गया है तथा २७५वी गाथा

में ग्रन्थ का फल बतलाते हुए लिखा है—

बुज्झदि सासणमेय सागारणगार चरितया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥२७५॥

अर्थ—जो गृहस्थ और मुनि की चर्या से युक्त होता हुआ (अरहन्तभगवान् के) इस शासन (शास्त्र) को जानता है वह शीघ्र ही प्रवचन के सार (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। यहा "सागारणगारचरियया" शब्द ध्यान देने योग्य है जिसकी व्याख्या करते हुए जयसेनाचार्य ने लिखा है—'अभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेय कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठान सागारचर्या श्रावकाचर्या। बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेण भ्यन्तर रत्नत्रयानुष्ठानमनगारचर्या प्रमत्तसयतादितपोधनचर्येत्यर्थः।"

इस तरह इस प्रवचनसार मे विशेष रूप से व्यवहार निश्चयरूप मुनिधर्म का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार दोनो नयों का सम्यक् समायोजन चाहते है। ज्ञान और ज्ञेय अधिकार मे भी निश्चय-व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो नयों का समन्वय करते हुए वस्तु तत्त्व का विवेचन करते है।

(४) नियमसार—

जो अवश्यकरणीय (नियम से करने योग्य) हो उन्हें "नियम" कहते है। नियम से करने योग्य है सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिए नियम शब्द के साथ "सार" पद का प्रयोग किया गया है।[1] इस तरह यह नियमसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप नियम निर्वाण का कारण (मोक्षोपाय) है तथा उसका फल परम निर्वाण प्राप्ति है।[2] इसमे १६ अधिकार है। इस ग्रन्थ के लिखने का प्रयोजन ग्रन्थकार ने यद्यपि निज भावना बतलाया है परन्तु प्रवचन भक्ति भी इसका प्रयोजन रहा है।[3]

ग्रन्थारम्भ करते हुए ग्रन्थकार "जिन" को नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवलियो के द्वारा कथित नियमसार को कहने का सकल्प करते है।[4] पश्चात् व्यवहार और निश्चय दोनो नयों की दृष्टि से रत्नत्रय का कथन करते है। प्रथम जीवाधिकार के अन्त मे ग्रन्थकार निश्चय-व्यवहार तथा द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो प्रकार के नय विभाजना का समन्वय करते है :—

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्म जंभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥८
दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जया।
पज्जवणयेण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं ॥६

दशम परम भक्त्यधिकार के प्रारम्भ मे ग्रन्थकार व्यवहार नय की अपेक्षा से उसकी प्रशसा में लिखते है— "जो श्रावक अथवा मुनि रत्नत्रय मे भक्ति करता है अथवा गुणभेद जानकर मोक्षगत पुरुषो मे भक्ति करता है उसे निवृत्ति-भक्ति (निर्वाण भक्ति) होती है।"[5]

अन्त मे ग्रन्थकार अपनी सरलता को बतलाते हुए हृदय के भाव को प्रकट करते है—'प्रवचन की भक्ति से कहे गये नियम और नियमफल मे यदि कुछ पूर्वापर विरोध हो तो समयज्ञ (आगमज्ञ) उस विरोध को दूर करके सम्यक् पूर्ति करें।"[6] किन्तु ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की यदि कोई निन्दा करे उनके वचन सुनकर जिनमार्ग के प्रति अभक्ति न करे क्योंकि यह जिनोपदेश पूर्वापरदोष से रहित है।'[7] यहाँ पूर्वापरविरोध परिहार की बात करके ग्रन्थकार दोनों नयो का सम्यक् समन्वय करना चाहते हे। इसे सुनकर ईर्ष्या भाव उत्पन्न होने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थकार व्यवहार नयाश्रित भक्ति को न छोड़ने की बात करते है।

इस तरह ग्रन्थकार सरल हृदय से किसी एक नय का ऐकान्तिक ग्रहण अभीष्ट न मानते हुए पूर्वापरविरोध रहित स्याद्वाद का सिद्धान्त ही प्रतिपादन करना चाहते है।

(५) अष्टपाहुड—

दर्शनादि सभी पाहुडो के प्रारम्भिक पद्यो मे वर्द्धमान आदि तीर्थङ्करो को नमस्कार किया गया है।[1] शील पाहुड मे शील और ज्ञान के अविरोध को बतलाते हुए लिखा है कि शील के बिना पन्चेन्द्रिय के विषय ज्ञान को नष्ट कर देते है।[2] अतः सही ज्ञान के लिए चारित्र अपेक्षित है। लिङ्गपाहुड मे केवल बाह्यलिङ्ग से धर्मप्राप्ति मानने वालो को प्रतिबोधित किया गया है।[3] इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ-का पथभ्रष्ट बाह्यलिङ्गी साधुओ को ही प्रतिबोधित करना मुख्य लक्ष्य रहा है। इस तरह इस ग्रन्थ में भी दोनों नयों का समन्वय देखा जा सकता है।

(६) द्वादशानुप्रेक्षा—

इसका प्रारम्भ सिद्धों और चौबीस तीर्थङ्करों के नमस्कार से होता है।[1] अन्तिम से पूर्ववर्ती दो गाथाओं (८९ ९०) मे अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य बतलाकर उनके चिन्तन से मोक्ष गये पुरुषों को बारम्बार नमस्कार किया गया है। अन्तिम गाथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो के मर्मज्ञ किसी अन्य विद्वान् के द्वारा जोड़ी गई जान पड़ती है क्योंकि वहा ज भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे" वाक्य का प्रयोग किया गया है जबकि पंचास्तिकाय की अन्तिम गाथा में "मया भणियं" का प्रयोग किया गया है।[2] द्वादशानुप्रेक्षा की पूरी अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

इदि णिच्छयववहारं ज भणियं कुन्दकुन्दमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावई परमणिव्वाण ।।९१।।

इस गाथा मे ग्रन्थकार के निश्चय-व्यवहार के समन्वय को स्पष्ट शब्दों में कहा गया है। "सुद्धमणो" शब्द से यहा एकान्त आग्रह रहित वीतराग हृदय का सकेत किया गया है।

(७) भक्ति संग्रह—

यह पूर्णतः भक्तिग्रन्थ होने से आदि से अन्त तक व्यवहारनयाश्रित है। जैसे—"तित्थयरा मे पसीयन्तु,[3] आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोधिं[4], सिद्धासिद्धि मम दिसतु[5], दुक्खखय दिंतु[6] मगलमत्थु मे णिच्चं[7], णिव्वाणस्स हु लद्धो तुम्ह पसाएण[8], एयाण णमुक्कारा भवे भवे मम सुह दिंतु इत्यादि।"

ये कथन अपेक्षाभेद से सिद्धान्तविपरीत नही है। बाह्य रूप से देखने पर लगता है कि पूर्ण शुद्ध निश्चयनय का प्रतिपादन करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ईश्वरकर्तृत्व-वाचक व्यवहारपरक वाक्योंका प्रयोग कैसे कर सकते है परतु निश्चय और व्यवहार के समन्वय के इच्छुक आचार्य के ये प्रयोग अनुपपन्न नही है। क्योंकि तटस्थ निमित्तकारणो को भक्तिवश यहा सक्रियनिमित्त कारणों के रूप में कहा गया है जो 'स्यात्' पद के प्रयोग से असगत नही है।

इस प्रकार ग्रन्थकार के सभी ग्रन्थों के आलोकन से सिद्ध होता है कि उन्हें उभयनयो का समन्वय है। अभीष्ट है जो जिनमत के अनुकूल है। इसीलिए वे शुद्ध निश्चयनय से सिद्धादि के प्रति व्यावहारिक भक्तिभाव का निषेध करते हुए भी प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में, कहीं-कहीं मध्य और अन्त में भी सिद्धादि के प्रति नमस्कार रूप भक्ति को प्रदर्शित करते हैं। भक्ति सग्रह पूर्णत: भक्ति का पिटारा है। इसी प्रकार मात्र बाह्यलिंग का निषेध करके भी उसका न केवल प्रतिपादन ही करते है अपितु स्वयं भी भावलिङ्ग के साथ बाह्यलिङ्ग को भी धारण करते है।

शुद्ध निश्चय नय से ससारी और मुक्त आत्माओं को नियमसार मे जन्म जरादिरहित, सम्यक्त्वादि आठ गुणो से अलकृत, अतीन्द्रिय, निर्मल विशुद्ध और सिद्धस्वभावी कहा है।[10] परन्तु क्या अपेक्षाभेद से इतना जानने मात्र से संसारी और मुक्त सर्वथा समान हो जायेगे। ऐसा होने पर मुक्ति के लिए प्रयत्न हितोपदेशादि सब व्यर्थ हो जायेगे। किन्च वही परद्रव्य को हेय और स्व को उपादेय कहा है।[11] क्या निश्चयनय से हेयोपादेय भाव बन सकता है? कभी नही सम्भव है। यह हेयोपादेय भाव व्यवहारनय से ही सम्भव है। अत ग्रन्थकार के किसी एक कथन को उपादेय मानना एकान्तवाद का स्वीकार करना है जो स्याद्वादसिद्धान्त से मिथ्या है। जब तक समग्र दृष्टि से चिन्तन नही करेंगे तब तक ग्रन्थकार के काल का सही मूल्यांकन नही हो सकेगा। ग्रन्थकार ने किन परिस्थितियो मे किनके लिए निश्चय नय का उपदेश दिया है, यह ध्यान देने योग्य है। व्यवहार (अभूतार्थ) को सर्वथा हेय उन्होने कभी नही कहा अपितु उसे ही पकडकर बैठ जाने अथवा उसकी ओट मे जीविका चलाने का निषेध किया है।[12] आचार्य ने स्वयं समयसार के कर्तृकर्माधिकार के अन्त मे दोनो नयो से अतिक्रान्त समयसार है, किसी नयाश्रित नही कहकर सारभूत अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट शब्दो मे कहा है। जैसे—

जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेदि ववहारणयभणिद।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठ हवई कम्म ।।१४१।।
कम्म बद्धमबद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्ख।
पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।।१४२
सम्मद्दसणणाण एद लहदित्ति णवरि ववदेस।
सव्वणयपक्खरहिदा भणिदो जो सो समयसारो ।।१४४

अर्थात् व्यवहार नय से जीव मे कर्म बद्ध स्पृष्ट है परन्तु निश्चयनय से अबद्ध स्पृष्ट है। "जीव मे कर्म बधे

हैं अथवा नही बंधे हैं" ऐसा कथन नय पक्ष है परन्तु जो इससे दूर (पक्षातिक्रान्त) है वही समयसार है। जो शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध है, दोनों नयो के कथन को केवल जानता है, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नही करता है, वही पक्षातिक्रान्त है। जो सभी नयपक्षों मे रहित हैं वही समयसार है। यह समयसार ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और (सम्यक्-चारित्र) इस नाम को प्राप्त होता है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन मे निश्चय व्यवहार का समन्वय देखा जाता है जो जैन दर्शन के अनुकूल और युक्तिसगत है। —काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सन्दर्भ-सूची

१. पंचास्तिकाय —

१ (क) प्रथम श्रुतस्कन्ध मे —

इंदसदवंदियाण तिहुअणहिदमधुर विशदवक्काण।
अतातीदगुणाण णमो जिणाण जिदभवाण ।। पचा. १
समणमुहुग्गदमट्ठ चदुग्गदिनिवारण सणिव्वाण।
एसहणमिय सिरसा समयमिम सुणह वोच्छामि। पचा. २

(ख) द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे —

अभिवदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारण महावीर।
तेसिं पयत्थभंग मग्ग मोक्खस्स वोच्छामि ।। पचा. १०५

२. एवपवयणसार पच त्थियसगह वियाणि ा।
जो मुयदि रागदोसे मो गाहदि दुक्खप रमोक्ख ।। प.१०३
मुणिऊण एतदट्ठ तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ।। पचा. १०४

३. पंचा. १०७, १६०   ४. पंचा. १६१-१६३

५. पंचा. १६६, १६८, १७०-१७१

६. पचा. १६९   ७. पचा. १६९ (वही)

८. मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणिय पवयणसारं पंचत्थियसंगह सुत्त ।। पंचा. १७३

२. समयसार—

१. समयसार गाथा २

२. वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवम गइ पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणिय ।। सम. १

३. समय० ३-४

४. तं एयत्तविहत्त दाएह अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छल ण घेतव्व ।। समय. ५

५. ववहारेणुवदिस्सई णाणिस्स चरित्तदसण णाणं।
ण वि णाण ण चरित्त ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।समय. ७

६. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ।
तह ववहारेण बिणा परमत्थुवएसणमसक्कं ।। समय. ८
तथा देखिए, वही गाथा ९-१०

७ ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो उ सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो ।। समय. ११

८. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।। समय. १२

९. समयसार गाथा १२ (टीका)

१०. पाखडीलिंगेसु वा गिहलिंगेसु वा बहुप्पयारेसुं।
कुव्वति जे ममत्त तेहिं ण णाय समयसार ।। समय. ४१३

११. ववहारिओ पुणणओ दोण्णिवि लिंगाणि भणई मोक्खपहे
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहो सव्वलिंगाणि ।। ४१४

१२ तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि।
णेवविमुचई किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाण ।।समय. ४०७

१३ जो समयपाहुडमिण पठिदूण अत्थतच्चदो णाउ।
अत्थेठाही चेया सो होही उत्तम सोक्ख ।। समय. ४१५

(३) प्रवचनसार—

१. प्रवचनसार गाथा २०१

२. प्रवचनसार गाथा २५४ जयसेनाचार्य टीका

(४) नियमसार—

१. णियमेण य जं कज्जं तण्णियम णाणदसणचरित्त।
विवरीयपरिहरत्थ भणिद खलु सारमिदि वयण ।। निय. ४

२. नियम० गाथा २, ४

३ नियम० गाथा १८४, १८६ (देखे नियम० टि. ६, ७

४. नियम० गाथा ?

५. सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्त ।। नि० १३४
मोक्खगयपुरिसाण गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि।
जो कुणदि परमभत्ति ववहारणयेण परिकहिय ।। नि० १३५

६. णियम णियमस्स फल णि द्दिट्ठ पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधी जदि अवणीय पुरयतु समयण्हा ।। १८४

७. ईसाभावेण पुणो केई णिंदति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयण सोच्चाऽभत्ति मा कुणह जिणमग्गे ।। नि. १८५

(शेष पृ० १० पर)

एक नया मिथ्यात्व—'अकिंचित्कर'

जिन-शासन में मिथ्यादर्शन को संसार (बंध) का मूल और सम्यग्दर्शन को मुक्ति (निवृत्ति) का मूल कहा है। सम्यग्दर्शन का निश्चयलक्षण स्वात्मानुभूति और मिथ्यादर्शन का लक्षण पर-रूपपने को स्व-रूपपने रूप अनुभूति है। कहा भी है—"शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति। या चानुभूति प्रतीति शुद्धात्मोपलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति।"—समयसार १३ (जयसेन टीका)।

उक्त आत्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन नियमतः कर्मनिर्जरा का कर्ता और परानुभूतिरूप मिथ्यादर्शन नियमतः कर्मबन्ध का कर्ता होता है। इसके अतिरिक्त बाह्यरूप में तत्त्वादि का सच्चा श्रद्धान करना या मिथ्या श्रद्धान करना जैसे सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के बाह्य-व्यवहार लक्षणों के माध्यम तो निर्जरा या बन्ध में निमित्त मात्र हैं—कर्ता नहीं। यदि कोई व्यक्ति निश्चयलक्षणों को तिरस्कृत कर, निमित्तरूप व्यवहार लक्षणों मात्र के आधार पर यह कहे कि सम्यग्दर्शन या मिथ्यादर्शन का विषय श्रद्धा मात्र है और उनसे निर्जरा या बंध नहीं होता, तो वह लोगों को भरमाने वाला है और निमित्त को कर्ता मानने का दोषी है। जैसा कि "अकिंचित्कर" पुस्तक में किया गया है। इसमें कर्तारूप अनुभूति जैसे लक्षणों को तिरस्कृत कर—व्यवहार लक्षणों (जो निमित्त मात्र होते है) के आधार पर मिथ्यात्व को बन्ध में अकिंचित्कर सिद्ध करने की कोशिश की गई है जो सर्वथा ही मिथ्या है। क्योंकि बंध के सभी साधनों के मूल में अनुभूति ही है और अविरति कषायादि के होने में भी अनुभूति ही मूल कारण है।

"मिथ्यात्व बंध का कारण नहीं है" यह चर्चा अखबारों में बरसों से चल रही है इस विषय की "अकिंचित्कर" पुस्तक हमारी दृष्टि में अभी आई है जो जनता को भरमाने वाली और प्रकारान्तर से निवृत्ति के विरोधी कुदेव-कुदेवियों के श्रद्धालु बनने का मार्ग-प्रशस्त कराने वाली है। यतः—जब मिथ्यात्व से बन्ध नहीं होता तो इस मिथ्यात्व को क्यों छोड़ा जाय; आदि। पुस्तक के विरोध में हमें मनीषियों के लेख मिले हैं। कुछ लेख प्रकाशित कर रहे है। पाठक विचारें और इस नए मिथ्यात्व से बचें। —सम्पादक

मिथ्यात्व ही द्रव्यकर्मबन्ध का मूल कारण है

□ श्री पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, हस्तिनापुर

मिथ्यात्व को द्रव्यकर्मबन्ध का कारण नहीं कहना द्रव्यकर्मबन्ध की प्रक्रिया को नहीं समझने का फल है। इस कारण जहाँ भी द्रव्यकर्मबंध कारण कहो या आस्रव कहो इनका विवेचन किया है वहाँ आचार्य कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने द्रव्यकर्मबन्धके होने में मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया है।

यह जीव अन्य भोगोपभोग आदि सामग्री में 'मैं' और 'मेरापन' कर युक्त होता है तो वह मिथ्यात्व के सद्भाव में ही युक्त होता है। मिथ्यात्व का अभाव होने पर संसार की मर्यादा बन जाती है। इसलिए परवस्तु में एकत्व बुद्धि करने का मूल कारण मिथ्यात्व ही है। वह संसार की जड है। उसके सद्भाव में अविरति और कषाय आदि अपना काम विशेषरूप से करती है, उसके बिना नहीं। देखो द्रव्य कर्मों का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध और अशुभप्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध तीव्र मिथ्यात्व के बिना केवल तीव्र कषाय से नही हो सकता। इसीलिए आचार्यों ने मूल सूत्रों की रचना मे मिथ्यात्व प्रमुख रक्खा है। मिथ्यात्व गुण-स्थान में उत्कृष्ट स्थिति (तीन आयुओं के बिना) बन्ध और अशुभप्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में ही कहा है, अन्य गुणस्थानों में नहीं।

यह सोचना कि मिथ्यात्व अधिकरण तो है, कर्ता नही बिल्कुल वाहियात है। हमने कहीं लिखा है तो विवक्षा से ही लिखा है। खुद्दा बन्ध में एकेन्द्रिय जीव बन्धक हैं आदि सूत्रों में 'जो बन्धा' 'बंधा' आया है उसका अर्थ 'बन्धक' हीनता किया है, क्योंकि ये दोनों शब्द 'कर्ता' कारक के अर्थ में ही निष्पन्न हुए है। इसलिए बन्ध के कर्ता है ऐसा वहाँ समझना चाहिए। जैसे उपादान में सद्भूत व्यवहार-नय से छहो कारक घटित हो जाते हैं, वैसे ही अविनाभावी निमित्त कारणो में असद्भूत व्यवहारनय से छहों कारक घटित हो जाते हैं, इसमें आगम से कोई बाधा नही आती।

निमित्त दो प्रकार के होते हैं एक कर्म निमित्त और दूसरे नोकर्म निमित्त। जैसे कर्मनिमित्त मिथ्यात्व आदि नियत हैं वैसे नोकर्म निमित्त नियत नहीं होते। ये कहीं कोई निमित्त हो जाता है और कहीं कोई। मिथ्यात्व आदि का कर्मनिमित्तों मे अन्तर्भाव होता है।

यद्यपि त० सू० के छठे अध्याय में ज्ञानावरणादि के आस्रव के भेदों का विवेचन किया है पर बारीकी से देखने पर वे सब मिथ्यात्व आदि अन्तर्भूत हो जाते हैं।

प्रथम गुणस्थान में जो मिथ्यात्व, नपुंसक वेद आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध होता है उसका मूल कारण मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व के साथ अविरति, प्रमाद, कषाय और योग तो होते ही हैं, मिथ्यात्व बिना वे हों तो भी इन १६ प्रकृतियों का बन्ध अन्य से नहीं होगा, यह आगम स्वीकार करता है। पर मिथ्यात्व में बंधने वाली जो प्रकृतियाँ है उसका कारण भी मिथ्यात्व भी है, क्योंकि उनका जो कि उत्कृष्ट स्थिति बंध होता है। वह तीव्र मिथ्यात्व के सद्भाव में ही होता है तीन आयुओं को अपवाद इसलिए रख दिया है कि उनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध विशुद्धिवश ही होता है। फिर भी तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यात्व में ही होगा। मनुष्यायु भी उसी प्रकार प्रकृति है। देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सयमी के अवश्य होगा, यहां इतना विशेष जानना।

अकिंचित्कर पुस्तक में जो अनन्तानुबन्धी मे 'अनुबंध' का अथ किया है वह पुराने आचार्य और विद्वानो ने वैसा अर्थ नहीं किया। केवल हमें अकिंचित्कर पुस्तक मे ही पढ़ने को मिला। अनन्त भवों तक जिनके यथासम्भव उदय की परम्परा चलती रहे वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोर लोभ प्रकृतियाँ हैं। इनसे यह जीव अनन्त भवों तक परिभ्रमण की सामर्थ्य प्राप्त करता है। अनुबन्ध शब्द अनन्त भवों तक की संसार मे परिभ्रमण की सूचना देता है यह उसका तात्पर्य है।

अकिंचित्कर पुस्तक में अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाले का मिथ्यात्व मे आने पर एक आवलि काल तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं रहता इसे गोलमाल कर दिया गया है। जबकि संक्रमावलि हो या बन्धावलि, एक आवलि काल तक उनके उदय न होने का नियम है यह षट्खण्डागम मे तो स्वीकार किया ही है, कषायप्राभृत में भी इस नियम को स्वीकार न कर अन्य प्रकृतियों मे स्वीकार किया गया है। केवल अनन्तानुबंधी के लिए इस नियम को नहीं स्वीकार किया गया है। कषायप्राभृत मे बतलाया है कि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला जीव जब सासादन गुणस्थान मे आता है तो अन्य कषायों का उससे संक्रम होकर उसी समय सासादन गुण के कारण अनन्तानुबन्धी का अपकर्षण होकर उदय हो जाता है। यहाँ जो परस्पराश्रय दोष आता है उसकी अवगणना की गई है।

इस प्रकार हम देखते है कि अकिंचित्कर पुस्तक से मिथ्यात्व बन्ध के कारणों मे मुख्य होकर, उसे गौण कर दिया गया है और कषायो को आगे कर दिया गया है। जबकि कषायों की सत्ता मिथ्यात्व को स्वीकार करने पर ही बनती है, अन्यथा नहीं। विस्तृत पुस्तक सप्रमाण हम लिख रहे हैं उससे बातें स्पष्ट हो जायेगी, जिनागम क्या है वह समझ मे आ जायगा। □□

(पृ० ८ का शेषांश)

णियभावणाणिमित्तं मए कद णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिनोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं॥ नियम. १८६

(५) अष्टपाहुड—
१. दर्शनपाहुड गाथा १, २ २. शीलपाहुड गाथा २
३. धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमेत्तेण धम्मसपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो॥ लिंगपा. २
जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाण।
उवहसइ लिंगि भावं लिंगं णसेदि लिंगीण॥ लिंगपा० ३

(६) द्वादशानुप्रेक्षा (बारसणुपेक्खा)—
१. द्वादशानुप्रेक्षा गाथा १ २. पंचास्ति० गाथा १७३

(७) भक्तिसंग्रह—
३. तीर्थकर भक्ति ६ ४. तीर्थंकर भक्ति ७
५. ,, ८ ६. योगिभक्ति २३
७. आचार्य भक्ति १ ८. आचा० ७ ९. पंचगुरुभक्ति ७
१०. जारिसया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण॥ नियम. ४७
असरीररा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा ससिदी णेया॥ निय० ४८
एदे सव्वे भावा ववहारणय पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा॥ नियम. ४९
११. नियमसार गाथा ५०
१२. देखें लिंगपाहुड, अष्टपाहुड टिप्पण न० ३

मिथ्यात्व का बदला रूप—'अकिंचित्कर'

❑ पं० मुन्नालाल प्रभाकर, ननौरा वाले

ऐसे मिथ्यादृग ज्ञान चरण, वश भ्रमत भरत दुख जनम मरण,
तातैं इनको तजिए सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूं बखान॥

पं० दौलतरामजी कहते हैं कि मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र के आधीन होकर यह जीव चारों गतियो मे भ्रमण करता है और जनम-मरण आदि के दुःख सहता है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्राचार्य कहते है कि तीनो कालो तथा तीनों लोकों मे सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी तथा मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी अन्य नही है। जिसका समर्थन चारो अनुयोगो के समस्त शास्त्र करते है। उस मिथ्यात्व को बंध का कारण न मानना जिनागम के प्रतिकूल होगा, जबकि मोक्ष शास्त्र को बंध अधिकार में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग ये पाँच प्रत्यय स्पष्ट रूप से बताये है जिनमे मूल बंध का कारण मिथ्यात्व है। जब तक मिथ्यात्व का अभाव नही होगा ससार का अन्त नही हो सकता। इसीलिए मिथ्यात्व को आगम मे अनन्त कहा है और इसके जाने के पश्चात ससार का अन्त अवश्य होगा। अर्थात् अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र काल रह जाता है ऐसा नियम है। इस मिथ्यात्व के अभाव के बिना बाकी चारों बंध के प्रत्ययों का अभाव होना असम्भव है जैसे जड़ के सूखे बिना पत्तों को काटने से (सूखने से) वृक्ष नही सूख सकता तथा मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियां प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे ही बंधती है। प्रथम गुणस्थान के अन्त समय में इनकी बंध व्युच्छित्ति हो जाती है अर्थात् आगे के गुणस्थानो मे इनका बंध नहीं होता (गोमट्टसार कर्मकाण्ड बंधादियत्र) तथा मिथ्यात्व को बंध करने वाली मिथ्यात्व प्रकृति को न मान कर अनन्तानुबंधी कषायो को मिथ्यात्व के बंध का कारण मानना आगम सम्मत नही है। क्योकि सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का उदय ६ आवली और कम से कम एक समय रहता है। उस समय मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बंध नहीं होता इसीलिए अनन्तानुबंधी को मिथ्यात्व के बंध का कारण मानना ठीक नही है क्योकि जिसके साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों होते हैं वही कारण न्याय्य तथा आगम अनुकूल है। आगम में कर्मों की १२० प्रकृतियों के बंध के कारण इस प्रकार बताये हैं—१६ प्रकृतियों के बंध का कारण मिथ्यात्व, २५ प्रकृतियों के बंध कारण अनन्तानुबंधी कषायोदय जनित अविरति है जिसका अनुबंध मिथ्यात्व का साथ देने का है तथा मिथ्यात्व अनन्त है। इसी से इसको अनन्तानुबंधी कहते है। १० प्रकृतियों के बंध का कारण अप्रत्याख्यान—वर्णी कषायोदय जनित अविरति, ४ प्रकृतियो के बंध का कारण प्रत्याख्यानवरण कषायोदयजनित अविरति ६ प्रकृतियों के बंध का कारण प्रमाद, ५८ प्रकृतियो के बंध का कारण संज्वलन कषाय तथा एक सातावेदनीय के बंध का कारण योग। इस प्रकार १२० प्रकृतियों के कारण अलग-अलग बताए हैं। बाकी २८ प्रकृतिया इनमे ही गर्भित हैं। फिर भी मिथ्यात्व जो कि इस सब कारणो का मूल है उसको अकिंचित्कर कहना तथा अनन्तानुबंधी को उसके बंध का कारण कहना ऐसा है जैसे कोई कहे कि दो और दो चार नहीं होते। क्योकि मोक्ष शास्त्र के आठवें अध्याय के दूसरे सूत्र में बंध के कारण न बता कर बंध का लक्षण बताया है, उसके आधार पर मिथ्यात्व के बंध का कारण अनतानुबंधी कषाय को मानना उचित नही बैठता क्योकि अनन्तानुबंधी वह कषाय है जिसका अनुबंध अनन्त मिथ्यात्व के साथ देने का है। उस कषाय को अनन्तानुबंधी कषाय कहते है। बंध तथा अनुबंध की परिभाषा स० सि० ८-७-११ में इस प्रकार की है—बंध शब्द कारण साध्य है ऐसी विवक्षा मे मिथ्यात्व आदि पाँचों प्रत्यय बंध के कारण हैं और अनुबंध: स्यात प्रवृत्तस्य अनुवर्तने= प्रवृत्त के पश्चात् अनुसरण करने वाला। इससे यह स्पष्ट

होता है कि प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय के पश्चात् ही अनन्तानुबंधी का उदय आता है और अन्तराल मे मिथ्यात्व का बध होता ही है क्योकि मिथ्यात्व का उदय आ गया और उदय माना बध का कारण है और उस बध का कारण मिथ्यात्व के अतिरिक्त अन्य हो नही सकता। यदि अनन्तानुबंधी मिथ्यात्व के बंध का कारण है तो सासादन मे भी बंध होना चाहिए तथा गिरते समय मिथ्यात्व के उदय आने पर पहले गुणस्थान में अनन्तानुबंधी के अभाव मे मिथ्यात्व का बंध नहीं होना चाहिए, किन्तु बध होता है। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व ही है। हाँ, अनन्तानुबधी मिथ्यात्व का साथ देती है। साथ देने मात्र से इसको बध का कारण नही कहा जा सकता तथा अनन्तानुबधी को मिथ्यात्व के बध का कारण आगम मे कही भी नही कहा है और दो सौ बयालीस (२४२) उद्धरण जो अकिंचित्कर पुस्तक मे दिए है उनमे भी कोई ऐसी पक्ति स्पष्ट देखने मे नहीं आई है कि अनन्तानुबधी मिथ्यात्व के बध का कारण है। बध का लक्षण "कम्माणं सम्बन्धो बधो" ऐसा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की ४३८वी गाथा मे किया है। जिसका अर्थ कर्मों के आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बध है और जैन सिद्धान्त प्रवेशिका मे अनेक वस्तुओ के सम्बन्ध विशेष को बध कहा है तथा तत्त्वार्थ सूत्र के आठवें अध्याय के पहले सूत्र मे बध के जो पाँच कारण बतलाए है वो इस प्रकार है—१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय तथा ५. योग। ये पाँचो कारण एक दूसरे की अपेक्षा रखते है। अर्थात् मिथ्यात्व के कारण से अविरति होती है। उस अविरति का कारण अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावर्णी, प्रत्याख्यानावर्णी के उदय से होती है। इस अविरति के उदय से ३९ उनतालीस प्रकृतियों का बध होता है। प्रमाद के योग से छः प्रकृतियो का बंध होता है। संज्वलन कषाय से ५८ अट्ठावन प्रकृतियो का बध होता है तथा योग से एक सातावेदनीय मात्र का बंध होता है। ऐसी बध व्यवस्था तो आगम मे देखने मे आती है। हाँ, मोक्षशास्त्र के आठवे अध्याय के दूसरे सूत्र मे जो कहा है वह चारो प्रकार के बध के लक्षण की अपेक्षा कहा है। क्योकि उन कर्मबधों की चार अवस्थाएँ—१. प्रकृति, २. प्रदेश, ३. स्थिति और ४. अनुभाग हैं। इन चारों अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए उमा स्वामी महाराज ने कहा है—"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते सःबन्धः।" अर्थ—कषाय सहित जीव के द्वारा कर्म होने योग्य पुद्गल परमाणुओ का ग्रहण बंध है। वास्तव मे बध योग से ही होता है। और योग आत्मा के प्रदेशों की सकंपता को कहते है। बाकी चार प्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय ये योग के कारण है। इसलिए पाँचों को ही बंध का कारण कहा है। इन पाँचों का अभाव भी इसी क्रम से होता है, और उस अभाव के साथ-साथ बधने वाली प्रकृतियो का अभाव भी होता जाता है। संसार मे भ्रमण करने का कारण मिथ्यात्व होने पर भी मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहना आगम विसगत है। भले ही आचार्य महाराज ने अपने भाषण मे कहा हो लेकिन पुस्तक के छपवाने का आदेश नहीं दिया होगा। क्योंकि पुस्तक के छपने से ये स्थायी विधान हो गया कि मिथ्यात्व कुछ नहीं है—'अकिंचित्कर' है। लोग पहले ही मिथ्यात्व के वशीभूत होकर पद्मावती आदि देव-देवियों से वरदान मागते है और उनसे अपने कार्यों की सिद्धि होना मानते है। तथा तीर्थ क्षेत्रों मे जाकर भी छत्र चढ़ाकर वरदान माँगते है कि यदि मेरे पुत्र हो जाये, धन की प्राप्ति हो जाये और मुकदमा जीत जाऊँ ऐसी भावनाएँ करते है तथा अन्य देवी-देवताओ की उपासना मे लग हुए है। इस पुस्तक के पढ़ने से लाभ तो कुछ नजर नही आता, किन्तु लोगो की प्रवृत्ति मिथ्यात्व मे बढ़ जायेगी ऐसी सम्भावना नजर आती है। इसीलिए ऐसा दुष्प्रचार नही होना चाहिए।

'अकिंचित्कर पुस्तक मे पृष्ठ १६ पर लिखा है कि यदि मिथ्यात्व के स्थान पर अनन्तानुबंधी को रख देते है तो प्रथम और द्वितीय गुणस्थान का अन्तर समाप्त हो जाता। पर, ऐसा नही है क्योकि आगम में कहा है मिथ्यात्व के उदय से अदेव में देव बुद्धि, अतत्त्व मे तत्त्व बुद्धि, अधर्म में धर्म बुद्धि इत्यादि विपरीताभिनिवेश रूप जीव के परिणाम होते हैं। और अनन्तानुबधी आत्मा के सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती है। जिसको सासादन गुणस्थान कहते है। उसके पश्चात्

(शेष पृ० १६ पर)

'अकिंचित्कर' पुस्तक आगम-विरुद्ध है

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

यह सच है कि हम करणानुयोग मे मूढ़ हो, और हमें कुछ आता भी नही हो। शायद इसीलिए एक सज्जन बोले—पंडित जी ! "मिथ्यात्व किंचित्कर हैं या अकिंचित्कर" इसे आप क्या जाने ? हमने कहा—आपका कहना ठीक है। भला जब करुणानुयोग के ज्ञाता भी इस विषय के प्रतिपादन मे अकिंचित्कर और विपरीत श्रद्धा मे है, तो हमारी क्या बिसात ? पर, इससे द्रव्यानुयोग को झूंठा तो नही माना जा सकता—जब द्रव्य ही न होगा तब करण होगा किसमे ? मूल तो द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यानुयोग ही है जो द्रव्यों के गुण-स्थान आदि की पूरी-पूरी जानकारी देता है।

"मिथ्यात्व अकिंचित्कर है" इस नई चर्चा को प्रकाश मे आए कई वर्ष हो गए। तब इसके समर्थन और विरोध मे उद्भट विद्वानो तक के कई लेख पढ़ने को मिलते रहे, पर निर्णय परक (दोनों पक्षो को स्वीकार्य) कोई लेख देखने में नही आया। बावजूद इस मतभेद के, फिर भी ७४ पेजो की इकतर्फा पुस्तक छप गई। पुस्तक का नाम है—"अकिंचित्कर।"

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानोदय-प्रकाशन', जबलपुर की देन है और इसमे आज के ख्यातनामा पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज की वर्तमान मान्यता मे हुए उनके स्वय के प्रवचनो के प्रकाशन की बात है। निःसन्देह पुस्तक एक मान्य दिगंबराचार्य सम्मत होने से श्रावक मुनियो के नियमित स्वाध्याय मे शास्त्र की आसन्दी पर पढ़ी जायगी—कुछ लोगो की मान्यता भी बदलेगी। कुछ लोग सोचेंगे कि शायद **यह एक प्रतिक्रिया है उस मान्यता की—जिसमें मात्र सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए लोगों को प्रेरित किया गया था और चारित्र की उपेक्षा कर दी गई थी।** आचार्य महाराज ने कषायादि को दुख की जननी बताकर "मिथ्यात्व अकिंचित्कर" के बहाने सम्यग्दर्शन की महिम को लुप्त कर दिया। यद्यपि लोगों के चारित्र में गिरावट को देखते हुए महाराज का यह कदम ठीक है। वे कहते हैं—"मिथ्यात्व हटाओ··· मिथ्यात्व हटाओ" कहने मात्र से वह हटने वाला नही। हमे हट ने के लिए कषायों को व उसको भी समझना होगा और उनसे बचने का भी प्रयास करना होगा।"—अकिंचित्कर पृ० ७८। पर, आगम की दृष्टि से "मिथ्यात्व अकिंचित्कर है।" यह बिषय हमे रास नही आया। आचार्य श्री स्वय जान और मान रहे हैं कि मिथ्यात्व को बंध में अकिंचित्कर मानने जैसी उनकी घोषणा से विपरीतता फैली है। उन्होने स्वय कहा है—

"लोग कहते है महाराज, आप आठ-दस वर्षों से निरन्तर यह चर्चा कर रहे है, इससे आपको क्या लाभ हुआ ? आपको जो भी लाभ हुआ हो सो ठीक है, लेकिन इतना अवश्य है कि लोगो मे मिथ्यात्व के विषय का दुष्प्रचार अवश्य हुआ है, ऐसी मेरी धारणा है ?"

—अकिंचित्कर, पृष्ठ ७२.

ऐसी स्थिति मे और जब विरोध मे लिखे गए लेखो का निराकरण जनता तक न पहुचा हो, पुस्तक प्रकाशको द्वारा इस विषय को शास्त्र की आसन्दी पर विराजमान हो सकने वाली पुस्तक रूप मे न गूंथकर केवल अखबारो तक ही सीमित रखना न्याय्य था। यतः—अखबार शास्त्र की गद्दी पर नही पढ़े जाते। पुस्तक से लोग भ्रमित होंगे कि प्राचीन आचार्यों के वाक्य ठीक है या वर्तमान आचार्य श्री विद्यासागर महाराज ?

दूसरी बात, मिथ्यात्व को बंध मे अकिंचित्कर मानने से पद्मावती आदि रागी देवी-देवताओं की महिमा पूजा को बढ़ावा मिलेगा। लोग कहेंगे—जब मिथ्यात्व बंध का कारण नही है तो हम क्यों इस मिथ्यात्व से रुकें ? हम तो इन्हें मात्र सांसारिक इष्ट-सिद्धि के लिए पूजते है, आदि।

"कम्माण संबधो बंधो" —कर्मका० ४३८; जीवकर्म-

प्रदेशाऽन्योन्यसंश्लेषो बंधः"—रा० वा० १।३।१४, से स्पष्ट है कि सबंध-संश्लेष होने का नाम बंध है; वह संश्लेष आत्मप्रदेशो से कार्माण वर्गणाओ अथवा कर्मों के 'अण्णोण्णपवेसण' रूप है। ओर ऐसा सश्लेष जीव के प्रति प्रदेशबंध का ही है। शेष प्रकृति स्थिति और अनुभाग ये सभी तो कार्माण वर्गणाओ से सश्लिष्ट होते हैं—यानी स्थिति और अनुभाग कार्माण कर्मों मे पड़ते हैं, आत्मा या आत्मप्रदेशो मे नही। अत. कषायो की तीव्रता-मन्दता से कर्मरूप वर्गणाओ मे पड़े स्थिति और अनुभाग को—मात्र कर्म-प्रदेशा से बंधने के कारण (जीव के प्रति Direct बध नही होने पर भी) बन्ध कह दिया गया है। पर, इन्हे कर्म प्रदेशो के अभाव मे 'अण्णोण्ण पवेसण' की परिभाषा मे सीधा नही घटाया जा सकता। फलतः—प्रदेशबन्ध, जो कि मुख्य है उसे गोण कर, कार्माण वर्गणाओ मे घटित होने वाली स्थिति और अनुभाग मे हेतुभूत कषाय मात्र को जीव और कर्म सम्बन्धी जैसे (प्रदेश) बध मे मुख्य कारण नही माना जा सकता। जब भी बध होगा योगो की ही मुख्यता हागी—'जोगापयडिपदेसा:' और योग में यथास्थिति मिथ्यात्व भी कारण है। अतः हमे पूरे बंध प्रसंग मे आचार्यों के वाक्य **'मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद-कषाययोगा: बन्धहेतव:'**, रूप मे सभी को यथायोग्य रीति से बंध मे कारण मान लेना चाहिए। 'तत्र **मिथ्यादृष्टे:** पंचापि समुदिता: बन्ध हेतव'······'तत्र च **मिथ्यादर्शना-दिविकल्पा** प्रत्येक बन्धहेतुत्वभवगन्तव्याम्। त०रा० वा० ८।१।३१, इमी राजवार्तिक के ८।२।८ में बध के विषय मे कहा गया है—'अतो**मिथ्यादर्शना**द्यावेशात् आर्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात् तेषा सूक्ष्मक्षेत्रावगाहिनाम् अनतानंत पुद्गलानां कर्मभागयोग्यानामविभागोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते।' फलतः—पांचो हेतुओं मे (यथा प्रसग) मिथ्यात्व को अकिंचित्कर नहीं माना जा सकता।

पूर्वाचार्य श्री विद्यानन्द के मतानुसार तो (जिस कषाय को मिथ्यात्व के बंध मे कारण मान वर्तमान आचार्य विद्यासागर जी मिथ्यात्व को बध के प्रति अकिंचित्कर कह रहे हैं।) उस **कषाय में मूल कारण भी मिथ्यात्व ही है'**। विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं—'तत्रभावबन्धः क्रोधाद्यात्मक:, तस्य हेतु**र्मिथ्यादर्शनम्**।······**मिथ्यादर्शन** हेतु को भावबन्धः······न चैवमेकैव हेतुक एव बन्धः, पूर्वस्मिन्-पूर्वस्मिन्नुत्तरस्योत्तरस्यबन्धहेतोः सद्भावाभावात्······ **मिथ्यादर्शन** हेतुकश्च।······न चायं भावबंधो द्रव्यबंधमन्तरेण भवति, मुक्तस्यापितत्प्रसंगात् इति द्रव्यबंध: सिद्धः। सोऽपि **मिथ्यादर्शना**विरतिप्रमादकषाय योगहेतुक एव बन्धत्वात्।'—आप्तप० कारिका २१६, यानी द्रव्य और भाव इन दोनों बंधो मे यथायोग्य रीति मे मिथ्यात्व भी कारण है।

आचार्य अकलंक देव ने प्रश्न उठाया कि जब उमास्वामी ने 'मिथ्यादर्शनादि' प्रथम सूत्र मे पाँचों को बंध में हेतु कह दिया तो दूसरे सूत्र मे कषाय को पृथक् से पुनः क्यो बंध का कारण कहा? इसके समाधान मे आचार्य स्वयं कहते हैं कि यह प्रसग स्थिति और अनुभाग बधों के कारणो को स्पष्ट करने मे है। तथाहि—

"पुन: कषायग्रहणमनुवाद इति चेत् न; कर्मविशेषाशय-वाचित्वात् जठराग्निवत्॥५॥······कषायेषु सत्सुतीव्र-मन्दमध्यमकषायाशयानुरूपे स्थित्यनुभवने भवत इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं बन्धहेतुविधाने कषायग्रहण निर्दिष्टं पुनरनूद्यते।' त० रा० वा० ८।२।?.

जयधवलाकार ने योग की जो परिभाषा की है उससे सभी बधो मे प्रदेशबन्ध को ही मुख्यता मिलती है और वह बध योगो द्वारा होता है—'जोगापयडिपदेसा:'। तथा योग की उत्पत्ति मे अन्य कारणो की भांति—यथावसर—मिथ्यात्वरूपी कारण को भी ग्रहण करना अनिवार्य है—योग के कारणो मे मिथ्यात्व को सर्वत्र ही छोड़ा नही जा सकता।—'जोगो णाम जीवपदेसाणं कम्मादाणणिबन्धणो परिप्फदपज्जाओ।' जयध० १२ पृ० २०२. यहाँ आदान और बन्ध मे शब्द मात्र का भेद है; क्योकि आस्रव और बन्ध दोनो के कारणों में भेद नही है। योग की सत्ता भी प्रथम से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक रहती है। कषाय की सत्ता तो मात्र दशवे गुणस्थान तक ही है। यदि कषाय को ही बंध का मूल कारण माना जाय तो कषाय के अभाव मे बन्ध क्यों होता है? और कषाय की सत्ता मे दूसरे गुणस्थान मे भी मिथ्यात्व आदि १६ का बन्ध क्यों नही होता? विचारणीय है।

बध के कारण प्रसंग को उठाते हुए महाबन्ध के प्रारम्भिक कर्मबन्ध मीमांसा प्रसग मे जो बात उठाई गई

है उससे यह स्पष्ट होता है कि बंध के कारणों से मिथ्यात्व को सर्वथा सर्वथा अलग नही किया जा सकता । और यह तो हम पहिले ही कह चुके है कि कषाय (अनन्त नुबंधी) की उत्पत्ति का जनक मिथ्यात्व ही है—न कि मिथ्यात्वं का जनक कषाय—'तत्र भावबन्धः क्रोधाद्यात्मक: तस्य हेतुर्मिथ्यादर्शनम्······' सोऽपि (द्रव्यबन्धोऽपि) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद कषाय योग हेतुक एव बन्धत्वात् ।

—आप्तप० २१६.

कर्मबंध मीमासा प्रसग में जो बात कही गई है वह इस भांति है—

"राग-द्वेषादि विकारों सहित अज्ञान बंध का कारण है। थोडा भी ज्ञान यदि वीतरागता सम्पन्न हो तो कर्म-राशि को विनष्ट करने मे समर्थ हो जाता है। परमात्म-प्रकाश टीका मे लिखा है—'वीरा वेरग्गपराथोवपि हु सिक्खऊण सिज्झंति ।··········· ······ ।।पृ० २२७।।

वैराग्य संपन्नवीर पुरुष अल्पज्ञान के द्वारा भी सिद्ध हो जाते हैं। सम्पूर्ण शास्त्रो के पढ़ने पर भी वैराग्य के बिना सिद्ध पद की प्राप्ति नही होती। समन्तभद्र अपने युक्तिवाद द्वारा इस समस्या को सुलझाते हुए कहते हैं—

'अज्ञानान्मोहिनो बन्धो न ज्ञानाद्वीतमोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्चमोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥'

—आ० मी० ९८.

मोह विशिष्ट व्यक्ति के अज्ञान से बध होता है। मोहरहित व्यक्ति के ज्ञान से बंध नही होता है। मोह-रहित आत्मज्ञान से मोक्ष होता है। मोही के ज्ञान से वध होता है।'

यहाँ बन्ध का अन्वय व्यतिरेक ज्ञान की न्यूनाधिकता के साथ नही है। इससे ज्ञान को बन्ध या मुक्ति का कारण नहीं माना जा सकता। मोह सहित ज्ञान बन्ध का कारण है और मोहरहित ज्ञान मुक्ति का कारण है। अत: यह बात प्रमाणित होती है कि बन्ध का कारण मोहयुक्त अज्ञान है·············। यहां यह आशका सहज उत्पन्न होती है कि इस कथन की सूत्रकार उमास्वामी के इस सूत्र के साथ विरुद्धता है—'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय-योगः बन्ध हेतवः ।'

इस विषय का समाधान करते हुए विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं (अष्टसह० पृ० २६७) कि मोहविशिष्ट अज्ञान में सक्षेप से मिथ्यादर्शन आदि का संग्रह किया गया है। इष्ट अनिष्ट फल प्रदान करने में समर्थ कर्म बन्ध का हेतु कषायैकार्थसमवायी अज्ञान के अविनाभावी मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को कहा गया है। मोह और अज्ञान मे मिथ्यात्व आदि का समावेश हो जाता है। दोनो आचार्यों के कथन में तात्त्विक भेद नही है, केवल प्रतिपादन शैली की भिन्नता है।"

उक्त प्रसग को अष्टसहस्री विवरणम् दशम परिच्छेद पृ० ३३५ पर इस प्रकार कहा गया है—

"नचेवं अज्ञानहेतुत्वे बन्धस्य मिथ्यादर्शनादि हेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरुद्ध्यन इति चेत्, मिथ्यादर्शना-विरतिप्रमादकषाययोगानाम् कषायैकार्यसम्वाय्यज्ञानाविना-भाविनामेवेष्टानिष्टफलदानसमर्थकर्मबन्धहेतुत्वसमर्थनात् मिथ्यादर्शनादीनामपि सग्रहात् सक्षेपत इति बुद्ध्यामहे। ततो मोहिन एवाज्ञाद्विशिष्ट: कर्मबन्धो न वीतमोहादिति सूक्तम् ।"

पाठक देखें—जहाँ अज्ञान को बन्ध का कारण कहा, वहाँ उस अज्ञान मे मोह को ही कारण माना; और मोह वह है जो मोहित करे, भुलाए, अज्ञानी बनाए। ऐसा मोह मुख्यत. दर्शनमोह–(मिथ्यात्व) ही है। चारित्रमोह तो श्रद्धान मे बाधक न होकर मात्र चारित्र घातक है और श्रद्धान व चारित्र में महद् अन्तर है। यह पाठक सोचें कि दर्शन और चारित्र मे कौन किसका साधक है? कौन पहिले और कौन पीछे है? क्या यह ठीक है कि दर्शन के बाद के क्रम में आने वाला चारित्र, दर्शन का कारण हो यानी जो चारित्र मोहनीय की प्रकृति अनन्तानुबन्धी है, वह प्रथम प्रकृति-दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) के बन्ध में कारण हो? आश्चर्य!

क्या कभी यह भी सोचा कि यदि मिथ्यादर्शन बन्ध में कारण न होगा तो उसका विरोधीभाव—सम्यग्दर्शन भी मोक्ष में कारण न होगा। और ऐसे में 'ज्ञानचारित्रेमोक्ष-मार्ग.' सूत्र रचना पड़ेगा। सम्यक् शब्द तो दर्शन का विशे-षण है, वह भी न हो सकेगा और तब सारा का सारा

दि० सिद्धान्त ही लुप्त हो जायगा। भला यह भी कैसे सम्भव है कि हम सम्यक्चारित्र मे तो सम्यग्दर्शन को अनिवार्य कारण मानें और मिथ्याचारित्र मे मिथ्यादर्शन को कारण न मानें। अनन्तानुबंन्धी (जो स्वयं चारित्र-मोहनीय की प्रकृति ही है) को प्रकारान्तर से (मिथ्यात्वोत्पादक मान लेने के कारण) मिथ्याचारित्र के उत्पादन का मूल कहें ?

उक्त विषय मे स्व० प० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री जैन सन्देश के अंक दिनांक २३-१२-८२ में और मान्य पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री अंक दिनांक २६-७-८२ में प्रकाश डाल चुके है—उन पर विचार किया जाना चाहिए। हम नही चाहते कि—पूर्वाचार्य की 'तत्र भावबन्धः क्रोधाद्यात्मकः, तस्यहेतुर्मिथ्यादर्शनम्' घोषणा को अपने तर्कों की कसौटी पर झुठलाया जाय और उस सबके प्रति जनता मे भ्रम पैदा होने जैसा कोई कदम उठाया जाय।

कोई कितने भी तर्क क्यो न दे, हम आगमकी मूल घोषणा को गलत मानने को तैयार नही—'तस्यहेतुर्मिथ्यादर्शनम्।'

वीर सेवा मन्दिर, दरियागज, नई दिल्ली-२

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

मिथ्यात्व के उदय आने पर मिथ्यात्व गुण स्थान होता है। इससे स्पष्ट होता है, दोनों का पृथक्-पृथक् कार्य है। ऐसी अवस्था मे अनन्तानुबंधी को मिथ्यात्व का उत्पादक कहना ठीक नहीं बैठता और गोम्मटसार जीवकाण्ड की २८२ गाथा में भी कहा है—सम्यक्त्व, देशचारित्र; सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्र को घातती हैं।

सम्यक्त्व के घात होने के पश्चात् मिथ्यात्व के उदय आने पर ही मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। कहाँ तक कहें समयसार मे भी कहा है कि जैसा वस्तु का स्वभाव कहा हुआ है वैसे स्वभाव को नही जानता हुआ अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) अपने शुद्ध स्वभाव से अनादि ससार से लेकर च्युत हुआ ही है। इस कारण कर्म के इस उदय मे जो राग, द्वेष, मोह (मिथ्यात्व आदिक) भाव हैं उनसे परिणमता अज्ञानी राग, द्वेष, मोह आदिक भावो को करता हुआ कर्मों से बधता ही है ऐसा नियम है।

मुझे वर्तमान छद्मस्थो के तर्क वितर्क से पदार्थ निर्णय में उतना विश्वास नही जमता, जितना प्राचीन आचार्यों के वाक्यों में विश्वास है। अत: यदि किसी ग्रन्थ म ये पंक्ति स्पष्ट लिखी हो कि मिथ्यात्व के बध में अनन्तानुबंधी कषाय कारण है, तो विचार किया जा सकता है। अभी तो हमारे समक्ष पूर्व आचार्य जी श्री विद्यानन्दि की यह पंक्ति विद्यमान है—

"तत्र भाव बध. क्रोधाद्यात्मकस्तस्य हेतुर्मिथ्यादर्शनम्।"

—आप्त परीक्षा २।१

इस प्रकरण के स्पष्टीकरण में स्व० प० कैलाशचन्द्र जी ने सन् १९८२ में एक लेख लिखा था, उसके पश्चात् यह चर्चा बन्द-सी हो गयी थी। अब अकिंचित्कर नाम की पुस्तक के द्वारा पुन: इसका यह प्रचार किया जा रहा है कि मिथ्यात्व अकिंचित्कर है। अब प० कैलाशचन्द्र जी तो है नही, मुझे बड़ा आश्चर्य है कि अन्य विद्वान् क्यो मौन साधे बैठे हैं ? उनको इसका खुलकर आगमानुकूल विरोध करना चाहिए।

कैसी विडम्बना है कि एक ओर तो 'अकिंचित्कर' पुस्तक पृ० ११ पर यह स्वीकार किया गया है कि 'प्रथमगुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय मे बँधने वाली मात्र १६ प्रकृतियाँ ही हैं' और दूसरी ओर यह कहा जा रहा है कि मिथ्यात्व से बन्ध नही होता—'कषाय से ही मिथ्यात्व का बन्ध'—पृ० ८. 'अनंतानुबन्धी मिथ्यात्व की जननी'—पृ० ३७. 'मिथ्यात्व की अकिंचित्करता'—पृ० ६२. पाठक सोचें कि क्या यह स्ववचन बाधित नही ?

जब आगम में २५ प्रकृतियों (अनतानुबन्धी ४, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु, उद्योत, सस्थान ४, सहनन ४) के बध का विधान अनतानुबधी कषाय की मुख्यता में है और इनमे मिथ्यात्व की गणना नही है। तब क्या अकिंचित्कर का प्रचार मिथ्यात्व को बढ़ावा देने के लिए किया जा रहा है ? क्या इससे कुदेव-देवियो के पुजापे को बढ़ावा न मिलेगा ?

जब मिथ्यात्व गुणस्थान मे चारों प्रत्ययों से बध का विधान है—'चदुपच्चइयो बंधो पढमे'—गो. कर्म. ७८७. तब मिथ्यात्व को उन प्रत्ययो से कैसे छोडा जा सकता है ?

पाठक विचारें और धोखे मे न आयें।

२/३८, अंसारी रोड, दिल्ली

क्या मिथ्यात्व बंध के प्रति 'अकिंचित्कर' है ?

□ श्री बाबूलाल जैन कलकत्ते वाले

बहुत समय से यह विषय चल रहा है और सभी बडे-बड़े विद्वानों ने इस बारे मे अपनी जानकारी से लोगो को अवगत कराया है और ग्रन्थो के प्रमाण भी रखे है। अध्यात्म का दृष्टिकोण तो बहुत साफ है। समूचे पापों का जनक—समस्त कषायो का जनक—ससार का कारण एक मिथ्यात्व को ही बताया है।जब श्रद्धा विपरीत होती है तब जो कषाय बनती है वह अनन्तानुबंधी होती है। जब अपने स्वभाव को नही जानता और शरीरादिक मे अपनापना मानता है तब एक प्राप्त शरीर में ही अपनापना नही है परन्तु अनन्त शरीर भी प्राप्त कर सकता तो सब मे अपनापना आ जाता। जब यह मानता है कि पर वस्तु से दु.ख होता है और पर वस्तु से सुख होता है तब सामने कोई एक वस्तु है उससे ही द्वेष बुद्धि नही है परन्तु अनन्त वस्तु भी होती तो उन सबसे द्वेष बुद्धि हो जाती अथवा राग बुद्धि हो जाती। इसलिए शुक्ल लेश्या का धारी द्रव्यलिंगी मुनि के कोई कषाय देखने मे नही आ रही है परन्तु अनन्तानुबंधी बराबर चल रही है अनन्तानुबंधी का अर्थ तीव्र और मन्द से नही है परन्तु मिथ्या श्रद्धा के कारण वह अपने अभिप्राय में अनन्तों पदार्थों का स्वामित्व, अनन्त पदार्थों के प्रति राग-द्वेष बुद्धि लिए हुए चल रहा है। वह कषाय अथवा वह अभिप्राय तभी मिट सकता है जब श्रद्धा ठीक हो। इसके अलावा कषाय करने का और अनन्त पदार्थों के प्रति राग-द्वेष करने का अभिप्राय किसी भी तरह नही मिट सकता, चाहे श्रद्धा का ठीक होना और अनन्तानुबंधी का मिटना एक ही साथ हो परन्तु श्रद्धा सही हुए बिना अनन्तानुबंधी नही जा सकती। इसीलिए आचार्यों ने मिथ्यात्व को ससार का कारण और सम्यग्दर्शन को संसार के अभाव का कारण कहा है, इसीलिए मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप कहा है जिसके गये बिना कोई कषाय जा ही नही सकती।

इसी बात को करणानुयोग भी साबित करता है कि दूसरे गुणस्थान मे अनन्तानुबंधी कषाय है परन्तु वह मिथ्यात्व का बध करने मे अकिंचित्कर है, जबकि चौथे से जो गिरा जिसके अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना हुई है और मिथ्यात्व का उदय आने पर नयी अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध करता है जबकि संयोजना होकर अनन्तानुबन्धी अभी उदय को प्राप्त नही हुई हैं। इसका अर्थ हुआ कि अनन्तानुबन्धी तो मिथ्यात्व को बाँधने मे अकिंचित्कर रही और मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी को बांधने मे अनिवार्य रहा। ऐसा ही सर्वार्थसिद्धि टीका में आठवे अध्याय में लिखा है—

"अनन्त संसार कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः।"

अर्थ—अनन्त ससार का हेतु होने से मिथ्यात्व है, सो ही अनन्त है। अर्थात् अनन्त नाम मिथ्यात्व का है, क्योंकि वह मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है। जिसका (मिथ्यात्व) का सहचर-अनुचर-अनुसारणी-अनुकरण करने वाला अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ है।

यहां पर ऐसा भी नही है कि जैसे "सम्यकत्वं च सूत्र के द्वारा उन्होंने कहा कि सम्यक्दर्शन देवगति के बन्ध का कारण है, वहां पर बताया है कि सम्यक्दर्शन बन्ध का कारण नही। परन्तु सम्यकत्व के साथ रहने वाली कषाय बन्ध का कारण है उसी प्रकार ऐसा अभिप्राय आचार्यों का नही है कि मिथ्यात्व को उपचार करके बध का कारण कहा है, और बन्ध तो साथ मे रहने वाली अनन्तानुबन्धि से ही होता है। अगर यह उपचार भी माना जाये तो मात्र मिथ्यात्व के उदय रहते अनन्तानुबन्धि के उदय के बिना कोई प्रकार का बन्ध नही होना चाहिए था जो होता है। केवल मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्व

(शेष पृ० २० पर)

मिथ्यात्व ही अनन्त संसार का बंधक है

स्व० श्री पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

जैन सन्देश के १८ नवम्बर सन् १९८२ के अक के मुख पृष्ठ पर पं० जगन्मोहन लाल जी शास्त्री का "क्या मिथ्यात्व अबन्धक है?" शीर्षक से एक स्पष्टी करण प्रकाशित हुआ है। इसी विषय के सम्बन्ध में हमें भोपाल के डा० रतनचन्द्र जी का फुलस्केप आकार के २६ पेज का एक लेख 'मिथ्यात्व स्थिति अनुभाग बन्ध का हेतु नहीं है' शीर्षक से प्राप्त हुआ है। उन्होने भी अपने लेख में प० जगमोहन लाल जी की नैनागिर में उपस्थिति की चर्चा करते हुए उनके द्वारा आचार्य विद्यासागर जी के प्रवचनो केउद्धृत अंशों को अपने लेख में उद्धृत किया है और लिखा है कि मैंने उनसे पूछा कि जब आप उसी कथन से इस समय सहमत हैं तब पहले उसका खण्डन क्यों किया? उन्होंने उत्तर दिया—"मैंने प्रवचन पारिजात देखा नही केवल जैन सन्देश (१० जून ८२) मे प्रकाशित लेख मे मिली जानकारी के आधार पर उसका समर्थन कर दिया। उन्होंने बतलाया कि अपने लेख में उन्होने कषाय से ही स्थिति अनुभाग बन्ध का होना स्वीकार किया है। पंडित जी के इन शब्दों को उनकी सहमति से ही मैं इस लेख मे उद्धृत कर रहा हूं। इस प्रकार माननीय प० जगमोहन-लाल जी के वचनों को समर्थन रूप मे उद्धृत कर जिन्होंने आचार्य श्री के कथन को आगम विरुद्ध सिद्ध किया है उनके इस प्रयत्न का खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।"

डा० रतनचन्द जी ने अपने इस विस्तृत लेख मे आचार्य विद्यासागर जी के प्रवचन पारिजात मे प्रकाशित प्रवचनों का पूर्ण समर्थन करते हुए उसका विरोध करने वाले विद्वानों को आकण्ठ विषय कषायो मे डूबे हुए और जिनका मुख्य काम आगम की गहराई में जाना नहीं है अपितु सतही ज्ञान द्वारा पंडित के नाम से प्रसिद्ध होकर प्रवचनादि द्वारा पैसा कमाना है' आदि लिखा है। इस तरह के लेख जब तक लिखे जाते रहेगे यह चर्चा बन्द नही हो सकेगी। हमे इस लेख ने ही इस सम्पादकीय को लिखने के लिए प्रेरित किया है। हमने उन्हें लिख दिया है कि हम आपका लेख प्रकाशित नही करेगे। हमे मिथ्यात्व की अकिंचित्करता इष्ट नहीं है क्योकि समस्त जिनागम इससे सहमत नही है। ससार मे मिथ्यात्व का और मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व का महत्त्व सर्वागम सम्मत है यदि मिथ्यात्व बन्ध मे अकिंचित्कर है तो मोक्षमार्ग मे सम्यक्त्व भी अकिंचित्कर ठहरता है तब आचार्य समन्तभद्र का यह कथन कि तीनों कालो और तीनों लोको मे सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी नही है।' जिसका समर्थन चारों अनुयोगों के शास्त्र एक मत से करते है, मिथ्या ठहरता है। एक ओर बन्ध के चार भेदों का बन्ध कषाय और योग से बतलाना और दूसरी ओर बन्ध के पांच या चार कारण बतला कर मिथ्यात्व को प्रमुख स्थान देना तथा यह लिखना कि यह समस्त भी बन्ध के कारण है और पृथक्-पृथक् भी बन्ध के कारण है क्यो ऐसा लिखने वाले समस्त प्राचीन जैनाचार्यों के विचार में वह तर्क नही आया जो आज प्रथम बार मात्र आचार्य विद्यासागर जी के विचार मे आया है? क्या वे सब आगम रचयिता आचार्य आगम की गहराई मे नही उतरे? इसका एक मात्र सम्यक् समाधान यही सम्भव है कि प्रकृति प्रदेश बन्ध तेरहवे गुणस्थान तक तथा स्थिति बन्ध अनुभागबन्ध दशवे गुणस्थान तक होते हैं तथा बन्ध के कारणों मे से कषाय उदय दसवें गुणस्थान तक और योग तेरहवें गुणस्थान तक रहते है। अतः इन दोनो को ही चार बन्धो का कारण कहा। इन्हीं मे अपने-अपने स्थान तक शेष कारण अन्तर्भूत है वे अकिंचित्कर नहीं है।

आज अनन्तानुबन्धी कषाय को महत्व दिया जा रहा है, मिथ्यात्व को नही। आगम के अभ्यासियों से यह बात

अज्ञात नहीं है कि आठ कर्मों मे मोहनीय की प्रधानता है और मोहनीय के दो भेदों मे दर्शन मोहनीय की प्रधानता है। दर्शन मोहनीय का एक ही भेद है मिथ्यात्व। अतः प्रकारान्तर से मोहनीय का समस्त महत्व मिथ्यात्व को ही प्राप्त हुआ है जब तक उसका सतत उदय विद्यमान है तब तक ससार अनन्त है। इसी से मिथ्या दर्शन या मिथ्यात्व को अनन्त कहा है, उस अनन्त मिथ्यात्व के साथ बँधने वाली कषाय इसी से अनन्तानुबन्धी कहलाती है। उसके कारण मिथ्यात्व अनन्त नही है किन्तु अनन्त मिथ्यात्व के कारण वह कषाय अनन्तानुबन्धी है। अनन्तानुबन्धी की व्याख्या मे शास्त्रकारो ने अनन्त का अर्थ मिथ्यात्व कहा है और तदनुबन्धी कषाय को अनन्तानुबन्धी कहा है। इस कषाय का विसयोजन करके जो मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है उसके अनन्तानुबन्धी का पुनः बन्ध होता है और मिथ्यात्व स्वोदयबन्धी है।

आगम मे तीन आयुओ को छोड़कर शेष सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध उत्कृष्ट संक्लेष से कहा है। तथा आहारक द्विक, तीर्थंकर और देवायु को छोडकर सब उत्कृष्ट स्थितियो का बन्धक मिथ्यादृष्टि को कहा है। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व भाव ही तीव्र संक्लेश का कारण होता है। इसी से मिथ्यादृष्टि को हीबन्धक कहा है। मिथ्यात्व के उदय के अभाव मे अनन्तानुबन्धी के उदय से उत्कृष्ट स्थिति बन्ध नही होता इससे मिथ्यात्व स्थिति बन्ध मे अकिंचित्कर नही है यह सिद्ध होता है। यदि उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मे एक मात्र कषाय ही कारण होती तो अपने मे चालीस कोड़ा कोड़ी सागर की स्थिति बाँधने वाली कषाय मिथ्यात्व मे सत्तर कोड़ा कोडी सागर का स्थिति बन्ध नहीं करा सकती। यह तो मिथ्यात्व की ही देन है उसी के बल से अनन्तानुबन्धी कषाय बलवती होती है। मिथ्यात्व का उपशम होने के साथ ही उसका उपशम हो जाता है। इसी मिथ्यात्व की उपशमना के प्रकरण मे एक गाथा धवला और जयधवला मे आती है—

मिच्छत्तपच्चयो खलु बन्धो उवसामयस्स बोधव्वो।
उवसंते आसाणे तेण परं होवि भयणिज्जो॥

अर्थात्—उपशामक के मिथ्यात्व के निमित्त से बन्ध जानना चाहिए। दर्शन मोह की उपशान्त अवस्था मे और सासादन मे मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध नहीं होता। इसके पश्चात् भजनीय है अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हुए जीवों के मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध होता है, अन्य गुणस्थानों को प्राप्त हुए जीवो के नहीं होता।

यह सब जानते हैं कि दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय के आस्रव के कारण भिन्न-भिन्न कहे है। कषाय के उदय से हुआ तीव्र परिणाम चारित्रमोह के आस्रव का कारण है जब कि केवली, श्रुत, सघ आदि का अवर्णवाद दर्शन मोह के आस्रव का कारण है। अर्थात् कषाय के उदय से हुए तीव्र परिणाम से भी मिथ्यात्व के उदय से हुआ परिणाम भयानक है। तभी तो प्रथम से स्थिति बन्ध चालीस और दूसरे से सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर होता है। तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय मे कर्मों के आस्रव के कारणो का वर्णन करते हुए अन्तिम सूत्र की व्याख्या म कहा है कि यह कथन अनुभाग विशेष की दृष्टि से है अर्थात् इन कारणो से उस विशेष कर्मों का विशेष अनुभाग बन्ध होता है और स्थिति बन्ध की तरह अनुभाग बन्ध भी कषाय से कहा है फिर भी इन इन कार्यों के करने से जैसे उन उन कर्मों में विशेष अनुभाग बन्ध होता है वैसे ही विशेष स्थिति बन्ध भी होता है। अतः मिथ्यात्व को स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध का हेतु न मानना उचित नहीं है। यदि ऐसा होता तो मिथ्या दृष्टि को ही उत्कृष्ट स्थिति का बन्धक न कहा गया होता। अतः मिथ्यात्व को बन्ध के प्रति अकिंचित्कार कहना उचित नहीं है इससे मिथ्यात्व भाव को प्रोत्साहन मिलता है और सम्यक्त्व की विराधना होती है।

हम देखते है कि आज चारित्र धारण पर तो जोर दिया जाता है किन्तु सम्यग्दृष्टि बनने की चर्चा भी नहीं की जाती है मानों जैन कुल मे जन्म लेने से ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है जब कि आगम चारित्र धारण करने से पहले सम्यक्त्व प्राप्त करने पर ही जोर देता है। क्योकि सम्यक्त्व विहीन चारित्र, चारित्र नहीं है और न चारित्र धारण कर लेने से ही सम्यक्त्व हो जाता है, दोनो की प्रक्रिया ही भिन्न है। आगम तो चारित्र भ्रष्ट को भ्रष्ट नही कहता, श्रद्धान भ्रष्ट को ही भ्रष्ट कहता है। आज जो चारित्र धारियो की विसंगतियाँ सुनने मे आती हैं उनका मूल कारण सम्यक्त्व का अभाव ही है। सम्यग्दृष्टी

चारित्र धारण कर किसी प्रकार की लोकैषणा के चक्कर में नहीं पड़ सकता; क्योंकि उसकी दृष्टि मे संसार शरीर और भोगों का यथार्थ स्वरूप खचित होता है। अत: कषायभाव से मिथ्यात्वभाव भयानक है।

प० टोडरमल जी ने अपने मोक्ष मार्ग प्रकाशक मे लिखा है :—

"मोह के उदय से मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होते हैं उन सबका नाम सामान्यत: कषाय है। उससे उन कर्म प्रकृतियो की स्थिति बँधती है।" पडित जी के इस कथन से भी इस कषाय भाव मे मिथ्यात्व सम्मिलित है। अत: मिथ्यात्व से भी स्थितिबन्ध अनुभाग बन्ध होते हैं, ऐसा मानने मे किसी को आपत्ति नही होना चाहिए। इससे कोई हानि नहीं होना चाहिए। इससे कोई हानि नही है। न आगम में ही बाधा आती है और न मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का महत्व समाप्त होता है। ये दोनो ही संसार और मोक्ष के द्वार हैं। आचार्य समन्तभद्र ने अपने स्वयम्भू स्तोत्र में मोह राजा को ही शत्रु और कषायो को उसकी सेना कहा है। —(जैन सदेश से साभार)

एक चिन्तन

एक महाशय श्री मन्दिर जी में मिले, उन्होने कहा—कि आपने एक पुस्तक आचार्य श्री विद्यासागर जी की 'अकिंचित्कर' पढ़ी। मैंने कहा—नही। उन महाशय ने एक प्रति मेरे पास भिजा दी। वैसे समय कम था परन्तु उस व्यक्ति की इस पुस्तक के प्रति विशेष उत्कण्ठा एवम् आचार्य श्री के प्रति मेरी निष्ठा ने विशेष जागृति उत्पन्न कर दी, मैंने पुस्तक पढ़ना शुरू किया और आद्योपान्त पढ़ा। उसमें एक बात सामने आई कि पुस्तक आचार्य श्री के शिष्यों से सम्पादित की गई है। सो आचार्य श्री अपने ज्ञान-ध्यान-रत त्यागीवृन्द के वास्ते कहे तब तो यथार्थ हो सकता है क्योकि व्रती सम्यक्त्व युक्त होता है—मिथ्यात्व रहित होता है। उनके लिए मिथ्यात्व अकिंचित्कर हो सकता है। परन्तु हम जैसे साधारण अल्पज्ञ अव्रतियों के लिए यह अकिंचित्कर का उपदेश तथ्य नही हो सकता। अब पुस्तकाकार का उद्देश्य इस कथनी को जन जन तक पहुचाने का है। जब कि उपदेश पात्र के अनुसार देना चाहिए। पर, यह पुस्तक हमारे जैसे अपात्र के हाथ मे आ गई है और हम मिथ्यात्व को अकिंचित्कर मानकर कही कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की सेवा मे पड़कर अपना बचा हुआ पाक्षिक धर्म भी नष्ट न कर दे—इसलिए इसका स्पष्टीकरण दिया है। विचार करे।

—**'चिन्तक'**

(पृ० १७ का शेषांश)

का ही बन्ध नहीं होता, परन्तु अनन्तानुबन्धी का भी बन्ध होता है। इसलिए यह उपचार भी सम्भव नही है।

सम्यक्दर्शन को धर्म का मूल कहा है इसी प्रकार मिथ्यादर्शन संसार का मूल है। मिथ्यादर्शन गये बिना अनन्तानुबन्धी नही जा सकती और अनन्तानुबन्धी गये बिना बाकी की कषाय नही जा सकती। इसलिए मिथ्यादर्शन संसार का मूल है। उसके गये बिना ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं हो सकता, चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। इसलिए मोक्षमार्गी को मिथ्यात्व के नाश का पुरुषार्थ सबसे पहले करना चाहिए। मिथ्यात्व के नाश का पुरुषार्थ किया जाता है उसके नाश होने पर अनन्तानुबन्धी अपने आप चली जाती है। इसीलिए समन्तभद्रस्वामी ने लिखा है कि मोही (मिथ्यात्व सहित) मुनि से निर्मोही (मिथ्यात्व रहित) ग्रहस्थ श्रेय है। मोही मुनि ने मिथ्यात्व का अभाव नही किया, इसलिए कषाय के नाश का उसका समस्त पुरुषार्थ निरर्थक चला गया। अनन्तानुबन्धि को नही मेट सका जबकि निर्मोही ग्रहस्थ ने सम्यक प्राप्ति का पुरुषार्थ किया। जिससे अनन्तानुबन्धि अपने आप चली गयी। सम्यक्दर्शन होने के बाद कषाय मेटने का पुरुषार्थ चालू होता है इसीलिए सम्यक्दर्शन को धर्म का मूल कहा है और मिथ्यात्व ससार का मूल कहा है क्योकि इसके रहते कषाय का अभाव नही हो सकता।

मिथ्यात्व अकिंचित्कर नहीं

□ डा० सुदर्शनलाल जैन, वाराणसी

अकिंचित्कर पुस्तक का सामान्य रूप से अवलोकन किया। चिन्तन भले ही गम्भीर और प्रमाणयुक्त हो परन्तु जिन तर्कों के आधार पर मिथ्यात्व को अकिंचित्कर सिद्ध किया गया है, वस्तुस्थिति वैसी नही है। अकिंचित्कर शब्द का अर्थ होता है "अन्यथासिद्ध", प्रयोजन हीन, वेकार। जब हम विचार करते है तो मिथ्यात्व अकिंचित्कर सिद्ध नही होता है।

मिथ्यात्व को यदि हम अकिंचित्कर कहेगे तो फिर हमे मुक्ति के साधनभूत (मिथ्यात्वाभावरूप) सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) को भी अकिंचित्कर कहना होगा। क्योकि जैसे मिथ्यात्व केवल तत्त्वश्रद्धान को रोकने मात्र से अकिंचित्कर है वैसे ही सम्यक्त्व मात्र तत्त्वश्रद्धान कराने वाला होगा। अत: जैसे मिथ्यात्व हटाओ, मिथ्यात्व हटाओ' से कुछ नही वनने वाला है वैसे ही सम्यक्त्व लाओ सम्यक्त्व लाओ' से भी कुछ बनने वाला नही है। यदि सम्यग्दर्शन मुक्ति का कारण माना जाएगा तो मिथ्यात्व को संसार का कारण माना जायेगा।

यह ठीक है कि कषाये बध मे प्रमुख भूमिका निभाती हैं, परन्तु इस बात का यह तात्पर्य नही है कि मिथ्यात्व केवल अधिकरण है और अकिंचित्कर है। वस्तुत: अधिकरण तो जीव है और मिथ्यात्व प्रतिबन्धक।

योग जब आस्रव और वन्ध का कारण हो सकता है, तो मिथ्यात्व को भी कारण मानना होगा। मिथ्यात्व वस्तुत: अज्ञानरूप है जिसे अन्य दर्शनो मे माया, अविद्या आदि शब्दो से कहा गया है। जव तक यह विद्यमान रहता है तव तक सद्दृष्टि प्राप्त नही होती है और सद्दृष्टि प्राप्ति के बिना सद्ज्ञान सद्चरित्र नही वनते। अत: मिथ्यात्व को यदि थोड़ी देर के लिए अबधक मान भी लिया जाये तो वह अकिंचित्कर सिद्ध नही होता, क्योंकि वह ऐसा प्रतिबन्धक तत्त्व है जो सद्दृष्टि नहीं होने देता। सद्दृष्टि मे रुकावट पैदा करने वाले को मात्र अधिकरण कैसे कहा जा सकता है ? यह तो वह जबरदस्त तत्त्व है जो अनन्त संसार का कारण है। इसके न रहने पर ही कषायें प्रमुख रूप से ससार के प्रति कारण होती है। यह ठीक है कि मिथ्यात्व के रहने पर कषाये रहती हैं और मिथ्यात्व के न रहने पर कषाये भजनीय है।

विचार करे कि एकेन्द्रियादि जीवो के क्या हमारे जैसी प्रकट कषाये पाई जाती है, परन्तु उसके मिथ्यात्व के कारण वन्ध होता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नही है कि मिथ्यात्व ही सब कुछ है, कषाये कुछ नही। कषायों से स्थिति और अनुभाग बध मे विशेषता आती है परन्तु जब तक मिथ्यात्व छूटेगा नही तब तक "हिंसादि स बधन और अहिंसादि से मुक्ति होती है" यह ज्ञान कैसे होगा ? जब तक यह सद्दृष्टि नही आयेगा कोई कषायो को कैसे जीतेगा ? इसीलिए साम्परायिक आस्रव के भेदो मे मिथ्यात्व को भी गिनाया गया है। मिथ्यात्व के गृहीत और अगृहीत भेद करके गृहीत के ४ भेद किए है---एकांत विपरीत, सशय, वनयिक और अज्ञान।

अत. मेरा विनम्र निवेदन है कि केवल शब्दजाल के द्वारा जैन सिद्धात की अन्यथा व्याख्या न की जाए। आगमो मे जो दो तरह की बाते मिलती है उन्हें ऐकान्तिक न बनाया जाये अपितु दृष्टिभेद को ध्यान मे रखते हुए कथन शैली का भेद माना जाए। किसी तत्त्व को केवल युक्ति के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है, उसमे विवेक जरूरी है। इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि हमारा वचन हितकारी हो। वह वर्गभेद आदि को उत्पन्न करने वाला न हो। हमारी हमेशा अनकान्त दृष्टि होनी चाहिए, आगमो के विपरीत कथनो का अपेक्षाभेद से युक्तिसगत समाधान करना चाहिए। तथ्य को प्रकट करने के लिए हमे पूर्वाग्रही भी नही बनना चाहिए।

मिथ्यात्व को सर्वथा अकिंचित्कर करने का सम्पूर्ण दर्शन पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ेगा यह चिन्तनीय है। यदि मिथ्यात्व को अकिंचित्कर न कहकर मात्र कषायो को बन्ध के प्रति प्रमुखता दी जाती तो अच्छा था। मिथ्यात्व कषाय नही है इसलिए उसे चारित्र मोहनीय मे नहीं गिनाया गया परन्तु वह चारित्र मे प्रवृत्ति को रोकने वाली दर्शनमोहनीय का परिणाम है।

(शेष पृ० ३२ पर)

गतांक से आगे

दसवीं शताब्दी के अपभ्रंश काव्यों में दार्शनिक समीक्षा

□ श्री जिनेन्द्र कुमार जैन, शोध-छात्र

अपभ्रंश कवियो ने बोध-दर्शन के शून्यवाद की भी समीक्षा की है। जो न सत् हो, न असत् हो, और न सदासत् से भिन्न हो, वह शून्यवाद कहलाता है। अत: शून्य एक अनिर्वचनीय तत्व है, जिसका केवल ज्ञान ही है।[1] सर्वशून्यता की कल्पना के अनुसार जगत मे कुछ भी वास्तविक नही है, अतः यदि सभी जगह बौद्ध शून्य का ही विधान करते है तो उनके द्वारा इन्द्रियो का दमन, वस्त्रो का धारण करना, व्रत-पालन, रात्रि-पूर्व भोजन करना एव सिर;मुण्डन आदि से क्या प्रयोजन।[2] अतः बौद्धो का शून्यवाद भी सार्थक प्रतीत होता।

सांख्य दर्शन की समीक्षा :—

साख्य दर्शन के प्रणेता कपिल मुनि माने जाते है। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मे ईश्वर कृष्ण के द्वारा :साख्यकारिका' नामक ग्रन्थ लिखा गया था। जो आधुनिक काल मे साख्य दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। बाद के आचार्यों ने भी भारतीन दर्शनों पर टीका-टिप्पणिया की है।

साख्य दर्शन की मान्यतानुसार इस सृष्टि का निर्माण पुरुष (आत्मा—जीव) और प्रकृति (जड़ पदार्थ) के परस्पर सहयोग से हुआ है। साख्य दर्शन प्रकृति को जड़, सक्रिय. एक तथा त्रिगुणात्मक (सत्व, रज व तम गुणों से युक्त) एव पुरुष को चेतन, निष्क्रिय, अनेक एव त्रिगुणातीत मानता है। निष्क्रिय पुरुष तथा जड़ प्रकृति अकेले सृष्टि का निर्माण नही कर सकते। इन दोनो के परस्पर सहयोग व सयोग से ही सृष्टि का निर्माण सभव है। सांख्य-दर्शन के उक्त मत पर आपत्ति करते हुए महाकवि पुष्पदन्त कहते है कि—"क्रिया रहित निर्मल व शुद्ध पुरुष, प्रकृति के बन्धन मे कैसे पड़ जाता है? क्रिया के बिना मन, वचन व काय क्या स्वरूप होगा। बिना क्रिया के जीव (पुरुष) पाप से कैसे बधेगा? और कैसे मुक्त होगा?[3] सोमदेव सूरि ने भी उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा है कि—जो (प्रकृति) जड़रूप है वह सक्रिय एव जो (आत्मा) चेतन है वह निष्क्रिय कैसे हो सकता है।[4] यदि प्रकृति सक्रिय और पुरुष निष्क्रिय है तो वह (पुरुष) भोक्ता कैसे हो सकता है। आत्मा वद्ध व निर्गुण होने के कारण शरीर के साथ सभोग (सम्बन्ध) रखने वाला कैसे हो सकता है।[5]

सांख्य दर्शन जीव को नित्य मानता है। पुरुष (आत्मा) द्रव्य है। गुणो व पर्यायों के समूह को द्रव्य कहा जाया है।[6] चूंकि पर्याये अनित्य है, बदलती रहती है, अत: द्रव्य अनित्य भी है। ऐसी दशा मे पुरुष को मात्र नित्य नही कहा जा सकता।[7] साख्य दर्शन मे सृष्टि-विकास में २५ तत्व मानता है। जिसे स्पष्ट करते हुए पुष्पदन्त कहते है :—

भूयई पच पचिगुणइं पचिदियइ पंच तमत्तउ।
मणुहंकार बुद्धि पसरू कहि पयईए पुरिसु सजुत्तउ।[8]

"पाँच भूत, पाच गुण, पाँच इन्द्रिया, पाच तमन्नाए, मन, अहकार और बुद्धि के प्रसार मे पुरुष प्रकृति से परस्पर विरोधी गुणो के होने पर भी कैसे सयोग कर बैठा।" ११वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे वीरकवि कृत 'जम्बूसामिचरिउ' नामक ग्रन्थ मे साख्य दर्शन के सत्कार्यवाद (कारण-कार्यवाद)की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि—

कज्जहो कारणु नवर सलक्खणु मिउपिंडो व्व घडहो अविलक्खणु।[9]

"किसी भी कार्य का कारण केवल स्वजातीय लक्षण वाला होता है। जिस प्रकार घट रूप कार्य का कारण उससे (द्रव्यत.) अविलक्षण मृत्पिड ही होता है।" अत: आपके सिद्धान्तानुसार अचेतन पृथ्वी आदि भतो से अचेतन शरीरादि के समान ज्ञान भी अचेतन ही होना चाहिए। परन्तु ऐसी वास्तविकता नही है, क्योंकि ज्ञान एक चेतन तत्व है और ज्ञप्ति—जानना यह चेतन की ही क्रिया है।

अन्य मतों व दर्शनों की समीक्षा :—

उपर्युक्त दार्शनिक मतो के अतिरिक्त अपभ्रंश कवियों ने न्याय, वैशेषिक, शैव दर्शन की भी समीक्षा की है। तथा समाज में व्याप्त कुछ मिथ्या धारणाओं एवं अन्धविश्वासो पर भी चर्चा की है। न्याय एव वैशेषिक दर्शन की चर्चा कवि ने अवतारवाद की आलोचना करते हुए इस प्रकार की है—"जिस प्रकार उबले हुए जौ के दाने पुनः

कच्चे जौ में परिवर्तित नहीं हो सकते, घी से पुनः दूध नहीं बन सकता, उसी प्रकार सिद्धत्व को प्राप्त जीव पुनः देह कैसे धारण कर सकता है? अक्षपाद (न्याय दर्शन के प्रणेता कणाद) मुनियो ने शिवरूपी गगनारविंद (आकाश कुसुम—असम्भव वस्तु) को कैसे मान लिया? और उसका वर्णन किया।[10]

अन्य देवताओं को मिथ्या मानने वाले शैव मतवादी आकाश को शिव मानते हैं। ये शैव्य अनुयायी कौलाचार का अनुशरण करते हुए अपनी साधना के लिए मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन आदि का प्रयोग करते है।[11] इन क्रियाओं को धर्म के प्रतिकूल कहा जाता है।

शिवपूजन मे बेलपत्री का प्रयोग किया जाता है' अतः बेलपत्री तोडकर शिव को समर्पित (चढाना) करना, धार्मिक कार्य माना जाता है। किन्तु अपभ्रंश कवि कहता है :—

पत्तिय तोडहि तडतडह णाइ पइट्ठा उट्टु।
एवण जाणहि मोहिया को तोडइको तुट्टु।[12]

"मनुष्य पत्तों को तोड़ता है किन्तु यह नहीं सोचता कि जिसे मैं तोड़ रहा हूं उसमें भी वही आत्मा है जो मनुष्यों में होती है। इसलिए ऐसे कार्य अनुचित व धर्म-विपरीत ही है।"[12]

गाय और बैलों को मारा जाता है, ताड़ा जाता है: फिर भी गोवंश मात्र को देव कहा जाता है। पुरोहितों द्वारा याज्ञिको हिंसा (यज्ञ मे पशु-बलिकरण) की जाती है। एव मृगो को मारकर मृगचर्म धारण करना पवित्र समझा जाता है।[14] इसी प्रकार पुष्पदन्त ने जसहरचरिउ[15] मे "चण्डमारी देवी के सामने समस्त प्राणी—युगलों की बलि देने से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध होती है।" इसका जो वर्णन किया है वह भी अन्धविश्वास एवं रूढिवादी परम्परा पर आधारित है। चूंकि इस प्रकार की रूढ़िवादी एव पारम्परिक मान्यताओ से जीव हिंसा तो होती ही है किन्तु लोग इसके पक्ष को ही ध्यान मे रखते है।

इस तरह उपर्युक्त विवेचन मे १०वी शताब्दी के अपभ्रंश कवियों एव आचार्यों ने अपने समय की समस्त धार्मिक, दार्शनिक मान्यताओं का पूर्व पक्ष रोपकर फिर उसकी समीक्षा प्रस्तुत की है। इस युग के न केवल अपभ्रंश जैन कवियों ने बल्कि सस्कृत एवं प्राकृत भाषा के कवियों एवं आचार्यों ने भी इस प्रकार की सामग्री को अपने काव्य-ग्रन्थों में स्थान दिया है। अतः उस सामग्री की समीक्षा अलग शोध-प्रबन्ध मे की जा सकेगी।

सन्दर्भ-सूची

१. णायकुमारचरिउ—९।५।८।९

२. सर्व दर्शन संग्रह—(माध्वाचार्य कृत) पृ० ६३-६४

३. सुण्णु असेसु वि जइ कहिउ तोकि तहो पंचिंदिय दंडणु।
चीवरणिवसणु वयधरणु सतहडी भोयणु सिरमुण्डणु।
—णायकुमारचरिउ—९।५।१२।१३

४. किरियावज्जिउ णिम्मलुद्धउ संखपुरिसु कि पयइए बद्धउ।
बिणु किरियए कहिं तणुमणवयणइ विणु किरियए कहिं बहुभवगहणइं।
बिणु किरियए कहिं बज्झइ पावें, मुच्चकि हो एण पलावें॥
—णायकुमारचरिउ—९।५।९।११

५. यसस्तिलकचम्पू (दीपिका)—६।१२।४०७

६. वही—णा।८६-८७।१५८

७. तत्वार्थ सूत्र—५।३७ ५. चन्द्रप्रभचरितं—२।७५।५०

८. णायकुमार चरिउ—९।१०।१२-१३

९. जम्बूसामिचरिउ—१०।४।४

१०. सित्थु जाइ कि जणणालत्तहो घड कि पुणु वि जाइ दुट्ठत्त हो।
सिद्धु भमइ कि भवसंसाए गहियविमुक्क कलेवर भारए।
अक्खवायकणयरभुणिभणिड सिवगयणारविंदु कि वण्णिउ। —णायकुमार चरिउ—९।७।१-३

११. (क) णायकुमार चरिउ—९।६।३
(ख) महापुराण—७९।७

१२. पाहुड दोहा (मुनिराम सिंह कृत)—सम्पादक डा० हीरालाल जैन, गोपाल अम्बारास चवेर १९३३, गाथा १५८

३. णायकुमार चरिउ—९।९।१-३,५

धवला पु० ६ का शुद्धिपत्रक

शुद्धिपत्रकार सि० शि० स्व० रतनचन्द मुख्तार (सहारनपुर) एवं
जवाहर लाल जैन—(भीण्डर) उदयपुर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१४	पढता	पड़ता
६	२१	जिनका	जिनेन्द्र का
१४	८	सविस्ससोवचए	× × × [पुनरुक्तित्वात् शोधितम्]
१४	२३	कर्म मे रहित व अपने विस्रसोपचय से सहित	व कर्म से रहित
२५	२	पण्णुवीस	पणवीसं
२८	७	वग्गणसुत्तादो।	वग्गणसुत्तादो।[1]
२८	२८	× × ×	धवला पु० १३पृष्ठ २८६
३०	१	तदियदव्ववियप्प-	पुव्वदव्ववियप्प-
३०	२	तदियभावम्हि	पुव्वभावम्हि
३०	१४	तृतीय द्रव्य विकल्प को	पूर्व के द्रव्य विकल्प को
३०	१५	तृतीय भाव विकल्प को	पूर्व के भाव विकल्प को [तृतीयद्रव्यभावविकल्पास्तु २६ इत्यस्मिन् पृष्ठाके वर्णिताः]
७७	१६	महानता को	महत्ता को
८१	१२	दो सौ पचास	दो सौ पचावन
८२	२६	बि णियमेणं	वि णियमेणं
६८	१७	उत्पन्न होता है।	उत्पन्न होती है।
६८	१६	मनलब्धि	मनोलब्धि [इसी तरह सर्वत्र मनलब्धि की जगह मनोलब्धि करना]
१०७	२८	सरीर	शरीर
१३२	१६	पांच दिन	पांच वर्ष
१४६	३३	ध० अ० प० ११६८	ध० अ० प० ११६८; धवल पु० १३ पृ. २३५
१५०	१८	ध० अ० प० ११६८	ध. अ. प. ११६८; धवल पु. १३ पृ. २३५-३६
१५२	२५	ध० अ० प० ११६६	ध. अ. प. ११६६; धवल पु. १३ पृ. २३६
२१३	१७	परस्पर एक दूसरे रूप होने से	परस्पर भिन्न-भिन्न रूप होने से
२५३	१५	छह अतीत	छठी अतीत
२७५	११	वर्गमूल	मूल
२८४	२२	व प्रत्येक शरीर पर्याप्त	व प्रत्येक शरीर; ये पर्याप्त
२८४	११-१२	अकसाय— संजद-	अकसाय—मणपज्जवणाणिकेवलणाणि— संजद-
२८४	१३	सुद्धिसंजदेसु	सुद्धिसजद—केवलदसणीसु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८४	२८	अकषायी, संयत	अकषायी, मन: पर्ययज्ञानी, केवलज्ञानी, संयत
२८४	२६	शुद्धिसयतों मे	शुद्धिसंयत तथा केवलज्ञानियों मे
२८६	८	केवलणाणि-जहाक्खाद-	केवलणाणि-सजद-जहाक्खाद—
२८६	२३	केवलज्ञानी, यथाख्यात	केवलज्ञानी, संयत, यथाख्यात
२८६	११	वाउकाइय-बादरपुढविकाइय-	वाउकाइया, तेसिं चेव सुहुमा पज्जत्तापज्जत्ता, बादरपुढविकाइय-
२८६	२७	कायिक, बादर पृथिविकायिक,	कायिक और उन्ही के सूक्ष्म तथा पर्याप्त व अपर्याप्त, बादर पृथिविकायिक,
२८७	४	संखेज्जदिभागे,	असंखेज्जदिभागे,
२८७	१६	संख्यातवें भाग में	असंख्यातवें भाग में
२६८	१३	कदि-णोकदि-अवत्तव्वसंचिदा	कदिसंचिदा
२६८	३१	कृति, नोकृति व अवक्तव्य संचित	कृति-संचित [पृ० २८१ पर "शेष मार्गणाओं में कृतिसंचित हैं"; कह कर औदारिक मिश्रकाययोगी को भी कृतिसंचित ही बताया है ।]
२६६	८	णोकदि-अवत्तव्व	× × × } कारणमुपरि प्रोक्तमेव
२६६	२३	नोकृति व अवक्तव्य	× × × } कारणमुपरि प्रोक्तमेव
३०६	१७	शंका—भुज्यमान	शंका—मनुष्य व तिर्यंचों द्वारा भुज्यमान
३११	१	एइंदिय-बि-ति-चदु-पंचिंदिएसु	एइंदिएसु
३११	१३	एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियो मे कृति संचित	एकेन्द्रियों में कृति आदि संचित
३१३	३	[सागरोवमसदपुधत्तं]	× × ×
३१३	१४	स्त्री व पुरुषवेदियों का	× × ×
३१३	१५	तथा नपुंसकवेदियो का सागरोपम पृथक्त्व काल	× × × देखो पृ. ३०५ का शंका-समाधान
३२७	२७	देवनारकी के मूल शरीर की	मनुष्य व तिर्यंच के उत्तर शरीर की
३४२	२८	जघ	जघन्य
३५४	१७-१८	दुगुणी विशेष अधिक है ।	विशेष अधिक [यानी कुछ अधिक] दुगुणी है ।
३६३	४	सखेज्जा । परिहारसुद्धिसजद-	संखेज्जा । एव सामाइयछेदोवट्ठावणसुद्धिसजदाणं; णवरि तेजाकम्मइय-परिसादणकदी णत्थि परिहारसुद्धिसंजद-
३६३	१८	संख्यात है । परिहार	संख्यात हैं । इसी प्रकार सामायिक व छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयतों के कहना चाहिए । किन्तु उनके तैजस-कार्मण शरीरो की परिशातनकृति नहीं होती । परिहार-

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७१	२४	योनिमत् तिर्यञ्चों	तिर्यञ्चयोनियों [इसी तरह सर्वत्र संशोधन करना चाहिए]
३७४	६	असंखेज्जदि-	संखेज्जदि-
३७४	२७	असंख्यातवां	संख्यातवाँ
३७५	१	एवं वेउव्विय-	एवं [ओरालिय-] वेउव्विय-
३७५	१३	इसी प्रकार वैक्रियिक	इसी प्रकार औदारिक व वैक्रियिक
३७६	८	वेउव्वियपरिसादणकदीए	वेउव्वियसंघादण-परिसादणकदीणं
३७६	२७	वैक्रियिकशरीर की परिशातन कृति	वैक्रियिकशरीर की संघातन व परिशातन कृति
३८७	२८	का उत्कर्ष से	का एक जीव की अपेक्षा उत्कर्ष से
३८७	२६	असंख्यात	असंख्यात
३७७	१४	सघादन	संघातन
३८६	१५	व अन्तर्मुहूर्त	व तीन समय कम अन्तमुहूर्त
३६०	४	तेजा-कम्मइय-	तेजा-कम्मइय सघादणपरिसादणकदीए णाणा-जीव पडुच्च सव्वद्धा। एगजीवं पडुच्च जहण्णेण खुद्दाभवग्गहणं, उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी। एवं तेसिं पज्जत्ताण; णवरि ओरालिय सघादण-परिसादणकदीए एगजीव पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं तिसमऊण।
३६७	७	वेउव्विय परिसादण-	ओरालियपरिसादणकदी वेउव्वियपरिसादण—
३६३	२१	काल है। वैक्रियिकशरीर की	काल है। औदारिक शरीर की परिशातन कृति तथा वैक्रियिकशरीर की
४००	१६	मनयोगियो	मनोयोगियों
४२१	१	जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कस्सेण पुव्वकोडी देसूणा।	जहण्णेण तिण्णि समया।
४२१	१३-१४	अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से कुछ कम पूर्वकोटि काल प्रमाण होता है।	तीन समय है। [केवलिसमुद्घातापेक्षया त्रि-समयप्रमित: कालो भवति]
४२१	३०	परिशातन कृति का नाना	परिशातन कृति का तथा तैजसकार्मणशरीर की संघातनपरिशातन कृति नाना
४२१	११-१२	वेउव्वियपरिसादणकदीए णाणेगजीवं	वेउव्वियपरिसादणकदीए तेजाकम्मइय-संघादण-परिसादणकदीए णाणेगजीवं
४०२	६	—परिसादणकदि वेउव्वियतिण्णिपदा	—वेउव्वियतिण्णिपदा
४०२	२६	औदारिकशरीर की परिशातनकृति	औदारिकशरीर और
४०७	२	संघादणपरिसादणकदीए	परिसादणकदीए
४०७	१४-१५	संघातन-परिशातन कृति	परिशातन कृति
४११	४	तेजाकम्मइयसघादणपरिसादण-कदी ओघं।	तेजाकम्मइयसंघादणपरिसादणपरिसादणकदी-णं ओघ भंगो।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४११	१७	संघातनपरिशातन कृति के	संघातनपरिशातन व परिशातन कृति के
४२४	४-५	एगसमओ, उक्कस्सेण	एगसमओ, उक्कस्सेण ओघं। वेउव्वियसघादण-कदीए णाणाजीवं पडुच्च ओघं एगजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण
४२४	२८	और उत्कर्ष से	और उत्कृष्ट से ओघ के समान है। वैक्रियिक-शरीर की संघातनकृति का नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर ओघ के समान है तथा एक जीव की अपेक्षा जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से
४२४	३	जहण्णणे	जहण्णेण
४२४	७-८	तेजाकम्मइयसंघादणपरिसादणकदी	तेजाकम्मइयसंघादणपरिसादणपरिसादणकदी-ण ओघं।
४२४	२२	संघातनपरिशातन कृति के	सघातन-परिशातन व परिशातनकृति के
४३२	२६	अपर्याप्त; सब	अपर्याप्त, बादरवायुकायिक अपर्याप्त, सब
४३३	१	काइयअपज्जत्त-	काइय-वाउकाइय-अपज्जत्त-
४३६	६	—परिसादणमेत्तेण।[२]	—मेत्तेण।[२]
४३६	२७	सघातन और परिशातन कृति युक्त	संघातनकृतियुक्त
४४१	२	सखेज्जगुणा। तेजा-	सखेज्जगुणा। संघादण-परिसादणकदी सखे-ज्जगुणा। तेजा
४४१	१३	संख्यातगुणे हैं। उनसे	संख्यातगुणे है। उनसे उसी की सघातनपरि-सघातनपरिशातनकृतियुक्त जीव संख्यातगुणे है।
४४२	६	बादरवाउकाइय पज्जत्ताण	बादरवाउकाइयाण तेसिं पज्जत्ताणं च
४४२	२०	वायुकायिक पर्याप्त	वायुकायिक और उन सबके पर्याप्त
४४३	२	असखेज्जगुणा। ओरालिय-	असखेज्जगुणा। ओरालियपरिसादणकदी विसे-साहिया। वेउव्वियसघादणपरिसादणकदी असंखेज्जगुणा। ओरालिय-
४४३	१४	असंख्यातगुणे हैं। उनसे	असख्यातगुणे हैं। उनसे औदारिकशरीर की परिशातन कृतियुक्त जीव विशेषाधिक हैं। उनसे वैक्रियिक शरीर की संघातन परिशातन-कृतियुक्त जीव असंख्यातगुणे है। उनसे
४१०	२	विसमऊणं	तिसमऊणं
४१०	१३	दो समय कम	तीन समय कम
४१०	१४	„ „	„ „
४२७	८	चदुसमयाहिया	समयाहिया
४२७	२४	उत्कर्ष से चार समय अधिक एक पूर्व कोटी	उत्कर्ष से समयाधिक एक पूर्व कोटी

जयधवला पु० ७ का अंश शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४२	१५	अयोग्य	योग्य
२४८	२७	कर्मपरकाणुओं	कर्मपरमाणुओं
२६५	२६-३०	उससे आगे अर्थात् पहले जो एक समय अधिक आबाधा से हीन कर्मस्थिति और इस स्थिति के जो कर्म परमाणु कहे है उनसे आगे	उससे आगे, अर्थात् जिनकी एक समय अधिक आबाधा से हीन कर्म-स्थिति व्यतीत हुई है ऐसे इस निरुद्ध स्थिति के जो कर्मपरमाणु कहे हैं उनसे आगे
२६६	६	आवाहा । एदिस्से	आबाहा, एदिस्से [देखो :—ऐसा ही सूत्र पृ० २७० पर द्वितीय चूर्णि सूत्र]
२६६	२६-२७	विवक्षित स्थिति में एक समय कम आवली से न्यून आबाधाप्रमाण अवस्तुविकल्प होते हैं। इस प्रकार इस स्थिति के विकल्प समाप्त हुए।	एक समय कम आवली से न्यून आबाधा प्रमाण इस विवक्षित स्थिति के विकल्प समाप्त हुए।
२६६	२६-३२	विशेषार्थ—विवक्षित स्थिति दो समय कम ... ... आवाधा प्रमाण अवस्तुविकल्प बताए हैं।	विशेषार्थ—यह उपसहार सूत्र है। विवक्षित स्थिति एक समय कम आवली से न्यून आबाधा की अंतिम स्थिति है, अतः इसमे, जिन कर्म-परमाणुओ की स्थिति उदय से लेकर एक आवली से न्यून आबाधा काल तक शेष रही है वे कर्म परमाणु नही पाए जाते। इसी से इस विवक्षित स्थिति मे एक आवली से न्यून आवाधा-प्रमाण अवस्तु विकल्प बतलाये है। जिनकी स्थिति एक समय कम आवली से न्यून आबाधा प्रमाण या इससे अधिक स्थिति शेष रही है वे सब परमाणु इस निरुद्ध स्थिति मे पाए जाते है। इस प्रकार अवस्तु विकल्पो व वस्तुविकल्पो का कथन हो जाने पर इस निरुद्ध स्थिति सम्बन्धी समस्त विकल्पो का कथन समाप्त हो जाता है।
२६८	२५	है व	है वे
२६९	२७	तीन समय अधिक	दो समय कम
२७२	३४	आबाधा से आगे की	आबाधा से लेकर आगे की

धवल पु० १ का अंश शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०५	१२	असख्यातवे भाग प्रमाण	असंख्यातवें भाग आयाम वाले
३०५	१२-१३	संख्यात आवली प्रमाण	संख्यात आवली आयाम वाले
२०४	१०	न चैते सर्वेषु सम्भवन्ति,	न चैते सर्वेषु सम्भवन्ति, दशनवपूर्वधराणामपि क्षपक—

[नोट—प्रथम संस्करणस्थपाठं द्रष्ट्वा, सर्वसंस्करणेष्वनुवाद च द्रष्ट्वा इदं चरमं संशोधनं कृतम्।]

मूल-अगम की रक्षा करें

जैन आगमों की मूल गाथाओं में शुद्धिकरण के नाम पर जो मनमाने बदलाव किए जा रहे हैं। इस विषय को लेकर वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी ने निश्चय किया है कि जैन आगमों की मूल गाथाओं के बदलाव को रोकने के लिए समाज में जागृति लाई जाए।

कुन्द कुन्द भारती, नई दिल्ली से प्रकाशित समयसार, नियमसार और रयणसार ग्रन्थों के सम्पादक/प्रकाशक ने शुद्धिकरण के नाम पर-व्याकरण के बंडन से मुक्त प्राचीन और व्यापक हमारे आचार्यों की आर्ष भाषा को परवर्ती व्याकरण में बांधकर भाषा को संकुचित तो किया ही है, शुद्ध शब्द रूपों को भी शुद्ध करने का उपक्रम किया गया है। जैसे— पुग्गल का पोंग्गल, लोए का लोगे, होई का होदि, हवइ का हवदि आदि—यदि होइ और लोए जैसे शब्द रूपों को गलत मान लिया गया तो भविष्य में मंत्र महात्म्य और मूलमन्त्र णमोकार भी बदल जाएगे—"हवदि मंगलं और लोगे सव्वसहूणं हो जाएंगे। वीर सेवा मन्दिर चाहता है कि संपादनों में किसी एक प्रति को आदर्श मानकर तदनुरूप पूरा ग्रन्थ छपाया जाय और अन्य उपलब्ध या स्वेच्छित विकल्पों को टिप्पणों में आवश्यक रूप में दिया जाए जैसी कि संपादन की प्राचीन परिपाटी है और विद्वन्मंडल- सम्मत है।

**उक्त प्रसंग को लेकर वीर सेवा मंदिर की ओर से
त्यागियों एवं विद्वानों के अभिमत आमंत्रित किए गए थे।
प्राप्त अभिमत समाज की जानकारी हेतु नीचे दिए जा रहे है।**

—'···मूल जैन प्राकृत ग्रन्थों को बदलना कथमपि उचित नही है।'

—१०८ पूज्य आचार्य शिरोमणि श्री अजित सागर जी महाराज

'··मूल मे सुधार भूलकर नहीं करना चाहिए अन्यथा सुधरते-२ पूरा ही नष्ट हो जाएगा।'···

—१०५ आर्यिका विशुद्ध मति जी

—···यदि कदाचित् कोई पाठ बिल्कुल ही अशुद्ध प्रतीत होता है तो भी उसे जहां की तहाँ न सुधार कर कोस्टक में शुद्ध प्रतीत होने वाला पाठ रख देना चाहिए।···

···आजकल जो मूलग्रंथों मे सशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन की बुरी परपरा चल पड़ी है उसकी मुझे भी चिन्ता है।···

—१०५ आर्यिका श्री ज्ञानमती माता जी

—ग्रन्थों के सम्पादन और अनुवाद का मुझे विशाल अनुभव है। नियम यह है कि जिस ग्रंथ का सम्पादन किया जाता है उसकी जितनी सम्भव हो उतनी प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त की जाती है। उनमें से अध्ययन करके एक प्रति को आदर्श प्रति बनाया जाता है। दूसरी प्रतियों मे यदि कोई पाठ भेद मिलते है तो उन्हें पाद टिप्पण में दिया जाता है।···

—पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री

—पूर्वाचार्यों के वचनों में, शब्दो में सुधार करने पर परम्परा के बिगड़ने का अन्देशा है। कोई भी सुधार यदि व्याकरण से भिन्न प्रतियों के आधार पर करना उचित मानें तो उसे टिप्पण मे सकारण उल्लेख ही करना चाहिए न कि मूल के स्थान पर।···

—पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री

—संशोधन करने का निर्णय प्रतियों के पाठ मिलान पर नियमित होना चाहिए न कि सम्पादक की स्वेच्छा पर।···

—पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

हमारा कहना तो यही है कि श्रावकों द्वारा जयकारे, चित्र प्रकाशन, वितरण और स्वार्थ-पूरक आशीर्वाद प्राप्ति की प्रथाएँ समाप्त की जाएँ—तभी धर्म स्थिर रह सकता है। अखबारों, कैसिटों आदि के माध्यम से उनके प्रवचनो के प्रचार को भी रोका जाय। क्या ? जिनवाणी वाक्य, धर्म-प्रचार के लिए कम है जो व्यक्ति को बढ़ावा दे पूर्वाचार्यों और जिनवाणी को पीछे धकेला जाय। जरा सोचिए। हमारी दृष्टि से धर्मान्ध तो सही मार्ग पर ना ही आ सकेंगे। यदि आप उन्हे मना सकें तो धर्म का सौभाग्य ही होगा और आपको भी धर्मलाभ !

२ क्या मूलमंत्र बदल सकेगा ?

हमने मूल आगम-भाषा के शब्दों मे उलट-फेर न करने की बात उठाई तो प्रबुद्ध वर्ग ने स्वागत कर समर्थन दिया—सम्मतियाँ भी आयी। बावजूद इसके हमारे कानो तक यह शब्द भी आए कि—शब्दरूप बदलने से अर्थ में तो कोई अन्तर नही पड़ा। उदाहरण के लिए 'लोए' या 'होइ' के जो अर्थ है वे ही अर्थ 'लोगे' या 'होदि' के हैं और आप स्वयं ही मानते है कि अर्थ-भेद नही है—नमक, लवण, सैन्धव भी तो एकार्थवाची है—कुछ भी कहो। सभी से कार्य-सिद्धि है।

बात सुनकर हमें ऐसी बचकानी दलील पर हंसी जैसी आ गई। हमने सोचा—यदि अर्थ न बदलने से ही सब ठीक रहता है तब तो कोई 'णमो अरहंताणं' मत्र को 'अस्सलामालेकुं अरहंता' या 'गुडमोनिंग टू अरहंताज भी बोल सकेगा—वह भी मूलमंत्र हो जायेगा। क्या कोई ऐसा स्वीकार करेगा—जपेगा या लिखकर मंदिरों में टांगेगा या इन्हें मूलबीज मंत्र मानकर ताम्र यन्त्रादि में अंकित करायेगा ? कि ये पद णमोकार मूलमंत्र का है। क्योंकि इनके अर्थ मे कहीं भेद नही है।

पर, हमने जो दिशा-निर्देश दिया है वह अर्थभेद को लेकर नही दिया—भाषा की व्यापकता कायम रखने और अन्य की रचना मे हस्तक्षेप न करने देने के भाव में दिया है। ताकि भविष्य में कोई किसी रचना को बदलने जैसी अनधिकार चेष्टा न कर सके। क्योंकि यह तो सरासर पर-वस्तु को स्व के कब्जे मे करके उसके रूप को बदल देने जैसा है ताकि दावेदार उसकी शिनाख्त ही न कर सके और वह सबूत देने मे भी महरूम हो जाय।

हाँ, यदि कदाचित् कोई व्यक्ति किसी की रचना में अशुद्धि या अशुद्धिकाभिलाप मानता हो तो सर्वोत्तम औचित्य यही है कि वह लोक-प्रचलित रीतिवत्—किसी एक प्रति को आदर्श मानकर पूरा-पूरा छपाए और अन्य प्रतियों के पाठ टिप्पण मे दे। जैसा कि विद्वानों का मत है। दूसरा तरीका है—वह पूर्व प्रकाशनो को मलिन न कर स्वय उस भाषा मे अपनी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना करे। क्या ठीक है ? जरा सोचिए ?

—सम्पादक

(पृ० २१ का शेषांश)

यदि मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहेंगे तो उसके पहले योग को अकिंचित्कर कहना पड़ेगा, क्योंकि केवल योग ही संसार नहीं होता; यदि कषाये न हो।

कुगुरु, कुदेव आदि की पूजा को जो मिथ्यात्व कहा जाता है उसके पीछे यही कारण है कि कुगुरु, कुदेव आदि ने हिंसादि मे धर्म माना है। जो अहिंसादि में धर्म मानता है वह कुगुरु कुदेव नही है जिसकी हम पूजा एव सत्सगति करेंगे वैसे ही हमारे विचार बनेंगे। अतः मिथ्यात्व ससार का निमित्त कारण बन जाता है, क्योंकि इसके बाद कषायें जन्म लेती हैं। हमारा पूज्य वही है जो मोक्षमार्ग का नेता सर्वज्ञ और कर्मपर्वतो का भेत्ता है, वह जो भी हो। विचार करने पर जिनेन्द्र ही ऐसे देव हैं, अतः उनकी आराधना से सम्यक्त्व को प्राप्ति होती है और कषायादि पर विजय, अतः मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहना हमारी भूल होगी।

मिथ्यात्व अकिंचित्कर नहीं है

□ श्री पं० रतन लाल कटारिया, केकड़ी

मिथ्यात्व को अकिंचित्कर मानने वाले कषाय को ही बन्धकर्त्ता और मनुष्य का अहितकारी मानते हैं किन्तु यह मूलतः गलत है :—

१. जैनेद्र सिद्धान्त कोश द्वितीय भाग पृ० ३३ पर लिखा है—"कषाय=मिथ्यात्व सबसे बड़ी कषाय है इससे आत्मा के स्वरूप का घात होता है। मिथ्यात्व से बढ़ कर कोई पाप नही।"

२. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २७ (सोनगढ़ प्रकाशन)—'तथा मोह के उदय से मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होते हैं उन सब का नाम सामान्यतः कषाय है।"

३. जयधवला भाग ४ पृ० २४—शका—असद्रूप अनन्तानुबन्धी चतुष्क की मिथ्यात्व में उत्पत्ति कैसे हो जाती है ? समाधान—क्योंकि मिथ्यात्व के उदय से कार्माण वर्गणा स्कधों के अनन्तानुबन्धी चतुष्क रूप से परिणमन करने मे कोई विरोध नहीं आता है।

४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाग १ (ज्ञानपीठ प्रकाशन) प्रस्तावना पृ० १५—किन्तु पहले गुणस्थान में १६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है ये १६ प्रकृतियां केवल पहले गुणस्थान में ही बंधती हैं। आगे मिथ्यात्व का उदय न होने से नही बंधती है। अतः उनके बन्ध का मुख्य कारण मिथ्यात्व ही है अतः मिथ्यात्व को बन्ध का कारण कहा है। फिर भी दूसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व का उदय न होने मे अनन्तानुबधी का उदय होते हुए भी उक्त १६ प्रकृतियों का बन्ध नही होता। अतः उनके बन्ध का प्रमुख कारण मिथ्यात्व ही है। अतः कषाय और योग के साथ मिथ्यात्व को भी बध का कारण माना गया है।

५. पहले गुणस्थान का नाम "मिथ्यात्व" रखा गया है "अनन्तानुबन्धी" नही। इससे भी मिथ्यात्व की प्रमुखता सिद्ध होती है। मोहनीय के २ भेद भी इसी दृष्टि मे किये हैं और प्रथम स्थान मिथ्यात्व (दर्शनमोहनीय) को ही दिया है।

६. मिथ्यात्व, ससार (भवबधन) का प्राण है, अन्य सब कषाय कर्म तो उसके शरीर मात्र है। जैसे बिना प्राणो के शरीर मुर्दा है उसी तरह बिना मिथ्यात्व के ससार की स्थिति नही। अतः इसी का नाम अनत-संसार है। कषायें तो इसके पीछे है इसी से उनका नाम अनन्त (ससार) अनु (पश्चात्) बंधी (बंधनेवाली)=अन्तानुबंधी है। मिथ्यात्व, ससार रूपी वृक्ष की जड है। जिस तरह बिना जड के वृक्ष स्थिर नही रह सकता उसी तरह बिना मिथ्यात्व के ससार (कषायवृक्ष) स्थिर नही रह सकता। ससार रूपी वृक्ष की शाखा पत्र काटने से वृक्ष नष्ट नही हो सकता फिर उग आता है जब तक कि मिथ्यात्व=जड नहीं काट दी जाती। अतः मिथ्यात्व अकिंचित्कर नही है। अनर्थों का बीज तो वही है उससे आंखें मूंदने की बात करना ससारचक्र मे गहरे निमग्न होना है।

७. मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहना सम्यक्त्व को भी अकिंचित्कर ही कहना है। सम्यक्त्व का लोप करना है। यह जैनधर्म की खास विशेषता को खत्म करना है। ससार के जितने भी धर्म है सब रागद्वेष कामक्रोधादि कषायो को जीतने की तो अवश्य बाते करते हैं किन्तु मिथ्यात्व को किसी ने छुआ ही नही इसी से वे मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं कर सके, संसार में ही भटकते रहे। यह कला यह अद्भुत विधि—जन से जिन बनने, आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग एकमात्र जैनधर्म ने ही आविष्कृत किया है और वह एकमात्र सम्यक्त्व (मिथ्यात्वनाश) के बल पर ही उद्भूत हुआ है। आज उसी का लोप करना जैनधर्म का ही लोप करना है इसे कोई जैनी ही न समझे तो इससे बढ़कर और क्या परिताप का विषय हो सकता है। विचारें !

८. अनन्तानुबंधी का विसंयोजक जब वापिस प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे आता है तो एक आवली काल तक तो अनन्तानुबधी चतुष्क का अनुदय रहता है। "अकिंचित्कर" पुस्तक मे इस अनुदय का अर्थ ईषद् उदय किया है जो सभी जैन सिद्धात शास्त्रो से विरुद्ध है किसी मे भी ऐसा कहीं नहीं लिखा है सर्वथा सब जगह उदय का अभाव ही बताया है। इस एक बात से ही अकिंचित्करता का कागज का महल ढह जाता है॥

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द ।	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारो के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द ।	१५-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	५-५०
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	३-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द ।	७-००
कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द ।	२५-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागो में) : स० प० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग ४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयो पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन	२-००
मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	२-००
Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942)	Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४१ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १६८८

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

आप सादर आमन्त्रित हैं !

हमारे सम्पादक होने के नाते लोग अक्सर हमसे पूछ बैठते है—'अनेकान्त' के ग्राहक कितनी सख्या मे है, इसका वितरण कितना है और कैसे चल रहा है ? कभी-कभी सन्देश भी मिल जाते है कि अनेकान्त वास्तव मे सत्य तथा जैन धर्म के रूप का प्रतिबिम्ब है; आदि।

हम लिख दें कि हम ग्राहक संख्या का माप मनोयोग पूर्वक पढने वालो से करते है; पैसा बटोरने के लिए ग्राहक सख्या बढाने से नही। हम बता दे कि हम प्रशसा से डरते है। हाँ, आशीर्वाद और सदभावनाये ग्रहण करना हमारा धर्म अवश्य है। हमारी धारणा है कि प्राय: ऐसे प्रश्न आर्थिक दृष्टि को ही लेकर किये जाते है - जिनकी आर्थिक दृष्टि हो वे ही करते है—वे हानि लाभ का हिसाब भी पैसे से आँकते है। पर, हमे विश्वास है कि ऐसे कोई व्यक्ति, पत्रिका या सस्था घाटे मे नही होते जिनके उद्देश्यो की पूर्ति मे कार्य कर्ताओं का सक्रिय बल मिलता हो। सो—धर्म के प्रभाव से प्रबुद्ध-हमसफर कार्यकर्ताओ, लेखको और पाठकों के सहयोग से 'अनेकान्त' आगम रक्षा व सही आचार-विचार निर्देश देने मे सफल चल रहा है। लोग दिशा-निर्देश पा रहे है—वे इसे मिल बैठकर और एक दूसरे से माँगकर भी चाव से पढते है। ऐसे मे लाभ ही लाभ है।

हाँ, जहाँ स्थिति ऐसी हो कि धर्म-संस्था और उसके कार्यकलापों को आर्थिक व्यापार बना लिया जाता हो, आचार्यों की रचनाओ की छपाई पर गहरे कमीशनो की माँग हो, पराई धार्मिक कृतियो को फ्री वितरण या लागत मूल्य मे बेचने के बजाय मँहगे मूल्यो मे बेचा जाता हो, जहाँ पूजा-प्रतिष्ठा आदि मे बोलिया बोलकर प्रभूत द्रव्य-सचय का उपक्रम हो वहाँ **'घाटा न हो मुनाफा हो'** जैसे प्रश्न उभरते है। यहाँ तो सस्था की कमेटी ने **इस महर्घता में भी अनेकान्त का वार्षिक शुल्क आज भी वही छह रुपया रखा है जो इकतालिस वर्ष पूर्व था**—जबकि सभी पत्र-पत्रिकायें मूल्य बढ़ा चुकी है।

शास्त्रो मे पैसे को परिग्रह कहा है। यदि मान आ जाय तो पैसा मनमानी कराता है, वह विद्वानो और त्यागियो तक को अपने गीत गवाने को मजबूर करता है—जैसा हो रहा है। धर्म की तो अपनी मर्यादा है, वह मर्यादा मे रहेगा। जब कि मर्यादा मे रहना पैसे के वश की बात नही। मर्यादा मे तो निर्द्वन्द-विद्वान्, नियमबद्ध श्रावक, छोटे-बड़े त्यागी और सच्चे महाव्रती ही रहने में समर्थ है और उन्हें आवश्यकतापूर्ति मे उपकरणो की कमी नही रहती।

हाँ, ये तो अज्ञानी लोगो की तृष्णा ही है—प्रभूत द्रव्य समेटने और उसे गाजे-बाजे, वृहत् पण्डाल व मच-निर्माण और दिखावटी सम्मेलन व अटपटे-सेमीनारो आदि मे बहाकर वाहवाही लूटने की। जब कि धर्म आगम-रक्षा और आचार-विचार सुधार पर बल देता है और 'अनेकान्त' कई मौकों पर ऐसे पोषणो मे सफल रहता रहा है, और लेखकों से भी तथ्यपूर्ण लेख मिलते रहे है। हम सब के अतीव आभारी हैं।

जब कभी हम सद्भावना में अधिक खरा लिख जाते है और खरी बात बुरी लग जाती होगी। सो पाठक हमारी सद्भावना का ख्याल कर हमे क्षमा करे। यह अक वर्षान्त का है। आगामी वर्ष के लिए आप सादर आमत्रित हैं—पठन-पाठन मे सहयोग के लिए। धन्यवाद !

—सम्पादक

ओम् अर्हम्
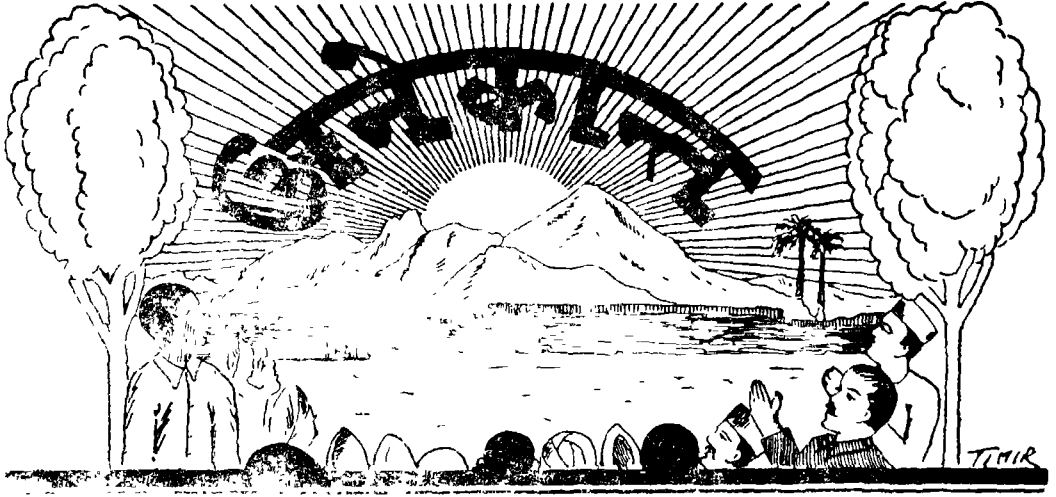
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४१ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५१५, वि० स० २०४५ | अक्टूबर-दिसम्बर १९८८

परमात्मा—स्तवन

चिदानंदैक सद्भावं परमात्मानमव्ययम् ।
प्रणमामि सदा शान्तं शान्तये सर्वकर्मणाम् ।।१।।
खादिपंचकनिर्मुक्तं कर्माष्टक विवर्जितम् ।
चिदात्मकं परं ज्योतिर्वन्दे देवेन्द्र पूजितम् ।।२।।
यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम् ।
सारं यत्सर्ववस्तूनां नमस्तस्मै चिदात्मने ।।३।।

—मुनि श्री पद्मनंद्याचार्य

अर्थ—जिस परमात्मा के चेतनस्वरूप अनुपम आनन्द का सद्भाव है तथा जो अविनश्वर एवं शांत है उसके लिए मै (पद्मनन्दी मुनि) अपने समस्त कर्मो को शांत करने के लिए सदा नमस्कार करता हूं ।।१।। जो आकाश आदि पाच (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) द्रव्यो से अर्थात् शरीर से तथा ज्ञानावरणादि आठ कर्मो से भी रहित हो चुकी है और देवों के इन्द्रों से पूजित है ऐसी उस चैतन्यरूप उत्कृष्ट ज्योति को मैं नमस्कार करता हू । जो चेतन आत्मा अज्ञानी प्राणियों के लिए अस्पष्ट तथा सम्यग्ज्ञानियों के लिए स्पष्ट है और समस्त वस्तुओं में श्रेष्ठ है उस चेतन आत्मा के लिए नमस्कार हो ।

भावार्थ—उक्त पद्यों में आचार्य ने शुद्ध चैतन्य परमात्मा को नमस्कार किया है, जो ज्ञान शरीरी है, द्रव्य कर्म, नोकर्म और भावकर्म आदि से रहित है । अविनश्वर अनिर्वचनीय आनंद से युक्त है । समस्त कर्मो से रहित, इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य है । वह उत्कृष्ट ज्योतिरूप परमात्मा सदा वन्दनीय है ।।

संघे शक्ति कलौयुगे

□ स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

ससार के समस्त स्त्री-पुरुष "मनुष्य जाति" नामक नामकर्म के उदय के कारण एकजातीय या सजातीय होते हुए भी श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य की प्रसिद्ध उक्ति "नाना-जीवा, नाना कम्मा, नानाविह हवेई लद्धि" के अनुसार वे अनेक है, और उनमे परस्पर अन्तर होते है—उनके अपने-अपने कर्म, कर्मोदय और कर्मफल भिन्न-भिन्न होते है। उनकी लब्धिया या उपलब्धियाँ भी तदनुसार विविध और विभिन्न होती है। ये कर्मजनित, प्रकृतिजन्य, स्वभावजन्य, जन्मजात संस्कारजन्य, शिक्षा-दीक्षा-जन्य, परिवेश-वातावरण-देशकालादि जन्य अन्तर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से भिन्न बना देते हैं। कोई रूपवान है, कोई कुरूप, कोई बलवान है कोई निर्बल, कोई पूर्णाङ्ग है कोई विकलाङ्ग, कोई निरोगी है कोई रोगी, कोई बुद्धिमान, मेधावी-प्रतिभा सम्पन्न है तो कोई अल्पमति—जड मूर्ख है, किसी की क्षमता-योग्यता अधिक है तो किसी की अल्प है, कोई भद्रप्रकृति सज्जन है तो कोई अभद्र-दुर्जन-दुष्ट स्वभाव का है। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच वैयक्तिक रुचियो, जीविकोपार्जन के लिए अपनाये गये व्यवसाय, आर्थिक स्थिति एव पद प्रतिष्ठा, देश-काल भाषा आदि के भी भेद होते है। धार्मिक विश्वासो, धर्माचरण की प्रवृत्ति, क्षमता एव प्रकारों तथा जीवन के "लौकिक एव पारमार्थिक" लक्ष्यो के भी अन्तर हो सकते है। मनुष्य जाति के नाना प्राणियो मे प्राय: सर्वत्र एव सभी कालो मे सहज ही पाए जाने वाले ये भेद या अन्तर उसकी जीवतता, प्राणवत्ता एव सक्रिय प्रगतिशीलता के ही द्योतक हैं। उनके सबके रहते भी मनुष्यमात्र समान है, एक है, मानवतारूपी एक सूत्र मे परस्पर बधे है। इस अनेकता मे एकता, भेद मे अभेद, विविधता मे समानता के बल पर ही वे सद्भाव, सहयोग एव सहअस्तित्वपूर्वक समष्टि के लिए हितकर सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति मे स्वशक्त्यानुसार प्रयत्नवान होते है और मनुष्य का सामाजिक प्राणी होना चरितार्थ करते हुए प्रगति पथ पर अग्रसर होते है।

परन्तु, यदि वे वैयक्तिक या निहित स्वार्थों, सत्ता लोलुपता, विषय लोलुपता, धन-परिग्रह या मान-प्रतिष्ठा की लिप्सा, पूर्वबद्ध धारणाओ, हठधर्मो, अधविश्वासो, अज्ञान आदि के वशीभूत होकर भेद मे अभेदता या अनेक मे एकता के मौलिक तत्त्व को विस्मृत कर देते है, अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग अलापने लगते है, अपने से भिन्न विचार रखने वालो की भावनाओ की ओर से आँख मूद लेते है, उनकी उपेक्षा, अवहेलना, तिरस्कार, भर्त्सना, निन्दा आदि मे ही लगे रहते हैं या उनका शोषण उत्पीडन आदि करने लगते है, तो प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, और सामाजिक, राष्ट्रीय तथा मानवीय अवनति एव पतन के द्वार खुल जाते है। उनकी दलबन्दियो एव गुटबन्दियो के प्रताप से उनकी विकृति राजनीति एव अर्थनीति धर्म एव मानवीयता जैसे निर्मल तथा सर्व-हितोपकारी क्षेत्रो पर भी हावी हो जाते है—कभी-कभी तो द्वेषपूर्ण दोषारोपण, कुत्सित लाछनो, अपशब्दो, जाति या धर्म से बहिष्कार की धमकिया आदि हिंसक वैर-विरोध एव आतकवादी उपायो का आश्रय लेकर उक्त पवित्र क्षेत्रो को भी विकृत एव निरर्थक बना डालती है।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल (लगभग १०००-१८०० ई०) मे अनेक बाह्य एव आन्तरिक कारणों से भारतीय समाज मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्ण-व्यवस्था तो जन्मतः रूढ़ हुई ही, प्रत्येक वर्ण मे अनगिनत जातियाँ-उपजातियाँ-अवान्तरजातियाँ तथा प्राय: प्रत्येक धर्म परम्परा मे अनेक सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय, पथ-उपपंथ आदि भेद-प्रभेद भी उदित होते, विकसित होते और रूढ़ होते चले गये। प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी छोटी-सी जाति-उपजाति विशेष, अपना छोटा-सा पंथ-उपपथ विशेष,

अपना ही दल, गुट या वर्ग विशेष सर्वोपरि होता चला गया। इस विघटनकारी अभिशाप ने धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय संगठन की कमर तोड दी है और उसके टुकड़े-टुकड़े करके धर्म-संस्कृति, समाज एवं राष्ट्र के शरीर को जर्जर कर दिया है। क्या साधु-संत एवं धर्माचार्य, क्या चिंतक, विचारक एवं साहित्यकार, क्या सामाजिक नेता एवं राजनेता, सब ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस विघटनकारी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते दीख पड़ते है। नैतिकता प्रधान मानवीय मूल्यों मे अनास्था का ही यह दुष्परिणाम है—अब तो आस्था मे ही किसी की आस्था नही रह गई है।

तीर्थंकर-युग, चौथे काल या पुराण काल की बात छोड भी दे, तो गत साधिक अढाई सहस्र वर्षों के शुद्ध इतिहास काल मे भी भारतवर्ष मे ऐसे अनेक अत्यधिक काल-क्षेत्र व्यापी स्वर्णिम युग आए है, जब लोकमानस ने मानवीय मूल्यों में सुदृढ आस्थापूर्वक स्वय को ऐसी विघटनकारी प्रवृत्तियों से बचाये रखा, और भेद मे अभेद या अनेकता मे एकता की सुष्ठु साधना करके सर्वतोमुखी उत्कर्ष सम्पादित किया है तथा सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा ऐहिक एव पारमार्थिक स्वपर कल्याण का साधन किया है। परतु भेद में अभेद या अनेकता मे एकता की इस भावना के पनपने मे आज सबसे बड़ा बाधक कारण वर्तमान मे प्रचलित जातिवाद एव जाति-उपजाति प्रथा है। तारीफ यह कि इस जाति प्रथा के वर्तमान रूप को अनादि-निधन घोषित किया जाता है। और सज्जातित्व के आवरण मे सजातीत्व का नारा बुलन्द किया जाता है।

श्रमण परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर (छठी शती ई० पू०) के उदय के बहुत पूर्व भारत मे नवोदित वैदिक-ब्राह्मण परम्परा ने कार्य विभाजन की सुविधा की दृष्टि से समाज मे चतुर्वर्ण व्यवस्था प्रचलित कर दी थी, किन्तु वह कर्मतः एव परिवर्तनीय रही जन्मतः और अपरिवर्तनीय नही। श्रमण परम्परा ने भी उसे उसी दृष्टि से और उसी रूप मे स्वीकार कर लिया, यद्यपि वह श्रमण निर्ग्रन्थ संस्कृति की अभेदपरक आत्मा के पूर्णतया अनुकूल नही थी। यह व्यवस्था उसी रूप मे भारतीय समाज मे मौर्यकाल के प्रायः अन्त से (लगभग २०० ई० पू०) पर्यन्त चलती रही। स्वयं वैदिक परम्परा मे औपनिषादिक आत्म-विद्या के प्रचारक तथा नवोदित शिवोपासक भी याज्ञिक हिंसा, वैदिक कर्मकाण्ड और वर्णादिक के आधार पर सामाजिक भेद-भाव के विरोधी थी, अतः उनमे भी वर्ण-व्यवस्था श्रमणों जैसे सीमित रूप मे ही अंगीकृत रही। किन्तु मौर्योत्तर काल मे, एक ओर तो उत्तर भारत की केन्द्रीय (मगध-मालवा) राज्यसत्ता ब्राह्मणकुलोत्पन्न शुंग एव कण्व नरेशों के हाथ में आ गई, जिन्होंने जोर-शोर से ब्राह्मणधर्म पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया और श्रमणो पर भरसक अत्याचार किये। परिणामस्वरूप बौद्ध समुदाय की तो अपार क्षति हुई ही, जैन संघ भी उत्तर भारत मे पर्याप्त निर्बल हो गया—भद्रबाहु श्रुतकेवली की परपरा के मुनि तो ४थी शती ई० पू० के मध्य में लगभग ही बहुत बडी संख्या मे दक्षिण के कर्णाटक आदि देशों की ओर बिहार कर गये थे, स्थूलिभद्र की परम्परा के अवशिष्ट साधु भी मालवा तथा वहाँ से भी गुजरात-सौराष्ट्र की ओर चले गए। दूसरी ओर, ईरानी, यूनानी पल्हव, शक, मुरुण्ड, कुषाण आदि विदेशी जातियां उत्तरी सीमान्तों की ओर से प्रविष्ट होकर इस देश मे यत्र-तत्र बसने और अपनी राज्य सत्तायें स्थापित करने लगी थी। हूण, अरब, तुर्क, मगोली आदि के रूप मे यह सिलसिला १२वी शती तक चलता रहा। बीच मे गुप्त युग लगभग (३२०-५५० ई०) मे भारतीय राज्यसत्ता प्रबल भी हो उठी, तो वह भागवत धर्मानुयायी रही। पुराणग्रन्थ, स्मृति शास्त्र आदि रचे गये और जनता ब्राह्मणवाद, वर्णाश्रम, जातिपांति के बधनो मे जकडती चली गयी। गुप्तोत्तर काल, विशेषकर राजपूत युग मे, यह प्रक्रिया और अधिक बलवती होती गयी और मध्य-युगीन मुस्लिम शासन काल मे तो ये बंधन अपनी चरमावस्था को पहुच गए।

परन्तु, दक्षिण भारत के अधिकांश भाग मे क्योंकि मूलसंघी निर्ग्रन्थ जैन धर्म का ही मुख्यतया वर्चस्व एव प्राधान्य रहा, वहाँ का सामाजिक संगठन लगभग १५०० वर्ष पर्यन्त प्रायः वैसा ही रहता रहा जैसा कि मौर्यकाल तक उत्तर भारत मे रहा था, अर्थात् चतुर्वर्ण तो शनैः शनैः

स्वीकृत हो गए, किन्तु कर्मतः तथा परिवर्तनीय बने रहे। समाज की एकसूत्रता एवं स्वस्थता भग नही हुई। १२वी शती मे रामानुजाचार्य के वैष्णव सम्प्रदाय के, तदनन्तर वीरशैव (लिगायत) मत के द्रुतवेग से बढते प्रचार-प्रसार, जैन राज्य सत्ताओ तथा बहुभाग जिनधर्मी ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्यों के शनैः शनैः मत परिवर्तन, मुसलमानों के प्रवेश आदि अनेक कारणों से वह सामाजिक सगठन चरमरा गया और ब्राह्मणवाद जनमानस पर बेतरह छाता चला गया। अतएव दक्षिण मे भी उत्तर भारत जैसी जातियाँ-उपजातियाँ उत्पन्न होने लगी। साथ ही अवशिष्ट उच्च-वर्गीय जैनों को वर्णबाह्य घोषित करके उन्हे "पचम" सज्ञा दे दी गई—अर्थात् वे चतुर्थो (शूद्रों) मे भी हीन समझे जाने लगे। "चतुर्थ" जो पहले से ही अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ एवं निम्न वर्ग था और जिसमे कृषक, श्रमिक, विभिन्न कर्मकर समूह थे, उसके शेतवाल, कासार, बोगार आदि का बहुभाग पीछे तक जैन बना रहा। ये तथाकथित छोटे लोग सदैव से अधिक धर्मप्राण रहते आए है, एकाएकी किसी जोर-जबरदस्ती या प्रलोभन के कारण वे स्वधर्म परिवर्तन प्रायः नही करते। अतएव इधर गत दो-तीन सौ वर्षों मे दक्षिण भारत मे जो जैन बच रहे वे चतुर्थ और पचम ही कहलाने लगे। देखादेखी उनमे भी कई जातियाँ-उपजातियाँ विकसित हो गयी। किन्तु यद्यपि हीन भावना, निर्धनता, अशिक्षा आदि के कारण वे धार्मिक एव सास्कृतिक पुनर्जागरण करने योग्य नही रहे, तथापि उस भूभाग मे जैनधर्म एव सस्कृति के सरक्षक तथा प्रतिनिधि वे ही बने रहे और आज भी बने है। वर्तमान शती के दिगम्बर जैन मुनियो, आर्यिकाओं आदि मे से भी अधिकाश उन्ही जातियो मे उत्पन्न हुए है। मध्य एव मध्यान्तर कालो मे दक्षिण भारत मे जो अनेक सुधारक एव निर्गुणी या भक्त संत हुए वे भी अधिकतर इन्ही वर्गों में उत्पन्न हुए थे। दूसरे, इन चतुर्थ एवं पचमों मे, जो जैन बने रहे और जिनमे कितने ही मूलतः ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुलोत्पन्न भी हैं, परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार भी चलता रहा। दक्षिण भारत मे उस काल मे ब्राह्मण परम्परा के बड़े-बड़े दिग्गज आचार्य भले ही हुए, देश का राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एव नैतिक पतन और सैकड़ो वर्षों की विदेशी-विधर्मी मुसलमानो, फिरंगियों आदि की गुलामी का कारण मुख्यतया वह संकीर्ण असहिष्णु ब्राह्मणवाद ही रहा जिसकी जड मे जाति-उपजाति वाद का भेद या कूटपरक भूत ही सर्वाधिक सक्रिय रहा। आज भी स्वतन्त्र सर्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र की भावनात्मक एकसूत्रता मे वही जातिवाद सबसे बड़ी बाधा है। राजनैतिक सम्प्रदायवाद या सियासी फिरकापरस्ती का रूप लेकर तथा साथ मे आतंकवाद का हथियार अपनाकर तो विघटनकारी तत्त्व भयकर एव विध्वंसक हो उठे है, अपने छोटे से स्तर पर जैन समाज भी उसी रोग से ग्रस्त होता जा रहा है। देश की जनसख्या का मात्र एक प्रतिशत होते हुए भी वह इतने सम्प्रदायो-उपसम्प्रदायो, पन्थो-उपपन्थो, गुरुडमो मे तथा इतनी जातियो-उपजातियो, अवान्तर-जातियो, अल्लो-थोको आदि मे बँटता हुआ टुकड़े-टुकड़े होकर रह गया है। अत. ऐसा तत्त्वहीन होता जाता है कि उसके स्वय के तथा उसके धर्म एव सस्कृति के अस्तित्व को ही भयानक खतरा उत्पन्न हो गया है। आवश्यकता है कि प्रबुद्ध समाज नेता समय की गति को पहिचाने और विघटनकारी प्रकृतियो से समाज की जीवन रक्षा करें। स्मरण रहे कि "सघे शक्ति कलौयुगे" इस विषम कलिकाल मे शक्ति का मूल सगठन ही है। शायद इसीलिए भविष्य दृष्टा भगवान महावीर ने श्रीसंघ अर्थात् मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका, रूपी चतुर्विध संघ की स्थापना, सगठन, व्यवस्था एव सरक्षण को प्राथमिकता दी थी। उन सर्वहितकर जगद्गुरू भगवान की जन्म-जयन्ती, तप या ज्ञानकल्याणक, शासन जयन्ती या निर्वाणोत्सव, किसी भी उपलक्ष्य से हम उनका गुणगान करें। हमे उनकी इस अमूल्य देन को विस्मृत नही करना चाहिए और उनके श्रीसघ को विकृतियो से बचाये रख कर सरक्षित एवं सतेज बनाये रखने का सकल्प सदैव दोहराते रहना चाहिए—इसमे हम सबका कल्याण निहित है।

(श्री रमाकान्त जैन के सौजन्य से)

हिन्दी के विकास में जैन कवियों का योगदान

डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल, जयपुर

हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। सारे देश मे इसे सम्माननीय स्थान प्राप्त है। लेकिन राष्ट्रभाषा का स्थान प्राप्त करने के लिए इसे विगत ८०० वर्षों मे अनवरत संघर्ष करना पड़ा है। इस सघर्ष मे जैन सन्तो, भट्टारकों एव कवियो का सबसे अधिक योगदान रहा। सस्कृत के पर्याप्त प्रचार युग मे भी जैन कवियों ने पहिले अपभ्रंश के रूप मे और फिर पुरानी हिन्दी के रूप में छोटी बडी पचासो रचनाये निबद्ध करके अपनी हिन्दी सेवा का ज्वलत उदाहरण प्रस्तुत किया। महापडित राहुल साकृत्यायन ने जब महाकवि स्वयम्भू को हिन्दी का आदि कवि घोषित किया और उनके द्वारा निबद्ध "पउमचरिउ" को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य बतलाया तो हिन्दी का इतिहास और भी अतीत मे चला गया। स्वयम्भू के पश्चात् पुष्पदन्त, वीर, धनपाल, नयनन्दि, श्रुतकीर्ति एव रइधू जैसे पचासों अपभ्र श कवियो ने हिन्दी विकास का मार्ग प्रशस्त किया जिसके सहारे हिन्दी भाषा का विकास तेजी से सम्पन्न हो सका।

हिन्दी के प्रारम्भिक युग के यदि २-४ रासा ग्रन्थो को निकाल दिया जावे तो शेष सभी रास संज्ञक रचनाये जैन कवियो द्वारा निबद्ध मिलेगी। इन कवियो ने सामान्य पाठको की अभिरुचि जाग्रत करने के लिए तथा हिन्दी के पठन-पाठन को लोकप्रिय बनाने के लिए कितने ही रास संज्ञक रचनाये निबद्ध की जिनमे भरतेश्वर बाहुबलि रास (११८४ ए. डी.) वन्दनबाला रास (१२५७ ए.डी.) स्थूलिभद्र रास (१२०६ एडी) नेमिनाथ रास (१२१३ एडी) गोत्तम स्वामी रास (१३५५ एडी) के नाम उल्लेखनीय हैं। रासा कृतियों के साथ-साथ जैन कवि काव्य कृतियो लिखने की ओर प्रवृत्त हुए। इस दृष्टि से जिणदत्त चरित नामक काव्य ग्रन्थ उल्लेखनीय है। कविवर राजसिंह ने इसे १२६७ एडी मे निबद्ध किया। ७५३ पद्यो मे निबद्ध यह अपभ्र श एव हिन्दी के विकास काल का काव्य है जब अपभ्र श शनैः शनैः हिन्दी का रूप ले रही थी।[1]

जैन कवि काव्य की किसी एक विधा से बधे नही रहे किन्तु उन्होने सभी काव्य रूपो को अपनी कृतियो से पल्लवित किया। राजस्थान के जैन ग्रन्थागारों मे सग्रहीत ग्रन्थो को देखते हुए हमारे सामने अनेक नाम सामने आये है जैसे स्तोत्र, पाठ, सग्रह, कथा, रासो, रास, पूजा, मंगल, जयमाल, प्रश्नोत्तरी, मत्र, अष्टक, सार, समुच्चय, वर्णन, सुभाषित, चौपाई, शुभ मालिका, निसाणी, जकडी, व्याहलो, बधावा, विनती, पत्री, आरती, बोल, चरचा, विचार, बात, गीत, लीला, चरित्र, छद, छप्पय, भावना, विनोद, कल्प, नाटक, प्रशस्ति, धमाल, चोढालिया, चौमासिया, बारामासा, बटोई, बेलि, हिंडोलणा, चूनड़ी, सज्झाय, बाराखड़ी, भक्ति, वदना, पच्चीसी, बत्तीसी, पचासा, लावनी, सतसई, सामायिक, सहस्रनाम, नामावली, गुरूबावली, स्तवन, सबोधन, मोडलो, फागु, आदि।[2] इन विविध साहित्य रूपो को जैन कवियो ने खूब पल्लवित किया है जिनकी बहुमूल्य सामग्री जैन ग्रन्थागारो मे सुरक्षित है।

१४वी शताब्दी के प्रारम्भ मे कविवर सधारू हुए जिन्होने प्रद्युम्न चरित' जैसे सुन्दर काव्य को सन् १३५४ मे निबद्ध किया। विद्वानो ने सधारू के प्रद्युम्न चरित को ब्रजभाषा का प्रथम महाकाव्य माना है और उसे मौलिक कृति बतलाई है। सधारू कवि उत्तर प्रदेश के एरच्छ नगर के निवासी थे। कवि ने अपना निम्न प्रकार परिचय दिया है :—

अगरवाल की मेरी जात, पुर अगरोए मुहि उतपात।
सुघणु जणणी गुणवइ उर धरिउ,
साधरू महाराज घरह अवतरिउ।
एरछ नगर बसते जानि, सुणउ चरित मइ रचिउ पुराण॥

१५वी शताब्दी मे भट्टारको का स्वर्ण युग प्रारम्भ हुआ। गुजरात एव उत्तर भारत के इन भट्टारकों ने हिन्दी को सबसे अधिक प्रश्रय दिया। स्वय उन्होंने एव अपने शिष्यो द्वारा हिन्दी मे सैकडो रचनाये लिखवाकर हिन्दी भाषा के भण्डार को खूब पल्लवित किया। भट्टारक सकलकीर्ति के प्रमुख शिष्य ब्रह्म जिनदास ने ७० से भी अधिक काव्य कृतियो को निबद्ध करके हिन्दी जगत मे एक नया कीर्तिमान प्रस्तुत किया। उन्होने अकेले ने विविध विषयक लगभग ५० रास सज्ञक काव्यो का सृजन किया। लोक भाषा मे तुलसी से पूर्व राम रास सन् १४५१ मे की, रचनाकर ब्रह्म जिनदास ने हिन्दी मे राम काव्य परम्परा का सूत्रपात किया। यही नही रूपक काव्य परम्परा मे परमहस रास जैसी विशिष्ट रचना निबद्ध करके अध्यात्म रस की धारा बहायी।

१६वी शताब्दी मे बीसो जैन कवि हुए जिन्होने पचासो रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के भण्डार को खूब समृद्ध किया। इस शताब्दि में होने वाले कवियो मे बूचराज, छोहल, ठक्कुरसी चतुरूमल, आचार्य सोमकीर्ति, ब्रह्म यशोधर, भट्टारक शुभचन्द्र, भट्टारक ज्ञानभूषण के नाम उल्लेखनीय है। कविवर बूचराज की अब तक ८ रचनाये एव ११ गीत उपलब्ध हो चुकी है। बूचराज[५] घुमक्कड कवि थे तथा राजस्थान, हरियाणा, पजाब एव उत्तर प्रदेश मे बराबर घूमते रहते थे। इन्होने रूपक काव्यों को छन्दोबद्ध करने मे सबसे अधिक रुचि ली और सुयणजुझ, संतोषजयतिलकु, चेतन पुद्गल धमाल जैसी महत्त्वपूर्ण कृतियो को छन्दोबद्ध करने मे सफलता प्राप्त की। छोहल कवि की पञ्चसहेली गीत एव बावनी बहुत ही लोकप्रिय रचनाए रही है। भाषा एवं शैली दोनो की दृष्टियो से दोनो ही रचनाए उत्कृष्ट कृतिया मानी जाती है। प्रोफेसर कृष्ण नारायण प्रसाद "मागध" के शब्दो मे बावनी मे वर्णित नीति एव उपदेश के विषय हे तो प्राचीन पर, प्रस्तुतीकरण की मौलिकता प्रतिपादन की विशदता एव दृष्टान्त चयन की सूक्ष्मता सर्वत्र विद्यमान है।[६] इसी तरह पंच सहेली गीत मे शृगार रस का बहुत ही सूक्ष्म तथा मार्मिक वर्णन हुआ है। वियोग शृगार मे विरहिणी नायिकाओ के अनुभवों का चित्रण उन्ही के शब्दो मे इतना सवेग एव अनुभूतिपरक है कि कोई भी सहृदय विरह की इस दशकारी वेदना से व्याकुल हुए बिना नही रहता।[७]

कविवर ठक्कुरसी राजस्थान के ढूढाहड क्षेत्र के कवि थे। उन्हें काव्य रचना मे अभिरुचि स्वय अपने पिता घेल्ह से प्राप्त हुई थी। उन्होने १५ कृतियो को छन्दबद्ध करने का यशस्वी कार्य किया। पचमगति वेलि इनकी सबसे लोकप्रिय रचना मानी जाती है जिसकी सैकड़ो पाण्डुलिपिया राजस्थान के जैन ग्रन्थागारो मे सग्रहीत है। इसी तरह कवि की "कृपण छन्द" में तत्कालीन समाज का बहुत मार्मिक वर्णन हुआ है। इन्ही के छोटे भाई धनपाल थे जिन्होने ऐतिहासिक गीतो की रचना की थी। आमेर के सावला बाबा (नेमिनाथ स्वामी) पर उन्होने बहुत सुन्दर गीत लिखा है।

इसी शताब्दि मे होने वाले आचार्य सोमकीर्ति ने यशोधररास एव अन्य ६ रचनाये निबद्ध करने का गौरव प्राप्त किया। सोमकीर्ति, ज्ञानभूषण एव शुभचन्द्र अपने समय के प्रभावक सन्त थे। इनकी हिन्दी कृतियो की रचना मे अभिरुचि निस्सन्देह इस भाषा के प्रति जन रुचि की प्रतीक मानी जानी चाहिए।

१७वी एव १८वी शताब्दि हिन्दी का स्वर्ण काल रहा जिसमे पचासो कवि हुए जिन्होने हिन्दी साहित्य के भडार को अत्यधिक समृद्ध बना दिया। इन शताब्दियो मे भक्ति एव अध्यात्म की दोनो धारायें खूब बढ़ी। चारो ओर हिन्दी मे काव्य रचनायें होने लगी। इस शताब्दि के प्रतिनिधि कवियो मे ब्रह्म रायमल्ल, रूपचन्द, भ० रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द, आनन्दघन, ब्रह्म गुलाल बाई अजीतमति, परिमल्ल, धनपाल, देवेन्द्र, सभाचन्द, भूधरदास आदि के नाम उल्लेखनीय है। ब्रह्म रायमल्ल घुमक्कड कवि थे इसलिए जहां भी वे जाते, अपनी काव्य रचना से उस ग्राम/नगर के निवासियो को उपकृत करते रहते थे। ब्रह्म रायमल्ल की रचनायें अत्यधिक सीधी सादी भाषा में निबद्ध है जिन्हें गाकर पढ़ा जा सकता है। इनकी अब तक पन्द्रह रचनायें उपलब्ध हो चुकी है जो सवत १६१५ से लेकर सवत १६३६ तक की रची हुई है। कवि को भविष्यदत्त चौपई

सबसे लोकप्रिय रचना मानी जाती है जिसकी सैकड़ों की संख्या में पाण्डुलिपिया उपलब्ध होती हैं बनारसीदास १७वीं शताब्दी के सबसे अधिक लोकप्रिय एव सशक्त कवि माने जाते है। उनका समयसार नाटक, बनारसी विलास एवं अर्धकथानक हिन्दी की बेजोड़ रचनायें है। समयसार नाटक मे जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व अभिनय करते है। इनमे जीव नायक है तथा अजीव प्रतिनायक है। आत्मा ने स्वभाव और विभाव को नाटक के ढग पर बतलाने के कारण इसको नाटक समयसार कहा गया है। बनारसीविलास मे कवि की ५० रचनाओ का सग्रह किया गया है। आगरा के दीवान जगजीवन ने कवि की बिखरी रचनाओ का उनकी मृत्यु के पश्चात् सवत १७०१ चैत्र सुदी २ को एक ही स्थल पर सकलन कर दिया था और उसी सकलन का नाम बनारसी विलास रखा गया था। अर्ध कथानक हिन्दी जगत का प्रथम आत्म चरित है जिसमे कवि ने अपने जीवन के ५५ वर्षो की जीवन घटनाओ का बड़े ही सुन्दर ढग से छन्दोबद्ध किया है। इसमे कवि की सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता, निरभिमानता और स्वाभिकता का जबरदस्त पुट विद्यमान है। कथानक की भाषा अत्यधिक सरल है।

कविवर रूपचन्द बनारसीदास के समकालीन थे। दोनो ही आध्यात्मी थे तथा परस्पर मे आध्यात्म चर्चा किया करते थे। उनका दोहा शतक, गीत परमार्थी अध्यात्म से ओतप्रोत है। दृष्टान्तो के द्वारा उन्होंने अध्यात्म तत्त्व को बहुत अच्छी तरह समझाया है[१०]। भट्टारक रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द्र दोनो ही गुरू शिष्य थे दोनो ही भट्टारक थे तथा अपने समय के प्रभावक भट्टारक थे। रत्नकीर्ति की अब तक ४४ कृतिया उपलब्ध हो चुकी है जिनमें अधिकाश रचनाये नेमि राजुल से सम्बन्धित है। उन्होंने अपने गीतो मे राजुल के मनोगत भावो का एव उसके विरही जीवन का सजीव चित्र उपस्थित किया है। इसी तरह कुमुदचन्द्र की अब तक २८ रचनाये उपलब्ध हो चुकी है जिनमे गीत सज्ञक रचनाये अधिक है।

१७वी शताब्दि की महिला कवयित्री बाई अजीतमति[११] की खोज अभी कुछ ही समय पूर्व हो सकी है। वह सागवाड़ा (राजस्थान) की रहने वाली थी। उसके द्वारा निबद्ध आध्यात्मिक छन्द, षट् पद, भक्ति परक पद, हिन्दी की अच्छी रचनाये है। इसी समय आगरा में परिमल्ल कवि हुए जिन्होने श्रीपाल चरित के रूप मे हिन्दी की एक सशक्त रचना भेंट की।

१८वी शताब्दि मे होने वाले अनेक कवियो मे मुनि सभाचंद हेमराज, बुलाकीदास, बनारसीचन्द, भूधरदास, द्यानतराय हिन्दी जगत के जगमगाते नक्षत्र है। सभाचन्द के हिन्दी पद्मपुराण की लेखक को अभी ३ वर्ष पूर्व ही खोज करने मे सफलता मिली है। प्रस्तुत पुराण हिन्दी भाषा का प्रथम पद्मपुराण है जो साढ़े छः हजार से अधिक पद्यो मे निर्मित जैन राम काव्य है। भाषा सरल किन्तु लालित्य पूर्ण है। हेमराज नाम के चार कवि एक ही समय मे हुए जिनमे पाडे हेमराज, हेमराज गोदिका ये दोनो सबसे प्रसिद्ध थे। कविवर बुलाकीदास, बुलाकीचन्द दोनों आगरा निवासी थे। बुलाकीदास का पाण्डवपुराण हिन्दी की एक सशक्त कृति है, जिसका रचना काल सवत १७५४ है। इसी तरह बुलाखीचन्द का वचनकोष अपने ढग की एक अनूठी कृति है।

१९वी शताब्दि मे पद्य के स्थान पर गद्य लेखक अधिक सख्या मे हुए। तथा आगरा का स्थान जयपुर ने ले लिया। सांगानेर, आमेर एव जयपुर जैन लेखको के केन्द्र बन गये। हिन्दी गद्य लेखको मे प० दीपचन्द कासलीवाल, प० दौलतराम कासलीवाल, प० टोडरमल, प० जयचन्द छाबडा, ऋषभदास निगोत्या, केशरी सिंह आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। ये सब ढूढारी भाषा के विद्वान थे और इनकी रचनाओ ने उस समय जबरदस्त लोकप्रियता प्राप्त की थी।

वर्तमान शताब्दि मे शताधिक जैन विद्वान एव सन्त हिन्दी लेखन मे लगे हुए है तथा उपन्यास, कथा, कहानी काव्य रचना के साथ-साथ ग्रन्थो का समालोचनात्मक व अध्ययन प्रस्तुत कर रहे है। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी प्रचार प्रसार मे सहायक बन हुए है। जैन सन्तो मे आचार्य तुलसी, आचार्य विद्यानन्द, आचार्य विद्यासागर, नथमलजी, मुनि नगराज आदि के नाम

(शेष पृ० १२ पर)

आवली काल तक अनन्तानुबन्धी

□ श्री जवाहरलाल जैन शास्त्री, भीण्डर

(i) आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं ·

अणसजोदिदसम्मे मिच्छ पत्ते ण आवलि त्ति अण ।

[गो० क० गा० ४७८]

अर्थ—अनन्तनुबन्धी का विसंयोजन करने वाले क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व-कर्मोदय से मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर आवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नही होता ।

[स्व० प० मनोहरलाल सि० शा०]

(ii) इसी प्रकृत गाथार्ध के अर्थ को सिद्धान्त शिरोमणि स्व० ब्र० रतनचन्द मुख्तार लिखते है --अनन्तानुबधी कषाय का जिसके विसयोजन हो गया है ऐसे वेदक या उपशम सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है । उसके बन्धावली या अचलावली काल पर्यन्त अनन्तानुबन्धी का उदय नही होता ।

[गो० क० पृ० ४८८ पूज्य आ० आदिमती जी]

(iii) भगवद् वीरसेनस्वामी धवल पु० ८ पृ० २५ मे लिखते है – मिच्छाइट्ठिसु जहण्णेण दस पच्चया । पचसु मिच्छत्तेसु एक्को । एक्केण इदिएण एक्क ाय विराहेदि त्ति दोण्णि असजमपच्चया। अणताणुबधिचउक्क विसजोइय मिच्छत्त गयस्स आवलियमेत्तकालमणंताणुबधिचउक्कस्सुदयाभावादो । बारसमु कषायेसु तिण्णि कसायपच्चया । तिसु वेदेसु एक्को । हस्स रदि-अरदि-सोग दोसु जुगलेसु एक्कदर जुगल । दसमु जोगेसु एक्को जोगो । एवमेद सव्वे वि जहण्णेण दस पच्चया ।

अर्थ—पाच मिथ्यात्वो मे से एक १ । एक इन्द्रिय से जघन्य से एक काय की विराधना करता है । २ । इस तरह दो असयम प्रत्यय । अनन्तानुबन्धिचतुष्टय का विसयोजन करके मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव के आवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषाय ४ का उदय नही रहने से बारह कषायो मे से ३ कषाय प्रत्यय ३ । तीन वेदों मे से एक १ । हास्य-रति व अरति-शोक; इन दो युगलों मे से एक युगल २ । दस योगो में से एक योग १ । कुल १+२+३+१+२++१=१० प्रत्यय । इस प्रकार ये सब मिल कर मिथ्यात्व गुणस्थान में एक समय मे दस बन्ध के प्रत्यय अर्थात् कारण होते हैं ।

(iv) ज्ञानपीठ से प्रकाशित पचसंग्रह के सप्ततिका प्रकरण मे गा० ३९ में पृ० ३२५ पर लिखा है—

द्वाविंशतिबन्धके मिथ्यदृष्टिजीवे उत्कृष्टतो दशमोहप्रकृत्युदया १० ' ···द्वाविंशतिबन्धकेऽनन्तनुबन्ध्युदयरहिते मिथ्यादृष्टौ २२, नयप्रकृत्युदयाः ।

अर्थ—बाईस प्रकृति का बन्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि के सभी सम्भव प्रकृतियो का उदय हो तो १० प्रकृतिक उदयस्थान होगा । यदि विसयोजन के हो जाने से अनतानुबन्धी का उदय नही है तो ९ प्रकृतिक उदय स्थान भी सम्भव है ।

(v) प्राचीन पचसग्रह [ज्ञानपीठ], सप्ततिका, गा० ३०५, पृ० ४३८-३९ पर लिखा है—

आवलियमित्तकाल मिच्छत्त दसणाहिसपत्तो ।
मोहम्मि य अणहीणो, पढमे पुण णवोदओ होज्ज ।।

टीका—अनन्तानुबन्धि विसयोजित वेदक सम्यग्दृष्टो मिथ्यात्वकर्मोदयात् मिथ्यात्वगुणस्थान प्राप्ते आवलिमात्र कालं अनन्तानुबन्ध्युदयो नास्ति । अतो अनन्तानुबन्धिरहितो नवप्रकृतीनामुदयो ९ मिथ्यादृष्टौ प्रथमे गुणस्थाने भवेत् ।

अर्थ—अनन्तानुबन्धी की विसयोजना युक्त सम्यग्दृष्ट जीव यदि मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हो जावे, तो एक आवली काल तक उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय सम्भव नही है । अतएव मिथ्यात्व गुणस्थान में नो प्रकृतिक उदयस्थान भी होता

है। [अनुवाद पं० हीरालाल सि० शास्त्री सा०]

(vi) उसी ग्रन्थ मे सप्ततिका गा० ३२९ में कहा है—

मिच्छाइट्ठिस्सोदयभंगा अट्ठेव होंति जिण भणिया ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी के उदय सहित १० आदि ४ स्थान [१०, ९, ८, ७] और अनन्तानुबन्धी के उदय रहित वाले ४ स्थान [९, ८, ७, ६]; इस प्रकार ८ उदयस्थान जिनेन्द्र भगवान ने कहे है।

(vii) जयधवल पु० १० पृ० ११६-१७ पर जिनसेन-स्वामी लिखते हैं कि—

अणंताणुबंधिणो विसजोइय इगिवीसपवेसय भावेणाव-ट्ठिदस्स उवसमसम्माइट्ठिस्स मिच्छत्त-वेदयसम्मत्त-सम्मा-मिच्छत्तसासणसम्मत्ताणमण्णदरगुणपडिवत्तिपढमसमए पय-दट्ठाण-सभवणियमदसणादो।

अर्थ—अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर इक्कीस प्रकृतियो के प्रवेशक भाव से अवस्थित उपशम सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व वेदकसम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सासादन सम्यक्त्व; इनमें से किसी एक गुणस्थान को प्राप्त होने के प्रथम समय मे प्रकृत स्थान के सम्भव होने का नियम देखा जाता है।

विशेषार्थ—जिस उपशम सम्यग्दृष्टि ने अनन्तानुबन्धी कषाय की विसयोजना की हैं वह जब मिथ्यात्व प्रकृति के अपकर्षण द्वारा उदीरणा करके मिथ्यात्व भाव का अनुभव करता है तब उसके प्रथम समय मे अनन्तानुबन्धी ४ का बन्ध भी होता है और अप्रत्याख्यानावरणादि रूप द्रव्य को अनन्तानुबन्धी रूप से संक्रान्त कर उसका उदयावली से बाहर निक्षेप भी करता है। किन्तु उस समय अनन्तानु-बन्धी ४ का उदयावली मे प्रवेश नही होता, इसलिए ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम समय मे २२ प्रकृतियो का ही उदयावली में प्रवेशक (प्रवेश कराने वाला) होता है। अर्थात् विसयोजक के मिथ्यात्वी होने पर उस जीव के प्रथम समय में तो अनन्तानुबन्धी की उदीरणा तो अति दूर रहो, उसका उदय भी दूर रहो; अरे! उस समय मे तो उस अनन्तानुबन्धी-चतुष्क के द्रव्य का एक परिमाणु भी उदयावली मे प्रवेश ही नही करता। फिर उस समय उसका उदय कैसे बनेगा? यह स्थिति प्रथम समय की है उदीय-मान प्रथम निषेक से लेकर एक आवली (उदयावली) पर्यन्त के निषेकों की लड़ी में अनन्तानुबन्धी का एक पर-माणु भी नही है। आवलीकाल के बीत जाने पर उदय-उदीरणा सम्भव है। क्योंकि उस समय, प्रथम समयवर्ती मिथ्यात्वी के जो उदयावली से ऊपर द्वितीयावली का प्रथम अनन्तनुबन्धी-निषेक था वह आवली काल बाद उदय-समय [उदय-क्षण] को प्राप्त होता है। उसी समय अनन्तानुबन्धी के उदय का प्रथम समय होने से उसी समय उदयावली-बाह्य स्थित इस अनन्तानुबन्धी की उदीरणा भी प्रारम्भ होती है।

(i) इन सब प्रमाणो से निम्न बातें फलित होती हैं—

(A) यह सर्वाचार्य सम्मत बात है कि विसयोजक के मिथ्यात्व मे जाने पर उसके बन्धावली काल तक अनन्तानुबन्धी का उदय नही रहता। न तो तत्काल बद्ध अनन्तानुबन्धी का ही प्रथमादि समयों में उदय सम्भव है, और न उतने काल तक अनन्तानुबन्धी रूप परिणत द्रव्य का भी उदय सम्भव है। अर्थात् उस एक आवली काल अनन्तानुबन्धी ४ के एक परमाणु का भी उदय पूर्णतः असम्भव है।

(B) यदि यह कहा जाय कि एक आवली काल तक उदीरणा ही असम्भव है, उदय असम्भव नही। तो इसके उत्तर मे विनीत निवेदन है विसयोजक के मिथ्यात्व मे आने पर प्रथम आवली काल में अनन्तानुबन्धी का उदय नही होता [धवल पु० १५ पृ० २८९ पं० ४-५, धवल १५ पृ० ८१ से ९७ आदि] तथा उदीरणा भी नही होती। [जयधवल पु० १० पृ० ५४, धवल पु० १५ पृ० ७५ आदि]।

फिर एक बात और :

इकतालीस प्रकृतियो [दो वेदनीय, मनुष्यगति, पंचे-न्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशः-कीर्ति, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय, ४ आयु, ५ निद्रा, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, तीनों वेद, सज्वलन लोभ]के ही उदय व उदीरणा के स्वामित्व में भेद है। इन ४१ के शिवाय शेष बची १०७ प्रकृतियो

के उदय के स्वामियो से उदीरणा के स्वामियो में अश भर भी भेद नहीं है।

प्रमाण—पंचसंग्रह [ज्ञानपीठ] पृ०५१६–५२२ प्रकरण ५। ७३—७५, गोम्मटसार क० २७८—८१; कर्मस्तव ३६–४३, संस्कृत पचसंग्रह ३। ५६ से ६०; सर्वार्थसिद्धि [ज्ञानपीठ] पृ० ३४६—४७, राजवार्तिक भाग २ पृ० ७६३–६४ तथा धवला जी पु० १५ पृ० ५४ से ६१ आदि।

अत: इस सर्वागम सम्मत बात से यह काच के माफिक स्पष्ट है कि अनन्तानुबन्धी का जब-जब उदय होता है तब-तब नियम से उदीरणा भी उसकी होती है। यह निष्कर्ष ध्रुव सत्य है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी, ४१ अपवाद प्रकृतियों मे परिगणित नही है।

पारिशेष न्याय से प्रथम आवली काल तक उदय व उदीरणा दोनो नही बनते है।

(C) आवली काल तक ऐसे मिथ्यात्वी के अनन्तानुबन्धी का बन्ध मिथ्यात्व-निमित्तक [मिथ्यात्व-हेतुक] ही होता है। प्रपञ्चतः ऐसा समझना चाहिए कि मिथ्यात्व, कषाय व योग [कषाय मे अविरति व प्रमाद गर्भित है] हेतुक बन्ध उस आवली काल मे होता है। जबकि सासादन गुणस्थान मे ६ आवली काल तक अनन्तानुबन्धी उदित रह कर भी वहाँ एक समय के लिए भी वह मिथ्यात्व को नही बाँध सकती।

सारत: जहा मिथ्यात्व रूप आधार है वहा अनन्तानुबन्धी का बंध निश्चित होता है। पर जहां (सासादन) में अनन्तानुबन्धी है वहा पर मिथ्यात्व के बन्ध का नियम नही बनाया जा सकता।

यदि इतनी सब कथनी भी ध्यान मे नही रख कर पुनरपि तर्क किया जाय कि अनन्तानुबन्धी विसंयोजित करने वाले के मिथ्यात्व मे आने पर अनन्तानुबन्धी का उदय, यानी उसका अनुभाग-उदय सबसे जघन्य होता है। अतएव उसे अनुदय तुल्य होने से 'अनुदय' कहा जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि :—

(i) प्रथम तो आगम मे उक्त प्रथम आवलिकालवर्ती मिथ्यात्वी के अनन्तानुबन्धी के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश का पूर्णत. अनुदय ही कहा है। इसलिए उक्त तर्क ठीक नही है।

(ii) दूसरा यह भी निवेदन है कि जयधवल पु० ५ पृ० १८२ पर जो अनन्तानुबन्धी के जघन्य अनुभाग के स्वामित्व का कथन किया है वह मात्र अनुभाग सत्त्व के स्वामियो का कथन है, अनुभाग उदय के स्वामियो का कथन नही है। इसके लिए हम मूल आगम ही लिखते है। यथा :– अणताणुबधीण जहण्णयमणुभागसतकम्म कस्स ? सुगम। पढमसमयसजुतस्स। सुहुमेइंदिएसे जहण्णसामित्त किण्ण दिण्ण ? ण, पढमसमयसंजुतस्स पचग्गाणुबध पेक्खिदूण सुहुमणिगोदजहण्णाणुभागसत—कम्मस्स अणतगुणत्तादो। (ज० ध० ५।१६६—६७)।

अर्थ—"अनन्तानुबन्धी" ४ का जघन्य अनुभाग सत्कर्म किसके होता है ? यह सूत्र सुगम है। प्रथमसमयवर्ती संयुक्त के होता है।

शंका—सूक्ष्म एकेन्द्रियो मे जघन्य अनुभाग सत्त्व का स्वामिपना क्यों नही दिया ?

समाधान—नही, क्योंकि प्रथम समय मे अनन्तानुबधी से सयुक्त हुए जीव के जो नवीन अनुभाग बन्ध होता है उसे देखते हुए सूक्ष्म निगोद जीव का जघन्य अनुभागसत्त्व अनन्तगुणा है।"

नोट—अत्यन्त स्पष्ट है कि यहा उदय का प्रकरण नही है, मात्र सत्त्व का प्रकरण है। फिर उसे उदय मे घटाना कहां का न्याय है ?

["यहा सत्व का प्रकरण है।" देखे जयधवल पु० ५ के पृ. १६३ व १६७-६८ के विशेषार्थ]।

(iii) तीसरी मुख्य व ध्यातव्य बात यह है कि यदि अनुभाग की जघन्य उदयरूप अवस्था को यदि अनुदय माना एवं कहा जाता तो :—"ससार मे मिथ्यात्व का जघन्य अनुभाग सत्त्व (सत्कर्म) सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त के ही होता है।" —ऐसा कहा गया है।'

दर्शनमोह की क्षपणा के लिए उद्यत वेदकसम्यक्त्वी के योग्य काल मे जो तत्प्रायोग्य अल्पतम अनुभाग होता है, उसे भी आगम में जघन्यता नही बताई। अपितु सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त के ही मिथ्यात्व का सर्वजघन्य अनुभाग-

सत्त्व का स्वामित्व बताया। तो क्या जघन्य अनुभाग सत्त्व होने मात्र से किसी भी कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थ मे उक्त सूक्ष्म-निगोद-अपर्याप्त को अमिथ्यात्वी कहा है क्या? नहीं। तो फिर आगमकार जघन्य अनुभाग युक्त अनन्तानुबन्धी के सत्त्व के स्वामी जीव के यदि जघन्य भी उदय होता तो अवश्य ही उसे जघन्य उदय वाला कहते; "अनुदय" वाला नही। हम अन्य उदाहरण से और भी स्पष्ट करते है :—

जयधवला पु. ५ पृ. १५, ३० तथा पृ. २५६ तथा गो. क. गाथा १७० के अनुसार लोभ का जघन्य अनुभाग सत्त्व दसवे गुणस्थान के चरम समय मे होता है तथा इसी समय लोभ का जघन्य अनुभाग उदय है। इस समय स्थिति सत्ता एक समय प्रमाण ही है तब यहां एक स्थिति मे स्थित जो अनुभाग है वह 'जघन्य उदय' व्यपदेश को प्राप्त है। अर्थात् चरमसमयी सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपक के लोभ का जघन्य अनुभागोदय है [धवला पु. १५।२६६, १८४ आदि]। फिर ऐसी जघन्य कषायानुभाग के उदय को भी अनुदय नही कहा। सब कर्म शास्त्रों मे उदय ही कहा है तथा प्रत्यय मे भी गिनाया है [देखे धवल ८।२७] इसे दसम गुणस्थान मे अप्रत्यय नही कहा। दसवे गुणस्थान के अनन्त समय में सज्वलन लोभ का उदय समस्त सिद्धान्त शास्त्रों मे कहा है। कही भी ऐसा नही कहा कि दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय मे लोभ का अनुदय है। यदि उस समय लोभ का अनुदय माना जाय तो चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्पराय के परिणाम तथा उपशान्त कषाय वीतरागछद्मस्थ अथवा केवली के परिणाम समान मानने पड़ेगे। अथवा यो कहे कि चरमसमयवर्ती सूक्ष्मसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय ही नही कहला कर क्षीणकषाय अथवा उपशान्तकषाय कहलायगा, जो कि किसी को भी इष्ट नही है। अत: यद्यपि दसवें गुणस्थान के चरम समय मे संज्वलन लोभ का जघन्य अनुभाग उदय है तथापि दिगम्बर कर्म ग्रन्थों में उस चरम समय मे उदय ही कहा है, अनुदय नही कहा है तथा चरम समय तक सज्वलन लोभ रूप कषायप्रत्यय सब शास्त्रो में गिना है। कहीं भी दसवें गुणस्थान में कषाय प्रत्यय को कम नही किया। दसवें गुणस्थान मे यदि चरम समय मे जघन्य अनुभाग उदय के कारण उसका अनुदय कहते या मानते तो चरम समय की अपेक्षा वहा एक मात्र योग प्रत्यय ही रहता। इस तरह दसवे गुणस्थान में उत्कृष्टत: दो प्रत्यय [सज्वलन लोभ व योग। दसम गुणस्थान के प्रथमादि द्विचरम समय तक की अपेक्षा] तथा जघन्य: [सूक्ष्मसाम्पराय के चरम समय की अपेक्षा] एक प्रत्यय [मात्र योग रूप]; ऐसे दो स्थान [१;२ प्रत्यय रूप] बन जाते। परन्तु कर्म शास्त्रो मे दसम गुणस्थान मे सर्वत्र जघन्यादि भेद बिना दो प्रत्ययों का एक ही स्थान बताया है [देखे गो. क. पृ. ७२१ आर्यिका आदिमती जी स० रतनचन्द मुख्तार; धवल पु. ८ पृ. २७ अभिनव सस्करण, प्राकृत पंचसग्रह। शतक। गाथा २०३ व टीका पृ. १६७। सस्कृत पचसग्रह ४।६८-६६ आदि]।

इसी से अत्यन्त स्पष्ट सिद्ध है कि सूक्ष्मसाम्पराय के चरम समय में सर्व जघन्य स० लोभ का अनुभाग उदय भी "उदय" कहा व माना गया है, सर्वत्र। फिर सज्वलन लोभ के जघन्य अनुभाग सत्त्व से जिसका जघन्य अनुभाग सत्त्व अनन्तगुणा है ऐसी अनन्तानुबन्धी कषाय के अनुभाग उदय को अनुदय कैसे कहा जा सकता है?

वास्तव मे तो उस मिथ्यात्वी के प्रथम आवली में अनन्तानुबन्धी का पूर्णत: अनुदय है इसलिए अनुदय कहा है। यदि ईषद् अनुभाग उदय की अपेक्षा "अनुदय" कहा है, ऐसा तर्क दिया जाय तो वह निष्टीक [गतिरहित तथा निराधार अनागम-विहित] होगा, क्योकि अनन्तानुबन्धी के जघन्य अनुभाग सत्त्व से भी अनन्तगुणोहीन अनुभाग-सत्त्व वाले संज्वलन लोभ के उदय को भी चरमसमयी सूक्ष्मसाम्पराय मे "उदय" ही कहा। फिर इस अनन्तानुबन्धी का यदि वास्तव मे प्रथम आवलिवर्ती मिथ्यात्वी के उदय होता तो निश्चित ही उदय कहते। क्योकि इस ईषद् अनुभाग सत्व से अनन्तगुणे हीन अनुभाग के सत्त्व व उदय को भी आचार्यों ने स्पष्टत: उदय कहा; अनुदय नही कहा। कहा भी है—सव्वमदाणुभागं लोभसजलणस्स अणुभाग-सतकम्मं ··············अणंताणुबंधिमाणजहण्णाणुभागो अणंतगुणो ········[जयधवल पु. ५ पृ. २५६-२६४]।

अर्थ—सज्वलन लोभ का जघन्य अनुभागसत्त्व [जो कि सूक्ष्मसाम्पराय चरमसमयवर्ती के होता है सबसे मन्द

अनुभाग वाला है।…………उससे अनन्तानुबन्धी ४ कषायों का जघन्य अनुभाग सत्त्व [जो कि प्रथम समय सयुक्त मिथ्यात्वी के सत्त्व मे प्राप्त होता है] अनन्त-गुणा है।

[यतिवृषभाचार्य कृत चूर्णिसूत्र]

इस प्रकार चरमसमयी सूक्ष्मसाम्पराय के उदय को स्पष्टतः उदय कहने वाले आचार्य, इससे अनन्तगुणे अनुभाग-अविभाग प्रतिच्छेदो युक्त अनुभाग [यानी अनन्तानुबन्धी के जघन्य अनुभाग]। रूप उदय को आचार्य कैसे उदय नही कहेगे ? अपितु अवश्य कहेगे। परन्तु प्रथम-आवली-कालवर्ती संयुक्त मिथ्यात्वी के अनन्तानुबन्धी उदित है ही नही, इसीलिए आचार्यश्री ने अनुदय कहा है। और तो क्या कहे, कर्म शास्त्र मे किसी भी मोह प्रकृति के जघन्य अनुभाग उदय को उदय ही कहा गया है; अनुभाग की जघन्यता के कारण अनुदय नही। करणानुयोग मे स्पष्टतः सूक्ष्म विवेचन होना अत्यन्त स्वाभाविक है। प्रथमानुयोग या चरणानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग से भी सूक्ष्म विषयों को यह स्पष्ट खोलता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक आठवां अधिकार पृ. ४१९-२०) सस्ती ग्रन्थमाला कमेटी धर्मपुरा, दिल्ली।

सारतः—"विसयोजक के सीधे मिथ्यात्व मे आने पर आवली काल तक अनन्तानुबन्धी का कथमपि, त्रिकाल भी, क्वचित् भी, कथचित् भी, किंचित् भी उदय सम्भव नही। तथा दूसरी बात यह कि अनन्तानुबन्धी के उदय व उदीरणा सदा साथ-साथ ही होते है।"

धवल, जयधवल आदि सकल ग्रन्थ इस निर्णय के साक्षी है। **(प्रेषक—रतनलाल कटारिया, केकड़ी)**

(पृष्ठ ७ का शेषांश)

उल्लेखनीय है। उपन्यास लेखक वीरेन्द्र कुमार जैन का तीर्थंकर महावीर २०वी शताब्दि का उत्कृष्ट गद्य काव्य है। दार्शनिक कृतियो मे डा० दरबारीलाल कोठिया का जैन दर्शन परिशीलन एव पं० कैलाशचन्द शास्त्री का जैन न्याय ख्याति प्राप्त रचनाये हैं।

□□

सन्दर्भ-सूची

१. जिणदत्त चरित-राजसिह विरचित, सम्पादन—डा० माताप्रसाद गुप्त एवं डा० कस्तुरचन्द कासलीवाल साहित्य शोध विभाग जयपुर की से प्रकाशित।
२. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रथ सूची चतुर्थ भाग प्रस्तावना—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। साहित्य शोध विभाग जयपुर द्वारा प्रकाशित।
३. प्रद्युम्न चरित—संपादक विरचित—सवादक प० चैनसुखदास एव डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल। प्रकाशक—साहित्य शोध विभाग, जयपुर।
४. महाकवि ब्रह्म जिनदास—व्यक्ति एव कृतित्व—ले० डा. प्रेमचन्द राव प्रकाशन—श्री महावीर अकादमी जयपुर।
५. कविबर बूचराज एव उनके समकालीन कवि–सपादन डा. कस्तूरचंद कासलीवाल प्रकाशक—श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी जयपुर।
६. मरू भारती पिलानी वर्ष १५ अंक-पृष्ठ—९।
७. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—पृ० ३०७।
८. आचार्य सोमकीर्ति एवं ब्रह्म यशोधर—सपादक डा० कस्तूरचद कासलीवाल प्रकाशक—श्री महावीर ग्रथ अकादमी जयपुर।
९. महाकवि ब्रह्म रायमल्ल एवं भट्टारक त्रिभुवन कीर्ति—सपादक डा. कस्तुरचद कासलीवाल, प्रकाशक श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी जयपुर।
१०. भट्टारक रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द, संपादक—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक—श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी जयपुर।
११. बाई अजीतमति एवं उनके समकालीन कवि, सपादक डा. कस्तूरचद कासलीवाल, प्रकाशक—श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी जयपुर।

भाषा बदलाव का क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा ?

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

ऐतिहासिक दृष्टि से भाषा-शास्त्रियों ने प्राकृत भाषाओं के विकास काल को ईसापूर्व प्रथम शताब्दी (जो कुन्दकुन्द का काल है) को स्थिर किया है। उक्त काल मे त् और थ् मे परिवर्तन होते होते प्रथम तो वे (क्रमशः) द् और ध् हुए, फिर क्रमशः द् का लोप हो गया और ध् के स्थान मे ह् का प्रयोग होने लगा—ऐसी स्वीकृति समयसार (कुदकुद भारती) सम्पादक द्वारा लिखित प्राक्कथन (मुन्नुडि) मे है और उन्होने समयसार मे थ् के ध् और ह् मे परिवर्तित दोनों रूपो के मिलने की पुष्टि भी गाथा ६८ और २३६ के द्वारा की है। पर, वे द् के लोप की स्वीकृति के बाद उसके लोप की पुष्टि मे उदाहरण देने से चूक गए। जब कि समयसार तथा प्राकृत के दि० आगमों मे द् लोप और अलोप दोनो भांति के शब्दो (रूपो) की बहुलता है) फलतः—उन्होने होदि से होइ रूप में परिवर्तित (द् के लोप जैसे) रूपो का कोई उदाहरण प्रस्तुत नही किया। शायद इसमे कारण यही हो कि उन्हें भाषा-विकास काल मे द् का लोप स्वीकार करने पर भी "दस्तस्य शौरसेन्यामखावचोऽस्तोः" जैसे शौरसेनी के नियम में बंधे—द् के अस्तित्व रूप मोह को छोड़ना श्रेयस्कर न जँचा हो क्योंकि वे शौरसेनी और जैन शौरसेनी को एक मान बैठे है। फलतः उन्हें इस बात का भी ध्यान न आया कि वे (डा० ए. एन. उपाध्ये और डा० हीरालाल जैन की भांति) यह भी स्वीकार कर बैठे हैं कि "जैन शौरसेनी मे महाराष्ट्री और अर्धमागधी के अनेक शब्द मिलते हैं"—(मुन्नुडि पृ. ६) उक्त सपादक अपने को प्राकृत भाषा के प्रारम्भिक और क्रमबद्ध विकास के ज्ञाता भी मानते हैं। (जैन प्रचारक नवम्बर ८८)

जो सम्पादक महोदय कुन्दकुन्द के समय की सिद्धि में डा० ए. एन. उपाध्ये के कथन को प्रमाण मान रहे हैं वे ही जैन-शौरसेनी के रूप के सम्बन्ध मे (अपनी प्रवृत्ति से) उन्हें झुठला रहे हैं—उनके कथन की अवहेलना कर रहे हैं। उपाध्ये का स्पष्ट कथन है—"In his observation on the Digamber texts Dr. Dencke discusses various paint above some Digamber Prakrit works. He remarks that the Language of there works is influened by Ardhamagdhi, Jain Maharashtri which approaches it and Shaurseni

—Dr. A. N. Upadhye.

(Introduction Pravachansar P. 116)

उक्त कथन के अनुसार दि० आगमो मे होइ, होदि, हवदि, हवइ जैसे सभी शब्द रूप मिलते है और लोए लोगे आदि भी मिलते है तब उनमे एक शुद्ध शब्द को बदलकर दूसरा शब्द रखने की क्या आवश्यकता थी? क्या इससे भाषा की व्यापकता नष्ट नही होती?

हाल ही मे आ० श्री विद्यानन्द जी के सम्प्रेरकत्व में उदयपुर से प्रकाशित **'शौरसेनी प्राकृत व्याकरण'** जो कुंदकुद भारती दिल्ली से भी प्राप्य है, मे लिखा है—

"प्राकृत शब्द का अर्थ है—लोगो का **व्याकरण आदि के संस्कारों से रहित स्वाभाविक वचन व्यापार।** उस वचन व्यापार से उत्पन्न अथवा वही वचन-प्रयोग ही प्राकृत भाषा है। इस लोक प्रचलित प्राकृत-भाषा को भगवान महावीर और बुद्ध जैसे क्रान्तिकारी महापुरुषों ने अपने विचारो के सम्प्रेषण की भाषा स्वीकार की थी।" ......"आज कोई भी ऐसी प्राकृत नही है, जिसमें अपनी समकालीन अन्य प्राकृतों का मिश्रण न हुआ हो......।"

इसमे यह भी लिखा है—"......और न ही शौरसेनी के सिद्धान्त ग्रन्थों अथवा नाटकों की शौरसेनी की भाषा के सम्पादन कार्य मे मनमाने पाठ देने चाहिए। सम्पादन-कार्य की जो पद्धति है एवं प्राचीन पाण्डुलिपियों में जो

पाठ स्वीकृत हैं, उपलब्ध हैं। उनके अनुसार ही इन ग्रंथों का सम्पादन होना चाहिए; सिद्धान्त मोह या सम्पादन मोह के कारण नहीं।"—हमारी दृष्टि से तो समयसारादि के शुद्धिकर्ता (?) उक्त व्याकरण ग्रन्थ को अवश्य ही प्राकृत भाषा के प्रारम्भिक और क्रमबद्ध ज्ञाताओं द्वारा लिखा गया मानते होंगे? ग्रन्थ को मुनिश्री का शुभाशीर्वाद भी प्राप्त है।

उक्त स्थिति मे भी यदि जैन आगमों की भाषा शौरसेनी है और उसे व्याकरण-सम्मत बनाने का प्रयास किया जा रहा है, तब संशोधित-समयसार की गाथाओं और उक्त व्याकरण पुस्तक मे उद्धृत पाठो में शब्दरूप-भेद क्यों? अब तो बदलाव की उपस्थिति मे यह नया सन्देह भी हो रहा है कि उक्त व्याकरण-पुस्तक मे दिये गए समयसार के पाठ ठीक है या कुन्दकुन्द भारती द्वारा प्रकाशित (संशोधित) समयसार के पाठ? यदि दोनो ही ठीक है तो बदलाव क्यो? क्या व्याकरण पुस्तक गलत है?

पाठकों की जानकारी के लिए दोनों ग्रन्थो के कुछ रूप नीचे दिए जा रहे है :- –

व्याकरण का पृष्ठ	समयसार का गाथा क्रम	उक्त व्याकरण मे उद्धृत समयसार का शब्द रूप	समयसार (कुंदकुद भारती) में शब्द रूप
५५	२७	इक्को	एक्को
६१	५	चुक्किज्ज	चुक्केज्ज
३४	३४	मुणेयव्व	मुणेदव्वं
४	८२	एएण	एदेण
६३	९२	करितो	करतो
६१	९९	करिज्ज	करेंज्ज
६३	१५४	हेउ	हेदू
६४	१८७	रुंधिऊण	रुंधिदूण
४९	२०७	भणिज्ज	भणेज्ज
१	२६९	लोय-अलोय	लोग-अलोग
६५	२९६	घित्तव्वो	घेत्तव्वो
१	३०२	कुणइ	कुणदि
१	३०४	होइ	होदि
५५	३१५	विमुंचए	विमुचदे
४	२७३	मुणिऊण	मुणिदूण
६६	३७५-३८१	विणिग्गहिउं	विजिग्गहिदुं
६४	४०६	सक्कइ	सक्कदि
६४	४०६	घित्तुं	घेत्तुं
६२	४१५	ठाही	ठाहिदि
२	४१५	होही	होहिदि

इसके सिवाय इस व्याकरण मे एक-एक शब्द के अनेक रूप भी मिलते है, जिन्हें झुठलाया नही जा सकता। तथाहि—

पृष्ठ १४ लोओ, लोगो। पृ. ३६ लोअ।
पृष्ठ ८८, ९० लोए
पृष्ठ २५, ९१, ८८ पुग्गल। पृ. ३६ पोग्गल।
पृष्ठ ७७ हवदि, हवेदि, हवइ, होदि। पृ. ८३, ९० होइ।
पृष्ठ ७७ ठादि, ठाइ, ठवदि, ठवेदि।
पृष्ठ ६०, ७६ भणदु, भणउ।
पृष्ठ ५५ भणदि, भणइ, भणेदि, भणेइ।
पृष्ठ ६३ गदो, गओ, गयो।
पृष्ठ ६३ जादो, जाओ, जायो।
पृष्ठ ६४ भणिऊण, भणिदूण।
पृष्ठ ९३ जाण।

खेद तो तब होता है जब मीरा, तुलसी, सूर, कबीर जैसों की जन-भाषा मे निबद्ध रचनाओं को सभी लोग मान देने—उनके मूल रूपो को संरक्षण देने मे लगे हो, तब कुछ लोग हमारे महान् आचार्यों—कुन्दकुन्दादि द्वारा प्रयुक्त आगमो की व्याकरणातीत जन-भाषा को परवर्ती व्याकरण में बाँध आगम को विकृत, मलिन और सकुचित करने मे लगे हो। गोया प्रकारान्तर से वे भाषा को एकरूपता देने के बहाने—यह सिद्ध करना चाहते हों कि दीर्घकाल से चले आए भगवान महावीर व गणधर द्वारा उपदिष्ट और पूर्वाचार्यों द्वारा व्याकरणातीत जनभाषा मे निबद्ध धवला आदि जैसे आगम भी भाषा की दृष्टि से अशुद्ध रहे हैं और उन्हे शुद्ध करने के लिए शायद किन्ही नए गुणधर, कुंदकुंद, यतिवृषभ और वीरसेन जैसों ने अवतार ले लिया हो। जबकि जैनधर्म मे 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' रूप अवतार सर्वथा निषिद्ध है। और जब जैन शौरसेनी का रूप जन-भाषा के रूप में पूर्व निर्णीत है—

"The Prakrit of the Sutras, The Gathas

as well as of the commentary, is Shaursenı influenced by the order Ardhamagdhı on the one hand and the Maharashtri on the other, and this ıs exatly the nature of the language called 'Jaın Shaurseni."

—Dr. Heeralal

(Introduction to षट्खंडागम P IV)

हमारा अनरग कह रहा है कि स्वर्गो मे बैठे हमारे दिवंगत दिगम्बराचार्य उनकी व्याकरणातीत जनभाषा मे किए गए परिवर्तनो को बडे ध्यानपूर्वक देख रहे है और उन्हे सन्तोष है कि कोई उनकी ध्वनि-प्रतिकृतियो के सही रूप को बडी निष्ठा और लगन से निहार, उनकी सुरक्षा मे प्राण-पण से सलग्न हैं। भला, यह भी कहाँ तक उचित है कि शब्द-रूपों को बदल मे दिगम्बर-ग्रागम-वचन तो गणधर और आचार्यों द्वारा परम्परित वाणी कहलाए जाते रहें और बदलाव-रहित दिगम्बरेतर आगमो के तद्रूप-वचन बाद के उद्भूत कहलाएँ? हमे भाषा की दृष्टि से इस विन्दु को भी आगे लाकर विचारना होगा। भविष्य मे ऐसा न हो कि कभी दिगम्बर समाज को इस बदलाव का खमियाजा किसी बडी हानि के रूप मे भुगतना पड जाय ? ऐसा खमियाजा क्या हो सकता है, यह श्रद्धालुओं को विचारना है—वैज्ञानिक पद्धति के हामी कुछ प्राकृतज्ञ तो सही बात कहकर भी किन्ही मजबूरियों मे विवश जैसे दिखते है। और वे आर्ष-भाषा से उत्पन्न उस व्याकरण के आधार पर विद्वान बने है, जो बहुत बाद का है। और शौरसेनी आदि जैसे नामकरण आदि भी बहुत बाद (व्याकरण निर्माण के समय) की उपज है। क्योंकि जन-भाषा तो सदा ही सर्वांगीण रही है। जो प्राकृत में डिगरीधारी नही है और प्राकृत-भाषा के आगमो का चिरकाल से मन्थन करते रहे है—उन्हें भी इसे सोचना चाहिए—हमें अपनी कोई जिद नहीं। जैसा समझे लिख दिया—विचार देने का हमे अधिकार है। और आगम-रक्षा धर्म भी। हमारी समझ से बदलाव के लिए जो व्यय अभी रहा होगा; वह अत्यल्प होगा—उसका पूरा मूल्य तो भाषा-दृष्टि से आगम के अप्रमाणिक सिद्ध होने पर ही चुकता हो सकेगा।

—पडित प्रवर टोडरमल जी सा० प्रतिष्ठित ज्ञाता थे—उनके 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' की पूर्ण ख्याति हैं। सम्पादक महोदय ने भी आचार्य कुन्दकुन्द की विदेह-गमन चर्चा के प्रसंग में उन्हे प्रामाणिक मानकर ही उनके मत का उल्लेख किया होगा। इन्ही प० टोडरमल जी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' मे दिगम्बर प्राकृत आगमों के गाथाओ के उद्धरण दिए है और उनमें लेइ, जाइ, अक्खेइ, थुणिऊण, हवइ, भणिऊण, भणइ और देइ जैसे दकारलोपी और लोओ जैसे ककार (गकार) लोपी शब्द मिलते हैं। क्या ये शब्दरूप, आगम मे अप्रमाण है ? जो इनको बदला जाय ? इसी मोक्षमार्ग प्रकाशक मे 'इक्क' शब्द का भी उद्धरण मिलता है। ऐसे मे भी यदि लोग दिगम्बर मूल आगमो की भाषा को बदल गई हुई मानते हैं; तो वे स्वय ही सिद्ध करते है कि उपलब्ध आगम परम्परित-आगम-वाणी नही है, अपितु बदली वाणी है, और बदली होने से उसकी प्रामाणिकता मे सन्देह है। क्या दिगम्बरो को ऐसा स्वीकार है ? हमारा कहना तो यही है कि हमारे आगमो मे व्याकरण की अपेक्षा किए बिना, जहाँ जो शब्दरूप मिलते है—भाषा की व्यापकता होने और अर्थ-भेद न होने से सभी प्रतियों मे वे ठीक है। क्योंकि बाद मे निर्मित हुए व्याकरण की उनमे गति नही। जबकि हमारे आगमो की भाषा (व्याकरणादि के सस्कारो से रहित) भगवान महावीर आदि की वाणी का स्वाभाविक वचन व्यापार है।

उक्त स्थिति के परिप्रेक्ष्य मे हमे सावधान रहने की जरूरत है। कही ऐसा न हो कि जिनवाणी भीड़ मे खो जाए ? और उसका क्रन्दन भी जयकारो की ध्वनि मे सुनाई ही न पड़े। क्योकि हमें भीड़ और जायकारे ही सबसे खतरनाक लगे जो धर्म को लुटवा रहे है—आत्म-चिन्तन मे बाधक हो रहे है। आशा है सोचेंगे तथा विद्वान् इस बदलाव को रुकवाएगे।

दरियागज, नई दिल्ली

आचार्य अमितगति : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ कु० सुषमा जैन, सागर

सरस्वती देवी के साधक, आराधक, और उपासक आचार्य अमितगति ने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से मालव प्रदेश के परमार वंशी राजा मुंज की सभा को सुशोभित किया है। श्री अमितगति मात्र आचरण पक्ष के धनी नही थे, वरन् वे दार्शनिक महाकवि, अप्रतिम—चितक, धर्मतीर्थ प्रणेता, महान उपदेशक, आगम-ज्ञाता, वैयाकरणिक और समाज सुधारक भी है, इन्होंने दशमी शताब्दी में व्याप्त सामाजिक धार्मिक परिस्थितियो पर विजय प्राप्त करके युगानुरूप अपनी देशना से मानवमात्र को धर्मोन्मुख किया है।

आचार्य अमितगति गम्भीर प्रकृति के निरभिमानी, विवेकी, नि.स्पृही, आत्मानुभवी। स्व-पर कल्याण मे निरत रहे हैं। आचार्य जी की गम्भीर प्रकृति अग्रलिखित पद्य में अवलोकनीय हैं—

बिबुध्य ग्रह्णीय बुधा मनोदितं,
शुभाशुभ ज्ञास्यथ निश्चितं स्वयम्
निवेद्यमान शतशोऽपि जानते,
स्फुटं रस नानुभवन्ति त जन: ॥
(धर्मपरीक्षा, प्रशस्ति १५)

अर्थात्—हे विद्वज्जन ! मैंने जो यह कहा है उसे जानकर आप ग्रहण कर ले, ग्रहण कर लेने के पश्चात् उसकी श्रेष्ठता अथवा अश्रेष्ठता आप स्वय जान लेगे। जिस प्रकार मिश्री आदि वस्तु का रस बोध कराने पर मनुष्य सैकड़ों प्रकार से जान तो लेते है, परन्तु प्रत्यक्ष में उन्हें उसका अनुभव नही होता हैं—वह अनुभव ग्रहण करने पर ही होता है।

इसी प्रकार आचार्य की निरभिमानिता एव नि.स्पृहता निम्नलिखित पद्य मे निदर्शनीय है—

यद्दत्र सिद्धान्तविरोध भाषित,
विशोध्य सद्ग्राह्यमिम मनीषिभि: ।
पलालमस्यस्य न सारकांक्षिभि:,
किमत्र शालि: परिग्रह्यते जनै: ॥
(अमितगति श्रावकाचार, प्रशस्ति ८)

अर्थात्—यदि इस ग्रन्थ मे कुछ सिद्धान्त-विरुद्ध कहा गया है, वह विद्वज्जनो को विशुद्ध करके ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार धान्य को ग्रहण कहने के इच्छुक पुरुष लोक में क्या भूसा छोड़कर धान को ग्रहण नही करता हैं ? अत: छिल्का छोड़कर शालि ग्रहण करते है।

पूर्णत: आगमानुकूल ग्रन्थ-रचना के उपरान्त उपर्युक्त कथन आचार्य के व्यक्तित्व की महानता का परिचायक है।

कथनी, करनी और लेखनी से सुप्रभावक आचार्य अमितगति का जीवन साहित्य साधना के लिए समर्पित था, इन्होने अपनी परिष्कृत बौद्धिक प्रतिभा द्वारा विविध विषयो मे ग्रंथ प्रणयन किये हैं। जिसमे अज्ञानी जीवो को अज्ञान अन्धकार नाशक ज्ञान का स्वरूप और महत्ता का उपदेश, मात्र ज्ञान को सब कुछ मानने वालों को रत्नत्रय का निरूपण, विषय-भोगो में आसक्त मानवो को विषय-भोगो की अनासक्ति हेतु उसकी हेयता का प्रतिपादन, जातिगत अहकारी जीवों को उसकी नि:सारता का उपदेश तथा मात्र बाह्य आडम्बर में आसक्त मानवो को आध्या-त्मिक अथवा आत्म आराधना की प्रेरणा पद-पद पर द्रष्टव्य है।

माथुर संघ के दिगम्बर जैनाचार्य अमितगति नैतिक नियमो, लोकबुद्धि से पूर्ण हितकर उपदेशों एव सारगर्भित बिवेचनों के निरूपण में विशेषत: सिद्धहस्त हैं। भोग-विलास और सांसारिक प्रलोभनों की निन्दा करने में वे अधिक वाक्पटु हैं। गृहस्थ और मुनियों के लिए आचार-शास्त्र के नियमानुसार जीवन के प्रधान लक्ष्य को प्रति-पादन करने का कोई भी अवसर वे हाथ से नहीं जाने

देते। अतः विषय को पृथक्-पृथक रूप से निबद्ध करने के लिए उन्होने निम्नलिखित मौलिक ग्रथों की रचना की है—

(१) सुभाषितरत्नसदोह,
(२) अमितगति श्रावकाचार,
(३) धर्मपरीक्षा,
(४) तत्त्वभावना,
(५) भावना द्वात्रिंशतिका (सामयिक पाठ),

इसके साथ ही आचार्य श्री ने अग्रलिखित ग्रथों को प्राकृत भाषा से सस्कृत भाषा मे रूपान्तरित किया है—

(१) पञ्चसंग्रह,
(२) मूलाराधना,

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त वर्धमान-नीति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, व्याख्या प्रज्ञप्ति एवं सार्द्धद्वय द्वीप प्रज्ञप्ति की रचना का श्रेय भी श्री अमितगति को दिया जाता है, परन्तु ये रचनायें अद्यावधि अनुपलब्ध है।

श्रुतपरम्परा के सारस्वत आचार्य अमितगति अपनी निरूपण कला मे पूर्ण कुशल है। विषय की सरल-सरस स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए इनके साहित्य मे विविधता का दिग्दर्शन होता है। जिसमें भाषा, शैली, गुण, रीति, रस छन्द और अलकारों का वैविध्य मुख्य है।

विलक्षण प्रतिभा के धनी अमितगति का सस्कृत एवं प्राकृत भाषा पर असाधारण अधिकार है, जिसे इन्होने स्वय स्वीकार किया है। धर्म-परीक्षा नामक मौलिक ग्रथ-रचना मात्र दो मास और मूलाराधना नामक प्राकृत ग्रथ का सस्कृत रूपान्तरण चार मास की अल्पावधि मे ही पूर्ण किया है। आचार्य की समग्र मौलिक कृतियो की भाषा प्राञ्जल, ललित, सरस, विशुद्ध सस्कृत है। सस्कृत के साथ ही प्राकृत व्याकरण एव कोश पर भी इनका प्रकाम अधिकार है।

विषयानुरूप आचार्य ने अपनी कृतियो मे विविध शैलियों को प्रश्रय दिया है। जिसमे मुख्यत; शैलियां इस प्रकार है— माधुर्य और प्रसादगुण युक्त प्राञ्जल शैली, उपदेशात्मक शैली, तार्किक शैली, द्रष्टान्त शैली, व्यग्यात्मक शैली, प्रश्नोत्तर शैली, समाहार शैली, सर्जक शैली, आध्यात्मिक शैली, विवेचनात्मक शैली एव सामासिक शैली। पद्य के पूर्वार्ध में प्रश्न और उत्तर दोनों को सन्निविष्ट करके प्रश्नोत्तर शैली के सुन्दर निरूपण से आचार्य का कला-कौशल निदर्शित है—

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेतत्,
किमथ परम दुःखं सस्पृहत्वं यदेतत्।
इति मनसि विधाय त्यक्तसंगाः सदा ये,
विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः॥

(सुभाषितरत्नसदोह, १४)

अर्थात्—ससार मे उत्कृष्ट सुख क्या है? निःस्पृहता—विषयभोगों की अनिच्छा ही उत्कृष्ट सुख है। उत्कृष्ट दुःख क्या क्या है? सस्पृहता—विषयभोगाकांक्षा ही उत्कृष्ट दुःख है। इस प्रकार विचार करके जो भव्य जीव परिग्रह का त्याग करते हुए निरन्तर जिनधर्म की आराधना करते है, वे पुण्यशाली है।

महाकवि अमितगति के साहित्य मे माधुर्य और प्रसाद गुण का बाहुल्य है, परन्तु यथास्थान ओजगुण की भी सुदृढ़ स्थिति है। जिसके अनुरूप वैदर्भी, गौडी, लाटी एवं पाञ्चाली रीतियों का सन्निवेश है। विनोक्ति अलंकार से अलकृत प्रसाद गुण युक्त प्रस्तुत पद्य की मनोहरता निदर्शनीय है—

सस्यानि बीजं सलिलानि मेघ,
घृतानि दुग्धं कुसुमानि वृक्षं।
काङ्क्षत्यहान्येष बिना दिनेश,
धर्मं विना काङ्क्षति यः सुखानि॥

(अमितगति श्रावकाचार ९,२९)

अर्थात्—धर्म सेवन के बिना सुख की इच्छा करना; बीज के धान, मेघ के बिना जल, दूध के बिना घी, वृक्ष के बिना पुष्प, सूर्य के बिना दिन चाहने के समान मूर्खता है। अतः धर्म धारण करने पर ही सुखो की प्राप्ति संभव है।

छन्दोवैविध्य अमितगति की काव्यगत प्रधान विशेषता है। जिसमें मुख्यतः आर्या, अनुष्टुप्, विद्युन्माला, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, द्रुतविलम्बित, वशस्थविल, भुजंगप्रयात, वसन्ततिलक मालिनी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे प्रचलित छन्दो के साथ ही स्वागता, शालिनी, अनुकूला, दोधक, रथोद्धता तोटक

रुचिरा, प्रहरणकलिका, हरिणी, पृथ्वी एवं सरसी जैसे अप्रचलित छन्दों का भी विपुल प्रयोग है।

श्री अमितगति साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन से प्रतीत होता है कि कवि ने जान-बूझकर अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है, वरन् अलकारिक सौन्दर्य विषय की सहज अभिव्यक्ति मे स्वाभाविक रूप से अभिभूत है। उनकी रचनाओं में शब्दालंकार और अर्थालकार दोनो के लक्षण पर्याप्त मात्रा में घटित होते हैं, जिनमे अनुप्रास, यमक, श्लेष जैसे मुख्य शब्दालंकार और उपमा, मालोपमा उत्प्रेक्षा, समन्देह, रूपक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, दीपक, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिसंख्या, व्यतिरेक, उत्तर, कारण-माला, काव्यलिंग एव भ्रान्तिमान आदि अर्थालकारों की पुनरावृत्ति दर्शनीय है।

विद्याधर नरेश जितशत्रु के गुणो के वर्णन में परिसंख्या अलंकार का सौन्दर्य प्ररूपित है—

अन्धोऽन्यनारीरवलोकितुं यो,
न हृद्यरूपा जिननाथमूर्तिः।
निः शक्तिकः कर्तुमवद्यकृत्यं,
न धर्मकृत्यं शिवशर्मकारी।
(धर्मपरीक्षा, ६,३४)

अर्थात्—विद्याधर नरेश जितशत्रु यदि अन्धे थे तो परस्त्रियों को देखने में, न कि मनोहर आकृति को धारण करने वाली जिनेन्द्र प्रतिमाओं के दर्शन करने में। इसी प्रकार असमर्थ थे तो पापकार्यों को करने मे, न कि मोक्ष-सुख प्राप्त कराने वाले धर्मकार्यों में।

प्रकृति के सर्वथा अनुकूल तपस्वी आचार्य की लेखनी का चमत्कार शान्तरस की अतिशयता है, परन्तु काव्य में यत्र-तत्र विषयानुरूप द्विविध शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स एव अद्भुत रस की अनुभूति भी होती है। कवि द्वारा शृगार, हास्य, करुण आदि रसो का वर्णन प्रधान रूप से न होकर मात्र उपदेशात्मक शैली के माध्यम से इनकी हेयता के प्रतिपादन मे हुआ है। इस प्रकार भयानक रस के अतिरिक्त अष्ट रसों का अनुपमेय चित्रण पाठको अथवा श्रोताओ को स्थायी रसानुभूति की ओर प्रेरित करते हैं, षटरसों से परिपूर्ण व्यंजनो के रसास्वादन के क्षणिक आनन्द की भांति नही।

युगद्रष्टा श्री अमितगति का मात्र काव्यशास्त्रीय पक्ष ही प्रबल नही है। उन्होंने सैद्धान्तिक गूढ़ विषयों को भी अपने चिंतन द्वारा अल्प पद्यों में ग्रथित करके धारावाहिक शैली मे सुसज्जित किया है। जैन वाङ्मय के गूढ़तम सिद्धांत—कर्मसिद्धांत को भी प्रस्तुत मात्र दो पद्यो द्वारा प्रतिपादित किया है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वय कृत कर्म निरर्थकं तदा॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः,
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥

अर्थात्—अपने पूर्वोपार्जित कर्म ही प्राणियों को शुभ और अशुभ फल देते हैं, अन्य कोई नहीं। यदि अन्य कोई भी सुख-दुःख देने लगे तो अपने किए कर्म निष्फल ही ठहरेंगे; परन्तु ऐसा नहीं होता, जो कर्म कर्ता है वही फल भोगता है, यही सत्य है। ससारी प्राणियो को स्वय उपार्जित कर्मों के सिवाय अन्य कोई व्यक्ति किसी को कुछ भी नही देता। इस प्रकार विचार करके 'पर देता है' ऐसी बुद्धि का त्याग कर निज शुद्ध स्वरूप मे रमण करना चाहिए।

आचार्य अमितगति का साहित्य प्रायः उद्बोधन प्रधान है। जिसमे आचार्य श्री ने अपने उपदेशो को सुभाषितों के माध्यम से व्यंजित किया है। लौकिक और अलौकिक अभ्युदय के लिए धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुभाषित पद्यों की कही-कही तो निर्झर के जलप्रवाह के समान झड़ी-सी लगाई है। जिनका अनुपम सौन्दर्य पद-पद पर द्रष्टव्य है। यथा—

संपन्नं धर्मत: सौख्यं निषेव्य धर्मरक्षया।
वृक्षतो हि फलं जातं भक्ष्यते वृक्षरक्षया॥

अर्थात्—प्राणियों को धर्म के निमित्त मे ही सुख प्राप्त हुआ है। अतएव उन्हें धर्म को रक्षा करते हुए ही

(शेष पृष्ठ १९ पर)

प्राप्त कुछ प्रश्नों के उत्तर

❑ जवाहरलाल मोतीलाल भीण्डर

१. प्रश्न—"समयसार" कुन्दकुन्द की कृति है, इसका मूल उल्लेख कहाँ है ?

उत्तर—A कुन्दकुन्द ग्रन्थोंके टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि तथा जयसेन ये दो आचार्य प्रधनतः हुए हैं। अमृतचन्द्र ने अपने मूल ग्रन्थकर्ता के विषय मे कुछ भी निर्देश नहीं किया है। पर जयसेन आचार्य ने समयसार की टीका के प्रारम्भ मे लिखा है—

अथ शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्ताररुचि-शिष्यप्रतिबोधनार्थं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवनिर्मिते समयसार-प्राभृतग्रन्थे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितं व्याख्यान क्रियते।

अर्थ—यहाँ शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादन को मुख्यता से विस्तार मे रुचि रखने वाले शिष्यो को प्रतिबोधन करने श्री कुन्दकुन्द द्वारा बनाए हुए समयसारप्राभृत ग्रन्थ मे अधिकार की शुद्धिपूर्वक पीठिका सहित व्याख्यान किया जा रहा है।

B उन्ही जयसेन आचार्य ने अन्तिम मगलाचरण में कहा है--

जयउ सिरि पउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वजीवस्स ॥१॥

अर्थ—ऋषि पद्मनदि (कुन्दकुन्द) जयवन्त वर्तो, जिनके द्वारा महातत्त्वप्राभृत यानी समयप्राभृतरूपी पर्वत बुद्धि-रूपी शिर पर धारण कर (उठाकर) भव्य जीवो के लिए समर्पित किया।

कुन्दकुन्द का नाम पद्मनन्दि है यह निर्विवाद है। [तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २।१०२-३]

C गोगामृत, ३ मे लिखा है—

आचार्योत्तमराप्तर्रि तिलिद तत्वज्ञानिगल कोंडकुंडाचार्य मकलानुयोग दोलग तत्सारमकोडु पूर्वाचार्यवलि-योजेयि समयसार ग्रंथमंमाडि विद्याचातुर्य मनी जगक्के मेरेदर चारित्र चक्रेश्वरर् ॥

अर्थ—आप्तस्वरूप, आचार्यों में उत्तम, महान् तत्त्व-ज्ञानी, चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने सम्पूर्ण अनुयोगों के सार का मन्थन कर पूर्वाचार्य परम्परा से प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान को "समयसार" की रचना के द्वारा, अपनी स्वानुभव विद्या चातुरी के रूप मे, इस जगत् में सुकीर्ति को प्राप्त हुए। [रयणसार। पुरोवचन। पृ० ८।डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच]

उक्त प्रमाण भी समयसार को कुन्दकुन्द रचित बताता है।

D श्री नेमिचन्द्र ने सूर्यप्रकाश मे कहा है—

अन्ते समयसार च नाटक च शिवार्थद।
पंचास्तिकायनामाढ्य वीरवाचोपसंहितम् ॥

(पृ० १८ का शेषांश)

प्राप्त सुख का सेवन करना चाहिए। जैसे—सज्जन पुरुष वृक्ष की रक्षा करते हुए ही उससे उत्पन्न फलों को खाया करते हैं।

दार्शनिक कोटि के साहित्यकार अमितगति ने जीवन के मानव मूल्यो को सुसंस्कृत करने के लिए सत्येषु मैत्री की उद्घोषणा, सदाचरण की प्रतिष्ठा, धर्मनिष्ठा, देव-महत्ता, आध्यात्मिकता, कर्मफल, जातिवाद की निःसारता, यौगिक प्रवृत्तियाँ, और साहित्य सिद्धातों की विवेचना आदि विभिन्न पक्षों को उद्घाटित किया है। इस प्रकार अमितगति के साहित्य रूपी उद्यान मे विविध वर्णिक चमत्कारजन्य कल्पना शक्ति का वैशिष्ट्य, भावों की मोह-कता, भाषा की सुगमता, लालित्य और आलंकारिक छटा रूपी विभिन्न पुष्पों की सुरभि प्रत्येक पद्य में पाठक, श्रोता और अनुयायियों को अपने वैशिष्ठ्य अद्यावधि सुवासित कर रही है, तथा युग-युगों पर्यन्त सुवासित करती रहेगी।

—:०:—

आद्यं, प्रवचनं चैव मध्यस्थं सारसंज्ञकम् ।
सम्बोधनार्थं भव्यानां चक्र सत्यार्थदम् ।।
स्तवनं चित्तरोधार्थं रचयामास स मुनिः । [सूर्यप्रकाश ३४५-३५०]

भावार्थ—यहाँ कुन्दकुन्द की रचनाओं का विवरण दिया जा रहा है। जिसमे नेमिचन्द्र ने कहा है कि कुंदकुन्द मुनि ने पहले पचास्तिकाय और अन्त मे समयसार रचा। मध्य मे प्रवचनसार रचा। अतः मुनि कुदकुद ने सभी रचनाओं के अन्त मे समयसार रचा। (रयणसार। प्रस्ता०।पृ० १६, डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री)

E समयसार तो निर्विवाद रूप से कुदकुद की ही रचना है इसमे समस्त विद्वान् तथा सभी पक्ष (तेरह पथ, बीस पंथ, तरणपथ, गुमानपंथ, मूमुक्षुमण्डल) एकमत है। A. N. उपाध्ये, जुगलकिशोर मुख्तार एव नाथूराम जी प्रेमी जैसे इतिहासज्ञो ने भी समयसार को तो निर्विवाद रूप से कौन्दकुन्दीय कृति ही माना है। 'विमतानामपि ऐक्य यत्र किं प्रमाणेन तत्र।" भिन्न-भिन्न मत वाले भी जिस विषय में ऐकमत्य रखते हो उसमें प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है ?

F आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीमद् राजचन्द्र ने एक पत्र में लिखा था—

"पत्र और समयसार की प्रति मिली। कुंदकुंदाचार्य कृत समयसार ग्रन्थ भिन्न है। ग्रन्थकर्ता अलग है, और ग्रन्थ का विषय भी अलग है। (ग्रन्थ उत्तम है) यह पत्र श्रीमद् जी ने० सं० १९५६ ज्येष्ठ शु० १३ सोमवार को श्री मुमुक्षु सुखलाल छगनलाल को वीरमगाम लिखा था। उक्त तिथि को श्रीमद् जी ववाणिया विराजमान थे। (श्रीमद्० २।७४४ व ९८०) इससे अत्यन्त स्पष्ट है कि समयसार ग्रन्थ दो हैं। इतना अत्यन्त स्पष्ट है। पर कुंदकुदाचार्य कृत ४१५ गथाओं या ४३७ गाथाओं वाला समयसार तो निर्विवादतः कौन्दकुन्दीय ही है।

२. प्रश्न—मंगल भगवान् वीरो'''आदि श्लोक किसकी रचना है ? इस श्लोक में मगलं कुंदकुंदार्यो ठीक है या मंगलं कुंदकुंदाद्यो ठीक है ? यह श्लोक किसने रचा ?

उत्तर—कुदकुंदप्राभृतसग्रह प्रस्ता० पृ० १, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २, पृ० ९९, प्रवचनसार प्रस्ता० पृ० १२ (सोनगढ) आदि ग्रंथों में एवं अन्यत्र यह श्लोक सैकड़ो जगह मिलता है। शास्त्र-स्वाध्याय के प्रारम्भ मे मगलाचरण में भी इसे बोला जाता है। पर यह किसका है और कबका है, यह कही नही मिला। अतः मूल पाठ बताना सम्भव नही है। वैसे दोनों मे से कोई भी सिद्धांतघातक तो है नही। अनुष्टुप श्लोक भी किसी भी पाठ से भग नही होता।

३. प्रश्न—मयुर पिच्छी का चलन कबसे हुआ ? किस शास्त्र मे विधान है ?

उत्तर—आगम मे लिखा है कि—जो धूलि और पसीने को न पकड़ती हो, कोमल स्पर्श वाली हो, सुकुमार हो और हल्की हो उस पिच्छी की गणधर-देव प्रशसा करते है। मूल गाथा इस प्रकार है—

रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च ।
जत्थेदे पच गुणा तं पडिलिहण पससति ।।

यह गाथा मूलाचार समयसाराधिकार ९१२ तथा भगवती आराधना ९७ के रूप मे बिना पाठान्तर के, दोनों ग्रथो मे उपलब्ध है। लगभग ९०० वर्ष पूर्व सिद्धांत-चक्रवर्ती वसुनन्दि ने इसी मूलाचार की आचारवृत्ति मे लिखा था—

A मयूर पिच्छग्रहणं प्रशसति अभ्युपगच्छन्ति आचार्या गणधरदेवादय -

(अर्थ—मयुरपिच्छी का ग्रहण करना गणधरादिक द्वारा भी प्रशसनीय है)। (गा० ९१२ मूलाचार)

B आगे भी देखिए—

प्राणसंयमपालनार्थं प्रतिलेखनं धारयेत् मयुरपिच्छिकां गृह्णीयात् भिक्षुः साधुरिति। (गा० ९१३ की आचारवृत्ति)

अर्थ—'''प्राणिरक्षा हेतु मुनिराज मयुरपंखों की पिच्छिका ग्रहण करे। (पृ० १२१, भाग २ मूलाचार ज्ञानपीठ)

C आगे लिखा है(गाथा ९१५, पृ० १ २ ज्ञानपीठ) :

न च भवति नयनपीडा चक्षुषो व्यथा अक्षिण नयनेऽपि भ्रामिते प्रवेशिते प्रतिलेखे मयुरपिच्छे

अर्थ—मयुरपिच्छी को तो नेत्रों में फिराने पर भी पीड़ा नही होती, इतनी नरम होती है।

वही आगे लिखा है—न च प्राणिघातयोगात्तेषा-

(शेष पृ० २८ पर)

व्रत : स्वरूप और माहात्म्य

(लेखक—क्षुल्लकमणि श्री शीतल सागर महाराज)

व्रत के सम्बन्ध मे, हमारे ऋषि-महर्षियों के भाव को, कविवर दौलतराम ने छहढाला की चौथी ढाल मे कितना सुन्दर लिखा है—

"बारह व्रत के अतिचार, पन-पन न लगावे।
मरण समय संन्यास धार, तसु दोष नशावे॥
यों श्रावक व्रत-पाल, स्वर्ग सोलम उपजावे।
तहतैं चय नर-जन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावे॥"

यहाँ इस छन्द मे अतिचार-सहित बारह व्रतो का पालन करने वाले तथा निर्दोष सल्लेखना व्रत को धारण करने वाले श्रावक की महिमा का गुणगान किया है, कि ऐसा श्रावक पहले तो सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है एवं फिर मनुष्य-जन्म धारण कर व मुनिव्रतो को अंगीकार करके मोक्ष को प्राप्त करता है।

व्रतो के धारण-पालन का इतना महान जब महत्त्व है, तब क्यों नही हम इस विषय को विशेष रूप मे समझे। अर्थात् अवश्य ही इस विषय को समझने की कोशिस करना चाहिए।

हाँ तो व्रत कहिए या सयम अथवा सदाचार-सच्चरित्र या सम्यक्चारित्र; एक ही बात है। श्री उमास्वामी सूरि ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सात सूत्र संख्या एक में व्रत की परिभाषा इस प्रकार की है—

"हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।"

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह; इन पाच पापों का त्याग करना, व्रत कहलाता है।

यहाँ आचार्य श्री ने मुख्य रूप से पाच पापों के त्याग को व्रत कहा है। परन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन पांचों-पापों के अन्तर्गत, संसार के अन्य जितने भी पाप-बुराइयाँ हैं, वे सब इनमे गर्भित हो जाते है। जैसे—

"जुआ खेलना मास मद, वेश्यागमन शिकार।
चोरी पररमणी-रमण, सातों व्यसन विचार॥"

अपेक्षा से इन जुआ खेलना आदि सात-व्यसनों का समावेश उक्त पापों में ही होता है। इसी प्रकार—

"ओला घोर बड़ा निशिभोजन, बाहुबीजा बैंगन संधान।
बड़ पीपल गूलर कठूम्बर, पाकर जो फल होय अजान॥
कदमूल माटी विष आमिष, मधु मक्खन अरु मदिरा-पान।
फल अति तुच्छ तुषार चलित रस, जिनमत ये बाईस बखान॥

इन अभक्ष्य-भक्षणरूप बाईस बुराइयो का समावेश भी अपेक्षा से उपरोक्त पंच-पापों मे ही होता है। हाँ हमारे ऋषि-महर्षियों ने इन्हे जो अलग-अलग बताया है, तो अपेक्षा से इनका अलग-अलग त्याग करना-कराना होता है।

पाप या बुराई का त्याग कर अपने को शुभ-कार्यों में सलग्न करने की प्रतिज्ञा लेने को भी व्रत कहते है; क्योंकि पापों का त्याग किये बिना कोई भी जीवात्मा, शांतिपथ का पथिक नही हो सकता। शांतिपथ का पथिक होने के लिए, सांसारिक विषय-वासनाओ से भी मुख मोड़ना पड़ना है। इतना ही नही अपितु एकाग्रचित्त होकर सच्चे-देवशास्त्र गुरु और सात तत्त्वो को भी ठीक-ठीक समझना पड़ता है।

तत्त्वार्थसूत्र के ही अध्याय सात, सूत्र अठारह मे 'नि:शल्यो व्रती' लिखकर आचार्यश्री ने यह चेतावनी दी है, कि मात्र व्रतो को धारण कर लेने से अपने को व्रती मत समझ बैठना; क्योंकि व्रती-संज्ञा वास्तव मे शल्य रहित होने पर ही होती है। वे शल्य, माया, मिथ्यात्व और निदान के रूप में तीन है। एक कवि ने लिखा है—

"सयम की सीमा मत तोड़ो, अधे होकर तुम मत दौड़ो।
शाश्वत सुखकी है यह औषधि, तुम सब इससे नाता जोड़ो॥"

चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से जो सयम-व्रत धारण नही कर सकते ऐसे सम्यग्द्रष्टियों के विषय मे कवि दौलतराम जी ने एक भजन में लिखा है—

"चिन्मूरति द्रगधारी की, मोहि रीति लगत है अटापटी।
सयम धर न सके पै संयम, धारणकी उर चटापटी॥"

संसार के सभी धर्मों सम्प्रदायों ने व्रत-सयम को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया ही है, क्योंकि व्रत ही प्रत्येक धर्म की मूल-जड़ कहो या नीव-आधारशिला

है। आत्मकल्याण की भावना से स्वेच्छा पूर्वक जीवन भर के लिए अथवा परिमित, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, दो वर्ष आदि के लिए शुभ-पुण्य कार्य करने का संकल्प करना या हिंसादि पाप कार्य का त्यागना भी व्रत कहलाता है। पुरुषार्थ सिद्धि उपाय श्लोक चालीस के अनुसार चारित्र (व्रत) की परिभाषा इस प्रकार है—

"हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेः, चारित्रं जायते द्विविध ॥"

यहाँ यह समझाया गया है कि हिंसादि पांचों पापो का त्याग करना तो चारित्र-व्रत है ही; पर इन पापो का सर्वथा त्याग किया जाता है तो वह महाव्रत कहलाता है और एक देश पापों का त्याग करने पर वह देशव्रत-अणुव्रत सज्ञा को प्राप्त होता है।

लगभग इसी उक्त भाव की पुष्टि समन्तभद्राचार्य द्वारा रत्नकरण्ड में हुई है। श्लोक ४६ इस प्रकार है—

"हिंसाऽनृतचौर्येभ्यो, मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्या च।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः सज्ञस्य चारित्र ॥"

यहाँ इतना विशेष उल्लेख है कि ये हिंसादिक पांचो दोष, पाप के आस्रव द्वार है और इनका त्याग जब ज्ञानी व्यक्ति के होता है तभी ये चारित्र या व्रत कहलाते है।

श्रीअमृतचन्द्र सूरि ने तत्त्वार्थसार मे भी लगभग उक्त अभिप्राय को ही निम्न तरह से व्यक्त किया है—

"हिंसाया अनृताच्चैव, स्तेयादब्रह्मतस्तथा।
परिग्रहाच्च विरतिः, कथयन्ति व्रत जिनाः॥"

अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरति छुटकारा पाना व्रत है और यह या ऐसा श्रीजिनदेव कहते है।

इस प्रसग में द्रव्यसग्रह महाशास्त्र की गाथा ४५ इस प्रकार है जो कि ध्यान देने योग्य है—

"असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ती य जाण चारित्त।
वदसमिदिगुत्ति रूव, ववहारणया दु जिण-भणिय ॥"

अर्थात् अशुभ से छुटकारा होना तथा शुभ मे प्रवृत्ति होना चारित्र-व्रत है; तथा यह व्रत, समिति और गुप्ति-स्वरूप है एवं यह व्यवहाररूप से श्रीजिनदेव ने कहा है।

द्रव्यसग्रह की ही गाथा पैतीस मे इस प्रकार विवेचन है—

"वदसमिदिगुत्तिओ, धम्माणुपिहापरीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेयं, णायव्वा भावसंवर विसेसा ॥"

इस गाथा मे व्रत, समिति और गुप्ति के साथ-साथ; उत्तमक्षमादि दस धर्म, अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षा तथा क्षुधा-तृषादि बाईस परीषहजय को भी चारित्र मे ही सूचित किया है तथा इन सबको भावसवर का कारण लिखा है।

संयम जो कि व्रत का ही एक रूप है, इसके विषय में सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकाड गाथा ४६५ में इस प्रकार विवेचन किया है—

"वदसमिदिकसायाणं, दंडाण सहिंदियाण पचण्ह।
धारण पालण णिग्गह, चागजओ सजमानावओ॥"

अर्थात् अहिंसादि व्रतों को धारण करना, ईर्यादि समितियों का पालन, क्रोधादिक कषायों का निग्रह, मन-वचन-काय की कुत्सित क्रियारूप दण्डो का त्याग तथा स्पर्शादि पाचो इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना, यही सयम (व्रत) कहा गया है।

व्रत के सम्बन्ध मे, स्वामी समन्तभद्र ने, श्रीरत्नकरण्ड महाशास्त्र श्लोक ८६ मे एक महत्वपूर्ण बात इस प्रकार लिखी है—

"यदनिष्टं तद्व्रतयेद्, यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसधिकृताविरति, विषयाद्योग्याद् व्रत भवति ॥"

अर्थात् जो वस्तु अनिष्ट हैउसका त्याग किया जावे और जो अनुपसेव्य है उसका भी त्याग किया जावे। इस प्रकार योग्य विषयोंसे भी भावपूर्वक छुटकारा पाना व्रत है।

श्रीपूज्यपाद स्वामी ने, इष्टोपदेश में, व्रत के सम्बन्ध मे, जो महत्वपूर्ण बात लिखी है, वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते है—

"वर व्रतैः पद दैव, नाव्रतैर्वतनारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥"

अर्थात् अव्रतों से नारकी होने की अपेक्षा, व्रतो से देव-पर्याय प्राप्त करना श्रेष्ठ है। जिस प्रकार लोक मे एक व्यक्ति धूप मे खड़ा है उसकी अपेक्षा दूसरा छाया मे खड़ा रहने वाला श्रेष्ठ है।

इस व्रत के सम्बन्ध मे ही समाधितंत्र के श्लोक ८३, ८४ और ८६ मे जो उल्लेख है वह भी ध्यान देने योग्य है—

"अपुण्यमव्रतैः पुण्य, व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी, व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥

अव्रतानि परित्यज्य; व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत् तान्यपि सम्प्राप्य, परम पदमात्मनः ।।
अव्रती व्रतमादाय, व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः, स्वयमेव परोभवेत् ।।"

अर्थात् अव्रतों से अपुण्य (पाप) होता है तथा व्रतों से पुण्य होता है और इन दोनो के (पाप-पुण्य के) विनाश से, मोक्ष होता है। अतः मोक्षार्थी का कर्तव्य है कि वह अव्रतों की तरह व्रतो का भी त्याग करे। अव्रतोंका त्याग करके व्रतों मे संलग्न हुआ आत्मा; परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करके व्रतो का भी त्याग कर देता है। व्रत-विहीन व्यक्ति व्रतों को ग्रहण करके व्रती होकर ज्ञान मे तत्पर होवे। फिर परमात्म ज्ञान मे सम्पन्न होकर स्वयं ही परमात्मा हो जाता है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्य ने द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ मे जो 'तप ओर श्रुत के साथ व्रतों का धारक आत्मा ही ध्यानरूपी रथ की धुरा को साधने मे समर्थ होता है।' ऐसा लिखा है वह वास्तव मे ध्यान देने योग्य है। गाथा इस प्रकार है—

"तवसुदवदव चेदा, झाणरह धुरधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तिय णिरदा, तल्लद्धीए सदा होइ ।।"

इसका सरल व सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार है—
"तप श्रुत और व्रतोंका धारक, ध्यानसु रथ मे होय निपुण।
अतः तपादि तीन में रत हो, परम ध्यान के लिए निपुण ।।"

व्रत-संयम के विषय में जो स्व० डा० कामता प्रसाद जैन ने लिखा है वह भी विचारणीय है—

"व्रत चाहे छोटे रूप में किया जावे, परन्तु विधि से किया जावे तो बड़ा फल देता है। वट का वृक्ष देखा है, कितना बडा होता है, परन्तु इतने बडे पेड़ का बीज पोस्ता के दाने से भी नन्हा होता है। नन्हा-सा ठोस बीज जैसे महान फल देता है, वैसे ही नन्हा-सा व्रत भी सार्थक होकर जीवन मे बड़ी से बड़ी सफलता देता है।"

भारत के महामहिम राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी का स्वाधीनता दिवस पर सादगी का सन्देश है—
"शान शौकत का जीवन बिताने पर अंकुश जरूरी···
अदूरदर्शी-समाज पतन के गर्त मे बह गये ···।"

एक कवि ने कितना हृदय-स्पर्शी उल्लेख किया है—
"जीवन को महकाने वाला, व्रत ही फल अरु फूल है।
व्रत के बिना शांति सुख होवे, यह आशा निर्मूल है ।।"

एक अच्छे लेखक ने भी लिखा है—

"अणुव्रतों अथवा महाव्रतोंके धारण-पालन से आत्मिक श्रद्धा मजबूत होती है, विवेककी वृद्धि होती है, साथ ही स्वानुभूति रूप आनन्द की अभिवृद्धि होकर निराकुलता रूपी मुक्तिरमा के साथ अनंतकाल तक रमण होता है।"

एक अन्य विद्वान ने भी लिखा है—

"व्रतों का मूल उद्देश्य तृष्णा को तिलांजलि देकर आत्मिक आनंद की ओर अग्रसर होना है; परन्तु जो कुछ व्यक्ति देखा-देखी या जोश मे आकर अथवा होश खोकर भी व्रत धारण करते है, तथा उन्हें सहर्ष सोत्साह पालन नही करते, अतिचार-दोष लगाते रहते है, इससे स्वपर का पतन ही होता रहता है।"

वैराग्य भावनाके अन्त में कितना मार्मिक उल्लेख है
"परिग्रह-पोट उतारि सब, लीनो चारित-पंथ ।
निज-स्वभावमें थिर भये, वज्रनाभि निर्ग्रन्थ ।।"

समस्त संसार को अपने चरणों में झुकाने की शक्ति यदि किसी में है तो वह है व्रत-संयम। व्रत की शक्ति व्यक्ति की निजी शक्ति-आत्मशक्ति है। इसमें व्यक्ति की आत्मा का निवास होता है, या यो भी कह सकते है कि व्रत-संयम, व्यक्ति की वास्तविक सम्पदा है, जिसके बल पर ससार की अधिक से अधिक मूल्यवान वस्तुयें प्राप्त की जा सकती हैं। राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, पंडित-विद्वान, सभी व्रती-संयमी के चरणों के चेरे हो जाते है।

व्रत; व्यक्ति में वह सामर्थ्य सम्पन्न करता है, जो अन्य किसी भी शक्ति से दब नही सकता। धन-बल, तन-बल, कुटुम्ब-बल, यह बहुतों को दबा सकता है, लेकिन व्रती-संयमी को नही। अन्य भी कितने ही बल अन्यो को पराजित कर सकते है परन्तु व्रती-संयमी के समक्ष तो उन सभी को स्वयमेव नतमस्तक होना पड़ता है।

व्रत-विहीन का जीवन भी क्या कोई जीवन है? कौन बुद्धिमान उसे जीवन कहता है? वह जी रहा है इतने मात्र से उसमे जीवन की कल्पना करना निरर्थक है। हां उसे तो मृत कहिए अथवा जीवित लाश या मुर्दा। व्रत-विहीन के निस्तेज-मुख, ज्योतिहीन नेत्र और विकारयुक्त आंगोपांग पहली ही नजर में, देखने वालो के अन्तरंग मे, एक ग्लानि-सी पैदा कर देते है। उसके प्रति श्रद्धा नही हो पाती;

जबकि व्रती-संयमी का देदीप्यमान मुखमण्डल प्रसन्न-मन एवं समताभाव, प्राणिमात्र को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

व्रत के सम्बन्ध मे श्रीउत्तरपुराण (७६–३७४) मे आया है—

"अभीष्टं फलप्राप्नोति, व्रतवान् परजन्मनि।
न व्रतादपरो बंधु,र्नाव्रतादपरो रिपु.॥"

अर्थात् व्रती-व्यक्ति, आगामी भव मे, मनोवांछित फल को प्राप्त करता है। अहिंसादि व्रतों के समान जीव का कोई भी अन्य बन्धु नही है और हिंसादि के समान अन्य शत्रु नहीं है।

लोक मे तीन प्रकार के व्यक्ति है। एक तो वे है जो विघ्न के भय से व्रतों को धारण ही नही करते। ऐसे व्यक्ति निकृष्ट या जघन्य कहलाते है। दूसरे वे हैं जो व्रतों को तो धारण करते है, लेकिन विघ्न-बाधा आने पर उन्हें छोड देते हैं। ऐसे व्यक्ति मध्यम श्रेणी के है और तीसरे व्यक्ति वे है जो व्रतों को धारण करने के पश्चात् कितने ही विघ्न आने पर भी उन्हें छोड़ते नही। जीवन-पर्यंत व्रतों का निर्वाह करते है और ऐसे व्यक्ति उत्तम श्रेणी के कहे जाते है। सो ही सम्यक्त्व-कौमुदी मे उल्लेख है—

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै.,
प्रारभ्य विघ्नवहिता विरमति मध्याः।
विघ्नै: पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥"

हमें 'देहस्य सार व्रतधारणं च' इस संस्कृत सूक्ति को ध्यान मे रखते हुए कि 'मानव जीवन की शोभा व्रतों के धारण करने से है'; कभी भी व्रतों मे पराङ्मुख नही होना चाहिए। हमारे गुरू महाराज जी कहा करते थे कि—

"घोड़ा चढ़े पड़े, पड़े क्या पीसनहारी।
द्रव्यवंत ही लुटे, लुटे क्या जन्म-भिखारी॥"

पर यहा उनके कहने का यह अभिप्राय नही था कि व्रत लेकर पालन नही करना। वे स्पष्ट रूप में कहते थे कि—"सोच समझकर व्रत अवश्य धारण करो। कर्मयोग से व्रत छूट भी जाय तो पुनः धारण करो। व्रत सहित मरण को प्राप्त होने से नियम से देवगति की प्राप्ति होती है फिर परम्परा से मुक्ति प्राप्त होती है।

व्रत के विषय मे सागारधर्मामृत अध्याय ७ का श्लोक ५२ इस प्रकार है—

"प्राणान्तेऽपि न भक्तव्यं, गुरुसाक्षिश्रितं व्रतं।
प्राणान्तस्तत्क्षणे दुःख, व्रतभगो भवे भवे॥"

अर्थात् गुरु की साक्षी-पूर्वक लिए गये व्रत को प्राणांत होने पर भी भंग नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्राणान्त मरण से तो उसी क्षण दुःख होता है लेकिन व्रत को भंग करने से भव-भव मे कष्ट प्राप्त होता है और इसीलिए एक आचार्यश्री ने उल्लेख किया है कि—

"वरं प्रवेष्टुं ज्वलित हुताशनं,
न चाऽपि भग्नं चिरसचितं व्रत।"

अर्थात् भीषण अग्नि में प्रवेश करना तो श्रेष्ठ है, लेकिन चिर सचित व्रत को भग करना अच्छा नहीं।

हमे एक आचार्यश्री के निम्न श्लोक के भाव को भी सदैव स्मरण रखना चाहिए—

"वृत्त यत्नेन मरक्षेत्, वित्तमेति व याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तुहतो हतः॥"

अर्थात् व्रत तो धारण करना ही चाहिए, साथ ही उसका यत्नपूर्वक पालन भी करना चाहिए। क्योकि लोक मे धन तो आता-जाता रहता है, परन्तु जो व्रतों से च्युत हो जाता है उसका तो सर्वस्व ही विनष्ट हुआ समझना चाहिए।

सामान्य से देखा जाय तो व्रत के कोई भेद नही हैं, क्योकि व्रत कहने से ही सभी प्रकार के व्रत आ जाते है। सक्षेप मे भेद किये जाये तो व्रत दो प्रकार के है। सो ही श्रीउमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सात सूत्र सख्या दो मे इस प्रकार बताया है—

'देश-सर्वतोऽणुमहती' अर्थात् व्रत दो प्रकार के है, एक तो अणुव्रत और दूसरे महाव्रत। हिंसादि पापो का एक-देश त्याग 'अणुव्रत' और इन्ही पापो का सर्वदेश-पूर्णतया नवकोटि से त्याग करना 'महाव्रत' है।

दुनियां मे वस्तु का विभाजन एक तो भोगवस्तु के रूप में है और दूसरा उपभोग वस्तु के रूप मे और इस अपेक्षा भी व्रत के दो भेद हो सकते हैं। भोगवस्तु का त्याग

करने रूप 'भोगव्रत' तथा उपभोग वस्तु का त्याग करने रूप 'उपभोग व्रत'। भोग-उपभोग का स्वरूप श्रीरत्न-करण्ड मे इस प्रकार बताया है—

"भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो-भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसन, प्रभृतिपंचेन्द्रिय-विषयः ॥८३॥"

अर्थात् जिसका एक बार भोगकर त्याग हो जाता है तथा पुनः भोगने में नही आवे वह भोगवस्तु है। जैसे—भोजन, लड्डू, पेड़ा, रोटी आदि। जो एक बार भोगने के बाद पुनः भी भोगने मे आ सके वह उपभोग वस्तु है। जैसे—वस्त्र, आभूषण, नल, बिजली, मकान, पलंग आदि।

कोई भी संकल्प, प्रतिज्ञा, त्याग अथवा व्रत, या तो जीवन भर के लिए किया जाता है अथवा सीमित काल के लिए और इस प्रकार भी व्रत के दो भेद हो सकते है। एक तो जीवन भर के लिए धारण किया जाने वाला व्रत (यम) और एक सीमित काल के लिए लिया जाने वाला व्रत (नियम)। सो ही स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्लोक ८७ मे इस प्रकार प्रकट किया है—

"नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोगसंहारे।
नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमोध्रियते ॥"

आगे आचार्यश्री ने नियम के विषय में श्लोक ८८ व ८९ में स्पष्ट किया है—

"भोजनवाहनशयन, स्नानपवित्रांगरागकुसुमेषु।
ताम्बूलवसनभूषण, मन्मथसंगीतगीतेषु ॥
अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तुरयन वा।
इति काल परिच्छित्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥"

इसका सरस-सुन्दर और सरल हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार पठनीय है—

"भोजन वाहन शयन स्नान रुचि, इत्रपान कुंकुम लेपन।
गीत वाद्य सगीत कामरति, माला भूषण और वसन ॥
इन्हे रातदिन पक्षमास या वर्ष आदि तक देना त्याग।
कहलाता है'नियम'और 'यम', आजीवन इनका परित्याग ॥"

हमे इस प्रसग में महर्षियो के निम्न वाक्यो व सूक्तियो को भी ध्यान में लेने की आवश्यकता है।

"व्रतेन यो विना प्राणी, पशुरेव न सशयः।
योग्यायोग्य न जानाति, भेदस्तत्र कुतो भवेत् ॥"

अर्थात् इसमें कोई भी सन्देह नही है कि व्रतविहीन प्राणी; पशु-अज्ञानी ही है क्योंकि अव्रती योग्य-अयोग्य के विवेक से विहीन होता है। उसमें विवेक होता ही नही।

"राग-द्वेष-निवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।"

अर्थात् साधु-आत्महितैषी भव्यात्मा, राग-द्वेषादि विकारों को दूर करने के लिए, चारित्र (व्रत) धारण करता है।

"ये नित्यं व्रतमंत्रहोमनिरताः"

अर्थात् साधु पुरुष नित्य ही व्रत, मंत्र और होम-कषायो को दूर करने में संलग्न रहते हैं।

"व्रतसमुदयमूलः" अर्थात् व्रतों का समुदाय ही धर्म-वृक्ष की जड़ है।

"सद्वृत्तानां गुणगणकथा" अर्थात् जब तक मोक्ष सुख की प्राप्ति न हो तब तक हे परमात्मन्! मैं शास्त्रानुकूल व्रतों की महिमा का गुणगान किया करूँ।

पाक्षिक-प्रतिक्रमण में उल्लिखित निम्न गाथायें भी व्रत के सम्बन्ध में आदरणीय है—

"धिदिमतो खमाजुत्तो, झाणजोगपरिट्ठिदो।
परीसहाण उरं देंतो, उत्तमं वदमस्सिदो ॥"

अर्थात् जो धैर्यवान है, उत्तम क्षमा को धारण करने वाला है, सब ओर से ध्यानयोग मे स्थित है, साथ ही क्षुधा तृषादि परीषहों को सहन करने वाला है, वही उत्तमव्रत-महाव्रतों को धारण-पालन करने वाला होता है। इसी प्रकार—

"पाणादिवादं च हि मोसगं च, अदत्तमेहुण्णपरिग्गहं च।
वदाणि सम्म अणुपालइत्ता, णिव्वाणमग्ग विरदा उवेति ॥"

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनके त्यागरूप अहिंसादि व्रतो को पालन करने वाले दि० मुनि, निर्वाण-मोक्षमार्ग को प्राप्त करते है।

इस प्रकार इस लेख में आचार्यों आदि के उद्धरण देकर व्रत का स्वरूप, व्रत की आवश्यकता, व्रत का माहात्म्य और सक्षिप्त भेदों के विषय मे प्रतिपादन किया है। वास्तव मे व्रत, नियम, चारित्र के बिना, मनुष्य जीवन पंगु या नेत्रविहीन व्यक्ति के समान निरर्थक है। अन्त मे—

"द्रढ़ता से व्रत धारकर, पाले द्रढ़ता पूर्व।
स्वपर का कल्याण हो, फिर निर्वाण अपूर्व ॥"

—इत्यलम्

जैन ग्रन्थों में विज्ञान

□ श्री प्रकाशचन्द्र जैन प्रिंसिपल स. भ. सं. वि. दिल्ली

जैन ग्रन्थों मे वैज्ञानिक तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। आज विज्ञान के जो आधुनिकतम आविष्कार है उनके मूल सिद्धान्त जैन शास्त्रो में यत्र-तत्र बिखरे हुए है।

जैनाचार्य उमा स्वामी अथवा उनके पूर्व और उत्तर-वर्ती आचार्यों ने जो सिद्धान्त थ्योरी लिखे है उन्ही का आधार लेकर वैज्ञानिको ने प्रेक्टीकल किया है। प्रेक्टीकल करने वालों की सबसे बड़ी भूल यह हुई कि उन्होंने थ्योरी सिद्धान्त देने वाले आचार्यों की मानव कल्याण एवं आत्मोन्नति की मंगल भावनाओं को उपेक्षित करके अपने प्रेक्टीकल द्वारा ऐसे-ऐसे उपकरणों, यंत्रों और मशीनों का निर्माण आरम्भ कर दिया है जिनको पाकर आज का मानव समाज सांसारिक विषयभोगों मे लिप्त हो रहा है। आपस में लड रहा है, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष बढ़ रहे है तथा विविध प्रकार की वैज्ञानिक सुविधाये पाकर मानव पुरुषार्थहीन हो गया है।

ससार के निर्माण के सम्बन्ध में आज की वैज्ञानिक मान्यता यह है कि यह ब्रह्माण्ड कोई क्रियेटीड वस्तु न होकर एक घास के खेत के समान है। जहां पुराने घास घास तिनके भरते रहते है और उनके स्थान पर नये तिनके जन्म लेते रहते है। परिणाम यह होता है कि घास के खेत की आकृति सदा एक-सी बनी रहती है। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त जैन धर्म के साहित्य मे वर्णित विश्व रचना के सिद्धान्त से अधिक मेल खाता है। इसके अनुसार इस जगत का न तो कोई निर्माण करने वाला है और न किसी काल विशेष मे इसका जन्म हुआ। यह अनादिकाल से ऐसा ही चला आ रहा है, और ऐसा ही चलता रहेगा। यह विश्व छह द्रव्यो के समूह का नाम है। यह छः द्रव्य है जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। वैज्ञानिक इन द्रव्यो को सबस्टेन्स के नाम से पुकारते हैं।

वर्तमान विज्ञान द्रव्य को स्थायी मानने के साथ परि-वर्तनशील भी मानता है। प्रत्येक द्रव्य की अवस्थायें बदलती रहती हैं। जैसे लकड़ी है, वह स्कध पर्याय है। उसको जला दिया जाये तो कोयला बन जायेगा, उसका नाश नही होगा पर्याय बदल जायेगी और कोयले को भी जला दिया जाये तो राख बन जायेगी। मगर मूल तत्त्व का नाश नहीं होगा। यह वैज्ञानिक मान्यता वही है जो आज से कई हजार वर्ष पहले लिखे गये जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र में प्राप्त है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत्। सद् द्रव्य लक्षणम्—अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य जहा पाये जाएँ उसका नाम सत् है। तथा सत् ही द्रव्य का लक्षण है।

जैनाचार्यों ने प्रकृति को पुद्गल के नाम से पुकारा है। और पुद्गल शब्द की व्याख्या उन्होने—'पूरयन्ति गलयन्ति इति पुद्गलाः' अर्थात् पुद्गल उसे कहते है जिसमे पूरण और गलन क्रियाओ के द्वारा नई पर्यायों का प्रादुर्भाव होता है। विज्ञान की भाषा मे इसे फ्यूजन व फिशन या इन्टिगेशन व डिसइन्टिगेशन कहते है। वैज्ञानिको ने पुद्-गल का नाम मेबर दिया है। वे कहते है कि पुद्गल स्कध में हरमाणु मिलते भी है और बिछड़ते भी है।

वर्तमान वैज्ञानिकों ने सिद्धान्त दिया है कि दो हाई-ड्रोजन और एक आक्सीजन का अनुपात मिलाया जाए तो जल तैयार हो जायेगा। जैन दर्शन मे कहा गया है कि जल कोई स्वतंत्र द्रव्य नही है वह तो पुद्गल का स्कंध पर्याय है।

द्वयधिकादिगुणानां तु। स्निग्ध-रुक्षत्वात् बधः। न जघन्यगुणानाम्। गुण साम्ये सदृशानाम्। जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र के इन चारों सूत्रों का आशय यह है कि स्निग्ध और रुक्षत्व गुणो के कारण एटम एक सूत्र मे बंधा रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन आचार्य आज के वैज्ञानिक

शब्दों पोजीटीव और नेगेटिव से परिचित थे। उन्होंने यह भी कहा है कि अणुओ मे साम्य गुण होने पर बंध नही होगा। वह बंध तभी होगा जब गुणों मे अन्तर होगा। और वह गुणों में अन्तर दो डिग्री का होगा। आधुनिक वैज्ञानिक डा० रमण ने भी यही कहा था कि बध तभी होगा जब दोनों अणुओं मे दो डिग्री का फरक होगा। परमाणुओं मे जो कण भरे हुए है उनको जैन शास्त्रो की परिभाषा में यह कहा जायेगा कि पारा और सोना भिन्न पदार्थ नही है, वे पुद्गल द्रव्य की ही पर्याय है।

जैन ग्रन्थ गोम्मटसार मे परमाणु को षट्कोणी, खोखला और सदा दौड़ता-भागता हुआ बताया गया है। परमाणु की रचना स्निग्ध और रुक्ष कणो के सहयोग से होती है। विज्ञान ने १८४१ मे यह सिद्ध किया कि १९८ अश डिग्री का पारा लेकर उसको यौगिक क्रिया करने पर २०० अश डिग्री वाला सोना तैयार किया जा सकता है। यही बात जैन ग्रन्थो में भी उल्लिखित है। दो अधिक अश हो तो बध होगा और कम हो तो बध नही होगा। जैन सिद्धान्तानुसार संसार की जितनी भी वस्तुएं दृष्टिगोचर होती है वे सब पुद्गल की ही पर्याय है। वैज्ञानिक भी उन्हें मेटर की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं मानता है।

मेटर को स्वीकार करने के बाद विज्ञान ने मेटर के दो भेद किए। इस विश्व मे कुछ तो लिविंग सबस्टेन्स है और कुछ नोन लिविंग सबस्टेन्स है। लिविंग सबस्टेन्स मे उन्होंने जीव और पुद्गल को माना है। नोन लिविंग सबस्टेन्स मे उन्होने शेष द्रव्यो को माना है। जीव जब गमन करता है तो उसके गमन मे एक मीडियम होता है। उस मीडियम का नाम वैज्ञानिको ने ईथर रखा है। जैन ग्रंथों में इस गमन के माध्यम मे सहायक को धर्म द्रव्य कहा है। मीडियम आफ मोशन—ईथर या धर्म द्रव्य के बिना पुद्गल और आत्मा गमन नही कर सकते। वैज्ञानिक ईथर को नोन लिविंग सबस्टेन्स मानते है जैन ग्रन्थो में ईथर के पर्यायवाची धर्म द्रव्य को अरूपी—न दिखाई देने वाला कहा है। उन्होने कहा है कि धर्म द्रव्य मात्र अनुभव की वस्तु है। वैज्ञानिक भी ईथर को इन्द्रिय ग्राह्य नही मानते है। जैसे पानी मछली को गमन करने में सहायक होता है उसी प्रकार यह धर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गलो के गमन करने मे सहायक होता है।

वैज्ञानिको ने माना है कि वस्तुओं के गिर कर रुकने मे ग्रेवेटी पावर गुरुत्वाकर्षण काम करता है, इसी गुरुत्वाकर्षण को जैन शास्त्रों मे अधर्म द्रव्य माना गया है। जो कि जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहायक होता है।

इसी प्रकार विज्ञान ने स्पेस को भी माना है। स्पेश होने के कारण ही जीव और पुद्गल इस विश्व मे रहते हैं। यदि स्पेश ना हो तो कोई कहां रहे। जैन ग्रन्थों मे इस स्पेश का नाम आकाश दिया गया है। आकाशस्यावगाहः। यह आकाश द्रव्य के उपकार है कि पूरे विश्व में जीव और पुद्गल समाए हुए है।

जैन शास्त्रों मे काल को भी एक स्वतत्र द्रव्य स्वीकार किया गया है। वैज्ञानिक भी टाइम को स्वीकार करते है। यह टाइम ही समय को बदलने मे सहायक हो रहा है। वैज्ञानिक मानते है कि टाइम (काल द्रव्य) को स्वीकार करे बिना काम नही चल सकता। मिन्को नामक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध किया था कि काल द्रव्य एक स्वतंत्र सबस्टेन्स है।

इस प्रकार जगत निर्माण मे सहायक जिन छः तत्त्वो का जैन साहित्य मे उल्लेख है उन सभी को आज के वैज्ञानिक भी जैसा का तैसा स्वीकार करते है।

जैनाचार्यों ने प्रत्येक द्रव्य का कोई न कोई गुण माना है। वैज्ञानिक भी प्रत्येक सबस्टेन्स को क्वालिटी स्वीकार करते है। सभी द्रव्यों मे एजिस्टेन्स गुण वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। उसे ही जैनाचार्यों ने द्रव्यों का अस्तित्व गुण कहा है। वैज्ञानिक सबस्टेन्स को कोई न कोई युटिलिटी मानते हैं। जितने भी द्रव्य है वे सभी गुण वाले है और गुण वाले होने के कारण उनका कोई न कोई उपयोग है। प्रत्येक द्रव्य कोई न कोई क्रिया करता रहता है। इसलिए साइन्स प्रत्येक द्रव्य मे फंगसनेलिटी गुण मानता है। जैन साहित्य मे इसे द्रव्यत्व गुण कहा है।

जैन शास्त्रों मे कहा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप को नही ग्रहण कर सकता। उसके गुण भी कभी नही बिखर सकते। इस गुण को अगुरु लघुत्व गुण कहा

है। आज के वैज्ञानिक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि द्रव्य-सबस्टेन्स का रूप नहीं बदलता। वैज्ञानिकों ने सबस्टेन्स का एक गुण यह भी कहा है कि उसका कोई आकार होना चाहिए। जैन दर्शन मे इसको प्रदेशत्व गुण कहा गया है। जैन शास्त्रो मे पेड़-पौधों मे—वनस्पति में चेतन स्वीकार की गई है। जैनो की यह मान्यता हजारो कालों से चली आ रही है। आज के वैज्ञानिको ने बहुत बाद मे यह सिद्ध कर पाया कि वनस्पति मे भी जान है, वे सांस लेते है और सास छोड़ते है। प्रत्येक वनस्पति मे जैन मान्यतानुसार बल, आयु, श्वाच्छोच्वास आदि होते है। वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करते है।

जो वस्तुयें आखो से दिखाई देती है उनको जैन दर्शन मे चाक्षुश्व कहा गया है। यह चाक्षुश्व पदार्थ भेद संघात और दोनों के मिश्रण से बनते है। वैज्ञानिकों ने भी यही सिद्ध किया है कि एक मार्क्स नाम की गैस होती है। मार्क्स गैस मे क्लोराईड को प्लस करने से हाइड्रो क्लोरीक एसिड बन जाता है। मार्क्स गैस अदृश्य होती है परन्तु क्लोराइड के मिलने से वह चाक्षुश्व हो जाती है। इसी प्रकार जैन सिद्धान्त मे अन्य भी ऐसे प्रकरण मिलते है जिनकी प्रमाणिकता को नही नकारा जा सकता है। जैन साहित्य मे जैनों को सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना, पानी छान कर पीना, गेहूं के आटे का कुछ ही अवधि तक सेवन करना, दूध-दही के उपयोग मे सतर्कता रखना आदि की जो शिक्षायें दी गई है वे पूर्णतया वैज्ञानिक है। जैन साहित्य मे कर्मवाद का सिद्धान्त बहुत विस्तार मे वर्णित हुआ है। यह सिद्धान्त भी पूर्णतया वैज्ञानिक है।

नोट :—उक्त लेख दिनांक ११ दिसम्बर १९८८ को आकाशवाणी पर प्रसारित हुआ।

(पृष्ठ २० का शेषांश)

मुत्पत्तिः कार्तिकमासे स्वत एव पतनात्।

अर्थ—मयुरपंख की जीवघात से उत्पत्ति हो, ऐसी बात भी नही है, क्योकि मोर के पंख कार्तिक मास में स्वय झड़ जाते है उनसे यह बनती है। (पृ० १२३, ज्ञानपीठ प्रकाशन)

D श्रीयुत प्रेमी जी ने जैन हितैषी भाग १०, पृ० ३६९ पर ज्ञान-प्रबोध ग्रन्थ से एक कथा लिखी उसमे उसमे कहा है—

दो चारण मुनि जो पूर्व भव मे कुदकुंद के मित्र थे, कुदकुंद को सीमन्धर स्वामी के समवसरण मे ले गए। जब वे उन्हे आकाश मार्ग से भेज रहे थे तो मार्ग मे कुन्दकुन्द की "मयुर पिच्छिका" गिर गई। तब कुन्दकुन्द ने गृद्ध के पंखों से काम चलाया। कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह रहे और उनकी सब शकाए दूर हो गई। कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह प्रस्ता० पृ० ३-४, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा २।१०१)

बम्बई से प्रकाशित श्लोक वार्तिक की प्रस्तावना मे लिखा है—अपनी तत्त्व शका का समाधान करने के लिए उमास्वामी विदेहक्षेत्र मे गए थे। मार्ग में उनकी मयुरपिच्छी गिर गई। तब उन्होने गृद्ध के पिच्छ से काम चलाया। इसी से; बाद मे ये गृद्धपिच्छाचार्य कहलाए। (कुन्दकुन्द प्राभृतसग्रह प्रस्ताव० पत्र १३)

यदि उक्त सब बाते सत्य है तो शुरू से ही मयुर पिच्छिका के प्रचलन की सिद्धि हो जाती है। मयुरपिच्छिका मे पाँचो गुण विद्यमान होने से साधु के लिए अनुचित भी नही है। पूज्य आचार्य अजितसागर जी (पट्टाधीश) की परम्परा मे तो श्रावकों के माध्यम से ही अहिंसक विधि से; स्वतः गिरे पंखो की मयुरपिच्छियों का ही उपयोग किया जाता है। उक्त तीनों प्रश्न इतिहास से सम्बद्ध है; अतः इतिहासज्ञ विशेष प्रकाश डाल सकेंगे।

जरा-सोचिए !

१. कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी की सफलता ?

जब सन्देश मिलते है—श्रीमान् जी, हम आचार्यश्री कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी के उपलक्ष्य म अमुक तिथि मे गोष्ठी या सेमीनार कर रहे है। अनेका विद्वानो की स्वीकृति आ चुकी है। आप भी आइए—विचार प्रकट करने। किराया दोनो ओर का दिया जायगा, कुछ भेट भी देगे। भोजन और ठहरने की सभी सुव्यवस्थाये रहेगी, आदि।

तब हम सोचते है—क्या लिखे? इन घिसे-पिटे प्रोग्रामो के सम्बन्ध मे, सिवाय यह सोचने के कि—हम पहुच तो सकते है बिना किराया और भेट लिए ही। और विचार भी प्रकट कर देगे बिना कुछ खाए-पिए भी। पर, लोकेषणा के इस माहौल मे सचाई को सुनेगा और मानेगा कौन ? सभी तो मान-सम्मान और पैसे के नशे मे है—कोई ज्यादा कोई कम। क्या श्रोताओं और संयोजको के लिए गोष्ठी की सफलता (जैसा चलन है) किराया आदि देकर, हो हल्ला मचाने-मचवाने तक ही तो सीमित न रह जायेगी ? या होंगे कुछ सयोजक और कुछ श्रोता वहाँ ? जो कुन्दकुन्द जैसे आदर्शों को आत्मसात् करेगे—उनके जीवन और उपदेशों को आदर्श मान प्राण-पण से उन पर चलने को तैयार होंगे ? आदि। जैन तो आचार-विचार मे समुन्नत होता है। आज तो कई त्यागी भी शिथिल है।

हमें याद है—कभी २५००वा निर्वाणोत्सव भी मनाया गया था। तब बड़ी धूप थी और लोगो मे जोश-खरोश भी। तब लोगो ने प्रभूत द्रव्य का हस्तातरण भी किया। तब बड़े-बड़े पोस्टर लगे, किताबे छपी, पण्डाल बने। सम्मेलन, भाषण और भजन कीर्तन भी हुए। कही-कही महावीर के नाम पर पार्क भी बने, भवन बने और कई सड़कें भी अपने मे महावीर मार्ग नाम पा गई। यह जो हुआ शायद भावावेश मे कदाचित् अच्छा हुआ हो। कुछ थोथे नेता नाम पा गए हो उसकी भी हम आलोचना नहीं करते। पर, लोग आचार की दृष्टि से जहा के तहां भी न रह सके वे स्वय नीचे ही खिसके—सबके आचार-विचार गिरते गए, इसका हमे दुख है। और—आज स्थिति यह आ गई कि जो मोटी-मोटी बाते जैनेतरो को समझाई जानी थी वे जैनियो को सबोधित करके स्वयं ही कहनी पड़ रही है। जैसे—

भाई जैनियो ! रात्रिभोज का त्याग करो, सप्त व्यसनो से बचो, पानी छान कर पिओ, नित्य देव दर्शन करो, अहिंसा आदि चार अणुव्रतो का पालन और पाँचवें परिग्रह मे परिमाण को करो। और पूज्य-पद मे विराजित मुनिराज भी अन्तरग बहिरंग सभी भाँति से निर्ग्रन्थ रहने के लिए तीर्थंकर महावीर और कुन्दकुन्दवत् निज-ज्ञान, निज-ध्यान और निजतप मे लीन रहने की कृपा करें। समाज और अन्यों के सुधार चक्करो, भक्तों के अनिष्ट निवारण-हेतु मंत्र-तत्र जादू-टोना आदि करने से विरत हों। संघ के निमित्त वाहन आदि के सग्रह से विरत हों। अन्यथा, हमे डर है कि—कही वे स्टेजो, फोटुओ, जयकारों और भीड़ के घिराओ मे ही न खो जाँय और आर्ष-परपरा से च्युत न हो जाँय। वे पूर्वाचार्यों कृत आगमो का अपने हेतु अध्ययन करे। यदि आचार्यगण नई-नई रचनाओ के चक्कर में पड़ेगे तो व भले ही छोड़ी हुई जनता मे पुनः आ जाँय—नाम पा जाएँ, जिनवाणी का अस्तित्व तो खतरे मे ही पड़ जायगा—उसे कोई नही पढ़ेगा और काल्पनिक नवीन ग्रन्थ ही आगम बन बैठेगे।

आचाररूप धर्म की रक्षा व वृद्धि करने में ही उत्सव मनाने की सफलता और प्रभावना है। वरना, जैसा चल रहा है, वह बहुत दुखदायी है। कभी-कभी तो श्रावकों और मुनियो से सम्बन्धित कई अटपटे समाचारो और प्रश्नावलियो के पढ़ने और सुनने से रोना तक आ जाता है। जहाँ दिन था वहाँ रात जैसी दिखाई देती है। ऐसा क्यो ? यह सोचने की बात है।

एक ओर जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की द्विसहस्राब्दी मनाने के नारे लग रहे है वही दूसरो ओर कुछ जैनी ही कुन्दकुन्द के आचार-विचार को तिलाजलि दे, जैनियो की

जैन-मान्यताओं को झुठलाने के प्रयत्न में लगे हैं। कोई आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और महादेव (रुद्र) को एक ही व्यक्ति मानने-मनवाने के प्रयत्न में हैं तो कहीं एक कोशिश यह भी है कि महावीर तीर्थंकर को मौजूदा निर्धारित समय से १२०० साल पूर्व ले जाया जाय, आदि। और यह सब कुछ हो रहा है—कुछ विद्वानों, कुछ नेताओं और कुछ समर्थ श्रावकों की छाया मे—धन के आसरे या यश-लिप्सा में। क्या, ऐसे मे जैन की पहिचान और आत्म-कल्याणभूत आचार-विचार सुरक्षित रह सकेंगे? क्या इसी को द्वि-सहस्राब्दी की सफलता कहा जायगा? जरा सोचिए।

२. ऋषभ और महेश्वर : दो व्यक्तित्व :

प्रसिद्ध जैनकोश—अभिधान राजेन्द्र के भाग ६ पृष्ठ ५६७ मे रुद्र शब्द के अर्थों में एक अर्थ महादेव भी दिया है। वहाँ पर श्वेताम्बर-आगम 'आवश्यकवृहद्वृत्ति' से महादेव की उत्पत्ति की कथा को भी उद्धृत किया गया है। यह कथा प्राकृत भाषा में है। श्वेताम्बर आचार्य भद्रबाहु स्वामी प्रणीत 'निर्युक्ति' की दीपिका टीका मे भी पृ० १०८ पर ऐसी कथा सस्कृत मे निबद्ध है। यही महादेव-महेश्वर जैनियो में ग्यारहवे रुद्र हैं और इनका समय तीर्थंकर महावीर का काल है—भगवान ऋषभदेव के लाखों वर्षों बाद का काल है। जैन मान्य महेश्वर (रुद्र) की कथा इस प्रकार है :—

"अत्र महेश्वरोत्पत्तिः—चेटकजा सुज्येष्ठा दीक्षितोपाश्रयान्तराता-पयति, इतः पेढालः परिव्राड् विद्यासिद्धो विद्या दातु नरं दिदृक्षुश्चेद् ब्रह्मचारिण्याः सुतः स्यात्तदा तस्मै दिद्यां दद इति तस्या धुमिकाव्यामोहेन विद्यया शील-विपर्यासः कृतस्तत ऋतुकालत्वाद्गर्भे जाते ज्ञानिभिरुक्तं नैतस्याः कोऽपि दोष इति छन्नं स्थापिता सुतो जातः श्राद्धगृहे वर्धते। ततः समवसृति गतः साध्वीभिः सह कालसन्दीपनो विद्याभृत्प्रभुमपृच्छत्—कुतो मे भीः? प्रभुराहाऽस्मात्सत्यकेरिति। स पित्रा हृत्वा विद्याः शिक्षितो महारोहिणी साधयत्ययं सप्तमो भवः। पञ्चसु विद्यया हतः, षष्ठे षण्मासशेषायुषा विद्या न स्वीकृता, इह साधयितु-मारब्धा। अनाथमृतकचितां कृत्वाऽऽसन्ने आर्द्रचर्म विस्तार्य तदूर्ध्वं काष्ठज्वलनावधि वामाङ्गुष्ठेन चलति, अत्रान्तरे कालसन्दीपनः काष्ठान्यक्षिपत्। ततः सप्तरात्र सुर्यूचेऽस्य मा विघ्नं कुथास्ततः सिद्धाङ्गे प्रवेश याचन्ती भाले दत्तेऽतिगता, बिले जाते तृतीय नेत्रमकृत। तेन पिता हतो मन्माता राजसु घर्षितेति ततो रुद्राख्या। तद्भयात्कालसन्दीपनो नश्यन् पुरत्रयं कृत्वाऽर्हदंह्रचोस्तस्थौ, रुद्रेण पुरेषु हतेषु सुर्यः आहुर्वय विद्याः सोऽर्हत्पार्श्वेऽस्ति ततस्तेन तत्र गत्वा क्षामितः। अन्य आहुर्लवणे महापाताले हतस्ततः स विद्याचक्रचभूत्। त्रिसन्ध्यं सर्वविहरदर्हतो नत्वा नाट्य कृत्वा ततो रमते। तस्येन्द्रो महेश्वराख्यां ददौ, स द्विष्टो द्विजकन्याना शतं शतमन्यस्त्रीश्च रमयति, तस्य नन्दीश्वरो नन्दी च मित्रे पुष्पक विमान, सोऽन्यदोज्जयिन्या प्रद्योतस्य शिवां मुक्त्वाऽन्यराज्ञीषु रमते, राड् दध्यौ मारणे क उपायः? उमा वेश्या सुरूपा तस्मिन्नागते धूप दत्तेऽन्यदा स मुकुलितं प्रबुद्धं च पुष्पं करे लात्वाऽस्थात् स प्रबुद्ध ललौ तयोक्तं मुकुलार्हस्त्व नाऽस्य, यतोऽस्मासु न रमते। ततस्तस्यां रतस्त्व कदाऽविद्यः स्याः? इत्युमापृष्टोऽवग् मैथुनक्षणे। राज्ञा तज्ज्ञात्वा स तदोमासहितो घातितस्ततो नन्दीश्वरः खे शिला कृत्वा तत्रैतः, राजा सार्द्रपटो नत्वा क्षामितवान्, सोऽब्रवीद्गूपेण महेश्वरस्याऽर्चने पुरे पुरेऽस्य स्थापने च मुञ्चे, ततो लोकैस्तथा प्रासादाः कारिता इति रुद्रोत्पत्तिः।"—आवश्यक निर्युक्तिः दीपिका—पृ० १०८

श्वे० जैन मान्यतानुसार उक्त कथा महादेव-महेश्वर की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे है। कथा के अनुसार इन महादेव का मूल नाम सात्यकि है और सात्यकि को महेश्वर संज्ञा इन्द्र द्वारा प्रदान की गई है और इनको रुद्र भी कहा गया है। यद्यपि कथा में उमा, नन्दी जैसे नाम भी है। इस कथा में महेश्वर द्वारा नाट्य करने का भी उल्लेख है पर ये ज्येष्ठा के पुत्र है। ज्येष्ठा महावीर कालीन राजा चेटक की पुत्री है और महावीर और ऋषभ के काल मे लाखो वर्षों का अन्तराल है फलतः इन महादेव को ऋषभ नही माना जा सकता।

दिगम्बरों के आराधना कथाकोश की सत्यकिरुद्र की कथा भी इसी कथा से प्रायः मिलती-जुलती है। और दोनो ही सम्प्रदाय ऋषभ और महावीर में लाखों वर्षों का अन्तराल मानते है। ऐसी अवस्था मे भी इन महेश्वर और ऋषभ को एक ही व्यक्ति मानने-मनवाने की किन्ही जैन

विद्वानों की सूझ है ? जब कि जैनी तो जैन-कथानक (प्रथमानुयोग) को अप्रमाण मानेगा ही नहीं और मानेगा तो वह श्रद्धानी नही होगा । इसके सिवाय हमारी दृष्टि मे तो उक्त जैन-महेश्वर और त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश-गत महेश्वर भी पृथक् २ दो व्यक्तित्व ही होने चाहिए । जैसी कि जैनेतरो की मान्यता है । महेश्वर सहारक शक्ति रूप, ब्रह्मा उत्पादक और विष्णु रक्षा करने मे तत्पर । उनकी दृष्टि मे ये शक्तियां ऋषभ से बहुत पूर्व की है और ऋषभ को उन्होंने भी आदि अवतार न मान बाद का—आठवां अवतार ही माना है। ऐसे मे इन महेश्वर और ऋषभ को भी एक व्यक्ति नही माना जा सकता । दोनो के स्वतंत्र अस्तित्व हैं और दोनो सम्प्रदायो मान्य दोनो की महिमाये भी पृथक् है और दोनों ही अपने में महान् है ।

एक ओर तो हम कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी मनाने के नारे लगाए और दूसरी ओर शक्ति, समय और पैसा बरबाद कर जैनाचार्यों की सही कथनी और आचार प्रक्रिया पर पानी फेरे—यह कैसे न्याय्य है ? वर्तमान वातावरण को देखते हुए हम तो यही उचित समझते है कि हमारा सारा जोर ऐसी निरर्थक शोधो से हट जैन की चारित्र-शुद्धि पर हो, प्राचीन मूल-आगम रक्षा पर हो, इसी मे द्विसहस्राब्दी की सार्थकता है—इसे सोचिए !

३. क्या कभी शास्त्र भी नहीं मिलेंगे ?

समाज मे काफी अर्से से चिन्ता व्याप्त है और जगह-जगह चर्चाएं भी होती है कि अब विद्वान नही मिलते। पर, हमे तो इसके सिवाय कुछ और ही दीखता है—अब बहुत कुछ वातावरण ऐसा भी बनता जा रहा है कि कुछ काल बाद ऐसी भी आवाजे आने लगगी कि **पढ़ने को शास्त्र ही नहीं मिलते**—नई किताबों के ढेर है। कारण यह कि लेखक अपनी भाव-भगिमा मे नित नए-नए रोचक ग्रन्थो का निर्माण करने मे लग बैठे है—कुछ का यह व्यापार आर्थिक दृष्टि से है और कुछ लोग अपना नाम-यश छोड जाने की लालसा में इन्हें लिखते है कि मर जाने के बाद लोग कहें—अमुक विद्वान ने अमुक ग्रन्थ लिखे । वे सोचते हैं—'गर तू नहीं तेरा तो सदा नाम रहेगा ।'

इसका तात्कालिक फल यह हुआ कि—लोगों की रुचि प्रामाणिक प्राचीन शास्त्रों से हटकर नित नवीन-२ रचनाओं के पढने में लग बैठी—कोई पुस्तक खरीदने कहीं दौड रहा है तो कोई कहीं । यानी अब शोलापुर और अगास जैसे स्थानों से लोगों का लगाव न के बराबर जैसा रह गया हो । हां,

यह तो निश्चय है कि शास्त्रों के पढने में श्रम की अपेक्षा है । उनकी भाषा प्राकृत-संस्कृत अपभ्रंश या पूर्वकालीन देश-भाषा हिन्दी होने से वे सुगम-ग्राह्य न हो रागियों की दृष्टि से उनमें वर्तमान भाषा जैसी चटक-मटक और भाव-भगिमा भी नहीं और ना ही अब उन भाषाओं के सरल-बोध देने वाले विद्यालय और पाठशालायें हैं—वे तो हमारे देखते देखते खँडहर हो गए । भला, जब पडित ही बे मौत मारे गये, तो उनके आसरे भी कहां ? सब का लोप हो गया । आप पूछेगे ऐसा क्यो हुआ ? सो यह मत पूछिए , इसकी कहानी बड़ी लम्बी और दर्दनाक है—फिर कभी सुना देगे—पडितो और सस्थाओं के लोप में समष्टि का ही हाथ है । खैर,

अब समय ऐसा आ गया है कि समाज को इस दिशा मे सावधान होना चाहिए । प्राचीन मूल आगमो के अधिक संख्या में पठन-पाठन और प्रचार के उपाय होने चाहिए । उनमें अनुकूल-मूल भी विभिन्न भाषाओ मे दे दिए जाँय । इस दिशा मे प्रगति के लिए जगह जगह पाठशालायें खुलें, जिनमें मूल के अर्थ पढ़ाने का प्रबन्ध हो । तभी आगम सुरक्षित रह सकेंगे ।

आपने देखा होगा—अन्यमतावलम्बियो मे वेद, गीता, उपनिषद, गुरु ग्रन्थसहित और कुरान के (लोगो की श्रद्धा मे) आज भी वे ही स्थान है जो पहिले जमाने मे थे । जब कि हमारे बहुत से जैनी अपने शास्त्रो के नाम तक नही जानते—वे आधुनिक रचनाओं को ही शास्त्र मान रहे है । जरूरत इस बात की है कि नई रचनाओं के प्रकाशन व निर्माण मे व्यय होने वाली शक्ति और धन को रोका जाय और उसका सदुपयोग प्राचीन आगमो की रक्षा में किया जाय । अन्यथा, वह समय दूर नही जब लोग यह कहने को मजबूर होगे कि—अब शास्त्र ही नही मिलते । जरा सोचिए !

४. प्रतिष्ठा में उभरे प्रश्न :

समाज में पंचकल्याणक उत्सवों का प्रचलन प्राचीन है और पचकल्याणक अब भी होते हैं। कहा जाता है ऐसी सब क्रियायें मूर्ति-शुद्धि के बहाने धर्म प्रभावना के लिए और तीर्थंकर-चरित्रों को आत्मसात् करने के लिए होती है। बीच के काल मे जब जैन सामान्य मे पन्थ होते हुए भी परस्पर भेद-भाव का और नही पनपा था; तब पंच-कल्याणको, प्रतिष्ठाओं आदि की प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे भेद उजागर नही थे। आज जब तरा, बीस का चक्कर जोरो पर पहुंच गया तब लोगो में नए-नए प्रश्न उभर कर सामने आने लगे—लोग आचार्यों तक के पास निर्णयो को पहुंचने लगे—हालाँ कि आज के साधु भी पथ-वाद मे फंसे है।

गत दिनो स्थानीय कैलाशनगर-दिल्ली मे हुई प्रतिष्ठा के बाद यहां अनेको प्रश्न उभरे है और कई लोगो ने किसी मूर्ति के आसरे को लेकर हमसे कुछ समाधान भी चाहे है। पर, हम निवेदन कर दें कि हम उस प्रतिष्ठा म न जा सके और न ही हमें प्रतिष्ठा विषयक कुछ ज्ञान है। प्रतिष्ठाओ के विषय में तो आगम और प्रतिष्ठाचार्य ही प्रमाण होते है—वे जैसा निर्णय ले। प्रश्नों को हम ज्यो के त्यो लिख रहे है। आशा है प्रतिष्ठाचार्य गण कोई निराकरण देंगे। यदि कोई निराकरण हमारे पास आए तो पाठको के लाभार्थ यथा शक्ति हम छाप भी देंगे।

प्रश्नावली :

(१) पंचकल्याणक तीर्थंकरो के ही होते हैं या सामान्य सभी अरहतो के भी ?

(२) क्या आगम में आचार्य उपाध्याय और साधु की प्रतिमायें बनने का विधान है ? यदि हाँ तो—

(३) क्या, इनकी मूर्तियो की प्रतिष्ठा का पंच कल्याणको में विधान है ? और इन पर छत्र क्यो ?

(४) सप्तर्षियो की प्रतिमाओ का चलन कौन से पथ का है—आगम प्रमाण दें।

(५) क्या, सहारा देने के लिए प्लेट मे पेचों से कस कर खड़ी की गई मूर्ति (छेदित होने के कारण) खडित नहीं होती ? क्या ऐसी मूर्ति प्रतिष्ठा के योग्य होती है ?

(६) क्या, आमूर्तिक सिद्ध भगवान का चरम आकार अरहतों की प्रतिमा के समान सशरीर (मूर्तिक) रूप मे और छत्रयुक्त बनाए जाने का आगम में विधान है ?

(७) क्या, जीवो की रक्षा निमित्त अग्नि, धूप, दीप और होम का निषेध करने वाले हमारे तेरापंथ सम्प्रदाय की प्रतिष्ठाओं में बड़े-बड़े आरम्भिक क्रियाकाण्ड करने कराने और हजारों २ बल्बों के जलाने आदि मे अहिंसा कायम रह जाती है ? या ये हमारे थोथे आडम्बर है ?

(८) क्या, अभिषेक-इन्द्र-सारथी आदि और पीछी-कमण्डलु की बोली लगाकर पैसा इकट्ठा करने का आगम मे विधान है ? जरा-सोचिए !

५. क्या ऐसे नहीं हो सकतीं प्रतिष्ठायें ?

हो सकता है कभी हमारे पूर्वजो ने धन दिया हो। पर, हम तो दान नही, अपितु वांछित यश की कीमत ही अग्रिम चुका रहे हैं। हम कहो किसी को जो दे रहे है प्रशसा के लिए ही दे रहे हैं। ज्यादा क्या कहें ? आज तो प्रायः लोग धन के बहाने धर्म को भी व्यापार बना बैठे है—धर्म को विकृत कर रहे है। जैसे—हमने कभी नहीं सुना कि कही शास्त्रो में ऐसा उल्लेख हो कि चन्दा इकट्ठा करके चौका लगा हो और किसी मुनि ने—उसमें आहार लिया हो। यह परिपाटी तो सदाव्रतों जैसी हुई—उद्दिष्ट आहार से भी बदतर जैसी ही हुई। मुनि उसमें क्यों और किस विधि से आहार ले सकते हैं ? वे तो लौट जाएँगे। यदि अब कोई लेते हों तो यह शास्त्रों के विपरीत चर्या ही होगी।

आज ठीक ऐसी ही परम्परा कई पचकल्याणको के कराने मे भी देखी जा रही है। लोग चन्दा इकट्ठा करते है और पचकल्याणक कराने का झण्डा गाड़ देते है। उनका लक्ष्य होता है—चन्दा इकट्ठा कर खर्चे की पूर्ति करना और कुछ बचा भी लेना। और वे इसमे सफल भी होते है—'हर्रा लगे न फिटकरी रग चोखा ही आय।' इस तरह पचकल्याणक भी हो जाते है और कही-कहो तो अच्छी खासी बचत भी हो जाती है। और वह अन्य धार्मिक

या सामाजिक कार्यों के लिए रिजर्व रख ली जाती है। इस प्रकार घूम फिर कर समाज का द्रव्य समाज के पास ही सुरक्षित रह जाता है—जो पहिले व्यष्टि रूप में था वह अब समष्टि रूप में हो जाता है और व्याज में मिल जाती है मूर्तियों की प्रतिष्ठा। ऐसे मे दान और धर्म कहाँ हुआ? भावो मे तो उस दान-द्रव्य के प्रति स्वत्व ही बैठा रहा। दान तो वहां होता है जहा स्वत्व का त्याग हो और धर्म वहाँ होता है जहाँ आत्मा मे निखार हो। यहाँ तो ममत्व और राग के सिवाय अन्य कुछ भी नही हुआ। उलटा ममत्व—और वह भी दान के—पर के सामूहिक द्रव्य के संरक्षण आदि मे बना रहा। जब कि जैन धर्म अपने द्रव्य मे भी ममत्व के त्याग का उपदेश देता है।

पहिले नही सुना गया कि मूर्ति निर्माण, पचकल्याणक या गजरथ आदि कभी चन्दे से होते रहे हों—चन्दे की परिपाटी तो इसी काल मे पडी दिखती है। पहिले तो ऐसे पुण्यकार्य किसी एक के द्रव्य से ही होते रहे सुने है और ऐसे मे ही ममत्व-त्याग सभव है—चन्दे का प्रश्न ही नही। इन्हे कराने वाला व्यक्ति उदारभाव से निःशल्य होकर द्रव्य का सदुपयोग करता था। संपादन कराने वाले को स्व-ख्यातिमार्ग मे रुचि होती थी! वह बोलियो जैसी कुप्रथाओ के सहारे सग्रह नही, अपितु स्वय की शक्ति के अनुसार स्वय के द्रव्य से प्रतिपादित कराता था। भला, वह भी कोई धर्म है जिसमें अभिषेक, पूजा, आदि जैसे अधिकारो की खरीद फरोख्त रुपयों से होती हो; इन्द्र और सारथी आदि के आसन रुपयों मे बिकते हो; आदि। क्या जैनियो मे भी व्रत-तप आदि से प्राप्त होने वाली पदवियाँ भी पैसे से खरीदी जा सकती है?

निःसन्देह इसमे शक नही कि चाहे कार्य कैसे ही किन्ही उपायो से भी सपन्न हुए हों, चन्दे या बोलियो से ही सही—भविष्य मे तो लोगो को धर्म के आधार होते ही है। प्रतिष्ठाये होती है तो जनता को सदा-सदा दर्शन पूजन की सुविधायें भी तो मिल जाती हैं। पर सोचना यह है कि क्या इस सबके लिए ऐसी बडी द्राविड़ी-प्राणायामो के सिवाय कुछ और भी सरल मार्ग हो सकते हैं? सभी जानते हैं कि हमारे यहां णमोकार मत्र महामत्र माना गया है। इसके प्रभाव मे कठिन मे कठिन सकट तक टल जाते है और यह आत्मा तक को शुद्ध कराने मे समर्थ है और मुनिगण भी हर बाह्य-अन्तरग शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण मे इसका उपयोग करते हैं। तो क्या मूर्ति की शुद्धि, प्रतिष्ठा के लिए इस मंत्र के लाखो लाखो जपों का प्रयोग करके मूर्ति की प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न नही किया जा सकता? शुद्धि और संकट निवारण के लिए मरते दम तक इस मत्र का जप किया जाता है। कहा भी है—

'एसो पच णमोयारो, सव्वपावपणासणो।
मगलाणं च सव्वेसिं पढम होइ मगल॥'

हम बिना किसी पूर्वाग्रह के जानना चाहते है कि, प्रतिष्ठाओ में जो बोली, चन्दे चिट्ठे और दिखावे आदि जैसे अनेकों आडम्बर घुस बैठे है वे कहा तक धर्म सम्मत है। हमारी दृष्टि से या तो प्रतिष्ठाएँ प्रतिष्ठा-शास्त्रों के अनुसार बिना किन्ही आडम्बरो के हो यदि नही तो, क्या प्रतिष्ठा के निमित्त कोई ऐसी व्यवस्था उपयुक्त न होगी कि सामूहिक रूप मे णमोकार मत्र के लाखो-लाखो की संख्या मे जप कर लिए जायँ। इसमे मूर्ति तो प्रतिष्ठित होगी ही, मत्र जप करने से सैकडो-हजारों भक्तो के तन-मन भी पवित्र होगे। बडे से पण्डाल मे जब हजारो भक्त धोती दुपट्टा पहिने मन्द स्वर मे मत्र बोल रहे होगे तब समाँ और ही होगा और व्यर्थ के झझटो से मुक्ति भी होगी। तब न तो गाजे बाजे का प्रबन्ध करना पडेगा और न ही प्रभूत द्रव्य की चिन्ता होगी। परिग्रह और आरम्भ से भी छुटकारा मिलेगा—जो जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य है। जरा सोचिए!

—सम्पादक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०
वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : *पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।* ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography · Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४२ : कि० १ जनवरी-मार्च १९८९

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography · Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४२ : कि० १ जनवरी-मार्च १९८९

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

क्या सब ठीक हो रहा है ?

शब्दानामनेकार्था :—शब्दो के अनेक अर्थ होते है। यह एक प्रसिद्ध वाक्य है और मुक्तावली-विश्वलोचन आदि ऐसे अनेक कोश हैं जिनमे एक-एक शब्द के अनेक अर्थ दिए गये हैं। इसी परम्परा मे हमारे समक्ष अभी 'समयसार' शब्द के भी अनेक अर्थ आए है। यद्यपि अभी तक ये अर्थ अनेकार्थक कोशो में नही आ सके है पर, यदि जनता का रुझान इन वर्तमान अर्थों की ओर रहा तो सन्देह नही कि इन्हें भी कोशों में स्थान मिल जाय।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार लिखा और उनका पूरा कथन आत्मा के परिप्रेक्ष्य मे रहा। और अन्य व्याख्याकारो ने भी 'समय' शब्द को षड्द्रव्यो के निर्देश मे बतला, उनमे से सारभूत आत्मा को ही स्व—ग्राह्य माना। तथाहि—'स्व-स्वगुणपर्यायान्प्रति सम्यक् प्रकारेण अयन्ति गच्छन्ति इति समया: पदार्था:। तेषा मध्ये सार: ग्राह्य. समयसार: आत्मा इत्यर्थ.।'—अर्थात् जो भले प्रकार से अपने गुणो और पर्यायो को प्राप्त होते रहते है वे समय यानी पदार्थ हैं और उन पदार्थों मे (जीव को) प्रयोजनीभूत—ग्राह्य होने से आत्मा मात्र ही सार है—इसके सिवाय अन्य सभी द्रव्य जीव के लिए असार है, अग्राह्य है।

'समयसार' शब्द के अर्थ प्रसग मे एक सज्जन ने हमे यह भी बताया कि 'समयसार' तो ए ग्रन्थ का नाम है। जब कोई कहता है—'समयसार लाओ' तो कोई उसे आत्मा थोड़े ही पकड़ा देता है। वह तो अल्मारी खोलकर ग्रन्थ ही तो लाता है और स्वाध्यायकर्ता उस ग्रन्थ को आसन्दी पर विराजमान कर उसका स्वाध्याय कर लेता है। और फिर कुन्दकुन्द ने भी तो शास्त्र ही रचा था—आत्मा को तो रचा नही। सो हम तो जितना बनता है कुन्दकुन्द के समयसार ग्रन्थ का उपयोग कर लेते हैं। अमृतचन्द्र और जयसेन आदि आचार्यों ने भी समयसार शास्त्र की ही व्याख्या की है। इससे भी सिद्ध होता है कि—'समयसार' एक शास्त्र विशेष का नाम है।

तीसरा अर्थ जो हमारे सामने है वह आधुनिक है और लोगो का उससे लगाव भी दिखता है। यानी आज का मुनि और श्रावक अधिकांशत: (सभी नही) समझ रहा है कि—समय यानी टाइम (Time)! और टाइम (वर्तमान) का जो सार है या वर्तमान टाइम में जो सार (ग्राह्य) माना जा रहा है वह समयसार है—**पैसा**। और आज अर्थ-युग माना जा रहा है। हर आदमी अर्थ के पीछे दौड रहा है। उसका पूर्ण विश्वास हो गया है कि पैसे से कोई भी काम कराया जा सकता है। जबकि जैनधर्म इसका अपवाद है और वह पैसे को परिग्रह मे शुमार कर उसे पाप कह रहा है—हेय कह रहा है। ऐसा क्यो ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उलझन मे डाल रहे है।

हमारी दृष्टि मे उक्त तीनो अर्थों मे से प्रथम दो अर्थ आगमानुकूल और धर्म सम्मत है। प्रथम अर्थ सर्वथा उपादेय है और दूसरा अर्थ उस उपादेय में साधनभूत है। यानी जब ग्रन्थ का स्वाध्याय करेंगे तब मार्ग मिलेगा और बाद मे शुद्ध आत्मतत्वरूप समयसार मे आया जा सकेगा। अब रही तीसरे अर्थ (पैसा) रूप अर्थ की बात, सो जैन की दृष्टि से तो पैसे की पकड़ तो पतन का ही मार्ग है। पैसा परिग्रह है और शास्त्रो मे परिग्रह को पाप कहा है। जैन शास्त्रो मे जो 'जल मे भिन्न कमल' और 'भरत जी घर ही मे वैरागी' जैसे कथानक है वे स्पष्ट कह रहे है कि यदि पैसा आदि वैभव मे सार होता तो तीर्थंकर आदि उसे क्यो त्यागते ? जब कि आज का गृहस्थ ही नही, कई त्यागी तक पैसे से चमत्कृत हो रहे है और किसी मे अकुश लगाने की हिम्मत नही हो रही कि त्यागी का काम चन्दा-चिट्ठा करना-कराना नही—वे ऐसी प्रवृत्तियो से विराम लें, आदि। क्या, यह सब ठीक हो रहा है ? जरा सोचिये !

—सम्पादक

ओम् अर्हम्
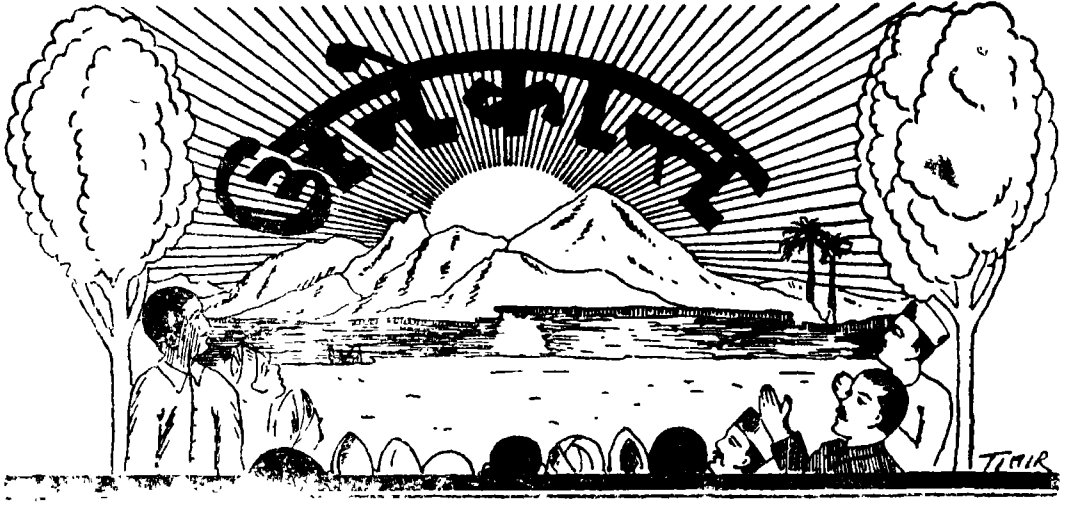
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४२ किरण १ } वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५१५, वि० सं० २०४५ { जनवरी-मार्च १९८९

"अन्त:-प्रकृति बनाम विश्व-प्रकृति"

मैं अब तक जान नहीं पायी, है सागर की गहराई कितनी ?
मन के सम्मुख सागर भी, लगता है मुझको उथला-उथला ॥

हिम आच्छादित शैल-शिखर भी, छोटा लगता मान-शिखर से ।
तप्त सूर्य पिघलाता हिम को, पर मानी का मान न गलता ॥

दावाग्नि जब-जब जलती है, भस्म कर देती वन उपवन को ।
क्रोधाग्नि के सम्मुख वह भी, लगती फीकी-फीकी क्यूं है ?

घन आच्छादित हो रवि-किरणें, यों छिपती तम के पटलों में ।
मोह तिमिर के सम्मुख जैसे, ज्ञान-ज्योति आलोक रहित हो ॥

तृष्णा नागिन जब-जब डसती, लहर जहर परिग्रह की उठती ।
बूंद-बूंद सागर को भरती, पर मन: कूप की प्यास न बुझती ॥

आखिर अब तो मान चुकी मैं, मन की तह को छान चुकी मैं ।
उद्दाम वेग अन्त: प्रकृति का, लज्जित करता विश्व-प्रकृति को ॥

—डॉ० सविता जैन
7/35 दरियागंज, नई दिल्ली-2

कनकनन्दि नाम के गुरु

□ स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ
(श्री रमाकान्त जैन के सौजन्य से)

जैन शिलालेख संग्रह, एपिग्राफिका कर्णाटका, इण्डियन एण्टीक्वेरी; वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित पुरातन जैन वाक्य सूची, श्री पी. बी. देसाई कृत जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, श्री बी. ए. साल्तोर की पुस्तक मेडिवल जैनिज्म, पं० नाथूराम प्रेमी का जैन साहित्य और इतिहास और अपनी पुस्तक प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाये आदि में ७वी शती ईस्वी से १३वी शती ईस्वी के मध्य हुए कनकनन्दि नाम के गुरुओ के १६ उल्लेख मिलते है। इन कनकनन्दि नाम के गुरुओं के सम्बन्ध मे कभी-कभी नाम साम्य के कारण एकाधिक गुरुओं को अभिन्न मान लेने अथवा भिन्न-भिन्न स्थानो पर उल्लेख होने के कारण एक ही गुरु को भिन्न-भिन्न समझ लेने की भ्रान्ति होने का परिहार करने के उद्देश्य से प्राप्त उल्लेखो का यथा-संभव कालक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) तमिलनाडु मे मदुरै जिले के एक जैन गुहा मन्दिर की विशाल महावीर प्रतिमा के प्रतिष्ठापक अभिनन्दन भट्टारक के गुरु कनकनन्दि भट्टारक। इनका समय लगभग ७वी शती ईस्वी अनुमानित है। [जैन शिलालेख संग्रह, भाग चार, पृष्ठ २२; श्री देसाई की उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ५६]

(२) तमिलदेशस्थ कुरण्डीतीर्थ के कनकनन्दि पेरियार। इनके शिष्य पूर्णचन्द्र थे। इनका समय लगभग ७वी-८वीं शती ईस्वी अनुमानित है। [श्री देसाई की उपर्युक्त पुस्तक पृष्ठ ६६; मेडिवल जैनिज्म पृष्ठ २४५]

(३) सत्व स्थान और विस्तर-सत्व त्रिभगी अपरनाम विशेषसत्ता-त्रिभगी नामक प्राकृत ग्रन्थो के रचयिता कनकनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती। यह चामुण्डराय (६७८ ई०) के गुरु और गोम्मटसार आदि के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के विद्यागुरु थे। इनका समय लगभग ६५० ई० अनुमानित है। [प्रेमी जी का जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ २७१; पुरातन जैन-वाक्य सूची पृष्ठ १०८]

(४) देसीगण के कनकनन्दि भट्टारक अष्टोपवासि, जिन्हे १०३२ ई० मे चालुक्य सम्राट जगदेकमल्ल प्रथम ने जगदेकमल्ल जिनालय के लिए दान दिया था। [जैन शिलालेख संग्रह, भाग चार, शिलालेख १२६; श्री देसाई की उक्त पुस्तक पृष्ठ ३६४]

(५) सब्बिनगर के धोर जिनालय के आचार्य कनकनन्दि। इनके समाधि-मरण करने पर इनका गृहस्थ शिष्या भागियब्बे ने १०६० मे उनकी निसिधि (समाधि-स्मारक) बनवायी थी। [जैन शिलालेख सग्रह, भाग चार, शिलालेख १४८]

(६) हुम्मच के तैलप द्वितीय भुजबल सान्तर के गुरु कनकनन्दि। इन्हे उक्त राजा तैलप ने १०६५ ई० मे स्वनिर्मापित भुजबल-सान्तर जिनालय के लिए एक ग्राम दान किया था। [प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाये पृष्ठ १७३]

(७) सूरस्थगण-चित्रकूटान्वय के आचार्य सकलचन्द्र के सधर्मा कनकनन्दि सैद्धान्तिक जिनके शिष्य सिरिणंदि (श्रीनन्दि) पण्डित की शिष्या आर्यिका हुलियब्बाजिजके ने १०७१ ई० मे मरटवुर (सोरटूर) स्थित बलदेव जिनालय के लिए दान की व्यवस्था की थी। [जैन शिलालेख सग्रह भाग चार, शिलालेख १५३; श्री देसाई की उक्त पुस्तक पृष्ठ १४४]

(८) मूलसघ-सूरस्थगण-चित्रकूटान्वय के कनकनन्दि भट्टारक, जिनके शिष्य उत्तरासग भट्टारक; प्रशिष्य भास्करनन्दि पंडित, श्रीनन्दि भट्टारक और अरुहणंदि भट्टारक थे और श्रीनन्दि या अरुहनन्दि के शिष्य वह आर्यपंडित थे जिन्हें राजा सोमेश्वर द्वितीय ने १०७४ ई० मे अरसर

बसीद नामक जिनालय के लिए दान दिया था। संभवतया यह कनकनन्दि क्रमांक (७) पर उल्लिखित कनकनन्दि से अभिन्न हैं, यद्यपि क्रमांक (७) में श्रीनन्दि को उनका शिष्य और यहां प्रशिष्य बताया गया है। इन कनकनंदि भट्टारक का समय क्रमांक (४) और (५) पर उल्लिखित कनकनन्दियों के मध्यवर्ती रहा प्रतीत होता है। [श्री देसाई की उक्त पुस्तक पृष्ठ १०७]

(६) कनकनन्दि त्रैविद्यदेव, जो शुभचन्द्रदेव की शिष्य परम्परा में हुए और उन मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव के गुरु थे जिनका गृहस्थ शिष्य केतब्बे था जिसने १११० ई० मे भूमि, मकान, आदि दान किये थे। [एपीग्राफिका कर्णाटका, भाग सात, ८६; जैन शिलालेख संग्रह, भाग दो, शिलालेख २५१]

(१०) मूलसंघ-काणूरगण के अनन्तवीर्य सिद्धान्ति के शिष्य और श्रुतकीर्तिबुध एव मुनिचन्द्र व्रतिप के सधर्मा कनकनन्दि त्रैविद्य। मुनिचन्द्र के शिष्य माधवचन्द्र को १११२ ई० में दान दिया गया था। इन कनकनन्दि के गुरु या (अधिक संभावना है) प्रगुरु प्रभाचन्द्रदेव १०६७ ई० मे विद्यमान थे। [एपीग्राफिका कर्णाटका, भाग सात, ६४, जैन शिलालेख संग्रह, भाग दो, शिलालेख २६६]

(११) ११२१ ई० के एक शिलालेख मे उल्लिखित कनकनन्दि त्रैविद्य। लेख मे उनकी गुरु परम्परा इस प्रकार मिलती है—मूलसघकोण्डकुन्दान्वय-काणूरगण-मेषपाषाण-गच्छ के महावादी प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य माघनन्दि सिद्धान्तदेव थे, जिनके शिष्य प्रभाचन्द्र द्वितीय, अनन्तवीर्य और मुनिचन्द्र थे। मुनिचन्द्र के शिष्य या सधर्मा श्रुतकीर्ति तथा वह कनकनन्दि त्रैविद्य थे। जिन्हें राजदरबारो में 'त्रिभुवनमल्ल वादिराज' कहा जाता था। इनके सधर्मा माधवचन्द्र थे जिनके शिष्य बालचन्द्र यतीन्द्र थे। [जैन शिलालेख सग्रह, भाग दो, शिलालेख]

यद्यपि ऊपर क्रमांक (१) पर कनकनन्दि त्रैविद्यदेव को मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव का गुरु, क्रमांक (१०) पर मुनिचन्द्र व्रतिय का सधर्मा और क्रमांक (११) पर मुनिचन्द्र का शिष्य या सधर्मा उल्लिखित किया गया है। और इन तीनों क्रमांको पर उल्लिखित गुरु-शिष्य परम्परा में कुछ विसगति भी प्रतीत होती है, संभावना यही है कि इन तीनो क्रमांको मे उल्लिखित कनकनन्दि त्रैविद्यदेव अभिन्न हैं। इनका समय लगभग ११००-११२१ ई० अनुमानित है।

(१२) श्रवण बेलगोल मे चामुण्डराय बसदि में प्राप्त ११२० ई० के एक शिलालेख मे उल्लिखित कनकनन्दि मुनीश्वर जो मुल्लूर या मल्लूर (कुर्ग मे) के निवासी थे और होयसल राज्य के प्रधान मन्त्री गंगराज की माता पोचिकब्बे, जिसने ११२० ई० में समाधि-मरण किया था, के पति, गंगराज के पिता और नृपकाम होयसाल के मंत्री एवं सेनानायक एचिगांक अपरनाम बुधमित्र के गुरु थे। [जैन शिलालेख संग्रह, भाग एक, शिलालेख ४४, मैडिवल जैनिज्म पृष्ठ ११६; प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलायें पृष्ठ १४२]

(१३) ११२३ ई० के एक शिलालेख में उल्लिखित कनकनन्दि पण्डितदेव, जो देसीगण-पुस्तकगच्छ-कुन्दकुन्दान्वय की परम्परा में कोल्लापुर (कोल्हापुर) की श्री रूपनारायण वसदि के आचार्य माघनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य तथा श्रुतकीर्ति त्रैविद्य, चन्द्रकीर्ति और प्रभाचन्द्र पण्डितदेव के सधर्मा, 'वादीभसिंह' आदि उपाधिधारी महावादी थे। [जैन शिलालेख सग्रह, भाग दो, शिलालेख २८०; इंडियन एन्टीक्वेरी, भाग चौदह]

(१४) देवकीर्ति पण्डितदेव के ११६३ ई० के समाधि-स्मारक लेख में उल्लिखित कनकनन्दि योगीश्वर, जो माघनन्दि त्रैविद्य, श्रुतकीर्ति, देवचन्द्र तथा उक्त देवकीर्ति पण्डितदेव के सधर्मा थे। [जैन-शिलालेख सग्रह, भाग एक, शिलालेख ४०]

(१५) श्रवण बेलगोल की चामुण्डराय शिला पर उत्कीर्ण एक नामांकित मुनि मूर्ति (काल अनिश्चित) मे उल्लिखित श्री कनकनन्दि देवा [जैन शिलालेख संग्रह, भाग एक, शिलालेख २५१]

(१६) कोल्लापुर (कोल्हापुर) के सामन्त जिनालय के कनकनन्दि मुनि, जिनके शिष्य प्रभाचन्द्र थे (समय १२७६ ई०)। [श्री देसाई की पुस्तक पृष्ठ १५१]

श्री कुन्दकुन्द का असली नाम क्या था ? क्या वे पल्लीवाल जाति के थे ?

□ श्री रतनलाल कटारिया

आ० कुन्दकुन्द के ५ नामों मे पद्मनंदि नाम तो दीक्षावसर का है और कुन्दकुन्द नाम गांव के नाम का द्योतक है व्यक्ति नाम नही। जैसे "सर्वपल्ली राधा कृष्णन" मे सर्वपल्ली गाव का नाम है। प्रसिद्ध फिल्मकार बी० शांताराम मे बी=वणकुन्ने गांव का नाम है। दक्षिण मे गांव का नाम पहिले बोलने की पद्धति है। अतः कुन्दकुन्द (कोण्ड कुन्द) गांव का नाम है इसके आगे व्यक्ति नाम रहना है वह बोलने की सुविधा-संक्षिप्ती करण से लुप्त हो गया है। इधर उत्तर प्रान्त मे गांव का नाम जो गोत्रत्व को लिए हुए है वह नाम के बाद में बोलते हैं जैसे "पाटणी" "गदिया" आदि।

"पाटणी जी" बोलने से असली नाम का पता नही लगता वैसे ही "कुन्दकुन्द" से सिर्फ गांव का नाम दयोतित होता है व्यक्ति नाम नही, दीर्घ काल से असली नाम लुप्त हो गया हैं उसकी खोज होनी चाहिए।

कुन्दकुन्द के शेष नाम—वक्रग्रीव, गृद्धपिच्छ, ऐलाचार्य आदि भी सही प्रतीत नही होते कल्पित और अन्य से सबद्ध ज्ञात होते है।

श्रीषेण वृषभसेन, कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः ॥११८॥ रत्नकरण्ड श्रा० के इस श्लोक मे जो शास्त्रदान के रूप मे "कौण्डेश" का दृष्टान्त दिया है वह भी कुन्दकुन्द प्रभु से ही सबद्ध है। यहां "कौण्डकुन्द" ग्राम का सक्षिप्त नाम कौण्ड और उसके ईश=प्रभु इस प्रकार 'कौण्डेश." दिया गया है। इसीलिए बाद के आचार्यों ने इसकी कथा मे कुन्दकुन्द के दीक्षा नाम पद्मनन्दि मुनि का उल्लेख किया है इससे यह दृष्टान्त कुन्दकुन्दाचार्य को सिद्ध करता है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि—कुन्दकुन्द, समन्तभद्राचार्य से पूर्व हुए है।

"बृहज्जैन शब्दार्णव" भाग १ (सन् १९२४) पृष्ठ ११८ पर "अगपाहुड" के वर्णन मे कुन्दकुन्दाचार्य का जीवन चरित्र देते हुए लिखा है कि—इनका जन्म मालवा देश में बूंदी कोटा के पास बारां मे हुआ था यह जाति के पल्लीवाल थे। चारित्रधर्मप्रकाश (सन् १९७६ सीकर से प्रकाशित) के अन्त मे आचार्यों की पट्टावली दी है उसमें अनेक प्राचीन आचार्यों की जाति बताते हुए कुन्दकुन्दाचार्य को भी पृष्ठ ३१० पर "पल्लीवाल" जाति का लिखा है (यही बात प्रस्तावना पृ० ७ पर भी लिखी है) "महावीर जयती स्मारिका १९८८" के पृ० २—९९ पर डा० कस्तूरचन्द जी काशलीवाल, जयपुर ने भी यही सब लिखा है।

किन्तु भगवान् कुन्दकुन्द दक्षिण देश (आन्ध्र-द्रविड प्रदेश) में पैदा हुए है। उन्हें बारां (राजस्थान) का बताना किसी गहरी भूल का परिणाम है। उसका खुलासा इस प्रकार है कि—"जबूदीव पण्णत्ति" के कर्त्ता पद्मनन्दि वि० सं० १०३४ मे हुए है वे बारा नगर के थे। इस विषय मे पं० नाथूराम जी प्रेमी ने "जैन साहित्य और इतिहास" (द्वि० सस्करण पृ० २५९) मे लिखा है कि—"ज्ञानप्रबोध नामक पद्यबद्ध भाषा ग्रन्थ मे कुन्दकुन्द की कथा दी है उसमे कुन्दकुन्द को इसी बारां के धनी कुन्दश्रेष्ठी और कुन्दलता का पुत्र बताया है। पाठक जानते है कि कुन्दकुन्द का एक नाम पद्मनन्दि भी है। जान पडता है कि—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के कर्त्ता पद्मनन्दि को ही भ्रमवश कुन्दकुन्द समझ कर ज्ञानप्रबोध के कर्त्ता ने कुन्दकुन्द का जन्मस्थान कर्नाटक के कोण्ड कुन्दपुर के बदले बारा बतला दिया है। कुन्दकुन्द नाम की उत्पत्ति बिठाने के लिए कुन्दश्रेष्ठी और कुन्दलता की कल्पना भी उन्ही के उर्वर मस्तिष्क की उपज है।"

बारां मे इन्ही पद्मनन्दि की एक निषिद्या (चरणचिह्न) भी है। कुछ विद्वानों ने भ्रमवश उसे भी कुन्दकुन्द की बता दी है। जब दक्षिण के कुन्दकुन्द को बारां (राजस्थान)

का कल्पित कर दिया तो राजस्थान की ही पल्लीवाल जाति की भी उनके साथ कल्पना कर दी गई। अन्यथा दक्षिण में पल्लीवाल नाम की कोई जाति है ही नही वहां तो अन्य ही जातियां है। यह सब गडबड़ पद्मनन्दि नाम-साम्य के कारण हुई है। ये सब इतिहास की भयंकर भूलें है और आधुनिक भाषा-ग्रन्थ "ज्ञानप्रबोध" आदि के कर्त्ताओ की गहरी नासमझी के परिणाम हैं। इन्ही के आधार पर अब तक विविध भाषाओं मे विद्वानो ने कुंदकुंद के जीवन चरित्र को लेकर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। जब इस प्रकार मूल में ही भूले है तो वे सब ग्रन्थ कहां से प्रामाणिक हो सकते है। अतः नये शिरे से, गहरी छानवीन और ऊहापोह के साथ कुन्दकुन्दाचार्य का प्रामाणिक जीवन-चरित्र लिखे जाने की सख्त जरूरत है चाहे वह छोटा ही हो किन्तु होना चाहिए सुसगत इतिहास।

अन्यूनमनतिरिक्त याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देह वेदयदाहुस्तज्ज्ञान मागमिनः ॥४२॥

—रत्नकरण्ड श्रा०

(पदार्थ को जैसा का तैसा, न कम न ज्यादा, न गलत न उल्टा, सन्देह रहित सही-सही जानना ही सच्चा ज्ञान है।)

अज्ञान तिमिर व्याप्तिमपाकृत्य यथायथ।
जिनशासन माहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥

—रत्नकरंड श्रा०

अज्ञानान्धकार के प्रसार को यथायोग्य दूर कर जो जिनशासन के माहात्म्य को प्रकट करना है वही सच्ची प्रभावना है।)

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्यकार्यः परिग्रहः ॥ हरिभद्रसूरि

(न जिनेन्द्र महावीर के प्रति पक्षपात है न कपिलादि अजैनो के प्रति विद्वेष हैं—जिनके वचन युक्तियुक्त (सुसंगत) हों उन्ही का ग्रहण करना चाहिए।)

"बारस अणुवेक्खा" की अन्तिम गाथा ६१ मे कुन्द-कुन्दमुणिणाहे" लिखा है इस पर किसी विद्वान ने आचार्य वर पर स्वप्रशसा का आरोप लगाया है किन्तु उसका अर्थ कुन्दकुन्द मुनिनाथ न करके कुन्दकुन्द मुनि के नाथ अर्थात् जिनेन्द्रदेव करना चाहिए। हुए न हैं न हो इगे मुनीद कुन्दकुन्द से ॥

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ अत्यन्त सरल-सुस्पष्ट, सहज, सुदृढ़, लाजवाब, बेमिसाल, सारभूत और अद्वितीय हैं। मोक्षमार्ग के लिए उनका खूब प्रचार होना चाहिए। इन्ही की बदौलत श्वेताबरादि दि० हुए है और आगे भी इन्ही के ही प्रताप से होंगे। यह सब की एक मास्टर 'की' (चाबी) है ॥

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान— वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली-२
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री बाबूलाल जैन, २ असारी रोड, दरियागज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक।
सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
राष्ट्रीयता—भारतीय।
मुद्रक—गीता प्रिंटिग एजेंसी, न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागज, नई दिल्ली-२
मैं बाबूलाल जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हू कि मेरी पूर्ण जानकारी एव विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

बाबूलाल जैन
प्रकाशक

नथमल विलाला का भक्तिकाव्य

❐ डा० गंगाराम गर्ग

अनेक काव्य रचनाओ के प्रणेता होने पर भी जैन साहित्य मे विस्मृत महाकवि नथमल "विलाला" अपने समय के महान् शासक जाट राजा सूरजमल द्वारा प्रतिष्ठित कवि थे। महाराजा सूरजमल ने अपने पोतदार "बेनी" के कहने पर नथमल को आगरा से भरतपुर बुलवा कर अपने खजाने पर नौकरी दी थी। "जीवन्धर चरित" की प्रशस्ति मे नथमल विलाला ने अपना जन्म-स्थान, आगरा का जयसिंहपुरा बतलाया है। इनके पितामह जेठमलशाह और पिता सोमचद थे।

"नेमिनाथ व्याहुलो" और 'अनन्त चतुर्दशी व्रत कथा' के रचनाकाल क्रमश: सवत् १८१६ वि० एव १८२४ वि० होने के कारण इस अवधि मे कवि का भरतपुर नगर मे रहना सुनिश्चित है। भरतपुर मे लिखी गई कवि की अन्य रचनाएँ "जिन गुणविलास (स० १८२२ वि०) और 'चीठी' है। नथमल ने सिद्धान्तसार दीपक (वि० सवत् १८३४) और नागकुमार चरित (स० १८३७) की रचना हिण्डौन मे की। माघ कृष्ण सप्तमी सवत् १८४३ वि० को स्वय के हाथ से लिखी गई एक प्रति के आधार पर कवि का हिण्डौनवास प्रमाणित है। सवत् १८४३ के पश्चात् कवि ने अपने अन्तिम दिन करौली मे व्यतीत किए। यहां इन्होंने ३०५ छन्द के विशाल ग्रन्थ समवशरण मगल की प्रतिलिपि सवत् १८४८ वि० मे की है। करौली नगर के पचविला मुहल्ले के पास स्थित विलालाओ की हवेली उजड़े रूप मे आज भी विद्यमान है।

विभिन्न छन्दो मे चरितकाव्यो और सैद्धान्तिक ग्रन्थो के रचयिता नथमल विलाला की भक्तिभावना बेजोड़ है। जिनभक्ति से प्रभावित होकर ही कवि ने अपनी 'चीठी' नामक रचना मे सुदूरवर्ती कर्नाटक देश मे विद्यमान जैन मन्दिरों की हीरा-पुखराज, चाँदी व सोने की कलात्मक मूर्तियो और धार्मिक वातावरण का सजीव चित्र खीचा है।

कर्नाटक इक देस उदार, तहां पचीसौ जिनालै सार।
नगर मांहि अर गिर पै जोय, निति त्रिकाल तहं पूजन होय॥
नगर मांहि उस देश मझार, धरम ध्यान बरतैं इक सार।
तहां मिथ्याति लख्यौ न कोय, नित्य धरम के उत्सव होय॥

नथमल की दासभक्ति:—

रीतिमल के शृगारी वातावरण मे लिप्त जनमानस को अपने भक्तिभाव से प्रक्षालित करने की चेष्टा बनारसीदास, द्यानतराय, भूधरदास, हरीसिंह आदि अनेक जैन कवियो ने की थी। इस परम्परा मे भरतपुर के नथमल विलाला का योगदान भी सराहनीय है। नथमल विलाला ने विलावल, सोरठ, बसत, रामकली, सारंग आदि कई राग-रागनियो मे ४०-६० पद 'सेवक' उपनाम से लिखे है। इनके अधिकांश भक्तिपूर्ण पद ऋषभदेव, महावीर और पार्श्वनाथ तीनों तीर्थंकरो को सम्बोधित करके लिखे गए है। जिनभक्ति से वादिराज का कोढ़ नष्ट होना, सेठ धनञ्जय के पुत्र का विष उतरना तथा मानतुंग का बंधन-मुक्त होना आदि घटनाओं ने नथमल को जिन-शरण मे जाने की प्रेरणा दी है—

सरन तेरी आयो जिनराज, महिमा सुन हरषायो।
इन्द्र नरेन्द्र मुनेन्द्र नमैं तुम, सुमरौं जिन सुख पायो॥
वादिराज थुति करतै ही प्रभु, छिन मैं कोढ़ नसायो।
सेठ धनंजय स्तवन कीयो, ता सुत विष उतरायो॥
मानतुंग नें भक्ति करी जब, बंधन तुरत छुड़ायो।
इन्हैं आदि यह सभी सुनत ही, 'सेवग' मन ललचायो॥

'मैं हू दीन, तारक तुम साहिब' का सम्बन्ध रखने वाले नथमल अपने आराध्य के अनन्य भक्त रहे है। पुष्टमार्गियों की सी सर्वांग-सेवा का भाव उनमे भी विद्यमान है—

निस दिन तेरो ध्यान, मेरे काहू की नहिं कान।
और देव सौं प्रीति न जोड़ो, तुम ही सौं पहचान।

कर जुग जोरि चरन तुम पूजा, श्रवन सुनों जिन बानी।
नेत्र जुगल करि रूप निहारों, सीस नवाऊं आंन।
तीन जगत के स्वामी तुम हौ, तारन पोत समांन :
'सेवग' मन परतीति उपाई, जीय मैं करि सरधांन ॥

दोषों को दूर करने की सतर्कता वैष्णव भक्तो की अपेक्षा जैन भक्तों मे अधिक रही है। जिनेन्द्र की भक्ति-भावना मे आकंठ निमग्न रहने के आकांक्षी नथमल कषायों के नियन्त्रण सम्यक्त्रय की धारणा तथा जिनवाणी की अनुपालना के प्रति निरन्तर सचेष्ट है···

समझि सयाने हो लाल।

नरभव कुल श्रावक कौ पायौ, आपौ क्यौं न संभाल।
क्रोध मान मद मोह विषै छकि, रिज आतम लौं गाल।
नरक मांहि तू जाइ परैगो, नाना दुख तोहि साल।
दरसन ग्यांन चरन चित धरिकै, जिन वानी जो पाल।
तौ सूधो सिवपुर कौ पहुंचै, मुकतिवधू बरनाल।
श्रीगुरु सिष्या यौ बतलाई, जो इस मारग चाल।
फेर न भरमैं जग में भाई, 'सेवग' कहैं दरहाल।

'सेवक विलास' में संग्रहीत पदों के अतिरिक्त नथमल की एक अन्य रचना 'भक्तामर स्तोत्र भाषा' हिन्डौन मे स्थित महावीर जी के मन्दिर से अभी प्राप्त हुई है। मानतुंगाचार्य के भक्तामर स्तोत्र से प्रभावित होने के कारण इस काव्य की भाषा परिनिष्ठित है, किन्तु उसमें माधुर्य एवं तन्मयता देने वाली लय सर्वत्र विद्यमान है। अन्य देवों की अपेक्षा वीतरागता ज्ञान और द्युति जिनेन्द्र प्रभु मे कवि ने अधिक देखी है—

लोकालोक प्रकाश ज्ञांन है, जो तुम मांही।
हरि हर आदिक देव विषै, सो किंचित नाही।
जो प्रचंड दुति धरै, महामणि अति छवि बारी।
कांच खंड के मांहि, सोज दुति कहा तिहारी ॥२०

हरि हर आदिक देव दोष मैं, भलो ज मांन्यो।
वीतराग तुम रूप जिन्हौं, लखि कै पहिचान्यौ।
तुम सरूप कौं देखि चित्त, तुम मांही लुभावै।
अन्य मनोहर रूप, भवांतर मैं न सुहावै ॥२१

समवशरण मे स्थित तीर्थंकर की छवि का भक्त नथमल ने कई छन्दों मे बड़ा मनोरम चित्र खींचा है। सभी दास्य भक्तो की तरह नथमल आराध्य की नाम महिमा को भी निष्ठापूर्वक प्रस्तुत करते है—

प्रलय पवन करि उठी अगिन, ता सम भयकारी।
निकसत सिषा फुलिंग, निरन्तर जलत दुखारी।
किधौं जगत सब भसम करैगी, सनमुख आवत।
नाम नीर तुम लेत अगिन सो, वेग नसावत ॥

संवत् १८१८ वि० से संवत् १८४८ वि० तक तीन दशकों मे भरतपुर, हिन्डौन और करौली तीनो स्थानों पर सभी काव्यरूपों और विभिन्न छन्दों में काव्य रचना करने वाले नथमल विलाला ब्रजभाषा और ब्रज संस्कृति के कुशल चित्रकार है।

रीतिकाल मे लिखित अपार जैन साहित्य का अपेक्षित मूल्यांकन हिन्दी साहित्य के इतिहास को अमूल्य निधि होगा।

११०-ए, रणजीत नगर, भरतपुर (राज०)

मन्दिर भिक्षुकों के लिए नहीं

जैन धर्म एक विज्ञान है—कारण-कार्य सिद्धान्त पर वह अवलंबित है। जैसा बोओगे वैसा फल पाओगे, किन्तु आज जैनी धर्म विज्ञान को भूल गये हैं—वे धन के लिए, पुत्र के लिये, यश के लिये मन्दिरों मे मनौती मनाते हैं। बैरिस्टर (चम्पतराय) साहब ने इस पर कहा था—"जैन मंदिरों में भिक्षा मांगने की जरूरत नही है—जैन मन्दिर भिखारियो के लिये नही है। जो मोक्षाभिलाषी हों निर्ग्रन्थ होना चाहते हों उन्ही के लिये जैन मदिर लाभकारी है।" (स्व० बा० कामता प्रसाद)

महाराष्ट्र में जैन धर्म

□ डॉ० भागचन्द्र भास्कर डी. लिट्.

महाराष्ट्र दक्षिण भारत का प्रवेशद्वार है। इसका इतिहास बड़ा प्राचीन है। कुन्तल अश्मक और दक्षिणापथ शब्द इतिहास मे विश्रुत हैं जिनसे महाराष्ट्र के इतिहास का सम्बन्ध रहा है। साधारणतः सेतु से नर्मदा पर्यन्त सारा प्रदेश दक्षिणापथ कहा जाता था।[1] सेतु का संदर्भ कदाचित् कृष्णा नदी से रहा होगा जो महाबलेश्वर (महाराष्ट्र) की पहाड़ियों से उद्भूत दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी है। महाभारत (सभा ६-२०) मे कृष्णवेण्या का उल्लेख है पर शायद यह नदी कृष्णा नदी से भिन्न रही होगी। अतः नर्मदा और कृष्णा के मध्यवर्ती भूभाग को दक्षिणपथ कहा जा सकता है जिसमे महाराष्ट्र कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेशों को अन्तर्हित किया जाता है। शेष भाग सुदूर दक्षिण की सीमा में समाहित हो जाता है।

'महाराष्ट्र' शब्द का उल्लेख प्रदेश के रूप में न तो वेदों मे मिलता है और न रामायण महाभारत में, पर इसे पुराणो तथा जैन-बौद्ध ग्रन्थो में अवश्य देखा जा सकता है। उसकी सीमा यद्यपि परिवर्तित होती रही है फिर भी विदर्भ, अपरान्त (कोंकण, विशेषतः उत्तरभाग) और दण्डकारण्य ये तीन भाग माने जाते हैं। वर्तमान महाराष्ट्र मे दण्डकारण्य को छोड़कर शेष दो भाग सम्मिलित हैं। चालुक्य सम्राट सत्याश्रय पुलकेशी द्वितीय महाराष्ट्र का सार्वभौमिक राजा था।[2] नानाघाट, भाजे, कार्ले, कन्हेरी आदि शिलालेखो में महाराष्ट्रियन पुरुषों के लिए महारठि और स्त्रियों के लिए महारठिनी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे महाराष्ट्र का अस्तित्व प्रमाणित होता है। प्रादेशिक विस्तार की दृष्टि से तो इसे महाराष्ट्र कहना स्वाभाविक है पर उसे महार अथवा नाग जाति से संबद्ध करने की भी प्रबल सम्भावना बन जाती है।

महाराष्ट्र में जैनधर्म कदाचित प्रारम्भिक काल से ही रहा है। कहा जाता है, इतिहास के उदयकाल में भारत में मनुष्य जाति के तीन समुदायों मे से एक समुदाय दक्षिण और पूर्व के अधिकांश पर्वतीय प्रदेशों मे सीमित था जो कला कौशल और औद्योगिक क्षेत्र मे विशेष प्रगतिशील था। नाग, यक्ष, वानर आदि अनेक समुदायो-कुलो मे विभाजित यह समुदाय कालान्तर मे विद्याधर के नाम से विश्रुत हुआ। इसी को द्रविड़ भी कहा जाने लगा। आदि पुरुष तीर्थंकर ऋषभदेव के एक पुत्र का नाम भी द्रविड़ था। सम्भव है' विद्याधर जाति से घनिष्ठ जाति सम्बन्ध स्थापित कर वे विद्याधरो के साथ ही बस गये हो और उन्ही के नाम से उस भाग को द्रविड़ कहा जाने लगा हो। जैन साहित्य मे विद्याधर सस्कृति के बहुत उल्लेख मिलते हैं। महावश के अनुसार भी श्रीलका मे बौद्धधर्म के प्रवेश के पूर्व यक्ष संस्कृति का अस्तित्व था। बृहत्कथा मे विद्याधर और जैन संस्कृति का सुन्दर वर्णन मिलता है। महाराष्ट्र मे शातवाहन कालीन भाजे गुफा मे एक भित्ति चित्र मिला है जिसे विद्याधर से सम्बद्ध माना गया है।[3]

३१२ ई० मे उज्जैनी को उपराजधानी बनाकर[4] चन्द्रगुप्त मौर्य ने दक्षिणापथ की विजययात्रा सौराष्ट्र से प्रारम्भ की जहाँ उसने जूनागढ़ मे सुदर्शन झील का निर्माण किया। गिरिनार पर्वत पर तीर्थंकर नेमिनाथ की वन्दना की और मुनियो के आवास के लिए एक चन्द्रगुफा बनावाई। वहाँ से उसने महाराष्ट्र, तमिल और कर्नाटक प्रदेश पर आधिपत्य किया और उज्जैनी वापिस आ गया।[5] यही कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु भी ससघ पहुंचे और अपने निमित्तज्ञान से बारह वर्षीय दुर्भिक्ष की आशंका जानकर उन्होंने दक्षिण की ओर जाने का निश्चय किया। चन्द्रगुप्त भद्रबाहु की परम्परा का अनुयायी था। दुर्भिक्ष की बात जानकर चन्द्रगुप्त ने २९८ ई० पू० में भद्रबाहु से जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण कर ली और विशाखाचार्य नाम से अभिहित हुआ। सारा संघ महाराष्ट्र मार्ग से श्रवणबेल-

गोल पहुंच गया जहां भद्रबाहु ने कटवप्र पर्वत पर सल्लेखना ग्रहण की और संघ के नेतृत्व का भार चन्द्रगुप्त (विशाखाचार्य) पर छोड़ दिया। चन्द्रगुप्त ने दक्षिणवर्ती सारे देशों में जैनधर्म का प्रचार किया और अन्त में श्रवणबेलगोल में ही सल्लेखना पूर्वक मरण किया।[५]

इस घटना के पुरातात्विक प्रमाण अवश्य उपलब्ध नहीं होते पर साहित्यिक प्रमाणो की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कर्णाटक और तमिल क्षेत्र में लगभग उसी काल में जैनधर्म का अस्तित्व मिलता है इसलिए इस समूची घटना को ऐतिहासिक माना जाना चाहिए। श्री लंका में भी इसी काल में जैनधर्म के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। पाण्डुकाभय राजा (३३७—३०७ ई० पू०) ने अनुराधापुर में जोतिय निर्ग्रन्थों के लिए एक चैत्य बनवाया। इसका उल्लेख महावश में आया है। वही गिरि नामक निर्ग्रन्थ भी रहता था।[६]

चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की यह घटना तथा श्रीलका मे जैनधर्म का अस्तित्व इस तथ्य का पर्याप्त प्रमाण है कि महाराष्ट्र में जैनधर्म ई० पू० द्वितीय-तृतीय शती में काफी लोकप्रिय हो गया था अन्यथा ये दोनों महापुरुष इतने बड़े संघ को दक्षिण में एकाएक ले जाने का साहस नही करते। पूना के समीपवर्ती ग्राम पाले में एक प्राचीनतम गुहाभिलेख भी मिलता है जिसका प्रारम्भ नमो अरहतानम्' से होता है। पूरा अभिलेख इस प्रकार है—

(१) नमो अरहंतानं कानुन (.)
(२) द भवंत इंदरखितेन लेन
(३) कारापित (.) पोढि च साहाकाहि
(४) सह।

ऐसा मंगलाचरण मथुरा के आयागपट्ट, जैन मूर्तिलेख व उदयगिरि के अभिलेख में भी मिलता है। इनका समय ई० प्रथम है। इसमें इन्द्ररक्षित का भी नाम है।[८]

विदर्भ महाराष्ट्र का प्राचीनतम और प्रमुखतम भाग रहा है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वैदर्भी कौण्डिल्य ऋषि का नाम आता है। रामायण (किष्किन्धाकाण्ड) महाभारत (वन पर्व ७.३.१) हरिवशपुराण (६०.३२) तथा जैन साहित्य (समवायोग, ६.२३२.१; सूयगडांग चूणि, पृ० ८० आदि) में विदर्भ के पर्याप्त उल्लेख आते हैं। विमलसूरि के पउमचरियं मे विदर्भ के एक पर्वत रामगिरि का सुन्दर वर्णन मिलता ही है।[९] यह रचना प्रथम शताब्दी की होनी चाहिए। रामगिरि निश्चित ही रामटेक (नागपुर जिले का) है।[१०] यहा आज भी लगभग ११—१२वीं शताब्दी के जैन मन्दिर हैं। तीर्थंकर शांतिनाथ की भव्य प्रतिमा यहां विराजमान है। इस काल के कुछ प्राचीन शिलालेख भी उपलब्ध है। सम्भवतः इसके पूर्व का पुरातत्व भूगर्भ मे छिपा होगा। पउमचरिय मे राम द्वारा रामगिरि पर चैत्य निर्माण करने का वर्णन उपलब्ध होता ही है। हरिवंशपुराण में भी इसका वर्णन मिलता है।

कलिंग खारवेल (राज्याभिषेक) १६६ ई० पू०) का हाथीगुंफा शिलालेख भी इस सदर्भ मे महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। उसमें एक स्थान पर कहा गया है कि सातवें वर्ष में कलिंग खारवेल की बज्रगृह की रानी को मातृपद मिला—

"अनुग्रह-अनेकान्ति सतसहसानि विसजति पारे जनपद [।।] सतम च बसं [पसा] सतो वजिरघर······ स मातुपदं [कु] ·· म [।] अठमे च वसे महतासेन [।।] गोरधगिरि······।"

इसी शिलालेख की चतुर्थ पक्ति में कहा गया है कि खारवेल की सेना कृष्णवेणा (कण्हवेणा) नदी पर्यन्त पहुंची।[११] महाभारत (६.२०) में उल्लिखित कृष्णवेणा भी शायद यही कृष्णवेणां होगी। डॉ० मिराशी ने इस कृष्णवेणा की पहिचान नागपुर की समीपवर्ती कन्हान या वैनगंगा नदी से की है। वजिराघर गांव रायबहादुर हीरालाल के मत से चांदा जिले का वैरागढ़ होना चाहिए। पंक्ति छह में रथिक और भोजक का उल्लेख है। इनका सम्बन्ध क्रमशः खानदेश (नासिक, अहमदनगर, पूना) एव विदर्भ से माना जाता है। जैसा वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक दानपट्ट से स्पष्ट है, भोजकट प्रदेश में विदर्भ का एलिचपुर जिला सम्मिलित रहा है।[१२] महाराष्ट्र के काफी भाग पर कलिंग का आधिपत्य रहा है, यह उपर्युक्त उल्लेखों से असदिग्ध है।

पुरातात्विक सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र मे मध्यकाल मे जैनधर्म की सुदृढ़ स्थिति थी। नागपुर एलिचपुर, चांदा, वर्धा अमरावती, वाशिम, भडारा आदि स्थानों पर प्राचीन जैन मूर्तिया,

अभिलेख, वास्तुशिल्प आदि पर्याप्त परिमाण मे भूगर्भ से उत्खनन में प्राप्त हुए हैं जो इस तथ्य के दिग्दर्शक हैं कि अभी भी न जाने कितनी जैन सांस्कृतिक संपदा जमीन के नीचे छिपी पड़ी है। यहा उत्खनन अभी बहुत शेष है। जो भी हुआ है उसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में बहुत फला-फूला है।

नागपुर का समीपवर्ती ग्राम केलझर लगता है, जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यहां से जैन उपासक की एक सुन्दर प्रतिमा मिली है। वृषभदेव आदि की भी कुछ मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जो लगभग ११वीं शती की होनी चाहिए। नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा संचालित १९६७ के उत्खनन म पवनार (वर्धा जिला) से भी दो प्रस्तर जिनमूर्तिया प्राप्त हुई है जिनका समय सातवी-आठवी शताब्दी माना जा सकता है। पवनी (वाकाटक) राजधानी प्रवरपुर है।[१३]

भंडारा जिले के पदमपुर गांव मे सप्तफणधारी पार्श्वनाथमूर्ति तथा अन्य जिन प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। जो उत्तर-मध्यकाल की प्रतीत होती है। देव-टक (चादा से ६६ मील दूर) मे एक प्राचीनतम अभिलेख मिली है[१४]। जिसमें अहिंसा का उपदेश दिया गया है। रायबहादुर हीरालाल ने इसे अशोक के शिलालेखो से मिलान किया है और ई० पू० तृतीय शताब्दी का ठहराया है।[१५] लिपि के आधार पर वैसे इसे कलिंग के साथ भी बैठाया जा सकता है। कलिंग का सम्बन्ध विदर्भ से रहा भी है। जनरल कनिंघम और प्रयागदत्त शुक्ल के उल्लेखो से भी पता चलता है कि चादा जिले मे जैन मन्दिर और मूर्तिया प्राचीन काल में विद्यमान थी।

बुलढाना जिले के सातगाव में उपलब्ध जैन मूर्तियां वहां की प्राचीनता की कथा बताती है।[१६] मेहकर और रोहिणखड भी इसो तरह एक अच्छे जैनकेन्द्र रहे होगे।[१७]

कारजा (अमरावती) भी मध्यकाल का एक अच्छा जैन केन्द्र था। यहा का समृद्ध ग्रन्थ भंडार इसका साक्षी है। अपभ्रंश महाकवि पुष्पदंत का सम्बन्ध इस गांव से था। उनके अनेक ग्रन्थ यहां के भंडार मे उपलब्ध हुए है। यह स्थान बलात्कार गण का केन्द्र होना चाहिए। वैसे मलखेड़ मूल केन्द्र था जहां से उसकी दो शाखायें स्थापित हुई—कारजा और लातूर। इस गण के साथ सरस्वती-गच्छ का विशेष सम्बन्ध रहा है। समीपवर्ती अकोला जिले के खिनखिनी ग्राम में सरस्वती की एक प्रतिमा उपलब्ध हुई है जिसके शिरोभाग मे जैनमूर्ति विद्यमान है। कारजा मे भी सरस्वती मूर्ति है। यहां का काष्ठ शिल्प भी उल्लेखनीय है।

अकोला जिले के शिरपुर स्थित अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का जैन मन्दिर उत्तर मध्यकाल के वास्तुशिल्प का अच्छा नमूना है। यहा प्राप्त एक संस्कृत शिलालेख के अनुसार इसका निर्माण स० १३३४ (ई० सन् १४१२) मे हुआ था। इसी जिले के खिनखिनी गांव के कुएँ से अनेक जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई है—जिनके लेखों के आधार पर वे लगभग नवी शती की सिद्ध होती है। ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ की सरस्वती सहित सपरिवार मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इनकी यक्ष मूर्तियां अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत है। प्राचीन तीर्थमाला में इसे एलचपुर के अन्तर्गत दिगम्बर सम्प्रदाय का गढ बताया गया है।[१८] अकोला के पास ही पातर गाव से प्राप्त एक और जैन लेख सन् ११८८ का मिला है जो वर्तमान मे नागपुर सग्रहालय मे सुरक्षित है।

अमरावती जिले मे ही एक कुडिनपुर गांव है जिसका अधिपति महाभारत का भीम माना गया है।[१९] कालिदास ने इन्दुमती को विदर्भराज भोज की बहिन और विदर्भराज को कुण्डनेश कहा है।[२०] हरिषेण के वृहत्कथाकोष के अनुसार यह गांव प्राचीनकाल में जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र होना चाहिए।[२१] डा० दीक्षित द्वारा किये गये उत्खनन कार्य से भी यह तथ्य सामने आता है।[२२]

अचलपुर भी मध्यकाल मे जैन संस्कृति का प्रख्यात केन्द्र रहा है। धनपाल ने अपनी "धम्म परिक्खा" यही पूरी की थी। हेमचन्द्र सूरि ने भी अचलपुर का उल्लेख करते हुए यह सकेत किया है कि यहा के निवासियों के उच्चारण में च और ल का व्यत्यय हो जाता है। आचार्य जयचन्द्रसूरि (नवी शती) ने अपनी धर्मोपदेशमाला में अचलपुर के अरिकेशरी नामक दिगम्बर जैन नरेश का उल्लेख किया है—"अयलपुरे दिगम्बर भत्तो अरिकेसरी

राजा।" यहां सप्तम शती का एक ताम्रपत्र भी प्राप्त हुआ है। अचलपुर के पास ही लगभग ८ मील दूर मुक्तागिरि नामक जैन सिद्धक्षेत्र है। यद्यपि यह वर्तमान में बेतूल (म० प्र०) जिले के अन्तर्गत आता है पर यह मूलतः अचलपुर का ही भाग होना चाहिए। यह जैन ग्रन्थों मे मेंढागिरि (मेधागिरि) आदि नामो से जाना जाता है। आज भी यहां लगभग पचास जैन मन्दिर एक रम्य पहाड़ी पर अवस्थित हैं।

ये विदर्भ के प्रमुख जैन नगर हैं, जिनके उल्लेख जैन ग्रन्थों में बहुधा उपलब्ध होते है। पुरातात्विक प्रमाणो से भी यह सिद्ध हो चुका है। इनके अतिरिक्त कुट्टी गोंदिया आदि अनेक ऐसे भाग है जहाँ जैन पुरातत्त्व के प्रमाण उपलब्ध हो सकते है। भद्रावती (चादा जिला) ऐसा ही नगर है जहां तीनो संस्कृतियों के पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यहा चीनी यात्री युवानच्वांग ६३९ ई० मे पहुंचा था। उस समय भद्रावती का राजा सोमवशी सूर्यघोष था जिसने अनेक गुहामन्दिरों का निर्माण कराया। प्राचीन वैदिक वास्तुशिल्प के भी उदाहरण मिलते हैं। सरोवर के किनारे जैन मन्दिर भी हैं जिसके आसपास जैन पुरावशेष प्राप्त हुए है।

चांदवड़ या चद्रवट नगर का नाम भी उल्लेखनीय है, जिसकी नीव यादववशी राजा दीर्घपन्नार ने डाली थी। यहां ८०१ ई० से १०७३ ई० तक यादवों का राज्य रहा। इसी की समीपवर्ती चार हजार फुट ऊंची पहाड़ी पर रेणुका देवी का मन्दिर है जो वस्तुतः जैन गुहा मन्दिर होना चाहिए, क्योंकि उसकी दीवार मे तीन तीर्थंकरो की मूर्तियां उत्कीर्ण है। जैन साहित्य मे चांदवड का प्राचीन नाम चन्द्रादित्यपुरी मिलता है।

विदर्भ के समान अपरान्त और दक्षिणी भाग मे भी जैन धर्म काफी लोकप्रिय रहा है। औरंगाबाद से १४ मील दूर चरणाद्रि शैल गुफा मन्दिरों के लिए विख्यात एलौरा ग्राम है जिसे इतिहास मे एल्डर इल्वलपुर अथवा एलागिरि के नाम से जाना जाता है। यहां जैन बौद्ध और वैदिक तीनों संस्कृतियों का वास्तुशिल्प दिखाई देता है। इस गांव की स्थापना इल्चिपुर के राजा यदु ने आठवी शती में की थी। एलाचार्य कुन्दकुन्द से यदि इसे सम्बद्ध माना जाये तो एलोरा का काल लगभग प्रथम शती सिद्ध हो जाता है। पर इस बीच का कोई इतिहास उपलब्ध नही होता। राष्ट्रकूट वश जैनधर्म का सरक्षक रहा है। महाराष्ट्र के कुछ भाग पर भी उनका अधिकार था। उनकी एक शाखा लातूर में स्थापित हुई जो ६२५ ई० मे एलिचपुर (अचलपुर) मे स्थानातरित हो गई। इसका प्रथम ज्ञात शासक दन्तवर्मन् वातापी चालुक्यों का करद सामंत था। उसके उत्तराधिकारियो मे दन्तिदुर्ग ने ७४२ में एलोरा पर अधिकार किया और उसे अपनी राजधानी बनाया। धर्मोपदेशमाला (८५८ ई०) से भी ज्ञात होता है कि समयज्ञ नामक एक जैन मुनि भृगुकच्छ से चलकर एलोरा के दिगम्बर जैन मन्दिर मे रुके। यही से दन्तिदुर्ग ने नासिक को अपने अधिकार मे किया, वातापी चालुक्य का अंत किया और कोशल, मालवा आदि देशो के राजाओं को भी पराजित किया। उसने चिन्नकूटपुर के श्रीवल्लभ राहप्पदेव को भी हराया, जिसका भाई वीरप्पदेव वीरसेन नाम से पचस्तूपान्वयी मुनि के रूप में प्रसिद्ध हुए। वे राष्ट्रकूट राजधानी के ही समीपवर्ती वाटनगर मे आ बसे और वही के चन्द्रप्रभु जैन मन्दिर तथा चामरलेण के गुहामन्दिरों मे अपना विद्याकेन्द्र स्थापित किया। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव के शासनकाल मे ही उन्होने जयधवला महाधवला जैसे महाग्रन्थो की रचना की।

एलोरा की अन्तिम गुफा कैलाश जैन गुफा है जो चरणाद्रि पर्वत के उत्तरी भाग मे है। उसके दो भाग उत्खनन से प्रकाश मे आए है—इन्द्रसभा और जगन्नाथसभा। इन्द्रसभा बारह खभों पर खड़ा दो भाजल का एक मन्दिर है जिसे २०० फीट नीचे पर्वत काटकर बनाया गया है। इसमे दाईं ओर एक सुन्दर हाथी बना है। बरामदे मे हाथी सहित इन्द्र की मूर्ति है जो वास्तुशिल्प का बेजोड़ नमूना है। कला की दृष्टि से इन्द्रसभा सर्वोत्तम भाग है। जगन्नाथसभा इन्द्रसभा से छोटा भाग है जिसमे महावीर की मूर्ति विराजमान है। ऊपर के भाग मे सोलह फुट की पार्श्वनाथ प्रतिमा है। इस गुफा मे प्राप्त शिलालेखों के आधार पर इसका समय आठ से तेरहवी शती तक ठहराया जा सकता है। ९वी-१०वी शताब्दी के कुछ लेखों मे यहां नागनदि, दीपनदि आचार्यों तथा उनके शिष्यो

के नाम उल्लिखित हैं। यहां का एक अन्य लेख राष्ट्रकूट राज्यकाल के बाद का १३वीं शती का है जिसमे गुहा-मन्दिर निर्माता चक्रेश्वर की बड़ी प्रशंसा की गई है।

एलोरा पहाड़ी का सम्बन्ध चारणो से रहा होगा। दक्षिण मे एक तिरुच्चनत्तुमलै नाम की एक और पहाड़ी है जिसका भी सम्बन्ध चारणो से जोड़ा गया है। ये चारण कौन होंगे? यह प्रश्न अभी भी समाधान की अपेक्षा रखता है। लगता है, दक्षिण प्रदेश विद्याधरो का स्थान रहा है इसलिए उनको ही चारण कहा गया है। उन्ही विद्याधरों के विविधरूप यक्ष-यक्षी, चौमुखी देवियां, गजलक्ष्मी, अम्बिका आदि के रूप मे उकेरी गयी हैं जो काफी परिमाण में यहां मिलते हैं।

दन्तिदुर्ग के बाद उसका चाचा कृष्ण प्रथम अकाल वर्ष शुभतुंग सिंहासन पर बैठा जिसने दक्षिणी कोकण में शिलाहार सामंतो को नियुक्त किया। उसी ने पर्वत काट कर ७६६ ई० में यह कैलाश मन्दिर बनवाया। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव की पत्नी चालुक्य राजकुमारी शीलभट्टारिका जैनधर्मावलम्बी और उच्चकोटि की कवयित्री थी।

सन्दर्भ-सूची

१. सेतु नर्मदा मध्य सार्धसप्तलक्षं दक्षिणापथं पालयामास विष्णुवर्धन अभिलेख, (Epi. Ind. Vel. IV page 305).

२. अगमदधिपतित्व यो महाराष्ट्रकाणाम् नवनति सहस्र ग्राम भाजां त्रयाणाम् (I.A.A.V. 8 P. 241).

३. प्राचीन महाराष्ट्र, डॉ० श्रीधर वेंकटेश केतकर भाग १, पृ० १६४।

४. देखिये, जूनागढ़ मे प्राप्त रुद्रदामन का अभिलेख।

५. अशोक शिलालेख तथा अमुलनार, परणार और श्रवणवेलगोल शिलालेख।

६. तिलोयपण्णत्ति, ४, १४, २१; श्रवणवेलगोल शिलालेख नं० १०८, हरिषेणकथाकोश १३१।

७. महावंश, पृ० ६७; देखिए लेखक का ग्रंथ Jainism in Buddhist Literature. प्रथम अध्याय।

८. Epigraphy of Indica, Vol. 38, p. 167.

९. रामेण जम्हा भवणोत्तमाणि जिणिन्द
चंदाण निवेसियाणि।
तथेव तुंगे विमलप्पमाणि तम्हा जणे रामगिरी प्रसिद्धो॥
—चालीसवां पर्व

१०. डॉ० मिराशी, मेघदूत मे रामगिरि अर्थात् रामटेक, विदर्भ संशोधन मंडल, नागपुर।

११. अनुग्रह अनेकानि सतसहसानि विसजति पोरजनपदं[।] सतम च वसं [पसा] सतो वजिरघर·· स मातुकपदे [कु]···म[।] अठमे च वसे महता सेन [॥] गोरधगिरि······।

१२. Journal of the Royal Asiatic Society p. 329.

१३. के. एन. दीक्षित, Journal of Asiatic Society of Bengal, Numismatic Supplımate, ख 29, p. 159, संशोधन मुक्तावलि, मिराशी 2, page 177—187.

१४. संशोधन मुक्तावलि, मिराशी 1, p. 87.

१५. Incriptions in C.P. & Beror, 16, p. 15.

१६. वही २६४, पृ० १५५।

१७. वही, २६३, पृ० १५५; मोरेश्वर दीक्षित, पुरातत्व की रूपरेखा, पृ० २८। प्रयागदत्त शुक्ल, रविशकर शुक्ल अभिनदन ग्रंथ साहित्य खंड पृ० १४। विशेष देखिए—विदर्भ का जैन पुरातत्त्व, डॉ० चन्द्रशेखर गुप्त, जैनमिलन, दिसम्बर १९७०, पृ० ५७-५८।

१८. Epi. Indica, Vol. 8, p. 82.

१९. Ancient Jain Hymns. p. 28.

२०. अत्र पूर्वं अर्द्धच्छाला-परम-पुश्कल-स्थान-निवासिभ्य: भगवद् अर्हत् महाजिनेन्द्र देवतभ्य: एको भाग: द्वितीऽर्हत् प्रोक्त सद्धर्म-कारण-परस्य श्वेतपट-भटाश्रमण-सधोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थ महाश्रमण सधोपभागाय ······1 fleet, Sanskrit and old cannarese Inscriptions, 9. A. VII, p. 35; The Kadamba Kula, by George M. Moraes, p. 35.

२१. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार, ६१-६६।

२२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख न. ६१, पृ. ३९।

२३. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६१।

गिरिनगर की चन्द्रगुफा में हीनाक्षरी और घनाक्षरी का क्या रहस्य था ?

☐ प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन

षट्खण्डागम ग्रंथों और उनकी धवला टीका ग्रन्थों का प्रकाश प्रायः पचास वर्षों पूर्व फैलना प्रारम्भ हुआ। उनकी अवतरण कथा पढ़ी और सुनी गई किन्तु एक सारभूत रहस्य हीनाक्षरी और घनाक्षरी पर विचार विमर्श का अवसर नहीं आ सका। भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि को उनके प्रथम शिष्य गौतम गणधर द्वारा गुंथा गया, द्वादशांग वाणी का यह रूप आचार्य परम्परा से क्रमशः हीन होता हुआ धरसेन आचार्य तक आया। उन्होंने महाकर्म प्रकृति-प्राभृत पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों को किस प्रकार पढ़ाया इसका एक कथानक है।[1] उसकी पृष्ठभूमि मे यह भी तथ्य है कि षटखण्डागम ग्रन्थों पर आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, शामकुन्द, तुम्बुलूर एवं बप्पदेव ने जो टीकायें लिखी थीं वे अब अनुपलब्ध हैं।

आचार्यों की पवित्र परम्परा में भगवान् महावीर के ६१४ वर्ष पश्चात् आचार्य माघनन्दि के शिष्य आचार्य धरसेन पट्टासीन हुए थे। इन दोनों के कथानक प्रसिद्ध है। आचार्य धरसेन श्रुत के प्रति अत्यन्त विनयशील, निष्ठावान थे तथा वे अंग परम्परा के अन्तिम ज्ञाता माने गये। वे बड़े कुशल निमित्त ज्ञानी और प्रभावशाली मंत्र-ज्ञाता आचार्य थे। आचार्यपद ग्रहण करने के चौदह वर्ष पूर्व ही उन्होने "योनि प्राभृत" नामक मंत्र शास्त्र संबन्धी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना कर ली थी। कहा जाता है कि उन्हें मंत्र शास्त्र का यह ज्ञान कूष्माण्डिनी महादेवी से प्राप्त हुआ था। यह ग्रंथ ८०० श्लोक प्रमाण प्राकृत गाथाओं में अब अनुपलब्ध है पर इसका उल्लेख धवला मे प्राप्य है।[2]

आचार्य अर्हद्बलि के प्रमुख शिष्य माघनन्दि बहुत महान् श्रुतज्ञ थे। जंबू दीप पण्णत्ति के कर्ता आचार्य पद्मनन्दि ने उन्हें रागद्वेष एवं मोह से रहित, श्रुतसागर के पारगामी, मतिप्रगल्भ, तप और संयम से सम्पन्न तथा विख्यात कहा है। आचार्य धरसेन इन्ही के शिष्य थे। पट्टावलियों में आचार्य माघन्दि के पश्चात आचार्य जिनचंद्र और उनके शिष्य के रूप मे आचार्य पद्मनन्दि कुन्दकुन्द का उल्लेख किया जाता है। श्री धरसेनाचार्य अत्यंत विद्यानुरागी थे, जिनवाणी की सेवामे उनका अर्पित जीवन अंत तक एकाकी रहा। वे अन्य व्यामोहों से दूर रह जिनवाणी की अवशिष्ट धरोहर को हृदय में संजोये रहे और अंतिम दिनों उक्त आगम ज्ञान को लिपिबद्ध कराकर सुरक्षित करा लेने मे समर्थ सिद्ध हुये। उन्होने सुदूर गिरनार की गुफाओ को अपनी साधना स्थली बनाया था और अवशेष जिनागम की संपूर्ण सुरक्षा का ध्येय उन्होने बना लिया था। स्वाभाविक है कि उनकी यह प्रवृत्ति देख आचार्य माघनन्दि के इतर शिष्य आचार्य जिनचन्द्र ने पट्टासीन होकर अपने शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा अपनी संघनायक परम्परा को निरंतर अनवरत रखने का उपक्रम किया होगा।

गिरि नगर की प्रकाशवान चंद्र गुफा—

अल्प आयु से रह जाने पर आचार्य धरसेन ने कुशल निमित्त ज्ञान बल से अपना सुझाव महिमा नगरी मे हो रहे दिगम्बर साधुओ के विशाल सम्मेलन को प्रेषित किया होगा। संभवतः प्रत्येक पांचवे वर्ष 'युग प्रतिक्रमण' के रूप में होने वाला यह सम्मेलन उस वर्ष महिमा नगरी में अपने उस सन्देश को प्रोज्ज्वलित न कर हीनाक्षरी और घनाक्षरी विद्याओं द्वारा उक्त अवशिष्ट आगमांश को सुरक्षित रखने के अभिप्राय को समझ गया होगा। उन्होंने आचार्य श्री धरसेन के संदेश को पूरा सम्मान दिया, उन्हें भक्ति पूर्वक स्मरण किया, उनके आलेख को गुरु आज्ञा के समान स्वीकार किया। तदनुसार उक्त मुनि समुदाय ने अपने मध्य अत्यन्त शील श, कु० जाति से शुद्ध, सकल कलाओ मे पारंगत, क्षमतावान, धैर्यवान, विनम्र, अटल

श्रद्धायुक्त दो विद्वान साधुओं को इस महान्तम कार्य के लिए निर्वाचित किया। दो मुनि और दो विद्याये इस कार्य को सम्पन्न करने में लगी होंगी।[1]

जब ये मुनि युगल, पुष्पदंत और भूतबलि जो इस नाम से बाद में प्रसिद्ध हुये, अविलम्ब गिरनार की चद्र गुफा की ओर प्रस्थित हुए है। उधर पहुंचने को हुए तब उसी पूर्व रात्रि मे आचार्य धरणे ने स्वप्न देखे स्वप्न मे भी दो धवल एव विनम्र बैल आकर उनके चरणों में प्रणाम कर रहे थे। स्वप्न देखते ही आचार्य श्री की निद्रा भंग हुई और 'जयउ सुददेवता'—"श्रुत देवता जयवन्त हो" कहते हुए उठे। उसी दिन ही उक्त दोनो साधु आचार्य श्री धरसेन के पास पहुचे। अति हर्षित हो उनकी चरण-वन्दनादिक कृति कर्म कर उन्होने दो दिन का विश्राम किया। तीसरे दिन उन्होने अपना प्रयोजन आचार्यश्री के सम्मुख प्रस्तुत किया। आचार्य श्री भी उनके वचन सुनकर प्रसन्न हुए और "तुम्हारा कल्याण हो" ऐसा आशीर्वाद दिया।

आचार्य श्री के मन में विचार आया होगा कि पहिले इन दोनो नवागत साधुओ की परीक्षा करनी चाहिए कि वे श्रुत ग्रहण और धारण करने आदि के योग्य भी है या नही क्योंकि स्वच्छन्द-विहारी व्यक्तियो को विद्या पढाना ससार और भय को बढ़ाने वाला होता है। यह विचार कर उन्होने उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। तदनुसार आचार्य श्री धरसेन ने उक्त दोनो साधुओं को दो मत्र विद्यायें साधन करने के लिये दी।[2] उसमे से एक मन्त्र विद्या हीन अक्षर वाली थी और दूसरी अधिक अक्षर वाली। दोनों को एक-एक मन्त्र विद्या देकर उन्होने कहा कि इन्हें तुम लोग षष्ठोपवास (दो दिन के उपवास) से सिद्ध करो।[3] दोनों साधु गुरु से मन्त्र विद्या लेकर भगवान् नेमिनाथ के निर्वाण होने वाले शिला पर बैठकर मन्त्र साधने लगे। मन्त्र साधना करते हुए जब उनको वे विद्याएं सिद्ध हुयीं, तो उन्होने विद्या की अधिष्ठात्री देवताओं को देखा कि एकदेवी के दांत बाहिर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है।[1]

देवियों के ऐसे विकृत अंग देखकर उन दोनो साधुओं ने विचार किया कि देवताओ के तो विकृत अग होते नही हैं। अतः अदृश्य ही मंत्र मे कही कुछ अशुद्धि होना चाहिए। इस प्रकार उन दोनों ने विचार कर मत्र सबन्धी व्याकरण (वि+आकरण) शास्त्र मे कुशल उन्होने अपने अपने मंत्रों को शुद्ध किया और जिसके मंत्र मे अधिक अक्षर थे उसे निकाल कर। तथा जिसके मत्र में अक्षर कम थे। उसे मिलाकर उन्होने पुनः अपने-अपने मंत्रों को सिद्ध करना प्रारम्भ किया।

तब दोनों विद्या-देवियाँ अपने स्वाभाविक सुन्दर रूप मे प्रकट हुई। वे बोली, "स्वामिन आज्ञा दीजिये, हम क्या करे। तब इन दोनो साधुओ ने कहा, आप लोगों से हमे कोई ऐहिक या पारलौकिक प्रयोजन नहीं है। हमने तो गुरु की आज्ञा से यह मत्र साधना की है! यह सुनकर वे देवियाँ अपन स्थान को चली गयी। मत्र साधना से प्रसन्न होकर वे आ. धरसेन के पास पहुचे और उनकी पाद वन्दना करके विद्या-सिद्धि सम्बन्धी समस्त वृतांत निवेदन किया। आचार्य धरसेन अपने अभिप्राय की सिद्धि और समागत साधुओकी योग्यता देखकर बहुत प्रसन्न हुए, 'बहुत अच्छा' कहकर उन्होने शुभतिथि, शुभनक्षत्र और शुभ वार में ग्रथ का पढ़ाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार क्रम से व्याख्यान करते हुए आ. धरसेन ने आषाढ़ शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्न काल मे ग्रथ समाप्त किया। विनय पूर्वक इन दोनों साधुओ ने गुरु से ग्रथ का अध्ययन सम्पन्न किया है, यह जानकर भूतजातिके व्यन्तर देवों ने उन दोनो मे से एक की पुष्पावली से शख तूर्य आदि वाद्यों को बजाते हुये पूजा की। उसे देखकर धरसेनाचार्य ने उनका नाम 'भूतबलि' रखा। तथा दूसरे साधुकी अस्त-व्यस्त स्थित दंत पंक्ति को उखाड़ कर समीकृत करके उनकी भी भूतों ने बड़े समारोह से पूजा की। यह देखकर धरसेनाचार्य ने उनका नाम 'पुष्पदन्त' रखा।

अब हम उपर्युक्त कथानक को वैज्ञानिक परिदृष्टि से विश्लेषण करना चाह सकते हैं। द्वादशांग श्रुत के १२वें दृष्टिवाद अग के पाच भेद है, उनमें चौथे भेद पूर्वगत के चौदह भेद है। उन भेदो मे से दूसरा भेद अग्रणीय पूर्व है जिसमे १४ वस्तुये हैं जिनमें पाचवी वस्तु चयनलब्धि के २० प्राभृत हैं। उनमें से चौथे कर्म प्रकृति प्राभृत के २४ अनुयोगद्वार है जिनमें से पहले और दूसरे अनुयोग द्वार से प्रस्तुत षट्खण्डागम का चौथा वेदना खड निकला है। बधन नामक छठे अनुयोग द्वार से चार भेदों में से प्रथम

भेद बंध से, तथा तीसरे, चौथे और पांचवें अनुयोगद्वार से पांचवां वर्गणाखंड निकला है। बन्धन अनुयोगद्वार के तीसरे बन्धक भेद से दूसरा खंड खुद्दाबंध निकला है। इसी अनुयोगद्वार के बंध विधायक नामक चौथे भेद से महाबध नाम का छठा खण्ड निकला है। इसी प्रकार बन्धन नाम छठे अनुयोगद्वार के बंध विधान नामक चौथे भेद से बन्ध स्वामित्व विचय नामका तीसरा खड और जीवस्थान नामक प्रथमखंड के अनेक अनुयोगद्वार निकले है।

अत: **महाकर्मप्रकृति प्राभृत** के चौबीस अनुयोग द्वारो मे से भिन्न-भिन्न अनुयोग द्वार एव उनके अनन्तर अधिकारों से षट्खण्डागम के विभिन्न अगों की उत्पत्ति हुई हैं। इसका नाम खण्ड आगम पड़ा जिसमे छ: खड क्रमश: जीव स्थान, खुद्दाबध, बंध स्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध है।

हीनाक्षरी और घनाक्षरी का रहस्य—

यह सर्व विशाल रचना, उसकी विभिन्न टीकाये और उनके सार ग्रन्थो की टीकायें क्या इगित करती है। इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है। केशववर्णीकृत "गोम्मटसार की कर्णाटिक वृत्ति' पर विशेष ध्यान देना है। उसके पूर्व संत कम्म पंजिया तिलोयपण्णत्ती, धवला-टीका आदि पर भी विशेष अध्ययन आवश्यक है।

यदि यह मानकर हम चलें कि हीनाक्षरी और घनाक्षरी मत्र विद्याये मात्र हीनाक्षरी एव घनाक्षरी ऐसी दो विद्यायें थीं* जिनका उपयोग उन्हें आगम अंश को अवतरित करने में करना था तो क्या प्रयोजन निकलता है ? हीनाक्षरी का अर्थ हीन अक्षर वाली और घनाक्षरी का अर्थ घन या अधिक अक्षर वाली निकाला जाता है। यदि हीन अक्षर वाली कोई विद्या है तो उसका क्या उद्गम होगा और क्या प्रयोजन हो सकता है, तथा उसका क्या रूप हो सकता है ? यह प्रश्न सहज ही उठता है। क्या षट्खंडागम की रचना में ऐसा कोई प्रयोग दिखाई देता है ? महाबध मे अवश्य ही अनेक स्थानों पर अधूरे वाक्यांशो के आगे शून्य दिखाई देता है। तिलोयपण्णत्ती मे कई स्थानों पर हीन अक्षर युक्त प्रयोजन इस रूप में दिखाई देता है कि स्थान-स्थान पर अंकगणितीय एवं बीज तथा रेखा गणितीय प्ररूपण साथ साथ चलता है। ऐसा थोड़ा बहुत प्ररूपण संतकम्म पञ्जिया तथा धवल टीका में देखने को मिलता है। अंत में यह केशववर्णी की "गोम्मटसार की कर्णाटक वृत्ति" तथा मुनि नेमिचंद्र की गोम्मटसार की सस्कृत टीका एव पडित टोडरमल की गोम्मटसार एवं लब्धिसार की सम्यक्ज्ञान चद्रिका टीका के अर्थ सदृष्टि अधिकारों मे दिखाई देता है। यहां बीजो आदि के मध्य अथवा परिकर्माष्टक करण (गणित) के नियमों से गुंथी भाषा है। सूत्रबद्ध प्ररूपण मे व्याकरण के नियमों से गुंथी भाषा है जो घनाक्षरी कहलाई जा सकती है।

यदि इन हीनाक्षरी का दूसरा अर्थ निकालें तो यह हो सकता है, "अक्षरों के हीन अर्थ वाली"। यह भी ऐसी भाषा हो सकती है जिसमे अक्षरों से जो शब्द बनाये जाते हों उनका अर्थ बोध थोड़ा होता हो। इस प्रकार घनाक्षरी का दूसरा अर्थ निकालें तो यह हो सकता है, "अक्षरों के घन अर्थ वाली"। यह भी एक ऐसी भाषा हो सकती है जिसमे अक्षरो से जो भी वस्तु इगित या अभिप्रेत होती हो उनका अर्थ बोध घन या अधिक या गभीर होता हो। ऐसी दशा में प्रथम भाषा व्याकरण के नियम से बधी होगी और दूसरी भाषाकरण या परिकर्म के नियम से बधी होगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ये दो प्ररूपण—व्याकरणीय तथा करणीय, दो विद्याओ के रूप मे दिगम्बर जैन आगम मे हमें उन टीकाओ मे दिखाई देते है जो उपलब्ध है। एक व्याकरण विज्ञान की भाषा है तो दूसरी करण (गणित) या परिकर्म विज्ञान की भाषा है। कथानक मे दो विद्याओं की सिद्धि को एक दैवी रूप दिया गया है किन्तु उनका कोई प्रयोजन होने की बात नही कही गई है। यह भी स्पष्ट है कि जो भी उक्त आगम को निबद्ध सूत्रों में, श्लोक आदि में करना, उसे इन विद्याओ मे पारगत होना चाहिए था। कारण कि इस **महाकर्म प्रकृति प्राभृत** विज्ञान मे वही दक्ष माना जा सकता था जिसे न केवल **व्याकरण** का ज्ञान हो वरन् साथ ही करण या परिकर्म (गणित) का ज्ञान हो।

इसमे कोई सन्देह नही कि व्याकरणकी ओर ध्यान न देने वाला सही अर्थ उस प्रथम भाषा का नही निकाल सकता है, तथा करण की ओर ध्यान न देने वाले सही अर्थ उस द्वितीय भाषा का नहीं निकाल सकता है। इस प्रकार किसी एक के प्रति भी असावधान, यथार्थ अर्थ तक नही पहुंच सकता है। वह अशुद्धियो के झमेले मे पड़ सकता है। सूत्र निबद्ध करना तो बहुत दूर की बात है।

इस प्रकार प्रश्न उठता है कि क्या उक्त दोनों विद्वान् मुनियों ने अपने को इन हीनाक्षरी एवं घनाक्षरी विद्याओं में पारंगत न बनाया होगा ? फिर अपने को इनमे पारगत बनाकर क्या षट्खंडागम के दो रूप प्ररूपित न किये होंगे ? एक रूप तो हमारे सामने व्याकरणी है जो प्राकृत भाषा का है। यह पढ़ने और समझने में सरल है। किन्तु इसके यदि दूसरे रूप की बात आती है तो उसे हम केशव-वर्णी की कर्णाटक वृत्ति मे एक विशाल अप्रतिम अद्भुत करणीय या परिकर्माष्टक (गणितीय) रूप में देखते हैं। दोनों रूप क्यो आवश्यक प्रतीत हुए यह भी एक प्रश्न है। ऐसे दोनो रूपो मे क्या आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि ने रचना न की होगी—यह प्रश्न उठता है। साथ ही यह प्रश्न तब उठता है जबकि हम पंडित टोडरमल को सम्यक् ज्ञान चन्द्रिका टीका मे जुदे-जुदे रूप मे जुदी-जुदी जगह रखा हुआ पाते है। भाषा वचनिका के लिए तो व्याकरणीय भाषा उपयुक्त है किन्तु गहन सूक्ष्म अध्ययन के लिए संक्षिप्त करणीय या परिकर्माष्टक भाषा ही उपयुक्त प्रतीत होती है।

इतिहास में यह कथानक इस प्रकार एक प्रश्नचिह्न लगा देता है। प्राचीनकाल उस युग मे लगभग उसी समय कीलयुक्त बेबिलनीय भाषा मे भी दो रूप देखने में आते है। उस समय का गणित ज्योतिष विज्ञान इसी प्रकार की दो भाषाओ मे लिखा गया है।' तब पुनः प्रश्न उठता है कि यदि व्याकरणीय रूप भाषा वाला षट्खंडागम हमे उपलब्ध है तो करणीय रूप या परिकर्माष्टक भाषा वाला षट्खंडागम कहां है ? यहां हमें संकेत मिलता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर परिकर्म नामक टीका लिखी थी। इसके गणितीय उल्लेखों का उद्धरण कई स्थानों में वीरसेनाचार्य की धवला टीका में आता है। इससे स्पष्ट है कि षट्खंडागम के अनेक प्रकरण *गोम्मटसार जैसे या लब्धिसार जैसे ग्रन्थों में आये अर्थ*-सदृष्टियो, अंक-संदृष्टियों एवं आकृतिरूप संदृष्टियों के रूप में होने की संभावना है, जो धवल के पूर्व की टीकाओं में उपलब्ध रहे होंगे और बहुत सम्भव है कि वह रूप अत्यधिक कठिन होने के कारण एक तरफ रख दिया गया होगा—युग-युगान्तरों में जब लेख प्रति बनाने वालों को अत्यधिक कठिनाई उन्हें साथ-साथ चलाने में प्रतीत हुई होगी, अनुभव मे आई होगी।

उक्त कथानक हमें इस ओर प्रेरित करता है कि व्याकरणीय भाषा नहीं वरन गहन अर्थ पाने हेतु हमे गणितीय भाषा को ग्रहण कर उसमें पारंगत श्रेष्ठ विद्वानों की एक ऐसी परम्परा का निर्माण कर दें जो उक्त कथानक के अनुरूप इस प्रकार की शोध मे जुट जाये। यही ध्येय लेकर यह आचार्य श्री विद्यासागर शोधसंस्थान स्थापित किया गया है कि हम अपने प्राचीन रहस्यों को शोध कर शोधी प्रतिभाशील विद्यार्थियों द्वारा अपनी परम्परा को सुरक्षित रख सकें और उस धरोहर से जनता को प्रतिबोधित करते रहें।

निदेशक (आचार्य श्री विद्यासागर शोध सस्थान)
५५४ सराफा (सूर्य इन्पोरियम) जबलपुर

सन्दर्भ-सूची

१. देखिये षट्खडागम, ब्र० पं० सुमतिबाई शाहा द्वारा संपादित, संस्करण १९६५, प्रस्तावना, १-११०। षट्खंडागम ग्रंथ के मूलग्रथकर्ता वर्धमान भट्टारक हैं। अनुग्रंथकर्ता गौतम स्वामी हैं और उपग्रथकर्ता रागद्वेष मोहरहित भूतबलि पुष्पदंत मुनिवर है। षट्खडागम पुस्तक १, पृ. ६७-७२। पुष्पदत द्वारा १७७ सूत्र, भूतबलि द्वारा ६००० सूत्र रचित हुए।

२. आचार्य धरसेन काठियावाड़ मे स्थित गिरनार (गिरनार पर्वत) की चन्द्र गुफा मे रहते थे। देखिये बृहट्टिपणिका जै. सा. सं. १-२ परिशिष्ट योनिप्राभृत वीरात् ६०८ वर्ष पश्चात् योनिप्राभृत की रचना की देखिये योनिप्राभृत का धवल में उल्लेख।

३. ये आन्ध्र देश के वेन्नातट से संबंधित थे।

४. श्रीमन्नेमि जिनेश्वर सिद्धि सिलयां विधानतो विद्या-संसाधनं विदधतोस्तमी पुरतः स्थिते देव्यौ ॥११६॥ (इन्द्रनन्दि श्रुतावतार)।

४. देखिये दो का अंक किस प्रकार यहां चल रहा है।

५. एकाक्षी।

७. कषायप्राभृत(कषायपाहुड) एवं षट्खंडागम की रचनाओं की तुलना के लिये "कषायपाहुड सुत्त" सम्पादनादि—पं. हीरालाल जैन, कलकत्ता। (शेष पृ० १९ पर)

सोनागिरि मन्दिर अभिलेख : एक पुनरावलोकन

□ डॉ० कस्तूरचन्द्र 'सुमन' एम. ए. पी-एच. डी.

सोनागिरि चन्द्रप्रभ जैन मन्दिर में चन्द्रप्रभ प्रतिमा की दोनों ओर पत्थर पर प्रशस्तियाँ अंकित हैं। प्रतिमा की दाईं ओर का लेख नागरी लिपि से हिन्दी भाषा में उत्कीर्ण है। इसमें तेरह पंक्तियाँ और उनमें चार दोहे हैं। आदि के तीन दोहे भट्टारक सम्प्रदाय नामक ग्रन्थ मे संग्रहीत है।[1] चौथे दोहे का दूसरा चरण प. बलभद्र जैन ने "पुन्यी जीवनसार" पढ़ा है।[2]

सम्पूर्ण मूल पाठ निम्न प्रकार है—

१. ॥ श्री ॥ दोहरा ॥ मदिर सह रा
२. जत भए चदनाथ जिन ई
३. स पौष सुदी पूनिम दिना ती
४. न सतक पैंतीस ॥ ॥ मू
५. ल संघ अरगण कहौ बलात्
६. कार समूहाई श्रवणसेन अ
७. र दुसरे कनकसेन दुइ भाइ ॥
८. ॥२॥ वीजक अच्छिर वाचिकै ज
९. ······ सदुए रचाइ' और लिखो तौ व
१०. हुत सो सो नहि परो लषाइ ॥३॥
११. द्वादस सतक वरुत्तरा पुनि नि
१२ र्मापन सार पार्श्वनाथ चरण
१३. नि तरै तामो विदी विचार ॥४॥

दूसरा शिलालेख प्रतिमा की बाईं ओर अकित है। अभिषेक के लिये सीढ़ियां इन्ही शिलालेखों के नीचे बनाई गई है। यह प्रशस्ति अब तक अप्रकाशित है। इसमे बाईस पंक्तियाँ है। आदि मे दो सोरठा और अन्त मे तीन दोहे है। सोरठा अंश तथा बाईसवी पक्ति अपठनीय है।

मूल पाठ निम्न प्रकार है—

१. श्री मणिचिरु
२. चंद्रनाथोय नम
३. वंश वुदेल·········
४. पारी छत महराज
५. तिया पनि वाढस दारि
६. फलफलै मन कि न
७. मनीराम जी संगि
८. पितु की आज्ञा पाइमं
९. चंपाराम (व) सेरु करि या
१०. त्रा सुषुदाइ वर ॥२॥ सवत
११. अष्टादस कहे तेरा
१२. सी की साल लाला
१३. लक्षिमीचंद ने पै
१४. री श्री जिनमाल ॥३॥
१५. प्रथम कियो प्रारंभ
१६. मुनि मदिर जीर्णो
१७. द्धार श्रावक हिय
१८. हरषित भए सब मि
१९. लि करी समार ॥४॥
२० विजयकीर्ति जिन सूरि के सि
२१. ष्य करैं मतु सेषु परम सिष्य
२२. ·········देसे परिमे······

फाल्गुण सुदि १३

भावार्थ

तेरह पक्ति वाले प्रथम लेख में तीसरे दोहे से प्रस्तुत हिन्दी लेख किसी अन्य लेख का सारांश ज्ञात होता है। चौथे दोहे से यह भी ज्ञात होता है कि सवत् १२१२ में पार्श्वनाथ प्रतिमा के चरणो मे बैठकर पुनर्निर्माण की योजना बनाई गई थी। इससे सिद्ध है कि सवत् १२१२ मे इस लेख का मूलपाठ अपठनीय हो गया था। उसमें जो कुछ समझ में आ सका वह अंश प्रस्तुत लेख में दिया गया है।

दूसरे बाईस पक्ति वाले हिन्दी लेख में संवत् १८८३

के फाल्गुन मास की त्रयोदशी के दिन आयोजित उत्सव मे किन्हीं लाला लक्ष्मीचन्द्र के जिनमाल धारण किये जाने का उल्लेख किया गया है तथा बताया गया है कि इस समय सर्व प्रथम लाला लक्ष्मीचन्द्र ने मंदिर के जीर्णोद्धार का कार्य आरम्भ किया था।

अभिलेख के परिप्रेक्ष्य में विचारणीय तथ्य

(१) मूलपाठ : प्रस्तुत लेख जिस मूलपाठ को पढ़कर लिखा गया वह शिलालेख था या मूर्ति लेख यह खोज का विषय है, कोई प्रमाणिक निर्णय नही लिया जा सकता।

(२) संवत् १२१२ मे मन्दिर का पुनर्निर्माण।

(३) संवत् १२१२ मे पार्श्वनाथ-प्रतिमा का विद्यमान रहना।

शोधकण :

प्रथम लेख के प्रथम दोहे से यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है सोनागिरि पर तीथकर चन्द्रप्रभ की प्रतिमा सवत् ३३५ के पूस मास की पूर्णिमा के दिन मंदिर मे प्रतिष्ठापित की गई थी।

क्या वर्तमान प्रतिमा चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की है? यह एक विचारणीय तथ्य है। इसके लिए आवश्यक है वर्तमान प्रतिमा की पूर्ण जानकारी। ध्यातव्य विषय है—

(१) वर्तमान प्रतिमा की आसन पर तीर्थंकर परिचायक चिह्न का नहीं होना।

(२) प्रतिमा के शीर्ष भाग पर फणावलि का अवशेष।

(३) प्रतिमा के स्कन्ध भाग पर केश-राशि का अकन।

इन विशेषताओ के परिप्रेक्ष्य मे वर्तमान प्रतिमा मूल नायक चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की प्रतिमा नही ज्ञात होती। मन्दिर के पुनर्निर्माण के समय सवत् १२१२ में वह प्रतिमा विद्यमान रही है। मन्दिर का पुनर्निर्माण कराते समय सम्भवत: अति जीर्ण अवस्था मे रहने के कारण या कार्य कर्ताओं की असावधानी के कारण चन्द्रप्रभ प्रतिमा खडित हो गई होगी। खण्डित-प्रतिमा पूज्य न रहने से उसे किसी जलाशय में विसर्जित कर दिया होगा। मूलपाठ भी सम्भवत: प्रतिमा की आसन पर अंकित रहा है। वर्तमान मे मूलपाठ से अंकित शिलाखंड का न मिलना ऐसा सोचने के लिए बाध्य करता है।

मन्दिर का पुनर्निर्माण होने के पश्चात् निर्माताओ ने सम्भवत: विघ्नहर पार्श्वनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई थी, जिसकी फणावलि भग्नावशेष के रूप में आज भी द्रष्टव्य है। अभिलेख मे संवत् १२१२ मे पार्श्वनाथ-प्रतिमा विद्यमान रही बताई गई है।

सवत् १८८३ मे इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया गया था। इस समय भी कोई अप्रत्यासित घटना अवश्य घटित हुई है। पार्श्वनाथ-प्रतिमा को इस मन्दिर से अन्यत्र कही स्थानान्तरित किया गया तथा वर्तमान प्रतिमा वहां प्रतिष्ठापित की गई।

यह प्रतिमा स्कन्ध भाग पर केश राशि के अकन से तीर्थंकर आदिनाथ की प्रमाणित होती है। कुण्डलपुर (दमोह) के बड़े बाबा की प्रतिमा भी ऐसी ही है। उस प्रतिमा के स्कन्ध भाग पर भी केशराशि अंकित की गई है।

अपने-अपने समय की चन्द्रप्रभ और पार्श्वनाथ प्रतिमाएँ अन्वेषणीय है। आशा है विद्वान् अवश्य ध्यान देंगे।

सवत् १२१२ म आरम्भ किया गया मन्दिर का पुनर्निर्माण कार्य पूर्ण होने मे सम्भवत: एक वर्ष लगा था। पर्वत के नीचे मन्दिर क्रमाक १६ मे विराजमान मुनिसुव्रत तीर्थंकर प्रतिमा की आसन पर अंकित लेख मे प्रतिमा-प्रतिष्ठा का समय संवत् १२१[illegible] बताये जाने से सोनागिरि मे सवत् १२१३ मे प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ ज्ञात होता है जिसमे उक्त पुनर्निर्मित मन्दिर की एव नई प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई थी। गोलापूर्व जैन इस प्रतिष्ठा महोत्सव मे आये थे तथा उन्होने यहा प्रतिमा-प्रतिष्ठा कराई थी। प्रतिमा लेख निम्न प्रकार है—

(१) सवत् १२१३ गोल्लापूर्व्वान्वये साधु सोढे तत्पुत्र साधु क्षीलूण भार्य्या जिणा तयो: सुत साबु (साधु) वीलूण भार्य्या पल्हा सर्व्व।

२. जिननाथ नित्यं प्रणमति।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने यह निम्न प्रकार पढ़ा था—

"संवत् १२१३ गोल्लपल्लीवसे सा० साबू (साधु) सोढो

साधु श्री लल्लूभार्या जिणा तयो सुत साधू (धू) दील्हा भार्या पल्हासस जिननाथं सविनयं प्रणमन्ति" ।[3]

संवत् ३३५ के परिप्रेक्ष्य में विद्वानों के अभिमत—

पं० नाथूराम 'प्रेमी' ने संवत् ३३५ को संवत् १३३५ बताया है। उन्होने हजार सूचक एक अंक बीजक पढ़ने वालों को अपठनीय रहा माना है।[4] प्रेमी जी की यह मान्यता तर्कसंगत नही है। सवत् १२१२ मे मन्दिर का पुनर्निर्माण कराये जाने से निश्चित ही चन्द्रप्रभ मन्दिर और प्रतिमा दोनो इस संवत् के पूर्व विद्यमान थे। इस सम्बन्ध में डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री की मान्यता भी विचारणीय है।

डा० शास्त्री ने बलात्कारगण जिसका उल्लेख सोनागिरि लेख में हुआ है, नववी शती के पूर्ववर्ती वाङ्मय मे अनुपलब्ध होने से तथा प्रतिमा की रचना में प्राचीनता न होने से तीन सतक पैंतीस के स्थान मे एक सहस्र पैंतीस होने की सम्भावना की थी। उन्होंने अभिलेख के 'दिन' शब्द को रविवार का वाचक माना। वारेश के आधार पर काल गणना करने से भी पौष सुदी पूर्णिमा संवत् १०३५ मे तथा उसी दिन रविवार भी उन्हें प्राप्त हुआ था।[5]

अत: डा० शास्त्री की मान्यता उपयुक्त प्रतीत होती है। इस काल में जैन मन्दिर और प्रतिमाओं की अनेक प्रतिष्ठाएँ हुई है। अहार, और खजुराहो जैसे प्राचीन जैन धर्मस्थलों में सम्पन्न हुई प्रतिष्ठाएँ इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। संवत् ३३५ की अब तक कोई प्रतिमा प्राप्त नही हुई है। अत: यह काल तो निश्चित ही अशुद्ध है।

लेखों में 'न' के स्थान में अनुस्वार, रेफ के संयोग में वर्ण का द्वित्व, श के लिए स, ख के लिए ष का व्यवहार हुआ है।

—प्रभारी-जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीर जी (राज०)

सन्दर्भ-सूची

१. भट्टारक सम्प्रदाय: जैन सस्कृति सरक्षक संघ, सोलापुर, ई० १९५८ प्रकाशन, लेखक ९४, पृ० ४१।

२. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग ३, भा० दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, हीराबाग, बम्बई-४ ई० १९७६ प्रकाशन, पृ० ६९।

३. भट्टारक सम्प्रदाय मे इस अपठनीय अंश मे "कियो सु निश्चय राय" अंकित बताया है।

४. अनेकान्त, वर्ष २१, किरण १, पृ० १०।

५. जैन साहित्य और इतिहास, संशोधित साहित्यमाला बम्बई, ई० १९५६ प्रकाशन, पृ० ४३५।

६. अनेकान्त वर्ष २१, किरण १, पृ० १०।

(पृ० १६ का शेषांश)

८ १९५५, प्रस्तावना पृ. ?-६९ चूर्णिसूत्र में कषायपाहुड में भी रिक्तस्थानों की पूर्ति हेतु शून्य संदृष्टि उपयोग किया गया है। कषायपाहुड एव षट्खंडागम दोनों ही व्याकरणीय नियमों मे सूत्रबद्धरचित है। कषायपाहुड में कितनी ही गाथायें बीजपद स्वरूप हैं, जिनके अर्थ का व्याख्यान वाचकाचार्य, व्याख्यानाचार्य या उच्चारणाचार्य करते थे। कषायपाहुडकार को पांचवे पूर्व की दसवी वस्तुके तीसरे तेज्जदोस पाहुड का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था। अति संक्षिप्त होते हुये भी वह सम्बद्ध क्रम को लिए है। यह रचना असदिग्ध, बीजपद युक्त, गहन और सारवान् संक्षिप्त रूप मे पदो से निर्मित है। वीरसेनाचार्य द्वारा जयधवल मे बप्पदेवाचार्य द्वारा निर्मित "लिखित तच्चारणावृत्ति" से क्या आशय है, महत्त्वपूर्ण है। "स्वलिखित उच्चारण" इससे अलग है। वह कोई संक्षिप्त व्याख्या है। अभी चूर्णि और जयधवल ही उपलब्ध है। उच्चारण वृत्ति, शामकुंडकृत पद्धति टीका और तुम्बुलूराचार्य कृत चूडामणि व्याख्या तथा बप्पदेवकृत व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति उपलब्ध होती है।

९. देखिये, ओन्युगेबाएर, "एस्ट्रानामिकल क्यूनिफार्म टेक्ट्स" भाग १, लदन १९५३, इस्टीट्यूट फार एडवान्स्ड स्टडी, प्रिंसटन के लिए प्रकाशित)। इसी के अनुरूप प्राकृतभाषा में इस लेख के लेखक ने लब्धिसारादि ग्रंथो को निरूपित कर चार भागों में प्रस्तुत किया है।

सुख का उपाय

❑ पं० मुन्नालाल जैन प्रभाकर

संसार के सभी जीव सुख चाहते हैं। वह सुख क्या है और कहां है, इसके लिए छै ढाला मे कहा है—'आतम को हित है, सुख सो सुख आकुलता बिन कहहिए। आकुलता शिव मांहि न तातें शिव मग लाग्यो चहिए।' अर्थात् सुख नाम की कोई वस्तु नही, दुख के अभाव का नाम ही सुख है। दुःख का स्वरूप आकुलता है और आकुलता मोक्ष मे नही है। इसलिए मोक्ष के मार्ग मे लगना चाहिए। क्योंकि पर द्रव्य का जो सयोग इस जीव के साथ अनादि काल से लगा है, उससे अपने को छुड़ाना चाहिए। वह सम्बन्ध अभेद रत्नत्रय के द्वारा ही छूट सकता है। जब तक पुद्गल कर्म आत्मा से पृथक् नही होगे तब तक आत्मा के साथ विसंवाद ही बना रहेगा। और जब अपने गुण पर्यायो से जो एकत्वपना है वह आ जायगा तब सुखी हो जायगा। ऐसा कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार मे कहा है। एकत्वपना कैसे प्राप्त हो उसका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता बताई है। वह सम्यग्दर्शन कैसे हो इसके लिए सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित सात तत्त्व और छः द्रव्यो का विचार करना चाहिए कि यह ससार छै द्रव्यो का समूह है जिनमे धर्म, अधर्म, आकास तथा काल चार द्रव्य तो शुद्ध ही है तथा इनमें सदृश परिणमन ही होता है और जीव तथा पुद्गल इन दो द्रव्यो में विसदृश परिणमन होता है। क्योंकि इन द्रव्यों में विभाव शक्ति हैं। उसके द्वारा जीव तथा पुद्गल परस्पर एक दूसरे का निमित्त पाकर विभाव भावो को प्राप्त होते हैं। जिससे कर्मो का आश्रव होता है जिसके कारण जीव संसार में भ्रमण करता है। और जब यह जीव यह विचार करता है कि यह विभाव भाव मेरे निजी भाव नहीं है। हां, मेरे अन्दर पर-कर्म के निमित्त से हुए हैं। इसलिए सर्वथा मेरे नही है और इन विभाव भावों के अनुसार मुझे परिणमन नहीं करना चाहिए। उस समय परिणमन करना या न करना इसके आधीन है और इसके लिए जीव स्वतंत्र है। उस समय जीव भेद ज्ञान का सहारा लेकर ऐसा विचार करे कि संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए अखण्ड रूप से विराजमान हैं एक अश भी अन्य का अन्य में नहीं जाता। यदि एक पदार्थ भी अन्य रूप हो जावे तो ससार का ही अभाव हो जावे, किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये जब यह जीव सात तत्वो के स्वरूप का विचार करता है तब जीव की इस ज्ञान शक्ति के द्वारा दर्शन मोह (मिथ्यात्व) का गलन होता है। ऐसा जीव के विचार और दर्शनमोह के गलित होने का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसके द्वारा वस्तु के सम्यक् आकार का श्रद्धान, रुचि, प्रतीति या स्व का स्वाद लेना, हो जाता है जिसको सम्यग्दर्शन कहते है। यह सम्यग्दर्शन दर्शनमोह (मिथ्यात्व) के अभाव मे एक साथ ही पूर्ण होता है क्यो कि यह जीव (आत्मा) अनादि वस्तु स्वभाव रूप से विपरीत होकर निज स्वभाव रूप से च्युत हो रहा था। अब इसे सात तत्वों के विचार मे उपयोग लगाने से निज आत्मद्रव्य की सिद्धि तो हो गई, परन्तु अभी ज्ञान गुण सम्पूर्ण शुद्ध नही हुआ। ज्ञान गुण की कुछ पर्यायें शुद्ध अवश्य हुयी। धीरे-धीरे समस्त ज्ञान गुण शुद्ध होगा। ज्ञान गुण का काम जानना मात्र है। और जानना मात्र आश्रव बन्ध का कारण नही है अपितु ज्ञान गुण का विसदृश परिणमन ही बन्ध का कारण है और उस विसदृश परिणमन का कारण उपयोग का पर पदार्थ मे जाना है। क्योकि अनादिकाल से यह जीव पर पदार्थ को जान कर उनमे राग-द्वेष रूप परिणाम करता है और इसके ये संस्कार अनादि से चले आ रहे है। इन संस्कारों को रोकना आसान नहीं है। इसीलिए आगम में अपने उपयोग को अपने मे लगाने का उपदेश दिया है। जब

इस जीव का उपयोग अपने मे जाता है तब राग-द्वेष रूप विकारी परिणमन का प्रश्न ही नही खड़ा होता। हाँ इतना अवश्य है कि छद्मस्थ का उपयोग अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा अपने में नही टिकता। परन्तु अपने उपयोग को अपने मे ले जाने का अभ्यास निरन्तर करते रहने से घातिया कर्मों के आश्रव बन्ध में विराम हो जाता है और पहिले के कर्मों का अभाव होता जाता है। और इसी रीति से अनंत चतुष्टय रूप केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है। आगम में कहा भी है—

भावयेद् भेद विज्ञान मिदमच्छिन्नधारया, तावत् यावत् पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठति अर्थात् सम्यग्दर्शन (भेद विज्ञान) की भावना तब तक भावनी चाहिए जब तक ज्ञान स्वय ज्ञान रूप (केवल ज्ञान) में प्रगट न हो जाय। जब तक इस जीव के साथ चारित्र मोहका सम्बन्ध है तब तक चाहे सम्यग्दृष्टी हो अथवा मिथ्या दृष्टि रागद्वेष हर्ष विषाद आदि विकारो का अनुभव होता है। हां, इतना अवश्य है कि मिथ्या दृष्टि जीव उन विकारी भावो के अनुसार परिणत हो जाता है, उनको जानकर उनको अपना मान लेता है। क्योकि उसके भेद ज्ञान का अभाव है। किन्तु भेद ज्ञानी (सम्यग्दृष्टी) भेद ज्ञान के बल से उनको जानता हुआ भी अपना नही मानता। ऐसा विचार करता है कि ये औपाधिक भाव है कर्म के उदय से हो रहे है मेरे निजी भाव नही है। उस समय विकारी भावो से होने वाली परिणति रुक जाती है आश्रव बंध मे विराम लग जाता है। और अपनी षट्गुनी हानि वृद्धि के बल से ज्ञान गुण कुछ निर्मल हो जाता है। बारम्बार अपने ज्ञान गुण (उपयोग) को अपनी आत्मा के स्वरूप की तरफ ले जाने से सर्व मोह भी क्षय हो जाता है। और उसी षट्गुनी हानि वृद्धि के बल से समस्त घातिया कर्मों के नाश हो जाने से अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं। जिससे ज्ञान गुण पूर्ण शुद्धता को प्राप्त हो जाता है। इससे गुण तथा पर्याय तो शुद्ध हो गई परन्तु द्रव्य मे अभी भी मलिनता रहती है क्यों कि घातिया कर्मों के सदभाव रहने से आत्मा के प्रदेशों मे कम्पता रहती है इसलिए द्रव्य मे भी अशुद्धता रहती है। इस कम्पना के कारण से जो आश्रव बंध होता है उसमे कषायो के अभाव होने से एक समय मात्र की स्थिति होती है। उन अघातिया कर्मों का नाश आयु के समाप्त होने पर आपोआप हो जाता है। उस समय टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी एक अकेला आत्मा रह जाता है द्रव्य, गुण तथा पर्याय तीनों शुद्धता को प्राप्त हो जाते हैं। यही सिद्ध अवस्था कहलाती है। ऐसा आत्मा हमेशा के लिए सुखी हो जाता है। ऐसे सुख की प्राप्ति धर्म से होती है। कहा भी है—'धर्म करत संसार सुख धर्म करत निर्वाण।

धर्म पन्थ साधे बिना नर तिर्यंच समान ॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी प्रवचन सार मे कहा है कि स्वरूप मे जो आचरण है उसी को स्वसमय प्रवृत्ति हैं, वही चारित्र है वही मोह क्षोभ रहित आत्मा के परिणाम साम्यभाव है तथा उसी को आत्मा का अभेद रत्नत्रय धर्म कहते है। स्वामी समंतभद्राचार्य ने भी कहा है—'सद्दृष्टिज्ञानव्रतानि धर्मं धर्मेश्वरः विदुः। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र ही धर्म है और इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्या चरित्र अधर्म तथा संसार-मार्ग है। उस धर्म स्वरूप, अभेद रत्नत्रयात्मक परमात्म स्वरूप आत्मा के एकत्व का आगम तर्क तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा दिखाने का कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रयत्न किया है। उन्होने कहा है कि वह आत्मा कैसी है तथा उसी आत्मा के स्वकीय स्वरूप का सवेदन कहा है। अहमिक्को, खलु शुद्धो दंसणा णाम-मइओ सदा रूवी णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणु मित्तं पि ॥३८॥ ऐसे आत्मा के स्वरूप के अनुभव के लिए कुछ काल की मर्यादा करके समस्त आरभ परिग्रह का त्याग करके एकांत स्थान मे जहां किसी प्रकार के वाह्य आडम्बर का समागम न हो पद्मासन लगाकर चितवन करें कि मैं एक हूं, अकेला हूं, मेरा कोई साथी सगा नही है, और अन्य द्रव्य का मेरे मे किंचित् भी समावेश नही है, मैं सभी अन्य द्रव्यों से भिन्न हूं, दर्शन, ज्ञानमय हूं, अरूपी हू और अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है। ऐसी वस्तुस्थिति मे भी यह जीव अनादि काल से कर्म (मोह) मे लगा हुआ है। जिसके कारण चतुर्गति मे भ्रमण करता दुखी हो रहा है कर्म के कारण से पर द्रव्यो का समागम तथा वियोग होता है तथा जिन पर पदार्थों

का समागम इस आत्मा के साथ है उनको यह जीव अपनी इच्छा के अनुकूल परिणमाना चाहता है। और जब कभी वे पदार्थ इसकी इच्छा के अनुसार परणमते है तब यह हर्ष को प्राप्त होता है और जब इसकी इच्छा के विपरीत परिणमन करते है तब विषाद को प्राप्त होता है यह इस जीव की विकारी परिणति है जो आगामी कर्मों के बन्ध का कारण होती है और वह बध ससार भ्रमण का कारण है। इसलिए कर्म के उदय के विकार को विकारी भाव जानकर उसके अनुसार होने वाली परिणति को रोकना चाहिए। यही ससार के दुखो से छूटने का परम उपाय है इसलिए इन विचारो को भी रोक कर मात्र ज्ञायक रूप रहना चाहिए।

आगम मे ऐसा कहा है कि अपने उपयोग को बार-बार अपने ज्ञायक भाव म लगाने से जब मोह क्षय हो जाता है तब उपयोग अपने स्वरूप मे स्थिर हो जाता है। यही उपाय कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने अपने समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थो मे दर्शाया है। आज कल कुन्दकुन्द आचार्य का द्विसहस्राब्दि समारोह मनाया जा रहा है जिसमे कुन्दकुन्द स्वामी के जन्म की तिथि की खोज की गई है तथा गुणो की प्रशसा भी की गई है परन्तु जिस चारित्र को स्वय धारण कर साधारण जनता के समक्ष आचार्य महाराज ने प्रस्तुत किया था यदि वैसा आचरण करके और उस आचरण के करने का उपाय जनता के सामने रखा जाय तो यह समारोह मनाना सार्थक होगा। केवल आचार्य महाराज के गुण गाने मात्र से हमारा आत्मीक कोई लाभ न होगा। उनमें तो वे गुण है ही। जैसे भूख के लगने पर बढ़िया भोजन बना कर उसकी मात्र प्रशसा करने से तो भूख शान्त नही होती भूख तो भोजन क खाने पर ही शान्त होगी। हमारा कर्तव्य है कि हम कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा प्रतिपादित मोक्ष मार्ग को अपनाये अर्थात उस रूप आचरण करें तो हमारा कल्याण अवश्य होगा, सुखी होने का यही सच्चा उपाय है। यदि इस समारोह के मनाने वाले हम इस आचरण को स्वयं धारण करके साधारण जनता के सामने उपस्थित करें तो अवश्य ही सभी का लाभ होगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि पर पदार्थों के संचय तथा पंच इंद्रियो के विषय भोगने की जो इच्छायें उत्पन्न होती है। उनके अनुसार प्रवृत्ति करने से ससार परिभ्रमण होता और ससार दुःख रूप है। कुछ लोग ऐसा भी कहते है कि लक्ष्मी तो पुण्य से आती है उसमे हमारा क्या दोष उसके लिए जरा विचारिये कि हमारा दोष है या नहीं हाँ, इतना अवश्य है कि बिना पुण्य के कितना भी प्रयत्न करो लक्ष्मी नहीं आवेगी। उसी प्रकार यदि हम लक्ष्मी के संचय रूप पापारम्भ मे उपयोग को नहीं लगावेगे तब भी पुण्य का उदय होने पर भी लक्ष्मी का संचय नही होगा और अपने उपयोग को अपने आत्म चिंतन मे लगावेंगे तो न किसी प्रकार की इच्छा होगी और न किसी विषयो के भोगने की प्रवृत्ति होगी तब हम कर्म बध से बचे रहेंगे इसलिये हमारा यही कर्तव्य है कि हम अपने उपयोग को अपने स्वरूप के विचार मे लगाने का प्रयत्न करते रहें यही सुखी होने का सच्चा उपाय है।

कुछ लोग ऐसा भी मानते है कि मिथ्यात्व अविरति आदि कर्म बंध के कारण नही है, मिथ्या आचरण बंध का कारण है। यहाँ जानना चाहिए कि मिथ्यात्व आदि के उदय के बिना तद्रूप आचरण हो ही नही सकता। यदि कर्म के उदय के बिना मिथ्या आचरण मानेंगे तो सिद्ध अवस्था मे जहा कर्मों का सर्वथा अभाव हो गया वहा भी बन्ध मानना पड़ेगा जो आगम प्रतिकूल है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नवीन आश्रव बंध का मूल कारण मिथ्या अविरति आदि का उदय है। अतः हमारा कर्तव्य है कि कर्मों के उदय के अनुसार होने वाली परणति को रोके। परिणत होना न होना जीव के आधीन है यही सच्चा पुरुषार्थ है और यही सुखी होने का उपाय है।

× × ×

श्री कुन्दकुन्द का विदेह-गमन?

☐ श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी

(जून ८८ के "अनेकान्त" से आगे)

श्री टोडरमल स्मारक के प्रकाशनों मे ही आचार्य कुन्दकुन्द के विदेह-गमन की चर्चा नही है किन्तु उससे पूर्व भी प्राय: सभी आधुनिक विद्वान और त्यागी इसके समर्थक रहे हैं।

जिस तरह आ० मानतुंग को ४८ तालो में बन्द करने की किंवदन्ती प्रचलित है उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के विदेह गमन की किंवदन्ती भी बुद्धि गम्य और आगम समत प्रतीत नही होती। जन सामान्य अनेक तरह से श्रद्धा का अतिरेक करते रहते हैं किन्तु वे सिद्धान्त के आगे नही टिकते।

आगमज्ञ, प्रमाण पुरस्सर लिखने वाले श्री जवाहर लाल जी भीण्डर वालों ने इस विषय मे अपनी सम्मति इस प्रकार दी है—

"कुन्दकुन्द विदेह में नही गये थे ऐसा जो कटारिया जी ने लिखा है वह अत्यन्त तथ्य, पूर्ण, सागम गृहीत निर्णय, आगमानुकूल, तथ्य परक तथा सिद्धान्तरक्षक होने से स्तुत्य एव मान्य ही है। तिलोयपण्णत्ती और महापुराणादि के प्रमाण स्पष्ट है, सिद्धान्त सप्रमाण और निरपवाद होता है। एक प्रमाण को दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नही रहती अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आयेगा। अत: कुन्दकुन्द तथैव पूज्यपाद व उमास्वामी ये सब विदेह मे गए थे यह प्रमाणित नही होता।

मैं श्री बिरधीलाल जी सेठी और कटारिया जी दोनों प्राज्ञों की गवेषणात्मक बुद्धि की अन्तस्त: प्रशन्सा करता हूं। जैन दर्शन विज्ञानात्मक होने से समीचीन श्रद्धावान है।"

और भी अनेक विद्वानो की इसी प्रकार की सम्मति आई है। आगम के आलोक मे विचार किया जाय तो इस विषय में "तिलोय पण्णत्ती" का एक और प्रमाण सेवा मे प्रस्तुत करता हूं—

चारण रिसीसु चरिमो सुपास चद्राभिधाणोय ॥१४७९॥ अध्याय ४

(चारण ऋषियों में अन्तिम सुपार्श्व चन्द्र नामक ऋषि हुए) ये वीर निर्वाण के १०० वर्ष मे हुए हैं। इसके बाद कोई चारण ऋषि नही हुए। यही से चारण ऋद्धि के ताला लग गया तब वीर निर्वाण के ५०० वर्ष बाद कुन्दकुन्दादि के चारण ऋद्धि बताना क्या आगम-सम्मत है? विज्ञ पाठक सोचें।

विचारक युक्त्यागमपूर्वक बुद्धि पुरस्सर प्ररूपणा करते है कोई आग्रह और कषायवश नही। अन्यथा विचारकता नही। इस कलिकाल मे कही चारणऋद्धि होने का शास्त्रों मे सैद्धान्तिक विधान हो तो बताया जाये अन्यथा निषेध कथन को मान्य किया जाये।

–सँभाल के बिना भटकन–

'जैसे सांसारिक दु:खों से छुटकारे के लिए रत्नत्रय आवश्यक है वैसे ही रत्नत्रय पूर्ति के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु आवश्यक हैं। देव-शास्त्र-गुरु का सही रूप कायम रहने से ही जिनधर्म और जैनी कायम रह सकेंगे। अत: अन्य सभी बखेड़ों को छोड़, पहिले मन-वचन-काय, कृत-कारित-मोदन से क्रिया रूप में इनकी सभाल करनी चाहिए। सच्ची प्रतिष्ठा भी यही है। अन्यथा, कही ऐसा न हो कि सँभाल के बिना इनका सही रूप हमसे तिरोहित हो जाय और जैन बेसहारा भटकता फिरे।' —सम्पादक

सल्लेखना अथवा समाधिमरण

□ डॉ० दरबारीलाल कोठिया

सल्लेखना : पृष्ठभूमि

जन्म के साथ मृत्यु का और मृत्यु के साथ जन्म का अनादि-प्रवाह सम्बन्ध है। जो उत्पन्न होता है, उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है[1]। इस तरह जन्म और मरण का प्रवाह तब तक प्रवाहित रहता है जब तक जीव की मुक्ति नहीं होती। इस प्रवाह मे जीव को नाना क्लेशो और दुःखों को भोगना पड़ता है। परन्तु राग-द्वेष और इन्द्रिय-विषयों में आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य को जानते हुए भी उससे मुक्ति पाने की ओर लक्ष्य नही देते[2]। प्रत्युत जब कोई पैदा होता है तो उसका वे 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष व्यक्त करते हैं। और जब कोई मरता है तो उसकी मृत्यु पर आंसू बहाते एवं शोक प्रकट करते है।

पर संसार-विरक्त मुमुक्षु सन्तो की वृत्ति इससे भिन्न होती है। वे अपनी मृत्यु को अच्छा मानते है और यह सोचते हैं कि जीर्ण शीर्ण शरीररूपी पिंजरे से आत्मा को छुटकारा मिल रहा है[3]। अतएव जैन मनीषियों ने उनकी मृत्यु को 'मृत्युमहोत्सव' के रूप में वर्णन किया है[4]। इस वैलक्षण्य को समझना कुछ कठिन नही है। यथार्थ में साधारण लोग संसार (विषय-कषाय के पोषक चेतनाचेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं। अतः उनके छोड़ने में उन्हें दुःख का अनुभव होता है और उनके मिलने मे हर्ष होता है। परन्तु शरीर और आत्मा के भेद को समझने वाले ज्ञानी वीतरागी सन्त न केवल विषय-कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओ को ही, अपितु अपने शरीर को भी पर—अनात्मीय मानते हैं। अतः शरीर को छोड़ने में उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है। वे अपना वास्तविक निवास इस द्वन्द्व-प्रधान दुनिया को नहीं मानते, किन्तु मुक्ति को समझते हैं और सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, संयम आदि आत्मीय गुणो को अपना यथार्थ परिवार मानते हैं। फलतः सन्तजन यदि अपने पौद्गलिक शरीर के त्याग पर 'मृत्यु-महोत्सव' मनायें तो कोई आश्चर्य नहीं है। वे अपने रुग्ण, अशक्त, जर्जरित, कुछ क्षणो में जाने वाले और विपद्-ग्रस्त, जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़ने तथा नये शरीर को ग्रहण करने में उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते है जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, मलिन जीर्ण और काम न दे सकने वाले वस्त्र को छोड़ने तथा नवीन वस्त्र के परिधान मे अधिक प्रसन्न होता है[5]।

इसी तथ्य को दृष्टि मे रखकर सवेगी जैन श्रावक या जैन साधु अपना मरण सुधारने के लिए उक्त परिस्थितियों म सल्लेखना ग्रहण करता है। वह नही चाहता कि उसका शरीर-त्याग रोते-विलपते, संक्लेश करते और राग-द्वेष की अग्नि में झुलसते हुए असावधान अवस्था मे हो, किन्तु दृढ़, शान्त और उज्ज्वल परिणामों के साथ विवेकपूर्ण स्थिति मे वीरों की तरह उसका शरीर छूटे। सल्लेखना मुमुक्षु—श्रावक और साधु दोनो के इसी उद्देश्य की पूरक है। प्रस्तुत में उसी के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश डाला जाता है।

सल्लेखना और उसका महत्त्व :

'सल्लेखना' शब्द जैन-धर्म का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—'सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना'—सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनों को कृश करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह है कि मरण-समय मे की जाने वाली जिस क्रिया-विशेष मे बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषो का, उनके कारणो को कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबाव के स्वेच्छा से लेखन अर्थात् कृशीकरण किया जाता है उस उत्तम क्रिया-विशेष का नाम सल्लेखना है[1]। उसी को 'समाधिमरण' कहा गया है। यह सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतों, तपों और संयम की संरक्षिका है। इसलिए इसे जैन-संस्कृति मे 'व्रतराज' भी कहा है।

अपने परिणामों के अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय इन तीन बलों के संयोग का नाम जन्म है और उन्हीं के क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होने को मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकार का है—एक नित्य-मरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदि का ह्रास होता रहता है वह नित्य-मरण है तथा उत्तरपर्याय की प्राप्ति के साथ पूर्व पर्याय का नाश होना तद्भव-मरण है[७]। नित्य-मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्म-परिणामो पर विशेष प्रभाव नही पड़ता। पर तद्भव-मरण का कषायो एव विषय-वासनाओ की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामो पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव-मरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिए ही पर्याय के अन्त मे 'सल्लेखना' रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है। सल्लेखना से अनन्त ससार की कारणभूत कषायों का आवेग उपशमित अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरण का प्रवाह बहुत ही अल्प हो जाता अथवा सूख जाता है। जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखना धारण पर बल देते हुए कहते हैं[८]—

'जो भद्र एक पर्याय मे समाधिमरण-पूर्वक मरण करता है वह संसार मे सात-आठ पर्याय से अधिक परिभ्रमण नही करता—उसके बाद वह अवश्य मोक्ष पा लेता है।'

आगे वे सल्लेखना और सल्लेखना-धारक का महत्त्व बतलाते हुए यहा तक लिखते हैं[९] कि सल्लेखना-धारक (क्षपक) का भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करने वाला व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोगकर अन्त मे उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है।

तेरहवीं शताब्दी के प्रौढ़ लेखक पण्डितप्रवर आशाधरजी ने भी इसी बात को बड़े ही प्राजल शब्दो मे स्पष्ट करते हुए कहा है[१०]

'स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियो द्वारा उपचार के योग्य है। परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत रोग बढ़ता ही जाय, तो ऐसी स्थिति में उस शरीर को दुष्ट के समान छोड़ देना ही श्रेयस्कर है।'

वे असावधानी एव आत्मघात के दोष से बचने के लिए कुछ ऐसी बातों की ओर भी सकेत करते है, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्यंभावी मरण की सूचना मिल जाती है। उस हालत मे व्रती को आत्मधर्म की रक्षा के लिए सल्लेखना मे लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है।

इसी तरह एक अन्य विद्वान ने भी प्रतिपादन किया है कि—

'जिस शरीर का बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिक के प्रतिकार करने की शक्ति नही रही है वह शरीर ही विवेकी पुरुषों को यथाख्यातचारित्र (सल्लेखना) के समय को इंगित करता है[११]।'

मृत्युमहोत्सवकारकी दृष्टि मे समस्त श्रुताभ्यास, घोर तपश्चरण और कठोर व्रताचरण की सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जाने पर सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग करता है। वे लिखते हैं[१२]—

'जो फल बड़े-बड़े व्रती-पुरुषो को कायक्लेशादि तप, अहिंसादि व्रत धारण करने पर प्राप्त होता है वह फल अन्त समय मे सावधानी पूर्वक किये गये समाधिमरण से जीवों को सहज मे प्राप्त हो जाता है[१३]। अर्थात् जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकार के तपादि से होती है वह अन्त समय मे समाधिपूर्वक शरीरत्याग से प्राप्त हो जाती।

'बहुत काल तक किये गये उग्र तपों का, पाले हुए व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्रज्ञान का एक-मात्र फल शान्ति के साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है।'

विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी के विद्वान् स्वामी समन्तभद्र की मान्यतानुसार जीवन मे आचरित तपो का फल वस्तुतः अन्त समय मे गृहीत सल्लेखना ही है। अतः वे उसे पूरी शक्ति के साथ धारण करने पर जोर देते है[१४]।

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि भी सल्लेखना के महत्त्व और आवश्यकता को बतलाते हुए लिखते है[१५] कि 'मरण किसी को इष्ट नही है। जैसे अनेक प्रकार के सोना-चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यवसाय करने वाले किसी व्या-

पारी को अपने उस घर का विनाश कभी इष्ट नही है, जिसमें उक्त बहुमूल्य वस्तुएँ रखी हुई हैं। यदि कदाचित् उसके विनाश का कारण (अग्नि का लगना; बाढ़ आ जाना या राज्य में विप्लव होना आदि) उपस्थित हो जाय तो वह उसकी रक्षा का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ दिखाई नही देता, तो घर में रखे हुए बहुमूल्य पदार्थों को बचाने का भरसक प्रयत्न करता है और घर को नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रत-शीलादि गुणो का अर्जन करने वाला व्रती-श्रावक या साधु भी उन व्रतादिगुणरत्नो के आधारभूत शरीर की, पोषक आहार-औषधादि द्वारा रक्षा करता है, उसका नाश उसे इष्ट नही है। पर दैववश शरीर मे उसके विनाश-कारण (असाध्य-रोगादि) उपस्थित हो जायँ, तो वह उनको दूर करने का यथासाध्य प्रयत्न करता है। परन्तु जब देखता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीर की रक्षा अब सम्भव नही है तो उन बहुमूल्य व्रत-शीलादि आत्म-गुणों की वह सल्लेखना द्वारा रक्षा करता है और शरीर को नष्ट होने देता है।'

इन उल्लेखो से सल्लेखना की उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता सहज म जानी जा सकती है। ज्ञात होता है कि इसी कारण जैन-सस्कृति में सल्लेखना पर बड़ा बल दिया गया है। जैन लेखकों ने अकेले इसी विषय पर प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं में अनेकों स्वतत्र ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य शिवार्य की 'भगवती आराधना' इस विषय का एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विशाल प्राकृत-ग्रन्थ है। इसी प्रकार 'मृत्यु-महोत्सव', 'समाधि-मरणोत्साहदीपक', समाधिमरणपाठ' आदि नामों से सस्कृत तथा हिन्दी मे इसी विषय पर अनेक कृतियां उपलब्ध हैं।

सल्लेखना का काल, प्रयोजन और विधि :

यद्यपि ऊपर के विवेचन से सल्लेखना का काल और प्रयोजन ज्ञात हो जाता है तथापि उसे यहा और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सल्लेखना-धारण का काल (स्थिति) और उसका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥
—रत्नकरण्डश्रा० ५-१

'अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग—इन अवस्थाओ मे आत्मधर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है।

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'
—गीता २-२७।

२-३. संसारासक्तचित्ताना मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम्॥
—मृत्युमहोत्सव १७

४. मृत्युमहोत्सव श्लोक १०।

५. जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा।
—वही १५

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि
संयाति नवानि देही॥—गीता २-२२

६. (क) पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ७-२२।
(ख) गृद्धपिच्छ, तत्त्वार्थसूत्र ७-२२।

७. अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्त्तिक ७-२२।

८. एगम्मिभवग्गहणे समाहिमरणेणजो मदो जीवो।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभवे पमत्तूण॥
—भ० आ०।

९. सल्लेहणाए मूल जो वच्चइ तिव्वभत्तिराइण।
भोत्तूण य देवसुख सो पावदि उत्तम ठाण॥—वही।

१०. आशाधर, सागारधर्मामृत, ८-६।

११. वही, ८-१०।

१२. आदर्श सल्लेखना, पृ० १६।

१३. मृत्युमहोत्सव, श्लोक १, २३।

१४. आचार्य समन्तभद्र, रत्नक० श्रावका० ५-१।

१५. पूज्यपाद, सर्वार्थसि० ७-२२।

विचारकों के लिए :—

आवश्यक और दिगम्बर मुनि

□ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

एक बार हमने लिखा था—

"हम इकट्ठा करने में रहे और सब कुछ खो दिया।" यह एक ऐसा तथ्य है जिसे लाखो-लाखों प्रयत्नो के बाद भी झुठलाया नहीं जा सकता। हम जैसे-जैसे, जितना परिग्रह बढ़ाते रहे, वैसे वैसे जैन हमसे उतना दूर खिसकता गया और आज स्थिति यह है कि हम जैन होने के साधनभूत मुनि और श्रावकोचित् आचार विचार मे भी शून्य जैसे हो गए।

लोगों ने जडों की खोजें कीं उन्होंने सारा ध्यान जड़ों पर शोध प्रबन्धो के लिखने मे केन्द्रित किया, उन्हें प्रकाशित कराया और उन पर विविध लौकिक पारितोषिक, डिग्रिया पाते रहे। आत्मा की कथा करने वाले बड़े-बड़े वाचक भी परिग्रह सचयन मे लगे रहे और वे भी साधना, दान आदि के विविध आयामों के नाम से विविध रूपो मे परिग्रह संचयन और मान-पोषण आदि मे लीन रहे। जिससे वीतरागता का प्रतीक निर्ग्रन्थत्व-जैनत्व लुप्त होता रहा। हमारी दृष्टि मे 'अपरिग्रहवाद' को अपनाने के सिवाय जैन के सरक्षण का अन्य उपाय नही। और अपरिग्रहवाद की सीढ़ी पर चढने के लिए शुद्ध-श्रावकाचार और साध्वाचार का पालन आवश्यक है।"

बात आचार्य कुन्दकुन्द की है। यद्यपि इनके समय आदि के विषय मे श्री नाथूराम प्रेमी, डॉ० पाठक, डॉ० ए. चक्रवर्ती, प० जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ० उपाध्ये और डॉ० ज्योति प्रसाद प्रभृति विद्वानों के अपने मत रहे है तथापि वर्तमान मनीषियो के सद्विचार और प्रेरणानुसार इन दिनो देश मे कुन्दकुन्द का (निश्चित) द्विसहस्राब्दी वर्ष मनाया जा रहा है—हम इसका स्वागत करते है। बहाना चाहे जो भी हो—हम समय आदि को, आदर्श जीवन और गुणो जितना महत्त्व भी नही देते। हमारी दृष्टि से तो महापुरुषो के निमित्त से धार्मिक उत्सव सदा-काल मनाए जा सकते हैं। ऐसे निमित्तों से यदि जैनत्व को समझने और जीवन मे उतारने के सही उपक्रम किए जांय तो ऐसे बहानों से स्थान-स्थान पर जो समारोह होते है—हो रहे है व कुन्दकुन्द की कृतियो के विषय में और उनके जीवनाचार के तथ्य उजागर करने की जो पुनरावृत्तिया हो रही है; उनसे अवश्य लाभ उठाया जा सकता है। यदि कुन्दकुन्द जैसे आचार को जीवन मे उतारा जाय, उनके उपदेशानुरूप आचरण किया जाय तो जैनत्व को अब भी बचाया जा सकता है। वरना, आज जैनत्व टूट-सा चुका है। लोग आज जिस मात्रा मे जय-जयकार करने के अभ्यासी बन चुके है यदि कही उसके शतांश भी कुन्दकुन्दवत् आचार-विचार के अनुसर्ता होते तो जैन की जैसी चिन्तनीय दशा आज है वैसी न होती।

कुछ लोग कुन्दकुन्द को अध्यात्म उपदेष्टा होने के नाते अध्यात्म मात्र को ही आगे ला रहे है और व्यवहार शुभाचार का लोप कर रहे है। पर, ध्यान से देखा जाय तो कुन्दकुन्द ने व्यवहार का भी वैसा ही प्ररूपण किया है जैसा कि अध्यात्म का। उन्होने समयसार की भांति अष्टपाहुड भी रचे है। अष्टपाहुडो मे बाह्याचार पर जितना खुलकर लिखा गया है, शायद ही अन्यत्र हो। इनमे श्रावको, मुनियो दोनो के आचारो का खुलकर वर्णन है। यदि मानसिक शिथिलाचारी होने के कारण कोई व्यक्ति इन्द्रिय भोगो की सामग्री से चिपका रहे—परिग्रह को कृश न कर सके और बाह्य में अपने को धर्मात्मा बताने के लिए कोरे अध्यात्म की चर्चा करने लगे, तो उसे मार्ग से भटका ही कहा जायगा। आज अध्यात्म के नाम पर एक छलावा जैसा भी होने लगा है। हमने अध्यात्म के गीत गाने वालों मे प्रायः ऐसों को अधिक देखा है जो आकण्ठ परिग्रह और मोह माया में डूबे हो। उनमें ऐसे भी कितने ही हो, जिन पर अपार सम्पत्ति हो और आगे

भी सम्पत्ति संग्रह के जुगाड़ मे लगे हों—तब भी आश्चर्य नहीं। पर—

जब तक ऐसा चलता रहेगा और बाह्याचार पर जोर न दिया जायगा, परिग्रह-लीन-प्रवृत्ति रहेगी, तब तक जैन का ह्रास ही होगा। यदि श्रावक और मुनिगण इस ओर अपनी-अपनी श्रेणी माफिक ध्यान दें और अवश्य-करणीय को करें, तब भी बहुत कुछ हो सकता है। इस प्रसंग मे यदि हम कुन्दकुन्द द्वारा प्ररूपित मात्र **आवश्यक** भर के लक्षण को ही देखें और विभिन्न आचार्यों कृत विभिन्न टीकाओं को देखें तो भी यह स्पष्ट होते देर न लगेगी कि कौन कहा से कहा आ गया, कितने परिग्रह में डूब गया?

साधारणत. आवश्यक शब्द का भाव प्राय: अवश्य करने योग्य, क्रिया से लिया जाता रहा है और श्रावक के लिए संसार-वर्धक क्रियाओं से समय निकाल कर परमार्थ की जनक षट्क्रियाओं—(देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, सयम, तप, दान) के करने को जरूरी बताया जाता रहा है। उक्त षट् क्रियाएँ श्रावकों के छह आवश्यक है। क्यो कि श्रावक दशा मे परायो की जिम्मेदारी होने से श्रावक विविध सकल्प-विकल्पो के जाल मे फँसा होता है। यदि वह समय निकाल कर इन क्रियाओ को करले तो वह आत्मा के प्रति आगे बढ़ता है। पर, आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा किया गया आवश्यक शब्द का एक और अर्थ है जो बड़े गहरे मे है और मुनियो के लिए कहा गया मालूम होता है। उसमे श्रावकों की भांति समय निकाल कर करने की बात नही है। वहा तो 'स्व' के सिवाय अन्य मे कभी जाने की कल्पना न होने से (मुनि के अ-वश होने से) प्रति समय ही आवश्यक है। कुन्दकुन्द कहते है—

'ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयति बोधव्वं।'
—नियमसार १४२

'यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न-गत:, अतएव अवश इत्युक्त:, अवशस्य तस्य परमजिनयोगी-श्वरस्य निश्चय धर्मध्यानात्मक परमावश्यककर्मावश्यं भवति।' —पद्मप्रभमलधारिदेव

योगी आत्म-ग्रहण के सिवाय अन्य पदार्थों के वश मे नही होता है अतएव उसे 'अवश' कहा गया है। और परमजिन योगीश्वर के धर्मध्यानात्मक परम-आवश्यक होता है। प्रसंग मे जिन-योगीश्वर शब्द से जैन मुनि ही समझना चाहिए। क्योंकि जिन भगवान के धर्मध्यान न होकर शुक्लध्यान के अन्तिम दो पाये ही हो सकते हैं। इसके सिवाय जिन भगवान को सामायिक, स्तवनादि जैसे आवश्यको की आवश्यकता ही नही होती।

टीकाकार ने गाथा १४३ की टीका मे लिखा है—जो श्रमण अन्य के वश मे रहता है उसके आवश्यक नही होता।—'स्वस्वरूपादन्येषां परद्रव्याणा वशो भूत्वा······ द्रव्यलिङ्गं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुख: सन्······जिनेन्द्र-मन्दिरं वा तत्क्षेत्र वास्तुधनधान्यादिक वा सर्वमस्मदीय-मिति मनश्चकार इति।'—जो निजात्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य द्रव्यो के वशीभूत होकर······द्रव्यलिंग को ग्रहण करके स्वात्म कार्य से विमुख होकर······जिनमन्दिर अथवा उसके क्षेत्र वास्तु-धन-धान्यादि को अपना मानने का मन बनाता है—वह पर-वश होता है। टीका मे गृहीत **द्रव्यलिंगी** शब्द बाह्यवेश का ही सूचक है।

इसी नियमसार की गाथा १४२ की मूलाचार टीका मे वसुनन्दी आचार्य का अभिप्राय भी ऐसा ही है अर्थात् जो पर के वश मे न हो उसके ही आवश्यक होते है—'न वश्य: पापादेरवश्यो यदेन्द्रियकषायेषत्कषायरागद्वेषादि-भिरनात्मीयकृतस्तस्यावशस्य यत्कर्मानुष्ठान तदावश्यक-मिति बोद्धव्य ज्ञातव्यम्।'—मूला. ७/१४.

इसी नियमसार की गाथा १४६ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे और भी खोला है—

'परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं॥'१४६

जो पर के भाव को छोड़कर निर्मल स्वभाव स्व-आत्मा का लक्ष्य रखता है वह स्वय में स्व-वश होता है उसके कर्म (कार्य) को आवश्यक कहा जाता है।

उक्त स्थिति के होने पर ही **'एकाकी निस्पृह: शान्त: पाणिपात्रो दिगम्बर:'** जैसी स्थिति बनती है। वास्तव मे तो आहारादि क्रियाएँ भी मुनि की परवशता को इंगित करती हैं। पर, चूंकि शरीर के रहते हुए इनका परित्याग शक्त्यनुसार ही हो सकता है—जिसके त्याग के लिए मुनि अभ्यास भी करता है और जब तक वह परिपक्व नहीं

हो जाता—मजबूरी मे आहार लेता है। ऐसा आहार तप आदि में सहायक होने से मुनि की 'अवशता' की पुष्टि ही करता है, क्योंकि मुनि की उसमें गृद्धता नही होती। कहा भी है—'लें तप बढावन हेत, नहि तन पोषते तज रसन को।'

जब हम समयसार को पढ़ते है तो उसमे भी पद-पद पर आत्मा के अपरिग्रही—पर-निर्लेप और स्वतंत्र आस्था करने की प्रेरणा मिलती है। आचार्य कहते है—

'अहमिक्को खलु सुद्धो, दसणणाण मइओ सदाऽरूवी।
ण हि मज्झ अत्थि किं चिवि, अण्ण परमाणु मित्त पि॥'

उक्त गाथा की विस्तृत व्याख्याएँ मिलती है। और सामान्य अर्थ से भी यही फलित होता है कि—आत्मा अकेला स्व मे एक है, टकोत्कीर्ण शुद्ध स्वभावी है, दर्शन और ज्ञानमय परिपूर्ण है, त्रिकाल मे स्वभावत: अरूपी है और अन्य परमाणुमात्र—पर द्रव्य आत्मा का स्व-स्वरूप नहीं है। इसका आशय ऐसा भी है कि आत्मा अन्य पुद्गल आदि से रहित सदाकाल दिगम्बर है। ऐसा शुद्ध आत्मा ही आकाश मे स्थित होने के कारण 'दिगम्बर' नाम पाता है। इसके सिवाय शरीर से नग्न—वस्त्र-रहित होना तो पुद्गल की (निर्ग्रन्थता) नग्नता है -मात्र अन्त-रग को इंगित करने को। जहाँ मैं स्वभाव से नग्न हू ऐसा व्यवहार भी होगा वहां भी 'मैं' से आत्मा ही ग्राह्य होगा। शरीर से पृथक् आत्मा है, यह बात जगत्प्रसिद्ध है और इसे अन्य भी मानते है। गीता मे वस्त्राणि जीर्णानि' आदि से भी इस कथन की पुष्टि होती है—भले ही वहा आत्मा का स्वरूप कुछ भी क्यो न माना गया हो। अस्तु!

उक्त प्रसग मे जिसको अ-बश कहा वह मुनि का ही रूप ठहरता है और मुनि को अ-वश होना ही चाहिए जब ऐसा होगा तभी कुन्दकुन्द-अब्दि सफल मानी जायगी। अन्यथा, कुन्दकुन्द की जय और आवश्यको के पालन की बात कोरा दिखावा ही होगा। थोड़ी देर को यह भी मान लिया जाय कि उक्त स्थिति अति उच्च अवस्था की है तो भी जो कर्म अवश होने की ओर ले जाते है उनकी ही पूर्ति कहा तक की जा रही है? आवश्यको के कई भेद बतलाए गए है ताकि एक के अभाव मे दूसरे म लगा जाय और उसमे भी थकान होने पर तीसरे चौथे आदि मे लगा जाय—मुनि इनसे कभी अलग न हो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है—

'आवासं जइ इच्छसि अप्पमहावेसु कुणदि थिरभावम्।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्ण होदि जीवस्स॥
आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।
पुव्वत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा॥
आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अतरंगप्पा।
आवासय परिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा॥'

—नियमसार १४७—१४९.

यदि तू आवश्यककर्म को चाहता है तो अपने आत्म-स्वभाव मे अपने भाव को स्थिर कर, इसी के करने से श्रमणगुण की सम्पूर्णता होती है। आवश्यक कर्म से हीन श्रमण चारित्र से भ्रष्ट होता है; भ्रष्ट न होवे इसलिए उसे पूर्वोक्त क्रम से आवश्यक कर्म करना चाहिए—'अ-वश' होकर रहना चाहिए। जो श्रमण (सदा) आवश्यक-कर्म से युक्त होता है वह श्रमण अन्तरात्मा होता है और जो आवश्यककर्म से रहित होता है वह श्रमण (द्रव्यलिंगी) बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) होता है। श्री दौलतराम जी ने भी कहा है—'**बहिरातम तत्त्व मुधा है।**' ऐसा सब आचार्य कुन्दकुन्द का अन्तरंग है इस पर ध्यान देना चाहिए।

आज स्थिति बड़ी विचित्र है। परिपाटी ऐसी बन रही है कि—व्यक्ति अपने करने योग्य कार्यों को दूसरों से कराने का अभ्यासी-सा बन गया है। जो सामाजिक व्यवस्थाएँ उसे स्वयं करनी चाहिए थी वे कार्यकर्ताओं और नेताओ ने श्रमणो के ऊपर छोड़ दी। और इसमें कारण है उनकी स्वय की आचार हीनता। स्वय आदर्श रूप न होने से जब समाज उनकी नही मानता तब वे सहायता के लिए किसी श्रमण की दुहाई देकर उससे उस कार्य की सम्पन्नता चाहते है—उस पर दौड़े जाते हैं और श्रमण ऐसा करने-कराने से अपने आवश्यक कर्म से हट जाता है—सांसारिक प्रपंचो मे फँस जाता है। श्रमण का कार्य स्व-हित प्रमुख है। जबकि आज मामला उल्टा हो चुका है। इसे नेताओं और समाज को गहराई से सोचना चाहिए—आज यदि साधु में शिथिलता है, तो उस सबकी जिम्मेदारी से श्रावक बच नही सकता—उसे गुरु-पद की

निर्दोषता के प्रति सावधान रहना चाहिए—गुरु को घेरने से बचना चाहिए। आज की प्रथा मे तो साधु इसलिए अच्छा है कि वह हमारा प्रचारादि का काम कर रहा है। यदि हमारे मिशन मे वह सफलता दिलाता है, तो उसकी जय बुलती है फिर चाहे वह आचार मे शिथिल ही क्यो न हो जाय—यानी श्रावक का साधु की विरागता से लगाव नहीं; वह संसार की ओर स्वयं दौड़ रहा है और साधु को भी दौडा रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने साधु के स्थानादि के जो निर्देश दिए हैं, उनसे भी मुनि के **अ-वश** होने की पुष्टि होती है। कहा गया है कि—सूनाघर, वृक्ष का मूल, उद्यान, मसान भूमि, गिरि की गुफा, गिरि का शिखर, बन अथवा वसतिका इन स्थानों विषै, मुनि तिष्ठै है। मुनिन करि आसक्त क्षेत्र, तीर्थ स्थान वैध कहे है। मुनि को पचमहाव्रतधारी, इन्द्रियों मे संयत, सभी प्रकार की सांसारिक वांछाओं से रहित और स्वाध्याय व ध्यान में लीन रहना चाहिए। इसी प्रकार के अन्य भी अनेको निर्देश है। और इन्ही से मुनि रूप की सुरक्षा है—अपरिग्रहीपना है।

जब भांति-भांति की अफवाओ, चर्चाओ प्रश्नावलियो और समाचारो से विचलित मन ने विचार दिए—'हमारी श्रद्धा सच्चे मुनि-मार्ग मे हैं और सच्चे मुनि आज भी है तथा हम भी कुन्दकुन्द के आदेशो-आदर्शों के समर्थक है। हम चाहते रहे हैं कि आज के सभी मुनियों मे हमारी श्रद्धा बनी रहे—हम उनके वर्तमान आचारो पर भी शकित न हों। तब प्रसिद्ध अपवादो के निराकरणार्थ हम कई वर्षो से शास्त्रो मे इन प्रसगों की खोज में रहे कि कहीं कुन्दकुन्द के चरित्र या आगमों मे ऐसे उल्लेख मिल जाँय कि—

'कोठियों, बगलो और गृहस्थो से सकुल ग्रहो मे ठहरना, चन्दा-चिट्ठा करना-कराना, भवन आदि बनवाना, सावधान होकर फोटू खिचवाना, नेताओ से घिरे रहना, लम्बे काल जन-सकुल नगरो मे ठहरना, शीत-उष्णहर उपकरणो का प्रयोग करना, जत्र-मत्र, जादू-टोना, गण्डा-ताबीज आदि से जनता को सन्तुष्ट करना, कमंडलु का पानी देना जैसे कार्य दिगम्बर मुनि को कल्प्य है अर्थात् वे ऐसा सब कुछ कर सकते हैं, आदि। **पर, इसमें हमें निराशा ही मिली—ऐसे उलेख न पा सके।**

मुनि-श्रद्धालु होने के नाते हमारे मन ने यह भी प्रेरणा दी कि—'यदि अब भी लोग द्वि-सहस्राब्दि मनाकर भी कुन्दकुन्द के आगम वचनों पर न चल सकें तो हम क्यों न भक्ति में अपने हम-सफर, मुनि-श्रद्धालु भक्तों, नेताओं और धनपतियों से ऐसी अपेक्षा करें कि वे अपनी शक्ति का उपयोग उक्त प्रकार की खोजों के कराने में करे। हम तो असमर्थ है पर समर्थ भक्त तो इस निमित्त बडी राशियो के पुरस्कारो की घोषणा कर अर्थ-खोजी विद्वानो का उत्साह बढ़ाकर ऐसा (वर्तमान-मुनि-आचार रूप) सब विधान तक प्रसिद्ध और निर्मित करा ही सकते है। आज इस युग मे पैसे के बल से सब कुछ होना शक्य है और कई क्षेत्रो में तो मनमानी तक हो रही हैं। फिर यह तो धर्म का कार्य है। यदि उक्त प्रथाएँ सही ठहर जाती है तो वर्तमान का पूरा मुनिरूप सुरक्षित रह जाता है और लोगों की श्रद्धा भी उक्त रूप मे रह सकती है—और विरोधियो के मुह भी सहज बन्द हो सकते है या वर्तमान चलन के अनुरूप कोई विधान भी निर्मित कराया जा सकता है। वरना, जमाना खराब है और हमें स्मरण है कि कभी विरोध को लक्ष्यकर, उस समय के सर्वोच्च और सरल त्यागी वर्णी श्री पं० गणेशप्रसाद जी महाराज तक को एक बार इटावा से श्री ला० राजकृष्ण जैन को भेजे एक पत्र में यहां तक लिख देना पडा कि—'जैनमित्र अंक २० मे जो लेख निरजनलाल के नाम से छपा है, आप लोगो ने पढ़ा होगा। अब तो यहा तक आचार्य महाराज के ये शिष्य लिखते है—**'पीछी कमण्डलु छीन लो आदि।'**

पर, बहकाए मन की ऐसी अटपटी बातें हमारी बुद्धि को रास नहीं आई। बुद्धि ने तो कुन्दकुन्द द्वारा प्ररूपित 'आवश्यक' के लक्षण को ही आवश्यक और स्वीकार्य समझा। अर्थात् जो 'पर' किसी के वश मे न हो वही **अ-वश**, निर्मल और वन्दनीय दिगम्बर मुनि है और आवश्यक भी उसी के होते है।

आवश्यक पालन मे जो स्थिति मुनि की है, श्रावकों के षट्-कर्मों के सम्बन्ध मे श्रावक की भी वैसी स्थिति

(शेष पृ० टा० ३ पर)

जरा-सोचिए !

स्वर्गीयों की झांकी : एक स्वर्गीय की कलम से—

१. स्व० श्री अर्जुनलाल सेठी :

'सेठी जी जिन-दर्शन किये बगैर भोजन नही करते थे। जेल मे जिन-दर्शन की सुविधा न होने के कारण, उन्होने भोजन का त्याग कर दिया और उस पर वे इतने दृढ़ रहे कि सत्तर रोज तक निराहार रहे। अन्त मे सरकार को झुकना पड़ा और महात्मा भगवानदीन जी ने जेल में जिन-प्रतिबिंब विराजमान कराई, तब उनका उपवास समाप्त हुआ। भारत के राजनीतिक बन्दियों मे सेठी जी का यह प्रथम उदाहरण था, इसलिए भारतीय नेताओं ने 'भारत का जिन्दा मेक्स्वनी' कहकर उनका अभिनन्दन किया था।'

'जो सेठी जीवन भर गुरुडमवाद, पोपड़मवाद, सम्प्रदायवाद के विरुद्ध जीवनभर लड़ता रहा, मिटता रहा, वही सेठी इन मजहवी दीवानो द्वारा इस तरह समाप्त कर दिया जायगा। विधि के इस लेख को कौन मेट सकता था।'—

'देश सेवा का व्रत लेने और जो भी अर्थ हाथ मे आए, उसे देश सेवा मे ही न्योछावर कर देने के कारण सेठी जी स्वयं तो दारिद्रयव्रती थे ही, उनके परिवार को भी यह सब सहना पड़ता था। परिवार के निमित्त मैंने कई रईसों से कुछ भिजवाने का प्रयत्न किया भी तो सब व्यर्थ हुआ ....।

'राजनैतिक और आर्थिक दुश्चिन्ताओं के कारण सेठी जी का मानसिक सन्तुलन आखिर खराब हो गया, और जब कही आश्रय न मिला तो ३० रुपए मासिक पर मुस्लिम बच्चो को पढ़ाने पर मजबूर हो गये। अपने ही लोगो की इस बेवफाई का उनके हृदय पर ऐसा आघात लगा कि उन्होंने घर आना-जाना भी तर्क कर दिया और २२ दिसम्बर १६४१ को इस स्वार्थी संसार से प्रयाण कर गए।'—

'जिस असाम्प्रदायिक तपस्वी की अर्थी पर कबीर की मैयत की तरह गाड़ने-फूकने के प्रश्न पर हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष होता। वह भी कुछ सम्प्रदायी मुसलमानो के षड्यन्त्र के कारण न हो सका उनके परिवार वालो को भी तीन रोज के बाद सेठी जी की मृत्यु का सवाद मिला।

२. स्व० ब्र० सीतल प्रसाद जी :

'न जाने ब्रह्मचारी जी किस धातु के बने हुए थे कि थकान और भूख प्यास का आभास तक उनके चेहरे पर दिखाई न देता था।'

'उन्होने सनातन जैन समाज की स्थापना कर दी थी। वे इसके परिणाम मे परिचित थे इसीलिये उन्होंने उक्त सस्था की स्थापना से पूर्व सभी जैन-संस्थाओ से त्याग पत्र दे दिया था, जिनसे उनका तनिक भी संबध था। क्योकि वे स्वप्न मे भी उन सस्थाओ का अहित नही देख सकते थे, किन्तु जो अवतरित ही ब्रह्मचारी जी को मिटाने के लिए हुए थे, उन्हे केवल इतने से सन्तोष न हुआ। वे ब्रह्मचारी जी के व्यक्तित्व को ही नही अस्तित्व को भी मिटाने के लिए दृढ़ संकल्प थे। इस भीष्मपितामह पर धर्म की आड़ मे प्रहार किए गए।'

'इन्ही आधी तूफानो के दिनो (सन् २८ या २६) में पानीपत मे श्री ऋषभ जयन्ती उत्सव था।..........मैं सोच ही रहा था कि आज क्या खाम सभा जम सकेगी कि प० वृजवासीलाल वदहवास-से मेरे पास आए और एकान्त में ले जाकर बोले—गोयलीय अनर्थ हो गया, अब क्या होगा ? मै घबराकर बोला—पडित जी, खैर तो है, क्या हुआ ?

वे पसीने को चाँद पर से पोछते हुए बोले—'बाबा जी स्टेशन पर बैठे हुए हैं और यह कहकर ऐसे देखने लगे जैसे किसी भागी हुई स्त्री के मरने की खबर फैलाने के बाद, उसे पुन: देख लेने पर होती है। मुझे समझते देर नही लगी कि ये बाबा जी कौन से है और क्यो आए है ? बात यह थी कि पानीपत में ब्रह्मचारी जी के भक्त काफी थे उन्होंने आने के लिए उन्हे निमत्रण भी दिया था...।

'सभा का अध्यक्ष भी उन्ही को चुना गया तो एक दो व्यक्तियो ने कुछ पक्षियों जैसी आवाज मे फब्ती कसी।

........उन दिनों मैं आर्य समाजी टाइप डंडा अपने साथ रखता था, लपक कर उसे उठा लिया और आवेश भरे स्वर में बोला—ब्रह्मचारी जी, आप व्याख्यान देना प्रारम्भ कर दें, देखें कौन माई का लाल आप तक बढ़ता है। ब्रह्मचारी जी सिहर से गए, बोले—भाई शान्त रहो, मेरा व्याख्यान करा दो, फिर चाहे मेरा कोई प्राण ही निकाल दे।'

'यह ऐसी आंधी का बवण्डर था कि इसमें पुलिस की बर्छियो का सामना करने वाले जैन कांग्रेसी भी इन अहिंसको की सभा मे बोलने का साहस न कर सके। बैरिष्टर चम्पतराय जी और साहित्यरत्न प० दरबारी लाल जी जैसे प्रखर और निर्भीक विद्वान साहस बटोर कर गए भी पर व्यर्थ। उन्हे भी तिरस्कृत किया गया, बेचारे मुंह लटकाये चले आए। सीतल प्रसाद को ब्रह्मचारी न कहा जाय, उसे आहार न दिया जाय, धर्म स्थानों मे न घुसने दिया जाय, उसे जैन संस्थाओ से निकाल दिया जाय, उसका व्याख्यान न होने दिया जाय, उसके लिखने और बोलने के सब साधन समाप्त कर दिए जांय। यही उस समय के जैन धर्मोपयोगी नारे उस संघ ने तजबीज किए थे।'

'ब्रह्मचारी जी की मृत्यु पर पत्रों ने आंसू बहाए, शोक सभाएं भी हुई। शीतल-होस्टल, शीतल वीर सेवा मन्दिर और शीतल-ग्रन्थमाला की योजनाएं भी कुछ दिनो बड़ी सरगर्मी से चली, पर आखिर, सब सीतल-स्मारक शीतल होकर रह गये।'

"बोह पलको पै आ ही गया बन के आंसू।
जबां पर न हम ला सके जो फसाना॥"—सहवाई

—स्व० श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय

(भा० ज्ञानपीठ प्रकाशन 'जैन जागरण के अग्रदूत' से)

सम्पादकीय नोट—जैनधर्म में हिंसा, झूठ, चोरी आदि को पाप कहा है और इसके करने वाले को पापी। उक्त दोनों हस्तियों के उक्त स्व-जीवन में ऐसा कुछ नहीं लक्षित होता जो पाप हो। मालुम होता है इन्होंने जो भी किया परहित-हेतु ही किया, भलाई की दृष्टि से ही किया। ब्र० सीतलप्रसाद जी तो अध्यात्म क्षेत्र में भी इतना दे गये जितना देना अन्य को सरल नहीं। उन्होंने कठिन-से आगम भी सरल करके जनता को दिए जो आज भी उनकी गौरव-गाथा गा रहे हैं। श्री अर्जुनलाल सेठी सा० की धार्मिक दृढ़ता तो उनके ७० उपवासों से ही स्पष्ट है कि—उन दिनों उनका श्रद्धान और आचरण कैसा जैनधर्म परक था। खेद है कि इस पर भी अहिंसा, उपगूहन और स्थितिकरण का नारा देने वाले कुछ जैनियों ने इनके साथ जैसा सलूक किया, वह उस समाज की तत्-कालीन मनोवृत्ति को धब्बा लगाने को काफी है। क्या, तिरस्कार के सिवाय तब अन्य कोई उपाय नहीं था? कहावत है कि 'कंकरी के चोर को कटार नहीं मारना चाहिए'—यदि कुछ समाज की दृष्टि से इनमें कोई दोष प्रतिभासित हुए हों, तब भी शास्त्र के इस वाक्य को तो याद रखना ही चाहिए था कि—'जो एक दोष सुन लीजे। ताको प्रभु दण्ड न दीजे।'—पार्श्वपुराण

नारा तो हम देते हैं—'अहिंसा परमो धर्मः' और 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' का। पर, कर्मठों के अपमान के समय तब ये नारे कहां चले गए थे जो आज परिग्रह को साथ लिए उभरते दिखाई दे रहे हैं? आज तो समाज में खुले आम सभी पांचों ही पाप स्पष्ट घर किए जैसे दिखते हैं, फिर भी कोई किसी के कार्य तक का बहिष्कार नहीं कर रहा—सभी क्षमा धारण किए है। गहरी नजर से देखेंगे तो शायद आपको सार्वजनिक संस्थाओं में, सभाओं में, मंचों पर और यहां तक कि जैन नाम के गली-कूचों तक में भी पाप करने वाले ऐसे लोग तनकर खड़े दिखाई दे जाएंगे। शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र बाकी हो जहां इनकी घुस-पैठ न हो। ये हर जगह विद्यमान हैं—कहीं पैसे के साथ, कहीं ज्ञान के मद को लिए, कहीं पत्र पत्रिका या किसी सस्था या आन्दोलन के चालक होकर। तरह-तरह के वेष धारियों मे भी इनकी संख्या कम नहीं होगी। फिर भी आश्चर्य है कि आज समाज ऐसों के बहिष्कार के प्रति मौन क्यों है? समाज तब भी थी और आज भी समाज है।

क्या लिखें, कहां तक लिखें? समाज की उक्त स्थिति

और कर्मठों के अतीत अपमानों और नवीन गतिविधियों को पढ़ सुनकर कभी-कभी तो हमारा मन खीझ-सा उठता है और सोचता है—

'करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराह।
रे गंधी मति अंध तू, अतर दिखावत काह॥'

प्रसंग में हम यह भी कहना चाहेंगे कि—जिन पर समाज का कोई ऋण नहीं है या जो ऋण से बेबाक हो चुके है उनकी बात दूसरी है—पेशेवर याचकों की जमात से तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। हम तो अपनी जानते है—हम पर समाज का ऋण है। हम इसी में बढ़े, पढे-लिखे और सदा इसी में काम करते रहे हैं और समाज ने अपने में रहकर जीने दिया तो समाधि भी इसी में चाहेंगे। सोचते है आयु का क्या भरोसा ? न जाने कब सांस निकल जाय। कहीं ऋणी होकर ही भव-भव मे भटकते न फिरे। अत उऋण होने के प्रयास में सचाई बांट देते है। आशा है हमारी सद्भावना का ख्याल कर पाठक इस कटुसत्य के लिए हमें क्षमा करेंगे।

हमारी तो दृढ़ धारणा है कि जैनधर्म त्यागरूप अपरिग्रही धर्म है। जब तक पैसे जैसे परिग्रह के बल पर धर्म का स्थायित्व चाहते रहेंगे; भेंटे, सम्मान आदि दे-लेकर—जयन्तियाँ, उत्सव, सेमीनार, यहाँ तक कि जय जयकार भी पैसो के बल पर करते-कराते रहेंगे तब तक—चाहे धर्म-प्रचार के नाम पर कितनी ही यात्राएँ कर कितने ही भाषणों का, अखबारों, कैसिटों, रेडियो या टेलीविजनों का उपयोग क्यों न किया जाय; धर्म और धर्मात्मा कर्मठों का ह्रास ही होता रहेगा।

यदि धर्म और कर्मठों की इज्जत रखना है तो समस्त पाखण्डों को छोड़—स्व-आचार पालन का मूर्त आन्दोलन छेड़ना होगा। जब नेता लोग, विद्वान्, व्याख्याता, गृहस्थ और त्यागी कुन्दकुन्द की वाणी रूप स्व-आचार में प्रवृत्त होंगे—तब धर्म स्वयं चमक कर सामने खड़ा दिखेगा और कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि भी तभी सफल होगी।

(पृ० ३० का शेषांश)

है। श्रावक समय निकाल कर अपनी शक्ति के अनुसार देव-पूजा आदि करे। पर, बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो इन धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करते हो। आज तो षट्कर्म क्या ? जब बहुत से लोगों को साधारण नियमों—पानी छानकर पीने, रात्रि भोजन न करने, तीन मकारों का त्याग करने आदि तक का ज्ञान नहीं। तब षट् क्रियाओं के करने का प्रश्न ही कैसा ?

जब श्रावकों का ध्यान भी जैन के प्रारम्भिक नियमों के पालन पर होगा, तभी द्विसहस्राब्दी मनाना सफल होगा। सोचना तो यह भी होगा कि कुन्दकुन्द के आदेशों के पालन बिना हमारे सारे उपक्रम कहीं दो-नम्बर (यानी नियम तोडने) के तो नहीं ? जबकि **जैन मात्र को दो-नंबरी कामों से बचना चाहिए**। जैन की वृत्ति तो 'मन मे होय सो वचन उचरिए, वचन होय सो तन सो करिए' जैसी होती है न कि 'हाथी के दांत खाने के और, दिखाने के और' जैसी। अत: इस अवसर पर हर जैनी का कर्तव्य है कि वह अपने योग्य आवश्यकों का अवश्य पालन करे और आगे के जीवन मे भी उनके निर्वाह करने की सही प्रतिज्ञा करे। शुभमस्तु सर्व जगत:। **—सम्पादक**

—: ० :—

कागज प्राप्ति : —श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टो और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना स अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टो और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों मे। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : सपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयो पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन**, सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४२ : कि० २ अप्रैल-जून १९८९

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर के यशस्वी विद्वान् पं० श्री बालचन्द्र शास्त्री वि. सं. १९६२—२०४६

श्री पं० बालचन्द्रजी शास्त्री जैन समाज के गिने-चुने जैन विद्या-मनीषियों में अग्रगण्य रहे। उन्होंने वाराणसी में अध्ययन कर जैन विद्याओं के अध्यापन, अध्ययन और अनुसंधान को अपना कार्यक्षेत्र चुना। इसमें वे जीवन भर लगे रहे और अपना अमूल्य योगदान कर जैन-विद्याओं के इतिहासमें अपना नाम अमर कर गए। उनके द्वारा लिखित, सम्पादित एवं अनुवादित लगभग दो दर्जन ग्रथ इसके प्रमाण है। इनमें **'जैन लक्षणावली'** नामक अकेला एक ग्रंथ ही उनकी कीर्तिपताका को फहराता रहेगा। उन्होंने वीर सेवा मन्दिर में अत्यन्त निष्ठापूर्वक कार्य किया और इसके कार्यक्षेत्रको समृद्ध किया। उन्होने समाज मे पंडित की पंगुस्थिति का मानसिक अनुभव भी किया। यही कारण है कि उन्होंने अपनी किसी भी पौध को इस क्षेत्र में नही आने दिया। उनका उदाहरण समाज में 'पंडित परम्परा' को संवर्द्धित करने की दिशा मे सोचने के लिए एक प्रेरक प्रसंग है।

पंडित जी के असामयिक निधन को वीर सेवा मंदिर की कार्यकारिणी ने समाज की अपूरणीयक्षति माना और अपनी बैठक में पंडितजी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए दिवंगत आत्मा की सद्गति एवं शान्ति के लिए प्रार्थना और उनके कुटुम्बियों के प्रति संवेदना व्यक्त की।

सुभाष जैन
महासचिव
वीर सेवा मन्दिर

ओम् अर्हम्
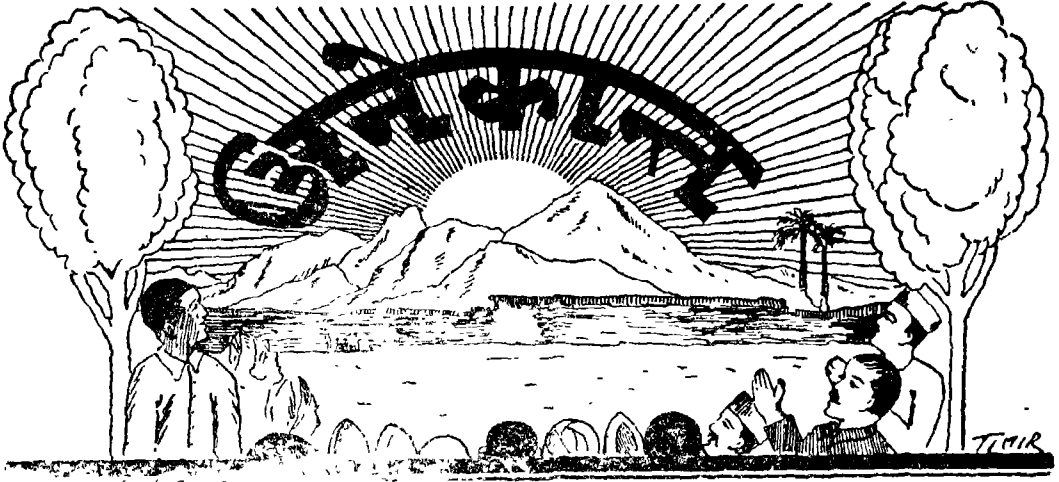
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ४२ किरण २ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५१५, वि० सं० २०४६ | अप्रैल-जून १९८९

अध्यात्म-पद

चित चिंतके चिदेश कब, अशेष पर बमूं ।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की चमूं दमूं ॥ चित० ॥
तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं ।
कब राग-आग शर्म-बाग दाघनी शमूं ॥ चित० ॥
दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं ।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्व सौं छमूं ॥ चित० ॥
जल-मल्ललिप्त-कल सुकल, सुबल्ल परिनमूं ।
दलकें त्रिसल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमूं ॥ चित० ॥
कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं ।
जिन दूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं ॥ चित० ॥

—कविवर दौलतराम कृत

भावार्थ—हे जिन वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं सम्पूर्ण विभावों का वमन करूँगा और दुखदायी अष्टकर्मो की सेना का दमन करूँगा । पुन्य-पाप को छोड़कर आत्म में लीन होऊँगा और कब सुखरूपी बाग को जलाने वाली राग-रूपी अग्नि का शमन करूँगा । सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूपी सूर्य से मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधेरे का दमन करूँगा और समस्त जीवों से क्षमा-भाव धारण करूँगा । मलीनता से युक्त जड़ शरीर को शुक्ल ध्यान के बल से कब छोड़ूगा और कब मिथ्या माया-निदान शल्यों को छोड़ मोक्ष पद पाऊँगा । मैं मोक्ष को पाकर कब भव-वन में नही घूमूंगा ? हे जिन, मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो इसलिए मैं नमन करता हूँ ।

कुन्दकुन्दाचार्य

☐ इतिहास मनीषी, विद्यावारिधि स्व० डा० ज्योतिप्रसाद जैन

कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परम्परा के सर्वमहान, सर्वाधिक प्रतिष्ठित एव प्रधान आचार्य है। महान सरस्वती आन्दोलन के नेताओ मे प्रमुख और सम्भवतया आद्य जैन ग्रन्थ प्रणेता है। वे सम्प्रदाय भेद के विरोधी और अविभक्त मूलसघ के परम समर्थक थे, साथ ही भद्रबाहु श्रुतकेवली की दक्षिणापथ परम्परा को ही वे महावीर के मूलसघ का सच्चा एव एकमात्र प्रतिनिधि मानते थे और अपने समय मे उसके प्रधान नेता थे। उनका महत्व उस सर्वप्रचलित मगल श्लोक से ही स्पष्ट है जो समस्त धार्मिक एव मागलिक कार्यों की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उक्त कार्यों के प्रारम्भ मे पढा जाता है--

मगल भगवान वीरो, मगल गौतमोगणी।
मगल कुन्दकुन्दाद्या, जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥

इस प्रकार स्वय भगवान महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम स्वामी के साथ कुन्दकुन्द का नाम स्मरण किया जाता है।

एपिग्राफिया कर्णाटिका के द्वितीय खण्ड मे एक श्लोक मिलता है—

श्रीमतो वर्धमानस्य वर्धमानस्य शासने।
श्री कौण्डकुन्दनामाभू मूलसघाग्रणीगणी ॥

जिसका तात्पर्य है कि श्रीमद् वर्धमान महावीर के वृद्धिगत धर्मशासन मे मूलसघ के अग्रणी (नेता) श्री कौण्डकुन्द नाम के गणी (मुनि) थे। भगवान महावीर के धर्मशासन का वर्धमान करने वाले मूलसघ के अग्रणी इन मुनिनायक कौण्डकुन्द का अन्वय (कुन्दकुन्दान्वय) अनेक शाखाओ प्रशाखाओ मे विस्तार पाता हुआ देशव्यापी हुआ। अधिकाश उत्तरकालीन दिगम्बर साधु अपने आप को कुन्दकुन्दान्वयी मान गौरवान्वित होते रहे है। दिगम्बर आम्नाय के नन्दि आदि तीन बड़े-बड़े सघ अपनी-अपनी परम्परा को मूलतः इसी अन्वय से सम्बन्धित करते है।

जिनवाणी की सर्वापेक्षिक श्रेष्ठता को प्रमाणित करने सम्पूर्ण भरतक्षेत्र मे उसे प्रतिष्ठापित करने एव लोकप्रिय बनाने का प्रधान श्रेय इन्हे ही दिया जाता है, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से विदित होता है —

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिहकौण्डकुन्दः
कुन्दप्रभा प्रणयि-कीर्तिविभूषिताशः।
यश्चारु चारणकराम्बुज चञ्चरीकश्चक्रे
श्रुतस्य भरतेप्रयत. प्रतिष्ठाम् ॥

(श्रवणबेल्गोल शिलालेख सख्या ५४)

उनके उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकार उनके ऋणी रहे है और उनके कुछ ग्रन्थ तो परवर्ती टीकाकारो को उपयुक्त उद्धरण प्रदान करने के लिए साक्षात कामधेनु सिद्ध हुए है। उनकी अधिकाश उक्तियाँ मतवाद एव सम्प्रदायवाद से अछूती है, विशेषकर उनके 'समयसार' की तो दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि विभिन्न सम्प्रदायो वाले जनी ही नही बल्कि बहुत से अजैन भी भक्तिपूर्वक स्वाध्याय करते है। मौर्योत्तर एव पूर्व गुप्तकालीन प्राचीन भारत के ये सर्वमहान आत्मवादी आध्यात्मिक सन्त थे। प्रायः समस्त उत्तरकालीन अध्यात्मवादियो, निर्गुणोपासको अथवा रहस्यवादी भारतीय सन्तो के लिए कुन्दकुन्द की उक्तियाँ औपनिषादिक साहित्य के समकक्ष ही प्रमुख आधार स्रोत रहती रही।

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन से सम्बन्धित कई परम्परा कथाएँ प्रचलित है, किन्तु वे सब उनके समय से शताब्दियों पीछे गढ़ी गई प्रतीत होती है। इन पौराणिक आख्यानो जैसी कुन्दकुन्द जीवन गाथाओ मे कितना तथ्याश है यह कहना कठिन है। इन योगिराज मे अनेक चमत्कारी शक्तियाँ होने की भी अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि उन्हे चारणऋद्धि प्राप्त थी जिसके द्वारा वे आकाश मार्ग से गमन कर सकते थे, उन्होंने विदेह क्षेत्र में सीमधर

स्वामी तीर्थंकर के समवसरण में जाकर उनके दर्शन किये थे और साक्षात् केवली भगवान के मुख से धर्म श्रवण किया था, इत्यादि। किन्तु इन सब अनुश्रुतियो को ऐतिहासिक घटनाएं सिद्ध करने का कोई साधन नही है।

कर्णाटक देश के शिलालेखो मे इन आचार्य का नाम बहुधा 'कोण्डकुन्द' रूप मे पाया जाता है। इसी का श्रुति-मधुर संस्कृत रूप 'कुन्दकुन्द' है। देवसेन (विक्रम ९९० अर्थात् सन् ९३३ ई०), इन्द्रनन्दि (लगभग १००० विक्रम अर्थात् १०वी शताब्दी ईस्वी) और जयसेन (लगभग वि० १२००)[१] ने इनका उल्लेख 'पद्मनन्दि' नाम से किया है। कुछ पूर्वमध्य एवं मध्यकालीन शिलालेखों एवं ग्रन्थकारो ने वक्रग्रीव, गृध्रपिच्छ और एलाचार्य भी कुन्दकुन्द के ही अपरनाम रहे बताये है। बट्टकेरि या बट्टकेराचार्य भी उनका एक नामान्तर बताया जाता है। गिरनाट साहब के अनुसार महामति भी उन्ही का एक नाम था। किन्तु ससार देहभोगो से विरक्त ये तपोधन योगीश्वर निर्ग्रन्थाचार्य अपने सम्बन्ध मे स्वय प्राय: कोई सूचना नही देते। केवल उनकी 'बारस अणुवेक्खा' नामक एक रचना के अन्त मे उनका 'कुन्दकुन्द' नाम उपलब्ध होता है और 'बोधपाहुड' नामक एक रचना मे किये गये इस उल्लेख --

सद्दवियारो हूओ भासा सुत्तेसु ज जिणेकहिय।
सो तहकहियं णाय सीसेण य भद्दबाहुस्स॥

से प्रकट होता है कि उनके गुरु भद्रबाहु थे। उनके एक टीकाकार जयसेन ने तथा प्रभाचन्द्र (लगभग ११५० विक्रम अर्थात् सन् १०९३ ई०) ने कुन्दकुन्द के गुरु का नाम कुमारनन्दि बताया है। नन्दिसघ की एक पट्टावली मे अर्हद्बलि के प्रशिष्य और माघनन्दि के शिष्य जिनचन्द्र को कुन्दकुन्द का गुरु बताया है। शिलालेखों मे कुन्दकुन्द का प्राय: भद्रबाहु के उपरान्त और उमास्वामी, समन्तभद्र, सिंहनन्दि आदि के पूर्व उल्लेख किया गया है।

जहाँ तक कुन्दकुन्द के विभिन्न नामो का सम्बन्ध है, महामति तो विशेषण मात्र है—शिलालेखो से यह बात स्पष्ट है। उसे भूल से ही उनका अपर नाम समझ लिया गया है। पद्मनन्दि उनके प्रशिष्य कुन्दकीर्ति का अपर नाम रहा प्रतीत होता है, कालान्तर मे दोनो गुरुओ का भेद भूल जाने से और कुन्दकीर्ति के विस्मृत हो जाने से यह कुन्दकुन्द का ही अपरनाम प्रसिद्ध हो गया प्रतीत होता है। गृध्रपिच्छ कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वामी के उपनाम के रूप मे भी प्रसिद्ध है।[२] सम्भवतया दोनो ही आचार्यों ने मयूरपिच्छ के स्थान पर गृध्रपिच्छ का उपयोग अल्पाधिक काल के लिए किया हो इससे यह उन दोनो के लिए ही विशेषणरूप मे प्रयुक्त होने लगा हो। वक्रग्रीव नाम के एक आचार्य (लगभग ५७५ ई०)[३] द्रविड़सघ के संगठनकर्ता वज्रनन्दि (५८२-६०४ ई०)[४] के सहयोगी थे। अत. निश्चय से नही कहा जा सकता कि किसी भूल के कारण अथवा कुन्दकुन्द का एक विशेषण होने के कारण यह नाम भी उनके लिए प्रयुक्त किया गया। एलाचार्य नाम तमिल भाषा के प्राचीन सगम साहित्य मे प्रसिद्ध कुरल काव्य के मूलकर्ता का माना जाता है।[५] कुछ विद्वानो की धारणा है कि उस अपूर्व काव्य के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ही है। सम्भवतया तमिल देश मे धर्मप्रचार करते हुए उन्हे एलाचार्य नाम प्राप्त हुआ हो और इसीलिए बाद मे इसका प्रयोग उनके लिए शिलालेखादि मे हुआ। मूलाचार के कर्ता बट्टकेराचार्य नाम मे प्रसिद्ध है और अब इसमें कोई सन्देह नहीं रहा है कि वह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की ही कृति है।[६] अत: यह (बट्टकेराचार्य,=वर्तकाचार्य=प्रवर्तकाचार्य) उन्ही का एक उपनाम रहा होगा।

जहाँ तक उनके गुरुओं का प्रश्न है, पट्टावली के जिनचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि कुन्दकीर्ति होने से जिनचन्द्र का, जो कुन्दकुन्द के लगभग ५० वर्ष बाद हुये है, उनके गुरु होने का प्रश्न ही नही है। कुन्दकुन्द के मुख्य एवं दीक्षागुरु भद्रबाहु द्वितीय (विक्रम २०–४३ अर्थात् ईसापूर्व ३७—१४) ही रहे प्रतीत होते है। कुमारनन्दि, जो कार्तिकेयानुप्रेक्षा के कर्ता कुमार या स्वामी कुमार से तथा मथुरा के वर्ष ६७ या ८७ (पूर्व शक सवत्) अर्थात् विक्रम ५८ या ७८=सन् १ या २१ ईस्वी के शिलालेख में उल्लिखित कुमारनन्दी से अभिन्न प्रतीत होते है। सम्भव है उन्हे वयोवृद्ध होने के नाते कुन्दकुन्द गुरु तुल्य मानते हो—सम्भव है जब कुन्दकुन्द मथुरा (उत्तरी भारत) मे पधारे हो उस समय ये कुमारनन्दि मथुरा के तत्कालीन गुरुओ मे वृद्धप्रमुख हो और कुन्दकुन्द ने उनका गुरु तुल्य सम्मान किया हो। इसी आधार पर कालान्तर मे उनका कुन्द-

कुन्द के गुरु रूप मे उल्लेख होने लगा हो।

इसमें तो कोई सन्देह नही है कि आचार्य कुन्दकुन्द मूलतः दक्षिणापथ के निवासी थे—अधिक सम्भावना यही है कि वे द्रविड कन्नड प्रदेशो के मध्यवर्ती सीमा प्रदेश के निवासी हो। कौण्डकुन्द नाम स्वय द्रविड झलक लिये प्रतीत होता है और कन्नड प्रदेश का कोई स्थान नाम जैसा लगता है। तुम्बलूराचार्यआदि अन्य कई दक्षिणी गुरुओं के नाम भी उनके जन्म ग्राम के नाम पर प्रसिद्ध हुए। वर्तमान गुन्टकल रेलवे स्टेशन से ४-५ मील दूर कौण्डकुन्द नाम का एक ग्राम आज भी विद्यमान है और परम्परा विश्वास उसे कुन्दकुन्द के जीवन से सम्बन्धित करता है। इस ग्राम के निकटवर्ती पहाड़ी की गुफाओ मे उन्होंने तपश्चरण किया था ऐसा विश्वास किया जाता है। इसी प्रकार नन्दी पर्वत नाम की एक अन्य पहाड़ी को भी कुन्दकुन्द का तपस्या स्थान बताया जाता है। यह तो प्रायः स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द सुदूर दक्षिण मे उत्पन्न हुए थे, कर्णाटक देश को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया था, पाण्ड्य-पल्लव आदि द्रविड देशो मे भी उन्होने पर्याप्त प्रचार किया था और क्या आश्चर्य तमिल सगम (तमिल जैन सघ जो बाद मे तमिल साहित्यिक सगम मात्र रह गया) की स्थापना एवं प्रगति मे उन्होंने योग दिया हो। ऐसे महान युग प्रवर्तक आचार्य ने भारतवर्ष के अन्य भागो मे भी विहार किया होगा और सुदूर होने पर भी उत्तरापथ के तत्कालीन सर्वमहान जैन सास्कृतिक केन्द्र और सरस्वती आन्दोलन के स्रोत मथुरा नगर की भी यात्रा की होगी।

नन्दिसघ की पट्टावलियो से कुन्दकुन्द का समय वि० सवत् ४९—१०१ (ई० पू० ८—४४ ई०) प्रकट होता है जो प्रायः ठीक ही प्रतीत होता है। वे भद्रबाहु द्वितीय (विक्रम २०—४३ अर्थात् ई० पू० ३७—१४) के साक्षात शिष्य या कम से कम प्रशिष्य अवश्य थे। मथुरा के कुमारनन्दि (विक्रम ५८—७८ अर्थात् सन् १—२१ ई०), भद्रबाहु द्वितीय के पट्टधर लोहाचार्य (विक्रम ४३—९५ अर्थात् ई० पू० १४—३८ ई०), उनके उत्तराधिकारी एव अविभक्त मूलसघ के अन्तिम सघाचार्य अर्हद्बलिगुप्तिगुप्त (विक्रम ९५—१२३ अर्थात् सन् ३८ ई०—६६ ई०), कषायपाहुड के उद्धारकर्ता आचार्य गुणधर (लगभग ५०—से ७५ विक्रम अर्थात् ई० पू० ७—१८ ई०); षट्खण्डागम के उद्धारकर्ता आचार्य धरसेन (लगभग विक्रम ९७—१३२ अर्थात् सन् ४०—७५ ई०), भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य (लगभग ५७—१०७ विक्रम अर्थात् सन् ०—५० ई०), पउमचरिउ के रचयिता विमलार्य (विक्रम ६० अर्थात् सन् ३ ई०), तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वामी (लगभग १००—१५० विक्रम अर्थात् सन् ४३—९३ ई०) आदि के प्रायः समसामयिक थे। जैन परम्परा में लिखित ग्रन्थ प्रणयन करने वाले प्रारम्भिक आचार्यों मे प्रमुख थे। विक्रम १२३ (सन् ६६ ई०) में अर्हद्बलि द्वारा मूलसंघ का नन्दि, सेन, देव, सिंह आदि सघों मे विभाजन करने के तथा विक्रम १३६ (सन् ७९ ई०) मे दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय भेद होने के पूर्व ही ये हुए प्रतीत होते हैं। परम्परा लिखित एवं पौराणिक अनुश्रुतिया, साहित्यगत एव शिलालेखीय उल्लेख और क्रम, अन्य प्रसिद्ध जैनाचार्यों एव ग्रन्थकारो से उनका पूर्वापर आदि सभी दृष्टियों से उनका उपरोक्त समय ठीक प्रतीत होता है। अपनी भाषा, शैली, विषय आदि की दृष्टि से भी वे आद्यकालीन ग्रन्थकार सूचित होते है। अन्य विद्वान भी उन्हें विक्रम की पहली-दूसरी शती का विद्वान अनुमान करते है। कुन्दकुन्द अपने किसी ग्रन्थ में किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ या ग्रन्थकार का उल्लेख नही करते—केवल गुरु परम्परा से प्राप्त जिनागम या द्वादशांग श्रुत के ज्ञान को ही अपना आधार सूचित करते है। उनके ग्रन्थो मे अनेक गाथाएं ऐसी है जो श्वेताम्बर आगमो में भी पाई जाती हैं—इससे भी यह प्रमाणित होता है कि उन सबका कोई एक अभिन्न प्राचीन मूल स्रोत था, दोनो ही परम्परा के विद्वानों ने उनके सरक्षण का प्रयत्न किया।

परम्परा सम्मत एवं बहुमान्य मतानुसार आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम सवत् ४९ अर्थात् ईसापूर्व ८ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ५२ वर्ष पर्यन्त उस पद का उपभोग करके सन् ४४ ई० मे, ८५ वर्ष की आयु मे वह स्वर्गस्थ हुए। यह भी अनुश्रुति है उन्होंने बाल्यावस्था में ही मुनि दीक्षा ले ली थी। मुनि दीक्षा के लिए न्यूनतम निर्धारित वय ८ वर्ष है, ऐसी मान्यता है। एक मतानुसार उन्होने ८ वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी, दूसरे मत से ११

वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी, एक अन्य मत से उनकी पूर्ण आयु ९५ वर्ष थी। किन्तु चूंकि उनके आचार्यकाल के ईसापूर्व ८ से सन् ४४ ई० पर्यन्त रहा होने में प्रायः कोई मतभेद नहीं है, यह वृद्धि उनके जन्मकाल या मुनिदीक्षा काल मे ही सम्भव है। इस प्रकार आचार्य का जन्म ईसापूर्व ५१ या ४१ मे, अथवा उन दोनों तिथियों के बीच किसी समय हुआ। उनकी मुनि दीक्षा भी ईसापूर्व ४३, ४०, ३३ या ३० मे हुई।

मौखिक परम्परा से प्राप्त श्रुतागम के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य ने ८४ पाहुड (प्राभृत) ग्रन्थ रचे कहे जाते जाते हैं। उनके ग्रन्थों के शीर्षक प्रकरणात्मक है—उनके द्वारा वे अपने विषय मे निष्णात, प्रत्यक्षदृष्टा गुरु की नाईं महज भाव से धर्मोपदेश करते चले जाते है—उस ज्ञान को वे स्वयं तीर्थंकर द्वारा प्रदत्त ज्ञान मानते हैं। अतः स्वय अपना नाम कर्ता के रूप में देने की कहीं भी उन्हें आवश्यकता ही प्रतीत नही होती। यत्र-तत्र प्रसगवश ऐतिहासिक व्यक्तियो एव घटनाओ की ओर भी दृष्टान्तरूप से संकेत कर देते है।

कुन्दकुन्दाचार्य के सुप्रसिद्ध उपलब्ध ग्रन्थ निम्न प्रकार है—

१. समयसार प्राभृत—अनेक सस्करण विभिन्न भाषाओ मे मूल, अनुवाद, प्राचीन एव नवीन टीका-व्याख्या आदि सहित प्रकाशित हो चुके है।
२. प्रवचनसार —इसके भी अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके है।
३. पंचास्तिकायसार—अनेक सस्करण प्रकाशित।
४. नियमसार —प्रकाशित।
५. रयणसार —प्रकाशित।
६. अष्टपाहुड —प्रकाशित।
७. बारस अणुवेक्खा—प्रकाशित।
८. दशभक्ति —प्रकाशित।
९. मूलाचार —प्रकाशित।

कुछ अन्य पाहुड भी प्राप्त हुए है। इनके ग्रन्थो पर उत्तरवर्ती प्रौढ आचार्यों ने अनेक टीकाएं लिखी है। कुन्दकुन्द की कृतियो के प्रसिद्ध टीकाकार हैं—अमृतचन्द्राचार्य (१०वी शती) और प० रूपचन्द, प० बनारसीदास, पाण्डे हेमराज, प० जयचन्द्र (१६वी से १९वीं शती के मध्य)।

विक्रम सवत् १४५५ के एक शिलालेख मे अगपूर्वधारी आचार्यों के अन्तिम समूह के पश्चात् हुए आचार्यों का उल्लेख करते हुए कौण्डकुन्द यतीन्द्र की प्रशस्ति दी गई है। कुन्दकुन्दाचार्य का महत्त्व इन सबसे स्वयं प्रमाणित है।

(श्री रमाकान्त जैन के सौजन्य से)

सन्दर्भ-सूची

१. अपनी 'दि जैन सोर्सेज ऑफ दि हिस्ट्री आफ एन्श्येन्ट इण्डिया' में पृ० १२१ और १२२ पर डाक्टर साहब ने जयसेन का समय ल० ११५० ई० अंकित किया है किन्तु ऐतिहासिक व्यक्तिकोश की पाण्डुलिपि मे, जिससे उपर्युक्त लेख उद्धृत है, एक स्थान पर वि० १२०० को काटकर उन्होंने १०९८ ई० लिखा है। इस सशोधन का आधार अज्ञात है।

२. तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्र संजातमुमास्वामी मुनीश्वरम्॥
—तत्त्वार्थ प्रशस्ति, पंचम १; एपिग्राफिया कर्णाटका द्वितीय खड तथा श्रवणबेलगोल शिलालेख ६४, १२७ व २५८.

३. जैन सोर्सेज आफ हिस्ट्री आफ एन्श्येन्ट इंडिया पृ. २७४.

४. वही।

५. तमिलनाडु मे जन मान्यता यही है कि 'तिरुकुरल' के रचयिता तिरुवल्लुवर नामक कोई गृहस्थ सन्त थे, किन्तु उक्त ग्रन्थ मे जैनधर्म का विशेष प्रभाव लक्षित होने और आद्य तमिल साहित्य के पुरस्कर्ता प्रायः जैन आचार्य होने के कारण अनेक तमिल विद्वान भी इसे जैन कृति मानने पर विचार करने लगे है। स्व० प्रो० ए० चक्रवर्ती ने अपनी 'जैन लिटरेचर इन तमिल' मे इस कृति के कर्ता का नाम एलाचार्य बताया है और उसे आचार्य कुन्दकुन्द का अपरनाम बताया है।

६. दिल्ली के दिगम्बर जैन पचायती मन्दिर के शास्त्र भण्डार मे 'मूलाचार' की एक हस्तलिखित प्रति पर लेखक रूप मे कुन्दकुन्द का नाम दिया है।

सामयिक-प्रेरणा :—

श्रुतदेवता की मूर्तियाँ खण्डित होने से बचायें

☐ डा० गोकुलचन्द्र जैन, अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग

यह सांस्कृतिक चेतना का आह्वान है। विशेषरूप से दिगम्बर परम्परा के अनुयायियों के समक्ष यह चुनौती है। अपनी नादानी और गैरजिम्मेदारी के कारण हम द्वादशांग श्रुतज्ञान की अमूल्य निधि को सुरक्षित नहीं रख पाये। बौद्धों ने बार-बार संगीतियों का आयोजन किया। भगवान् बुद्ध के उपदेशों का संगायन किया। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप त्रिपिटक में बुद्धवचन सुरक्षित हो गये और आज संसार भर में उपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्परा ने भगवान् महावीर के उपदेशों को सुरक्षित करने के लिए कई बार वाचनाएँ आयोजित की। श्रुत परम्परा से जिसे जितना स्मरण रह पाया था, उसे सबके समक्ष प्रस्तुत किया। इस बात की समीक्षा की गयी कि कितना याद रह गया है, कितना विस्मृत हो गया है। पाठ भेद भी सामने आये। फिर भी अन्ततः सामूहिक प्रयत्न फलीभूत हुए। वलभी में आगमों को पुस्तकारूढ करके सुरक्षित कर दिया गया। हजारों वर्षों से साधु-सन्त और श्रावक उस पुस्तकारूढ श्रुत ज्ञान की सुरक्षा में निरन्तर सावधान रहे। उसी का सुफल है कि श्वेताम्बर परम्परा में आगम और आगमिक साहित्य विपुल परिमाण में उपलब्ध है।

दिगम्बर परम्परा में द्वादशांग की सुरक्षा के लिए प्रयत्न करने का एक भी सन्दर्भ उपलब्ध नहीं होता। श्वेताम्बर परम्परा में जिन वाचनाओं के उल्लेख है, उनके विषय में भी कोई जानकारी नहीं है। कारण जो भी रहे हों, पर परिणाम हमारे सामने है। दिगम्बर परम्परा में द्वादशांग श्रुतज्ञान का एक भी मूल आगम उपलब्ध नहीं है। क्या हम अपने पुरखों के इस अनुत्तरदायित्व की समीक्षा करेंगे?

श्रुतज्ञान की सुरक्षा के दायित्वबोध का सर्वप्रथम उदाहरण आचार्य धरसेन का मिलता है। उसी के प्रतिफल षट्खण्डागम इस पीढ़ी को उपलब्ध हो सका। 'आचार्य धरसेन की चिन्ता और श्रुत संरक्षण का दायित्वबोध' (तीर्थंकर, जुलाई १९८८) शीर्षक निबन्ध में हमने ऐसे कई विषयों की चर्चा की थी। कई ऐसे मुद्दों की ओर संकेत किया था, जिससे हमारे वर्तमान आचार्यों, साधु-सन्तों, श्रावकों, श्रीमन्तों, पण्डित-प्रोफेसरों की आँखें खुलनी चाहिए। कुछ प्रतिक्रियाये हुई भी। पर उतना पर्याप्त नहीं है। तीर्थंकर के सम्पादक चाहते है कि जो लेख वह छापे, उसे अन्यत्र न भेजा जाये मैंने इसका निर्वाह किया। उस लेख को प्रत्येक दिगम्बर जैन के हाथों में पहुंचना चाहिए। तीर्थंकर के सम्पादक से मैं अनुरोध करूँगा कि वे इसका कोई मार्ग खोजें और इन 'यक्ष प्रश्नों' पर गहरी बहस करायें।

लगभग इसी लेख के क्रम में 'आचार्य कुन्दकुन्द पर विद्यावारिधि की उपाधि' लिखा गया। एक से अधिक पत्रों में छपा। यह मात्र समाचार नहीं था। कतिपय कडवी सच्चाइयाँ भी थीं। काफी प्रतिक्रियाये आयी। कुछ ने अपनी दाढ़ी के तिनके को सहलाया और फिर सावधानी से उसी में खोस लिया। आचार्य कुन्दकुंद ने लिखा है कि 'अपराधी शंकित होकर डरता हुआ घूमता है पर निरपराधी निःशंक घूमता है।' (समयसार) अब स्थिति उलट गयी है। जो गलती कर रहा है, वह जान बूझकर वैसा कर रहा है। इसलिए निडर है। वह नेता है, आचार्य है, श्रीमन्त है, पण्डित-प्रोफेसर है। युवा ऊर्जा को वह बहका सकता है। सब तरह से सशक्त और सन्नद्ध है। इसलिए निडर है। आचार्य कुन्दकुन्द कह सकते है कि कहीं चूक हो जाये तो उसे छल न समझें—'जइ चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं।' आज जो भी लिखा जा रहा है, कहा जा रहा है; उसका लेखक, सम्पादक; प्रवक्ता, प्रवचनकर्ता मानता है कि **उसे सर्वज्ञभाषित माना जाये**। उसके सामने प्रश्न चिह्न लगाने का सवाल ही नहीं खड़ा होता।

इस समय ताजा सन्दर्भ आचार्य कुन्दकुन्द का है। इसलिए मुख्यरूप से उन्ही के प्राकृत ग्रन्थों की बात यहाँ कहनी है। प्रसंगत: कतिपय अन्य ग्रन्थो की बात कहना भी अपेक्षित है। गत कुछ वर्षों में भगवती आराधना, मूलाचार, गोम्मटसार के नये सस्करण प्रकाशित हुए है। इतने प्रामाणिक, साफ-सुथरे, स्वय में प्रायः पूर्ण, इसके पूर्व प्रकाशित नही हुए। इनमें जो कुछ और करणय है या अपेक्षित था, उसे सम्पादक, ग्रन्थमाला तथा सम्पादक तथा अन्य सम्बद्ध विद्वान जानते थे, जानते है। अगले संस्करणो मे इस सस्कार की आशा भी की जा सकती है। कुछ सम्बद्ध तथ्यो को यहाँ प्रस्तुत कर देना उपयुक्त होगा।

भगवती आराधना पर विद्यावारिधि की उपाधि के लिए हमने एक अनुसन्धाता का पजीयन कराया था। इससे भगवती आराधना को एक बार पुन: सूक्ष्मता से परखने का अवसर मिला। नये सस्करण को भी पूरी सावधानी से देखा। मूल ग्रन्थ की प्राकृत गाथाएँ सस्कृत टीका मे प्रतीको के रूप मे सुरक्षित है। इ[illegible]रण मे प्रकाशित गाथाएँ टीका के प्रतीको से मेल नही खाती। सम्पादक का इस ओर ध्यान गया होगा और इस सम्बन्ध मे प्रस्तावना मे चर्चा की गयी होगी, यह मानकर हमने प्रस्तावना को देखा। उसमे कही इसका उल्लेख नही था। सम्पादक स्वर्गीय प० कैलाशचन्द्र शास्त्री तब यही वाराणसी में थे, उन तक बात पहुंचायी। अब उनका भी ध्यान इस ओर गया। उन्होंने बहुत सहज भाव से कहा—'बहुत-सी बातो की ओर ध्यान गया, पर इस ओर ध्यान ही नही गया।' स्पष्ट है कि टीकाकार के समक्ष भगवती आराधना की उससे भिन्न पोथी रही, जिसका पाठ मूल मे छपा है। कुल मिला कर हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुचे कि मूल ग्रन्थ का नया संस्करण और अधिक पाठालोचन के साथ प्रकाशित होना चाहिए। अन्य बाते अलग है।

इसी प्रकार मूलाचार के विषय मे कई बाते सामने आयी। लगभग दो दशक पूर्व पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री ने इसके सम्पादन का कार्य आरम्भ किया था। कतिपय प्राचीन पाण्डुलिपियों के पाठान्तर भी लिए थे। फिर अस्वस्थता तथा अन्य व्यस्तताओ के कारण यह कार्य रह गया। मुझे इसकी जानकारी थी। मूलाचार पर वसुनन्दि की सस्कृत टीका है। मैंने वसुनन्दि के एक नये ग्रन्थ 'तच्चवियारो' का सम्पादन किया था और उसकी प्रस्तावना मे वसुनन्दि के समय आदि कई विषयों पर नये ढग से विचार किया था। पण्डित जी को प्रस्तावना सुनाकर उनसे चर्चा कर रहा था। प्रसगत. मूलाचार की टीका की बात आयी। मैने पण्डितजी से पूछा कि 'टीका की प्राचीन पाण्डुलिपियो मे प्राकृत गाथाओ की संस्कृत छाया है या नही?' पण्डितजी चौके। मैंने कहा कि माणिकचन्द ग्रन्थमाला के सस्करण मे छपी है। पण्डितजी ने सोचकर कहा—"मेरी समझ से पाण्डुलिपियों मे छाया नही है। फिर भी देखना पड़ेगा। वर्णी सस्थान मे दो पाण्डुलिपियाँ भी है। देखना और मुझे भी बताना।" देखने पर पता चला कि टीका मे छाया नहीं दी गई है। सच तो यह है कि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों मे अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त है, जिनकी सस्कृत छाया नहीं हो सकती, व्याख्या ही हो सकती है।

भगवती आराधना और मूलाचार दिगम्बर परम्परा मे बहुत महत्त्वपूर्ण माने जाते है। दोनो ग्रन्थों की शताधिक गाथाएँ श्वेताम्बर ग्रन्थो मे भी पायी जाती है। मूलाचार की गाथाएँ कुन्दकुन्द मे भी पर्याप्त सख्या मे पायी जाती है। कही-कही इसे कुन्दकुन्द का ही माना गया है। इन सब दृष्टियो से दोनो ग्रन्थो के पूर्ण प्रामाणिक मूल पाठ उपलब्ध रहना आवश्यक है।

इधर के दशको मे आचार्य कुन्दकुन्द की बहुत चर्चा हुई है। इसलिए उनके ग्रन्थो के भी अनेक सस्करण प्रकाशित हुए है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, सनातन जैन ग्रन्थमाला, राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को प्रकाश मे लाने का प्राथमिक-पायोनियर कार्य किया। सोनगढ़, भारतीय ज्ञानपीठ आदि से भी कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए है। इधर के वर्षों मे अन्य अनेक स्थानों से कुन्दकुन्द के ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। डॉ० ए० एन० उपाध्ये का प्रवचनसार तथा प्रो० ए० चक्रवर्ती का समयसार और पचास्तिकायसार उनकी विस्तृत एव अध्ययनपूर्ण प्रस्तावनाओ के कारण बहुचर्चित हुए। डॉक्टर उपाध्ये जीवन के अन्त तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थो के पूर्ण पाठालोचन पूर्वक तैयार किये गये संस्करणो की बात करते रहे।

सौभाग्य से उत्तर तथा दक्षिण भारत मे कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की शताधिक प्रतियाँ उपलब्ध है। इसके बावजूद अभी तक एक भी ऐसा सामूहिक उपक्रम नही हुआ, जिसमें विभिन्न कालो, विभिन्न क्षेत्रो और विभिन्न परम्पराओ की चुनी हुई विशिष्ट पाण्डुलिपियो को एक साथ रखकर मूल पाठ का पर्यालोचन किया गया हो। ऐसी कोई योजना भी अभी तक किसी सस्था की ओर से सामने नही आयी।

इसके विपरीत इन वर्षो मे कुन्दकुन्द के ग्रन्थो के जो संस्करण प्रकाशित हुए है, उनसे अब यह पता लगना कठिन हो गया है कि प्राकृत गाथाओं का मूल पाठ किसे माना जाये। सब संस्करणो को साथ रखे तो अब अलग-अलग नामकरण अपेक्षित होगे। अभी तक तो सोनगढ के बहु-प्रचार के कारण लोगो ने सोनगढी ही नामकरण किया था, पर अब देहलवी, जबलपुरी, बम्बइया, इन्दौरी, उदयपुरी, जयपुरी आदि 'किसम-किसम के कुन्दकुन्द' नयी पीढ़ी को सौगात मे मिलने शुरु हो गये है। अभी तक तो प्रवचनो और व्याख्याओं के आधार पर कुन्दकुन्द के ग्रथो को मन्दिरों मे रखने और बाहर फेकने के आन्दोलन हो रहे थे, अब श्रुतदेवता की इन खण्डित मूर्तियो का विसर्जन कहाँ करेगे? हर हुजूम 'झडा ऊंचा रहे हमारा' कहता हुआ, दूसरे सभी को धकियाता हुआ आगे बढ़ जाना चाहता है। इसे पता नही कि जिस शून्य मे यह भीड़ बढ़ रही है, उसके छोर पर गहरा महासागर है। प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थो के साथ यह खिलवाड जारी रही तो जिसे हम जिनवाणी कहते है, श्रुतदेवता कहते है, उसकी एक भी मूर्ति अखडित नही बचेगी। इस सकट की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द के इन प्रकाशनो के साथ जब श्रद्धेय आचार्यों, प्रतिष्ठित पण्डितो, प्रोफेसरो के नाम जुड जाते है, तब यह समझ पाना मुश्किल हो जाता है कि यह सब क्या हो रहा है, क्यो हो रहा है, कैसे हो रहा है। हम जैसे अध्ययन-अनुसन्धान कार्यो मे लगे लोग, जो एक ओर इन परम श्रद्धेय आचार्यों और विद्वानो से जुड़े हो, दूसरी ओर अध्ययन-अनुसन्धान की वैज्ञानिकता के प्रति भी प्रतिबद्ध हों, उनके समक्ष बड़े असमजस की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। **अब तो प्राचीन प्राकृत सिद्धान्त ग्रंथों को व्याकरण और छन्दों के अनुसार बदलने का सिलसिला भी शुरु हो गया है।** ग्रन्थ छपते है और निःशुल्क वितरित हो जाते है। वे ग्रन्थ ऐसे विद्वानो के पास नही पहुंचते, जो ईमानदारी से इन्हे पढे और कुछ गलत लगे तो उसे साहस पूर्वक कह सके। यदि यह सिलसिला जारी रहा तो मात्र कुन्दकुन्द के ही नही दिगम्बर परम्परा के सभी प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ बदल जायेंगे। तब वे सभी भगवान् महावीर से एक हजार वर्ष बाद के स्वतः सिद्ध हो जायेंगे।

प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादन के लिए पाठालोचन के सिद्धान्त अब ससार भर मे प्रसिद्ध हो चुके है। उन पर पुस्तकें प्रकाशित है। पाठालोचन के सिद्धान्तो को आधार बनाकर रामायण और महाभारत जैसे विशालकाय ग्रंथों का भी सम्पादन हो चुका है। कुन्दकुन्द के ग्रंथो का पाठालोचन असम्भव कार्य नही है! परिश्रमसाध्य अवश्य है। व्यय और समयसाध्य भी है। जय बोलने और जश्न मनाने से यह सम्भव नही है। उन पडितो, प्रोफेसरों से भी इसकी अपेक्षा नही की जा सकती जो गंगा जाकर गंगादास और जमुना जाकर जमनादास हो जाते है। डॉ० हीरालाल जैन डॉ० ए. एन. उपाध्ये, प. हीरालाल शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैसे विद्वान अब नही रहे, जो इस महत् कार्य को अपने अनुभवी हाथो सम्पन्न करते। अब तो नयी पीढी के विद्वानो और युवा नेतृत्व को इसके लिए आगे आना होगा। विद्वान् आचार्यों और सन्तो को इस कार्य के लिए मार्गदर्शन करना होगा। **नये नये समयसार और महापुराणों को रचने का महारंभ त्यागकर श्रुतदेवता की मूर्तियों को खंडित होने से बचाने का संकल्प लेना होगा।**

आचार्य कुन्दकुन्द के ऐसे प्रकाशित ग्रन्थों के अशुद्ध और एक दूसरे सस्करणो के परस्पर विरोधी मूल पाठों को यहाँ दोहराना हम उपयुक्त नही समझते। स्वय पढ़े और मिलान करे तो स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जायेगी। विपरीत दिशा में बह रहे इस प्रवाह को रोकना होगा।

—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

आवासीय पता : ४६ विजयनगर कालोनी, भेलूपुर, वाराणसी-२२१०१०

आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी साहित्य-सृजन में दृष्टि

☐ डा० कमलेश कुमार जैन, जैनदर्शन-प्राध्यापक

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य के सन्दर्भ में प्रायः यह आम धारणा बन चुकी है कि उन्होंने जो भी साहित्य-सृजन किया है, वह मुनियों को ध्यान में रखकर किया है, अथवा आध्यात्मिक है। किन्तु मेरे विचार से यदि विद्वानों ने उनके साहित्य के सन्दर्भ में उक्त प्रकार की धारणा बना ली है तो वह ऐकान्तिक ही होगी। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को समग्र दृष्टि से देख पाना हम लोगों के लिए सम्भव नही है। उनके साहित्य पर विचार करते समय हमें आचार्य कुन्दकुन्द जैसी विस्तृत विशाल दृष्टि को अपनाना होगा। हमें उनके अन्तस् में झांककर विचार करना होगा, तभी हम उनके साहित्य का मूल्यांकन कर सकेंगे। अन्यथा उन कुन्दकुन्द मणियों को ऊपर से स्पर्श करके उनके चाकचिक्य आदि पर भले ही विचार कर लें, किन्तु उनका समग्र मूल्यांकन करना सामान्य लोगों की बुद्धि के बाहर का विषय है।

जब हम आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को आध्यात्मिक दृष्टि से देखते है तो हमें उनके साहित्य मे पदे-पदे अध्यात्म के दर्शन होते है। जब हम तत्त्वज्ञान की दृष्टि से देखते है तो तत्त्वज्ञान के दर्शन होते है और इसी प्रकार जब हम मुनियों के आचार-विचार की दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो उनके साहित्य मे मुनियों के आचार-विचार के दर्शन होते है। किन्तु ये सभी पृथक्-पृथक् पहलू हो सकते हैं। उनका एक-एक पक्ष हो सकता है, पर यह उनके साहित्य का समग्र मूल्यांकन नहीं है।

हम लोगो के पास अपने-अपने पात्र हैं और हम लोग उन पात्रों की क्षमता के अनुरूप अपने-अपने पात्रो में ज्ञान-राशि संजो लेते है। वास्तविकता यह है कि जब हम उनके द्वारा सृजित साहित्य की किसी एक भी गाथा को लेकर उस पर चिन्तन करते हैं, मनन करते है, उसकी परीक्षा करते हैं तो हमारी बुद्धि की स्वयमेव परीक्षा हो जाती है और हमें अपने ज्ञान के उथलेपन का सहसा आभास होने लगता है।

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन समाज में केवल एक आचार्य के रूप में ही प्रतिष्ठित नही हैं, अपितु वे भगवान् कुन्दकुन्द के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जब हम किसी महापुरुष के नाम के आगे भगवान् विशेषण लगाते हैं तो हमारी यह अपेक्षा होती है कि वे सर्व कल्याण की बात करें। लोक मङ्गल की बात करें। उनके द्वारा सृजित साहित्य में जन कल्याण की मङ्गल भावना समाहित हो। इस कसौटी पर यदि हम आचार्य कुन्दकुन्द को प्रस्तुत करें तो हमे ज्ञात होता है कि उनके समग्र साहित्य में महात्मा बुद्ध की तरह बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय की भावना नहीं है, अपितु उनके साहित्य में भगवान् महावीर के उपदेशो से अनुप्राणित सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय की लोक-कल्याणकारी मङ्गल भावना का पदे-पदे उद्घोष है।

जब वे अहिंसा का उपदेश देते हैं तो वे सीधे-सीधे यह कभी नही कहते कि हिंसा नहीं करनी चाहिए, अपितु वे इस उपदेश से भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए सर्व-प्रथम यह बतलाते हैं कि हिंसा के कौन-कौन स्थान हैं? मनुष्य के किन किन कार्यों से हिंसा सम्भव है आदि। और अन्त में उनसे विरत होने का उपदेश देते हैं। क्योंकि जब तक हम सम्यक्रीत्या यह नहीं जान लेगे कि जीवों के कुल-भेद, उत्पत्ति स्थान अथवा योनि-भेद, जीवस्थान के भेद और मार्गणास्थान के भेद आदि कौन-कौन हैं? तब तक उनकी हिंसा से विरत होना सम्भव नहीं है। इन सबके भेद-प्रभेदों का विवेचन आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार पर लिखी गई तात्पर्यवृत्ति नामक अपनी टीका मे विस्तार से किया है।[1]

अब यहाँ दो पक्ष विचारणीय हैं। प्रथम पक्ष वह है, जिसमे जीवो के स्थान आदि को जानकर उनसे विरत

रहने का उपदेश दिया है। इस पक्ष में जो जीव परजीवों के घातरूप हिंसा से विरत होता है, अथवा विरत रूप परिणामो का कर्त्ता होता है, उससे वह मुक्ति को प्राप्त करता है। यह आचार्य कुन्दकुन्द का आध्यात्मिक पक्ष है।

दूसरा पक्ष यह है कि जब आचार्य कुन्दकुन्द जीवों के उत्पत्ति-स्थान आदि की विवेचना करते हैं तो उससे तीन लोक के जीवों की रक्षा एक सामान्य प्राणि अपने आचार-विचार अथवा परिणामो के माध्यम से कैसे कर सकता है? इसका समावेश है। यह आचार्य कुन्दकुन्द का लोक कल्याण की भावना का उत्तम पक्ष है। यद्यपि जैनदर्शन मे साधु को स्वार्थी-आत्मार्थी बनने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि स्वार्थी-आत्मार्थी ही परमार्थी है, किन्तु चूंकि हम स्वयं लोक मे रहते हैं, इसलिए लोककल्याण की भावना ही हमारे जीवन मे प्रमुख है। अतः लोककल्याण की भावना को उत्तम पक्ष कहना युक्तियुक्त है।

इसके अतिरिक्त और अनेकानेक पक्षो मे से एक अन्य पक्ष भी सम्भव है और वह है आचार्य कुन्दकुन्द का मनोवैज्ञानिक पक्ष। वे जीव की मनोदशाओं का विश्लेषण करने मे सिद्धहस्त है। अद्वितीय है। यह बात उनके द्वारा किये गये जीवो के भाव विवेचन से स्पष्ट हो जाती है।

जिस भाषा के कारण आचार्य कुन्दकुन्द की विशिष्ट पहचान है। जिस भाषा के लिए डॉ० पिशल ने एक विशेष प्रकार की प्रकार की प्राकृत घोषित करते हुए जैन शौरसेनी प्राकृत नाम दिया उसी प्राकृत को अब हम परिवर्तित कर सामान्य प्राकृतो का रूप दे रहे है और आचार्य कुन्दकुन्द के इस द्विसहस्राब्दि समारोह के अवसर पर जहां उनके भक्त हम लोग उनके नाम और काम को प्रकाश मे लाने का प्रयास कर रहे है, **कुछ लोग उनकी विशिष्ट प्राकृत का परिवर्तन करके उनकी पहचान खोने में लगे है। यह खेद का विषय है।**

सम्प्रति विद्वानो द्वारा मान्य छः प्राकृत भाषाएँ हैं, जिनकी उत्पत्ति काल-भेद अथवा स्थान-भेद के कारण हुई है। अतः तत् तत् प्राकृत भाषाओ मे तत्कालीन अथवा तत्स्थानीय संस्कृति का समावेश है। ऐसी स्थिति मे उन-उन प्राकृतो का किसी एक प्राकृत अथवा काल-विशेष की प्राकृत मे समावेश करना अथवा जैन शोरसेनी प्राकृत का अन्य प्राकृत अथवा प्राकृतों में परिवर्तन करना तत्कालीन अथवा तद्देशीय संस्कृति का लोप करना है। अतः **उपर्युक्त प्रकार के परिवर्तन जनहित में नहीं है। साथ ही इस परिवर्तन से हमारी सांस्कृतिक परम्परा का भी ह्रास होगा, विशेषकर दिगम्बर संस्कृति का, इसमें सन्देह नहीं।**

आचार्य कुन्दकुन्द जिस समय पैदा हुए उस समय संस्कृत भाषा विद्वज्जन मान्य थी। अतः अपने को विद्वानो की श्रेणी मे लाने के लिए संस्कृत-भाषा में ग्रन्थ-रचना करना गौरव की बात थी। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने वर्गविशेष की भाषा की उपेक्षा की और तत्कालीन जन-भाषा, जो प्राकृत थी, उसमें अपने साहित्य का सृजन किया। यह उनकी भाषा विषयक क्रान्ति थी। इस क्रान्ति के मूल मे आचार्य कुन्दकुन्द की लोकमगल भावना ही प्रधान थी। वे जन-जन के आचार्य थे। उनके विचार सामान्यजनो की भाषा मे सामान्यजनों के लिए थी। उनके साहित्य के माध्यम से सामान्य पढा-लिखा व्यक्ति भी आत्म-तत्त्व का बोधकर स्व-पर कल्याण के लिए प्रयत्न कर सकता था।

उपर्युक्त कथन के माध्यम से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्य अध्यात्म से ओतप्रोत तो है ही, साथ ही लोकमंगल की भावना से भी अनुस्यूत है।

आचार्य कुन्दकुन्द को द्रव्यानुयोग का विशेषज्ञ माना जाता है, किन्तु वस्तुतः वे चारों अनुयोगों के विशिष्ट ज्ञाता थे। द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत लिखे गये साहित्य का अन्तरङ्ग परीक्षण-अनुशीलन करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी था। वे आचार की चर्चा करते हुए अन्त मे निश्चयनय के माध्यम से आत्मतत्त्व पर पहुच जाते हैं। वे अपने लक्ष्य के प्रति इतने सजग है, रचे-पचे है कि जाने और अनजाने में भी वे लक्ष्य से चूकते नहीं हैं। लक्ष्यभ्रष्ट नही होते हैं। ये सभी आचार्य कुन्दकुन्द के अन्तर्मुखी व्यक्तित्व के सबल प्रमाण है।

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को स्थूल रूप से दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है—आध्यात्मिक

साहित्य और तत्त्वज्ञान विषयक साहित्य। समयसार आ० कुन्दकुन्द की विशुद्ध आध्यात्मिक रचना है। इस ग्रंथ का प्रणयन भारतवर्ष के उस अतीत काल में हुआ है, जब आध्यात्मिक विद्या पर सर्व साधारण जनों का अधिकार नही था, अपितु वह विद्या कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों मे सिमटकर रह गई थी तथा जिसे वे ब्रह्मविद्या के नाम से अभिहित करते थे। उनकी दृष्टि मे यह गूढ़विद्या थी। अत. वे इसके रहस्यो को कुछ तथाकथित ब्रह्मज्ञानियों तक ही सीमित रखना चाहते थे। उस ब्रह्मविद्या को साधारण जनों से सुरक्षित रखने के लिए संस्कृत भाषा का कवच के रूप मे प्रयोग किया जाता था, जो सर्वजनगम्य नही थी।

वस्तुतः जीव मात्र को आत्म-विकास का जन्मसिद्ध-नैसर्गिक अधिकार है। और न्याय प्राप्त इस अधिकार का सार्थक प्रयोग तभी सम्भव है, जब हमे अपने पूर्वजो द्वारा किये गये सामाजिक, नैतिक, आर्थिक और विशेषकर आध्यात्मिक प्रयोगो का लाभ समाज के द्वारा विरासत में प्राप्त हुआ हो, अन्यथा यदि हमे अपने पूर्वजों द्वारा विरासत मे ज्ञान प्राप्त नही होता है तो हम विकास के प्रथम सोपान से आगे नही बढ़ सकते हैं।

वह एक ऐसा समय था जब इन आध्यात्मिक गूढ़ रहस्यों को सार्वजनिक रूप से प्रकट करने पर न केवल उन ब्रह्मवादियों द्वारा प्रताड़ित किया जाता था, अपितु राजदण्ड भी प्राप्त होता था, जो कभी-कभी मृत्युदण्ड के रूप मे भी परिवर्तित हो जाता था। ऐसी नाजुक परिस्थितियों मे जनता की भाषा प्राकृत भाषा में जनता के चहेते आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा जनता के लिए आध्यात्मिक विद्या का उपदेश सचमुच एक क्रान्तिकारी कदम था, जो आचार्य कुन्दकुन्द के अदम्य शौर्य, साहस, निर्भयता और आत्मशक्ति को प्रकट करता है। उनका व्यक्तित्व हिमालय के शिखरों की तरह उत्तुंग, सागर की गहराइयों की तरह गम्भीर और आकाश की तरह विराट् था। वे असाधारण वैदुष्य के धनी थे। वे मुनियों में मुनिपुङ्गव और आचार्यो के आचार्य थे। इसीलिए उनके प्रति बहुमान व्यक्त करने के लिए हम उन्हे आज भी भगवान् कुन्दकुन्द के नाम से सम्बोधित करते हैं।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द को यह समग्र ज्ञान-राशि भगवान् महावीर की आचार्य परम्परा से प्राप्त थी, किन्तु जिन सरल शब्दों मे गाथाओं के माध्यम से उन्होने प्रस्तुत किया है, वह स्तुत्य है।

एक आदर्श आचार्य के रूप मे प्रतिष्ठित होने के बावजूद आचार्य कुन्दकुन्द एक स्थान पर कहते है कि यदि उनके कथन मे कही पूर्वापर विरोध हो तो समयज्ञ-आत्मज्ञ ठीक कर लें।[३] यह कथन उनके निरभिमानी होने का सूचक है। किन्तु इस बात से भी वे प्राणियो को सावधान करने से नहीं चूकते है कि ईर्ष्यावश कुछ लोग सुन्दर कार्य की निन्दा करते हैं। अत: उनके वचनो को सुनकर जिनमार्ग मे अभक्ति न करें, जिनमार्ग की अवहेलना न करें।[३]

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा निबद्ध गाथाएँ जहाँ समवाय रूप से ग्रन्थविशेष का प्रतिनिधित्व करती है, वही एक-एक गाथा मुक्तको का रूप भी धारण करती है। उस गाथा को आप कही भी किसी भी रूप मे प्रस्तुत करे, वह अपने मे समाहित समग्र अर्थ को एक साथ कह देगी। उसके लिए किसी पूर्वापर प्रसग की आवश्यकता नही है।

प्रवचनसार की एक गाथा देखिए—

आगम चक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहि चक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥[४]

अर्थात् साधु के लिए आगम नेत्र है, समस्त ससारी जीवों के लिए इन्द्रियाँ ही नेत्र है, देवताओं के लिए अवधि-ज्ञान नेत्र है और सिद्ध भगवान् सब ओर से नेत्र वाले है।

इसी प्रकार प्रवचनसार की एक अन्य गाथा देखिए -

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥[५]

अर्थात् जो कर्म अज्ञानी व्यक्ति के सौ हजार करोड़ पर्यायों में विनष्ट होते हैं, वे ही कर्म ज्ञानी व्यक्ति के मन, वचन, काय की क्रिया के विरोध रूप त्रिगुप्ति से सयुक्त होने पर उच्छ्वास मात्र मे विनष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार की सैकड़ो गाथाएँ उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत की जा सकती हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के ये चिन्तन सूत्र निश्चय ही हिन्दू शास्त्रों में उल्लिखित 'ऋषय: क्रान्तदर्शिन:' की लोकोक्ति को सार्थक करते हैं और एक श्रेष्ठ ऋषि की अनुभूतियो को उजागर करते हैं।

पूर्व परम्परा से चाहे कितनी ही विपुल ज्ञानराशि हमें क्यो न प्राप्त हो, किन्तु जब तक उसमें स्व की-निज की अनुभूति-निजानुभूति का अनुपान नही होगा, तब तक उसको साधिकार कहना मुश्किल है। चूंकि कुन्दकुन्द के साहित्य मे स्वानुभूति का योग है, अतएव सर्वोत्कृष्ट है। यदि कुन्दकुन्द के साहित्य में निजानुभूति का योग न होता तो उनके साहित्य के स्वाध्याय, चिन्तन और मनन से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती थी, मोक्ष-मार्ग की युक्ति की नही और मुक्ति की तो कदापि नही।

अर्थात् कुन्दकुन्द और उनके साहित्य के सन्दर्भ में उपर्युक्त पक्षों को प्रस्तुत करते हुए अन्त मे इतना विशेष कहना चाहूंगा कि आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में दृश्य भले ही अनेक हों, किन्तु दर्शनीय एक है और वह है निजात्मा।

॥ जय कुन्दकुन्दाचार्य ॥

—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन्दर्भ-सूची

१. द्रष्टव्य, नियमसार, गाथा ४२ की टीका।
२. नियमसार, गाथा १८५।
३. नियमसार, गाथा १८६।
४. प्रवचनसार, ३/३४।
५. प्रवचनसार, ३/३८।

अमृत-कण

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है और यह जीव शरीर को ही आत्मा मान रहा है कि मैं ही यह हूँ। इसी भूल के कारण अनन्तानन्त काल से संसार में भ्रमण कर रहा है। आत्मा तो अजर, अमर, अखण्ड व अविनाशी है—रूप, रस, गध कुछ नही है—अरूपी है। एक क्षेत्रावगाही होते हुए भी अलग-२ है। परम निरंजन, ज्ञाता-दृष्टा एक रूप है और स्वतंत्रद्रव्य है। हर एक आत्मा की सत्ता निराली है, भेदविज्ञान द्वारा सर्वरागादि से अपने को जुदा विचारने से स्वानुभव प्रकट होता है।

आत्म-ज्ञान चिन्तामणि रतन के समान है, सब आकुलताओं का अंत करने वाली है। आत्मा गुणों का समूह है। शुभ और अशुभ कर्मों के उदय के आने पर सावधान रहना चाहिए। शुभ के आने पर हर्ष और अशुभ के आने पर विषाद नही करना चाहिए। हर्ष और विषाद करने से नये कर्मो का बंध होता है। अपने परिणामों की हर वक्त संभाल रखनी चाहिए, ताकि नये कर्म न बंधें—स्वानुभूति के समय पांचों इन्द्रियों का उपयोग नहीं होता, मन भी शान्त होता है। मन भी ज्ञान, ज्ञाता व ज्ञेय के विकल्प से रहित होकर स्वयं ज्ञानमय हो जाता है। आत्मा ज्ञाता, दृष्टा और ज्ञान-गुण का भण्डार है, स्वानुभूति के लिए तीनों समय दो-दो घरी ध्यान लगाना जरूरी है। ध्यान की सिद्धी से आत्मस्वरूप में लीनता होती है और आत्म-लीनता से मुक्ति होती है।

—शीलचन्द जैन जौहरी
११, दरियागंज, नई दिल्ली-२

आचार्य कुन्दकुन्द का अप्रकाशित साहित्य

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

आचार्य कुन्दकुन्द का सबसे विलक्षण उपहार उनका साहित्य है। जो विगत दो हजार वर्षों से सर्वाधिक चर्चित साहित्य रहा है। उनके समयसार प्रवचनसार जैसे ग्रंथों के नाम उनके बाद होने वाले सभी आचार्यों, साधुओं, भट्टारकों, पंडितों, कवियों, टीकाकारो एवं स्वाध्याय प्रेमियो को याद रहे हैं और यही कारण है उनका स्वाध्याय, पठन-पाठन, लेखन-लिखावन, टीकाकरण, भाषाकरण सभी कार्य अबाध गति से होते रहे और आज उनका ढेर सारा साहित्य पाण्डुलिपियो एवं छपे हुए ग्रंथो के रूप मे उपलब्ध हो रहा है। उनके ग्रथों में भी समयसार सबसे उत्तम ग्रंथ माना जाता है। इसलिए समयसार का स्वाध्याय प्रवचन एवं मनन चिन्तन प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक माना गया है यही कारण है कि स्वाध्याय प्रेमी अपने आपको समयसारी कहलाने में गौरव अनुभव करने लगे। आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन जैसे धाकड़ (प्रभावशाली) आचार्यों ने उन पर टीकाएँ लिखकर उनको लोकप्रिय बनाने मे सर्वाधिक योग दिया। इन टीकाओ के कारण समयसार एवं प्रवचनसार पचास्तिकाय जैसे ग्रथो का और भी प्रचार प्रसार हो गया और इन टीकाओ के आधार पर उनका धड़ल्ले से स्वाध्याय होने लगा। यही नही प्रवचन कर्ताओ ने अपने आत्मा-परमात्मा, निश्चय व्यवहार, उपादान निमित्त, भेद विज्ञान जैसे विषयो को अपने प्रवचनों को मुख्य आधार बनाया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने यद्यपि ८४ पाहुड ग्रथों की रचना की थी लेकिन उनमें से अब तक २३ पाहुड ग्रथ मिल सके हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं :—

१. समयसार, २. प्रवचनसार, ३. पंचास्तिकाय, ४. नियमसार, ५. बारस-अणुवेक्खा, ६. दंसण पाहुड, ७. चारित्त पाहुड, ८. सुत्त पाहुड, ९. बोध पाहुड, १०. भाव पाहुड, ११. मोक्ख पाहुड, १२. लिंग पाहुड, १३. शील पाहुड, १४. रयणसार, १५. सिद्ध भक्ति, १६. श्रुत भक्ति, १७. चारित्त भक्ति, १८. योगि भक्ति, १९. आचार्य भक्ति, २०. निर्वाण भक्ति, २१. परमेष्ठि भक्ति २२. थोस्सामि थुदि तथा २३. मूलाचार।

उक्त २३ ग्रंथों के अतिरिक्त तिरूकुरल को भी कुछ विद्वान आचार्य कुन्दकुन्द की रचना मानते है।

इन ग्रंथों पर सस्कृत टीकाओ के अतिरिक्त विभिन्न विद्वानों ने हिन्दी भाषा में भी विषद टीकाएँ लिखी हैं। संस्कृत टीकाओ में अमृतचन्द्र एवं जयसेन की टीकायें प्रकाशित हुई हैं और हिन्दी टीकाओ मे केवल पं० राजमल्ल एव पं० जयचन्द छाबडा की प्रकाशित टीकायें ही हमारे देखने मे आई है। प० बनारसीदास का समयसार नाटक यद्यपि गाथाओं का हिन्दी रूपान्तर नही है लेकिन उसका भी आधार समयसार ही है। समयसार नाटक भी कई संस्करणो में प्रकाशित हो चुका है लेकिन उक्त प्रकाशित टीकाओ के अतिरिक्त अभी कुछ सस्कृत एव हिन्दी टीकायें और है जिनका प्रकाशन अभी तक नही हुआ है और टीकाकारों के हार्द को जानने के लिए उनका प्रकाशन आवश्यक है। अभी समयसार का एक सुन्दर संस्करण आचार्य जयसेन की संस्कृत टीका एव आचार्य ज्ञानसागर जी की हिन्दी टीका तथा आचार्य विद्यासागर जी महाराज के हिन्दी पद्यानुवाद सहित प्रकाशित हुआ है।

समयसार की सस्कृत टीकाओ मे भट्टारक शुभचन्द्र की अध्यात्म तरंगिणी, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की समयसार टीका एव नित्य विजय की कलश टीका का अभी तक प्रकाशन नही हुआ है। यद्यपि ये टीकाये अमृतचन्द्र एव जयसेन की टीकाओ के स्तर की नही हैं लेकिन प्रत्येक टीका की अपनी-अपनी विशेषता होती है और उन

विशेषताओं को जानने के लिए उनका प्रकाशन आवश्यक है।

समयसार की हिन्दी टीकाओ मे कविवर दौलतराम कासलीवाल एव प० सदासुख दास जी कासलीवाल की टीकायें अभी तक अप्रकाशित हैं। दोनों ही विद्वान अपने-अपने युग के बहुत बड़े विद्वान थे। इसलिए उनकी टीकाओं का प्रकाशन इस दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा।

प्रवचनसार पर सस्कृत मे अमृतचन्द्र, जयसेन, प्रभाचन्द्र एव मल्लिषेण ने टीकाये लिखी है। करीब ५० वर्ष पूर्व डा० उपाध्ये ने प्रवचनसार का आचार्य अमृतचन्द्र, जयसेन एव प० हेमराज की हिन्दी सहित अपनी खोजपूर्ण प्रस्तावना के साथ प्रकाशित कराया था। इसके पश्चात अजमेर से आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने मूलगाथाओ को हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया था। प्रवचनसार पर प्रभाचन्द्र की सस्कृत टीका अभी तक अप्रकाशित है। मल्लिषेण की सस्कृत टीका का डा० उपाध्ये ने उल्लेख किया है लेकिन राजस्थान के शास्त्र भण्डारों मे अभी तक इस टीका की उपलब्धि नही हो सकी है। इसलिए मल्लिषेण टीका की खोज की विशेष आवश्यकता है।

प्रवचनसार की हिन्दी टीकाओ मे केवल हेमराज की हिन्दी गद्य टीका का ही प्रकाशन हुआ है, इसकी हिन्दी पद्य टीका अभी तक अपने प्रकाशन को बाट जोह रही है। इसके अतिरिक्त जोधराज गोदिका, प० देवीदास एव पं० वृन्दावन दास ने भी हिन्दी पद्य टीकाएँ लिखी थी। ये सभी टीकाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है जो प्रवचनसार के रहस्य को पाठको के सामने रखती है, इसलिए इन सभी टीकाओ का प्रकाशन आवश्यक है।

पचास्तिकाय आचार्य कुन्दकुन्द के उन ग्रंथो मे से है जिसको नाटक त्रय मे स्थान प्राप्त है। पचास्तिकाय पर भी आचार्य अमृतचन्द्र एव जयसेन की संस्कृत टीकाएँ मिलती है। और दोनो का ही प्रकाशन हो चुका है लेकिन अभी तक प्रभाचन्द्र की टीका का प्रकाशन नही हुआ है।

इनके अतिरिक्त ब्रह्मदेव ने भी समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय इन तीनों पर अमृतचन्द्र एवं जिनसेन के समान ही संस्कृत टीकाएँ लिखी थीं ऐसा उल्लेख भी मिलता है, लेकिन इन टीकाओ की अभी तक कोई पाण्डुलिपि उपलब्ध नही हो सकी है और जिनके खोज की आवश्यकता है।

पंचास्तिकाय की महत्त्वपूर्ण हिन्दी टीकाओं में प० हेमराज, हीरानन्द और प० बुधजन की हिन्दी पद्य टीकाएँ महत्त्वपूर्ण है लेकिन अभी तक किसी भी टीका का प्रकाशन नही हुआ है। हेमराज एव हीरानन्द की हिन्दी टीकाएँ १७वी शताब्दी की एव प० बुधजन ने १९वी शताब्दी मे पंचास्तिकाय का महत्त्वपूर्ण पद्यानुवाद किया था। ये सभी पद्यानुवाद अप्रकाशित है और प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द का अष्ट पाहुड भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। अष्ट पाहुड पर पं० जयचन्द्र की हिन्दी गद्य टीका मिलती है जो प्रकाशित हो चुकी है लेकिन षट् पाहुड की हिन्दी पद्यानुवाद देवीसिंह छाबड़ा ने संवत् १८०१ में पूर्ण किया था जो अभी तक अप्रकाशित है। १८वी शताब्दी में भूधर कवि ने संस्कृत मे भी षट् पाहुड पर टीका लिखी थी वह भी अप्रकाशित है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द के मूल ग्रंथ तो कितने ही स्थानो से प्रकाशित हो चुके है लेकिन उनकी सस्कृत एवं हिन्दी टीकाये अभी तक अप्रकाशित हैं, जिनका प्रकाशन द्विसहस्राब्दी वर्ष की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जायेगी।

श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर की ओर से प्रवचनसार, पंचास्तिकाय एवं षट्पाहुड की अप्रकाशित हिन्दी पद्य टीकाओं के प्रकाशन की योजना विचाराधीन है। यदि समाज का सहयोग मिला तो अकादमी द्विसहस्राब्दी वर्ष मे ही इन सबके प्रकाशन हो सकेंगे।

८६७ अमृत कलश,
किसान मार्ग टोंक रोड,
जयपुर-१५

बूँद बूँद रीते जैसे आँजुलि को जल है

☐ ला० शान्तिलाल जैन कागजी

आज जो ज्ञान उपलब्ध है उसके हिसाब से संसार मे पाँच सौ करोड़ मनुष्य हैं। इन मनुष्यों मे ५० प्रतिशत तो ऐसे हैं जिनको खाने-पीने और भोग-विलास के सिवाय कुछ पता ही नहीं है और ना ही उन्हें कोई मार्गदर्शन देने वाला है। ४० प्रतिशत मनुष्य ऐसे हैं जो अपनी चली आ रही परिपाटी से बंधे है। १० प्रतिशत अर्थात् ५० करोड़ बाकी रहे उनमें भी अनेक मत-मतान्तर है। अब हम अगर इन ५० करोड़ में बंटवारा करें तो जो अपने को जैन कहते हैं उन चार प्रतिशत अर्थात् दो करोड पर बात सिमट कर रह गई। पर इन दो करोड़ जैनो में भी अनेक जगह बँटे है। इनमें डेढ करोड तो ऐसे है, जिनको जैन धर्म के प्रति कुछ पता ही नही—कुटुम्ब में जैन कहने की परिपाटी चली आ रही है, सो अपने को जैन कहते हैं। शेष बचे पचास लाख, सो उनमें भी स्थानकपंथी, मन्दिरपंथी श्वेताम्बर-दिगम्बर, तेरापंथी आदि अनेक मान्यताओं के मानने वाले मिलेगे। अब बात कुछ हजार पर आ गई। उनको भी कहाँ समय है कि वस्तु का विचार करें? कोई पूजा ही पूजा में लगा है, कोई दर्शन मात्र से ही तृप्त है, कोई गुरु-भक्ति मे लगा है, कोई मन्दिर आदि बनवाने मे ही सुख मानता है, कोई समाज सेवा में संलग्न है, कोई घर मे ही फँसा है, स्त्री में, पुत्र में, कुटुम्बी जनों में या व्यापार आदि में लगा है या पैसा इकट्ठा करता है, कुछ दान भी करता है, कुछ धर्म का प्रचार भी करता है, कुछ ज्ञान का प्रचार भी करता है और यह प्रक्रिया रोज चल रही है—जैसे प्रातः उठता है, नहाता-धोता है, मन्दिर आदि जाता है और अपनी आजीविका की तलाश में निकल जाता है। उसी प्रकार जो कुछ धार्मिक कार्य हो रहा है वह सब रोज रौटीन जैसा हो रहा है, उसमें अपनी वस्तु जो आत्मा है उसका ध्यान किसे, कब और कहाँ है? अर्थात् नहीं है। समय तो बीत रहा है। मैं जैन-कुल में मनुष्यगति, नीरोग-शरीरी हूं—जिनवाणी का समागम भी है, कहीं गुरु भी मिल जाते हैं और जीविका भी ठीक है। यह सब अनुकूल मिला है। परन्तु हम क्या इससे लाभ ले रहे है—आत्महित कर रहे है? अगर हम विचार करे कि हमें यह सब अनुकूल समागम बड़े ही पुण्य से मिला है जो अति दुर्लभ है और हम इस समागम को ससार बढ़ाने मे ही लगा रहे है। तो फिर सोचिए, वह कौन-सा समय आयेगा जब हम अपना हित कर पाएँगे? यह सच है कि समय काफी बीत गया है किन्तु अब भी काफी समय बाकी है अगर हम अब भी अपनी आत्मा की ओर उन्मुख हो जावे तो बात बन सकती है। पहिले बताया गया है कि हमारी गिनती कुछ हजारो मे तो आ गई है अब आखिरी पेपर बचा है उसकी तैयारी करनी है। अगर हम आज से ही उसकी तैयारी में लग जाएँ तो मेरा विश्वास है कि एक दिन आएगा कि हम परीक्षा में जरूर उत्तीर्ण हो जाएँगे।, बस जरूरत है लगन की। और वह लगन कही बाहर से नही आएगी, हमारे ही अन्दर से मिलेगी।

बाहरी वस्तु तो पर है वह हमको प्रेरणा तो दे सकती है किन्तु परिणमन तो हमारा ही होगा अर्थात् हम ही कारण हैं और हम ही कार्य हैं। इस तरह कारण और कार्य मे न तो समय का भेद है और न ही स्थान भेद है। आत्म के कल्याण मे पर की कुछ आवश्यकता ही नही है जो कुछ भी लेना है अन्दर ही मिलेगा।

फिर हम इधर-उधर क्यो भटके? सजातीय या विजातीय द्रव्य हमारा कुछ हित या अहित नही कर सकता—वह तो पर है। और पर तो पर ही है उस पर दृष्टि क्यों? दृष्टि तो अपने मे ही लगानी पड़ेगी। आत्मा के उत्थान में आत्मा के ही निर्मल परिणाम कारण पड़ेंगे—पर के नही। आत्मा के परिणाम आत्मा से भिन्न नहीं

हैं। समय-समय के परिणाम हैं—द्रव्य से परिणाम कभी भिन्न नही होते। ऐसा मालूम होता है कि भिन्न है पर भिन्न है नहीं। सुवर्ण द्रव्य है, कड़ा उसका परिणाम है। कड़ा होने से अलग तो नही है, उसी का परिणाम है। यदि हम उस कड़े को कुण्डल में बदल दे तब भी सोना ही रहेगा। इस प्रकार केवल दृष्टि गहरी करनी पड़ेगी—समक्ष में आ जायेगा। इसी भांति आत्मा गुण और पर्याय का पुंज है—गुण और पर्याय पृथक्-पृथक् नही है। उसको समझने के लिए आचार्यों ने रास्ता बना दिया है। ऊपर कहा गया है कि कारण और कार्य मे न तो समय भेद है और ना ही स्थान भेद है वह बात सही उतरती है। जिस समय कड़ा टूटा उसी समय कुण्डल की उत्पत्ति हुई—एक ही समय है और एक ही स्थान है। बात बड़ी अटपटी लगती है, किन्तु विचार करने पर ठीक बैठ जाती है। इसी तरह आत्मा पर घटा लें।

लब्धि क्या है? आत्मा के परिणामों मे चार लब्धियो के बाद जब करणलब्धि होती है तब वह सम्यक्त्व मे कारण पड़ती है। वह कारण और क्या है? वह भी इसी जीव का परिणाम है। जिसको सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है उसके परिणामों में जो उत्तरोत्तर निर्मलता है वही परिणाम कारण पड़ेंगे। इस प्रकार हमें उस पदार्थ को प्राप्त करने मे अभी से लग जाना चाहिए। क्या पता फिर अवसर मिले न मिले।

यह सम्पदा और ये भोग तो अनेक बार मिले हैं किन्तु क्या ये मेरे कुछ काम आये? सिवाय संसार बढ़ाने के। और हम हैं कि इन्हीं के जुटाने में अपना अनमोल जीवन गँवा रहे हैं। जो भी दिन बीत रहा है वह आयु में घट रहा है और हम कहते हैं कि हमारी आयु बढ़ गई। कैसी विडम्बना है कि हम वस्तु-स्थिति को मानने के लिए तैयार नही है। बन में आग लगी है और उसमें अनेक जीव जल रहे है और हम है कि उनके जलने का तमाशा देख रहे है। हम नही सोचते कि यह आग हमारी ओर बढ रही है। हमें अभी भी समय है कि इस भयानक वन से निकल सकते है। हमारे पास साधन भी है। बस, थोड़ा-सा उद्यम करना पड़ेगा। अन्यथा, फिर वही चतुर्गति का चक्कर न जाने कब तक चलता रहेगा। और पुनः मनुष्यगति, उत्तम कुल, जैन धर्म की शरण निरोग शरीर कब मिल सकेगा? मिल सकेगा या नही भी? इसका क्या भरोसा? ये स्त्री-पुत्र-सम्पदा, वैभव और ये समाज तो अनेक बार मिले है। पर, क्या इनसे मेरा कभी हित हुआ है? नही हुआ। यदि हुआ है तो इनसे अहित ही हुआ है।

२/४, असारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली-२

(पृ० १८ का शेषांश)

२. जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, डॉ० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत डी. लिट्. का शोधप्रबन्ध, सन् १९७४, पृ० ३२६।
३. नाट्यशास्त्र, आचार्य भरत, षष्ठ अध्याय, सम्पादक डॉ० रघुवंश, पृ० २०४।
४. जैन हिन्दी पूजा काव्य : परम्परा और आलोचना, डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', पृ० १६०।
५. काव्यदर्पण, पं० रामदहिन मिश्र, पृ० २०८।
६. काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग, रसमंजरी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृ० २३४।
७. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, डॉ. सत्यव्रत शास्त्री की टीका सहित, तृतीय परिच्छेद, पृ० २६५।
८. जैन हिन्दी पूजा काव्य : परम्परा और आलोचना, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', पृ० १६१।
९. रस सिद्धान्त, डॉ० नगेन्द्र, पृ० २४०।
१०. काव्यदर्पण, पं० रामदहिन मिश्र, पृ० २१०।

महाकवि बनारसीदास की रस-विषयक अवधारणा

□ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

महाकवि बनारसीदास १७वी सदी के एक आध्यात्मिक संत थे और थे वह काव्याकाश के जाज्वल्यमान नक्षत्र ।[1] वह हिन्दी के सगुणभक्ति के प्रवर्त्तक महाकवि तुलसीदास के समकालीन थे और थे उनके घनिष्ठ मित्र । सृजनशील व्यक्तित्व के धनी कविश्री ने अपनी—मोह-विवेक युद्ध, बनारसी नाममाला, बनारसी विलास, नाटक समयसार, अर्द्धकथानक-रचनाओं से साहित्य को समृद्ध किया है । वह हिन्दी आत्मकथा साहित्य के आद्य प्रवर्तक है । जैन अध्यात्म के पुरस्कर्त्ता कविश्री बनारसीदास के काव्य मे अध्यात्ममूला भक्ति का उत्कर्ष है । इनकी प्रत्येक रचना मे अध्यात्म रस टपकता है । प्रस्तुत आलेख मे रससिद्ध कवि श्री बनारसीदास की रस विषयक अवधारणा पर विवेचन करना हमारा मूलाभिप्रेत है ।

रस काव्य की आत्मा है । काव्यपाठ, श्रवण अथवा अभिनय देखने पर विभावादि से होने वाली आनद परक चित्तवृत्ति ही रस है ।[2] मानव हृदय मे अनेक भाव स्थाई रूप से विद्यमान रहते है । ये स्थाई भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के सहयोग से रसदशा को प्राप्त होते है ।[3] जैन आचार्यों की रस विषयक मान्यता रही है—अनुभव । अनुभव ही रस का आधार है । यह अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों पर निर्भर करता है । आत्मानुभूति होने पर ही रसमयता की स्थिति उत्पन्न हुआ करती है ।[4]

भरतमुनि ने साहित्य मे आठ रसों को स्वीकृत कर शांत रस को उपेक्षित कर दिया था किन्तु कालान्तर में शांतरस को नवम रस के पद पर प्रतिष्ठित किया गया और मम्मट आदि अनेक आचार्यों के द्वारा निर्वेद को स्थाई भाव स्वीकार किया गया ।[5] आचार्य मम्मट ने निर्वेद के दो रूप माने हैं । तत्वज्ञान से जो निर्वेद होता है वह स्थाई भाव है और इष्ट के नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति से जो निर्वेद होता है वह सचारीभाव है ।[6] आचार्य विश्वनाथ ने शान्त रस को स्पष्ट करते हुए 'साहित्य दर्पण' में कहा है कि जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिन्ता हो, न राग-द्वेष हो, और न कोई इच्छा ही हो, उसे शान्त रस कहते हैं[7]—यथा—

> न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न
> द्वेष रागौ न च काचिदिच्छा: ।
> रस: स शान्त: कथितो मुनीन्द्रै:
> सर्वेषु भावेषु शम प्रधान: ।।

प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में तो शान्त रस की स्थिति मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् ही हो सकती है किन्तु इसका समाधान यह है कि यहाँ सुख के अभाव से तात्पर्य सांसारिक सुख से है अन्य सुख अर्थात् आत्मिक सुख से नहीं ।

संसार से वैराग्यभाव का उत्कर्ष होने पर शान्त रस की प्रतीति होती है । निर्वेद अथवा वैराग्य ही शांत रस का स्थाई भाव है, ससार की असारता का बोध तथा परमात्म तत्त्व का ज्ञान इसका आलम्बन विभाव है, सज्जनों का सत्सग, तीर्थाटन, धर्मशास्त्रो का चिन्तन आदि उद्दीपन विभाव है, रोमाच, पुलक, अश्रु विसर्जन, ससार त्याग के विचार आदि अनुभाव हैं तथा धृति, मति, हर्ष, उद्वेग, ग्लानि, दैन्य, स्मृति, जडता आदि इसके सचारीभाव हैं ।

जैन आचार्यों को रसो की परिसख्या में किसी प्रकार का विवाद नही रहा । उन्होने परम्परागत नवरसो की स्वीकृति दी है ।[8] महाकवि बनारसीदास ने अपनी अध्यात्म रचना 'नाटक समयसार' के माध्यम से नवरसो के सन्दर्भ में मौलिक आध्यात्मिक उदात्त दृष्टि दी है । उन्होने शात रस को रस नायक स्वीकार किया है—यथा—

> नवमों सान्त रसनि कौ नायक ।
> (सर्वविशुद्धिद्वार, नाटक समयसार, पृ. ३०७)

नवरसों के लौकिक स्थानों की चर्चा को अत्यन्त संक्षेप एव स्पष्टता के साथ कविश्री ने एक ही छद मे निबद्ध कर दिया है—यथा—

सोभा में सिंगार बसे बीर पुरषारथ में,
कोमल हिए में रस करुना बखानिए।
आनंद में हास्य रुण्ड मुण्ड में विराजै रुद्र,
बीभत्स तहाँ जहाँ गिलानि मन आनिए॥
चिन्ता में भयानक अथाहता में अद्भुत,
माया की अरुचि तामे सान्त रस मानिए।
एई नवरस भवरूप एई भावरूप,
इनको विलेछिन सुदृष्टि जागें जानिए॥

(सर्वविशुद्धि द्वार, नाटक समयसार, पृ. ३०७-८)

कविश्री का रस और उनके स्थाई भावो मे परम्परानुमोदित व्यवस्था मे यत्किंचित परिवर्तन करने का मूलाधार आध्यात्मिक विचारधारा ही रही है। उनकी मान्यता है कि अध्यात्म जगत में भी साहित्यिक रसों का आनंद लिया जा सकता है, केवल रसास्वादन की दिशा बदलनी होगी। कविश्री बनारसीदास ने आत्मा के विभिन्न गुणो की निर्मलता और विकास में ही नवरसो की परिपक्वता का अनुभव किया है—यथा—

गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख।
करुना सम रस रीति, हास हिरदै उछाह सुख॥
अष्ट करम दल मलन रुद्र, बरतै तिहि थानक।
तन विलेछ बीभच्छ दुन्द मुख दसा भयानक॥
अद्भुत अनंत बल चिन्तवन, सांत सहज वैरागधुव।
नवरस विलास परगास तब, जब सुबोध घट प्रगट हुव॥

महाकवि बनारसीदास कुन्दकुन्दाम्नाय के रस सिद्ध कवि थे। वह आत्मानुभव को ही मोक्ष स्वरूप मानकर कहते है कि—

वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याको नाम॥

(समयसार नाटक, उत्थानिका, छदांक १७)

'समयसार नाटक' मे कविश्री का कहना है कि मेरी रचना अनुभव रस का भण्डार है—

समयसार नाटक अकथ, अनुभव-रस-भण्डार।
याको रस जो जानहीं, सो पावैं भव-पार॥

(समयसार नाटक, ईडर के भण्डार की प्रति का अन्तिम अश छदांक १)

ससार की असारता और परिवर्तनशीलता को देखकर मन का विरक्त होना तथा आत्मिक आनंद में लीन होना ही परम शान्ति है। अष्ट कर्मों को क्षय कर निर्विकार अवस्था को प्राप्त कर परम आनद की उपलब्धि ही प्रमुख लक्ष्य है।[1] महाकवि बनारसीदास के काव्य का मूल स्वर मन को सासारिकता से विमुख करके आत्मसुख की ओर उन्मुख करना ही रहा है। शान्त रस वस्तुतः निवृत्तिमूलक है और अन्य रस लौकिक होने के कारण प्रवृत्तिमूलक है।[1]

इस प्रकार कविश्री बनारसीदास की रस विषयक अवधारणा महनीय है। उनके विचार से शान्तरस सब रसो का नायक है और शेष सब रस शान्तरस मे ही समाहित हो जाते है। आत्मानुभूति होने पर ही रसमयता की स्थिति उत्पन्न हुआ करती है। इन रसो के अन्तरंग मे जिन भावनाओ की व्यापकता पर बल दिया है वह स्व-पर कल्याण मे सर्वथा सहायक प्रमाणित होती है। आत्मा के ज्ञान गुण से विभूषित करने का विचार शृगार, कर्म निर्जरा का उद्यम वीर, सभी प्राणियो को अपने समान समझने के लिए करुणा, हृदय मे उत्साह एव सुख की अनुभूति के लिए हास्य, अष्टकर्मों को नष्ट करना रौद्र, शरीर की अशुचिता का चिन्तवन वीभत्स, जन्म-मरण के दुःख का चिन्तवन भयानक, आत्मा की अनन्त शक्ति को प्राप्त कर विस्मय करना अद्भुत तथा दृढ़ वैराग्यधारण कर आत्मानुभव मे लीन होना शान्तरस कहलाता है। ससार की क्षणभगुरता, शरीर की निकृष्टता जीव की अज्ञानता आदि की अनेक हृदयग्राही उक्तियो से कविश्री बनारसीदास की रचनायें अनुप्राणित है।

मंगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१ (उ० प्र०)

सन्दर्भ-सूची

१. बनारसीदास का प्रदेय और मूल्यांकन, डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति' जैन पथ प्रदर्शक, वर्ष ११, अंक २४, मार्च (द्वितीय) १९८७, पृ० ३२-४०।

(शेष पृ० १६ पर)

परमात्मप्रकाश एवं गीता में आत्मतत्त्व

डॉ० कपूरचन्द जैन, संस्कृत विभागाध्यक्ष

भारतीय चिन्तन मे वैदिक और श्रमण सस्कृतियो का सहभाग रहा है। श्रमण सस्कृति की बौद्ध और जैन ये दो विचारधाराएँ हुईं, वैदिक विचारधारा सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमासा-वेदान्त इन छह धाराओ मे प्रवाहित हुई, इन्हें ही षड्दर्शन कहा जाता है। इन्हें आस्तिक दर्शन भी कहते है। इनके अतिरिक्त एक चिन्तन और था जिसका सम्बन्ध मात्र इस जड-जगत से था। स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म जैसे सिद्धान्तो से उसे कुछ लेना-देना न था उसने तो आत्मतत्त्व के परलोकगामी अस्तित्व को भी नकारा, इसे चार्वाक कहते है। जैन, बौद्ध और चार्वाक चूकि वेदो को प्रामाणिक नही मानते, अत: इन्हे नास्तिक कहा गया है।[1] गीता वैदिक दर्शनो मे समाहित है उसमे सभी आस्तिक दर्शनों के तत्त्व विद्यमान है। गीता महाभारत का ही एक अश है।

महाभारत की मूलकथा का वक्ता संजय है। धृतराष्ट्र ने संजय से प्रश्न किया, सजय ! युद्धेच्छु एकत्रित मेरे और पाण्डु के पुत्रो ने क्या किया।[2] तब सजय ने सभी योद्धाओ की तैयारी का वर्णन किया और कहा, महाराज ! अर्जुन ने जब अपने सामने अपने ही बान्धवो को देखा, तो वह युद्ध से विरक्त होने लगा और कहने लगा कि मैं ऐसा राज्य, ऐसी विजय और ऐसा सुख नहीं चाहता, जो स्वजनवध से प्राप्त हुआ हो।[3] तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध मे प्रेरित करने केलिए समझाया, दूसरे शब्दो में गीता की रचना श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को उसके प्रश्न पर उपदेश है।

हिन्दुओं मे गीता का वही स्थान है, जो मुसलमानो मे कुरान और ईसाइयों मे बाइविल का है। व्यास ने गीता का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—

"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृता।।"

'परमात्मप्रकाश' की रचना भी एक शिष्य द्वारा पूछे जाने पर उपदेश के रूप मे हुई है। परमात्मप्रकाश के रचयिता योगीन्द्रदेव (योगेन्द्र) ने परमात्मप्रकाश के रूप मे अध्यात्म शास्त्र का एक अनमोल रत्न भारतीय साहित्य को दिया है। यथा नाम तथा विवेचन इस काव्य मे ३४५ दोहा है।[4] जिनमे आत्मतत्त्व का सर्वाङ्ग विवेचन हुआ है। जिस शिष्य के प्रश्न पर यह ग्रंथ रचा गया, उसका नाम प्रभाकर भट्ट था, जिसके पुन: पुन: निवेदन करने पर इस ग्रथ की रचना हुई।[5] इसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए योगीन्द्रदेव ने लिखा है कि इसका सदैव अभ्यास करने वालो का मोहकर्म दूर होकर केवलज्ञान पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[6]

जैन और वैदिक दोनो दर्शन आत्मतत्त्व की सत्ता और उसका पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं। आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है फिर चौथे-पाँचवे, फिर नरक-स्वर्ग मे आता जाता है, इस प्रकार अनतकाल से इस ससार सागर मे भटक रहा है। लगभग सभी भारतीय और कुछ पाश्चात्य दर्शनो की प्रकृति इस ससार-भ्रमण को मिटाने मे लगी है। यह बात अलग है कि सभी के रास्ते अलग-अलग हैं, पर गन्तव्य तो सबका एक ही है।

चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी दर्शनो ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारा है। भले ही उसे पुरुष, जीव, प्राज्ञ, तैजस आदि संज्ञायें दी हो। बौद्ध दर्शन के अनुसार विज्ञान ही आत्मा है, बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानते है। साख्य मे आत्मा के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है। पुरुष प्रकृति से भिन्न है, उसकी सख्या अनंत है।[7] साख्य जैन दर्शन की तरह अनेक जीव (पुरुषो) की सत्ता स्वीकार करता है। वेदान्त के अनुसार शरीर इन्द्रिय आदि वस्तुओ का प्रकाशक नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव आन्तरिक (प्रत्यक्)

चैतन्य ही आत्मा है।[८]

'वैशेषिक दर्शन' दर्शन के अनुसार आत्मा पृथ्वी आदि नव द्रव्यो में से एक है।[९] उनके अनुसार जिस द्रव्य मे समवाय (नित्य) सम्बन्ध से ज्ञान रहता है वह आत्मा है। वह जीवात्मा परमात्मा के भेद से दो प्रकार का है।[१०]

आत्मा के अस्तित्व की तरह आत्मा के महत्व का प्रतिपादन भी सभी दर्शनो ने किया है। सम्यग्ज्ञान, सम्यदर्शन और सम्यक्चारित्र मुक्ति के मार्ग कहे गये है।[११] यह दर्शन और ज्ञान आत्मादि सात तत्त्वो का होना चाहिए।[१२] न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण-प्रमेय (आत्मा) आदि के सम्यग्ज्ञान से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।[१३] साख्य के अनुसार प्रकृति पुरुष के सम्यग्ज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है।[१४] वेदान्त के अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानकर आत्मा परब्रह्म में लीन हो जाता है।[१५] उपनिषदो मे आत्मा के महत्त्व का पुनः पुनः प्रतिपादन किया गया है। परमात्मप्रकाश की शैली उपनिषदो से मिलती प्रतीत होती है। स्वय योगीन्द्र देव ने कहा है कि विद्वान् हमारी इस रचना मे पुनरुक्ति दोष न देखे क्योकि प्रभाकर भट्ट को सबोधनो के लिए परमात्म-का कथन बार-बार किया गया है।[१६]

उपनिषदो मे कहा गया है, जो आत्मा को जानता है, वह सबको जानता है—'य. आत्मान जानाति सः सर्वं विजानाति', छान्दोग्य उपनिषद् मे एक प्रसङ्ग आता है जिससे आत्मा का महत्त्व भली भाति स्पष्ट हो जाता है प्रजापति के मुख से एक बार देवो और दैत्यो ने सुना कि जो आत्मा पापरहित, अजर, अमर, शोक रहित, भूख-प्यास से रहित, सत्यकामनाओ तथा सत्यसकल्पो वाला है, वह अन्वेषण और जिज्ञासा के योग्य है। जो साधक उस आत्मा का अन्वेषण या साक्षात्कार करके उसे विशेष रूप से जान लेता है वह सभी लोको और सभी कामनाओ को प्राप्त कर लेता है।[१७] इसमे आत्मतत्त्व का महत्त्व और स्वरूप बताया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सवाद मे कहा गया है—अरे मैत्रेयी! पति के सुख के लिए पत्नी को पति प्रेम नही होता, अपितु अपने सुख के लिए होता है, पुत्र के सुख के लिए पुत्र, माता के सुख के लिए माता; लोगो के सुख के लिए लोग, देवो के सुख के लिए देव प्रिय नही होते किन्तु ये सब आत्मसुख के कारण ही प्रिय होते है। अतः आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन एव निदिध्यासन करना चाहिए।[१८]

परमात्मप्रकाश मे कहा गया है जो आत्मा को जान लेता है, वह परमात्मा हो जाता है -

—'... ... ...

'जामइ जाणइ अप्पें अप्पा तामइं सो जि देउ परमप्पा।'

दोहा ३०५ और भी—

'अप्पा झायहि विम्मलउ, किं बहुए अण्णेण।
जो भायंतह परमपड, लब्भइ एक्कखणेण ॥ दोहा ९८

ऐसा ही भाव गीता मे भी कहा गया है, कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ वह है जो आत्मा से आत्मा मे ही संतुष्ट रहता है—

—' ... ...

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।"

—गीता २/५५

इसी कारण गीता के छठे अध्याय मे तो बड़े ही स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि आत्मा ही आत्मा का मित्र और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥'

—गीता ६/५

शुद्धात्मा का जो स्वरूप योगीन्द्रदेव ने परमात्मप्रकाश मे वर्णित किया है वह जैनदर्शन का मानो निचोड़ है—

'जासु ण वण्णु ण गधु रसु, जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु-मरणु णवि, णाउ णिरंजणु तासु ॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ, जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय, सो जि णिरंजणु जाणि ॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कुवि दोसु, सो जि णिरंजणु भाउ ॥'

— दोहे १९, २०, २१

अर्थात्—जिसमे वर्ण, गध, रस, शब्द, स्पर्श, जन्म, मरण, क्रोध, मोह, मद, माया मान, स्थान, ध्यान, पुण्य, पाप, हर्ष-विषाद, दोष, धारणा, ध्येय, यंत्र, मत्र, मडल, मुद्रा नही है वह शुद्धात्मा है। जो निर्मल ध्यान से गम्य है वह आदि अन्त रहित आत्मा है।

गीता में भी यही कहा गया है कि जिसमें जन्म-मरण आदि दोष नही है वही आत्मा है। आत्मा का जन्म-मरण नहीं होता, जो मरता नही उसका जन्म कैसा और जो जन्मता नही उसका मरण भी कैसा। आत्मा न तो किसी को मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जाता है। (नायं हन्ति न हन्यते २/१९) गीता कहती है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्,
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्य. शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥'
—गीता २/२०

परमात्मप्रकाश कहता है—
'णवि उप्पज्जइ णवि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेई।'
... ...
– दोहा ६९

जैसे कोई पुराने वस्त्र छोड़ नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा भी पुराना शरीर छोड़कर नया धारण करता है।[१९] शस्त्र उसे काट नही सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नही कर सकता और हवा सुखा नही सकती।[२०] गीता और परमात्मप्रकाश का शैली तथा भाव गत साम्य देने का लोभ सवरण नही दे पा रहा है। परमात्मप्रकाश के ऊपर के १९, २०, २१ दोहो की शैली तथा भाव गीता के निम्न श्लोको से मिलाइमे—

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणु रचयोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥'
--गीता २/२४-२५

जैन दर्शन में आत्माएँ अनंत मानी गई है, पर गीता मे एक ब्रह्म की उपासना का वर्णन है। ससार मे जितनी भी आत्माएँ है वे उसी ब्रह्म का एकांश है। सभी आत्माएँ उसी ब्रह्म मे मिल जाती है। पर जैन दर्शन के अनुसार तपः साधना और ज्ञान के द्वारा प्रत्येक आत्मा परमात्मा हो सकता है। प्रत्येक आत्मा अपने कर्म मे स्वतन्त्र है। अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता वह स्वयं है कोई भगवान् या ईश्वर नही है। गीता के अनुसार भगवान् कृष्ण कृष्ण हैं और वे सभी पापो से छुडा सकते है—

'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'
-- गीता८/६६

आत्मा के आकार के सन्दर्भ भी विभिन्न मत प्रचलित है न्यायवैशेषिक साख्य मीमांसा आदि दर्शन आत्मा या जीव को अनेक या सर्वव्यापक होने का उल्लेख मिलता है। आत्मा को अणु से अणु और महान् से महान् कहा गया है।[२१] वेदो मे पुरुष या आत्मा को अगुष्ठ मात्र कहा गया है।[२२] किन्तु आत्मा के आकार का सर्वाधिक सुन्दर और वैज्ञानिक समाधान जैनदर्शन मे मिलता है। कहा गया है कि आत्मा स्वदेहप्रमाण है। जैसी देह हो आत्मा का आकार भी वैसा ही हो जाता है। हाथी के शरीर में आत्मा हाथी के आकार की और चीटी के शरीर में चीटी के आकार की हो जाती है। आत्मा के प्रदेशो का सकोच और विस्तार दीपक के प्रकाश की भाँति होता है आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

"जह पउमरायरयणं रिक्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमितं पभासयदि ॥"[२३]

जैसे दूध मे डाली गई पद्मरागमणि दूध को अपने तेज और रंग से प्रकाशित कर देती है वैसे ही देह मे रहने वाला आत्मा भी अपनी देहमात्र को अपने रूप से प्रकाशित कर देता है। योगीन्द्र देव ने परमतो का खण्डन करते हुए आत्मा को स्वदेहप्रमाण कहा है—

(अप्पा देहपमाणु —दोहा ५१)।

इसी भाव को गीता मे निम्न शब्दो मे व्यक्त किया गया है—

'यथा प्रकाशयत्येक. कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥"[२४]

अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री—क्षेत्र का स्वामी, आत्मा उस सम्पूर्ण क्षेत्र का प्रकाशित करता है। इस प्रकार दोनों ग्रंथों मे अपने-अपने दर्शनो के अनुसार आत्म-तत्त्व का सुन्दर एव हृदयग्राही वर्णन है।

सन्दर्भ-सूची

१. 'वेदनिन्दको नास्तिकः' । —मनुस्मृतिः

२. 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।
—गीता १।१
—गीता प्रेस गोरखपुर, अठारहवां संस्करण

३. 'तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधवा ।।'
—गीता १।३७

४. परमात्मप्रकाशः : योगीन्द्रदेव, परमश्रुत प्रभावक-मंडल प्रकाशन वि० संवत् १९७२ ।

५. 'भावि पणविधि पचगुरु सिरिजोइदु जिणाउ ।
भट्टपयायरि विण्णयउ विमल करेविणु भाउ ।।
पुण पुण पणविवि पंचगुरु भाविंचित्ति धरेवि ।
भट्टपहायर णिसुणि तुहु, अप्पा तिविहु कहेवि ।।'
—परमात्मप्रकाश दोहा ८ तथा ११

६. 'जे परमप्पपयासयह अणुदिणु णाउ लयंति ।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तह तिहुयणणाह हवंति ।।'
—वही दोहा ३३७

७. जननमरण करणाना प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्ध त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।।
—सांख्यकारिका १८

८. 'अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सत्यस्वभावं प्रत्यक् चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः ।
—वेदान्तसार (सदानन्द प्रणीत) साहित्य भडार मेरठ १९७७, पृ० ११९

९. 'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मा-मनांसि नवैव ।'

१०. 'ज्ञानाधिकरणमात्मा । सद्विविधः
जीवात्मा परमात्मा चेति ।'
—तर्कसंग्रह (चौ. सस्करण) पृ. ५ तथा १८

११. 'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ।'
—तत्त्वार्थसूत्र १।१

१२. 'जीवाजीवाश्रवबंध संवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् ।'
—वही १।४

१३. 'प्रमाणप्रमेय संशय प्रयोजन··· तत्त्वज्ञानान्नि श्रेय-साधिगमः' तथा 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः··· ··· प्रमेयम्' इति सूत्रम् ।' —तर्कभाषा केशव मिश्र साहित्यभंडार मेरठ प्रकाशन १९७२ पृ. ४ तथा १७५

१४. 'ज्ञानेन चापवर्गः विपर्ययादिष्यते बन्धः ।'
—सांख्यकारिका ४४ कारिका

१५. 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति ।'

१६. 'इत्थु ण लिव्वउ पडियहिं गुणदोसुवि पुणुरुत्तु ।
भट्टपभायरकारणइं मइ पुणु पुणुवि पउत्त ।।'
—परमात्मप्रकाश, दोहा ३४२

१७. य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजि-घत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजा-पतिरूपा च ।'
—छन्दोग्य उपनिषद् अष्टम अध्याय सप्तम खड

१८. बृहदारण्यकोपनिषद्—याज्ञवल्क्यमैत्रेयी संवाद ।

१९. 'वासांसि जीर्णानियथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यान्यानि सयाति नवानि देही ।।' —गीता २।२२

२० 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।'
—गीता २।४३

२१. 'अणोरणीयान् महतः महीयान् ।'
—कठोपनिषद् प्रथम दिल्ली

२२. अंगुष्ठमात्रवै पुरुषः मध्ये आत्मन्य तिष्ठति ।'
ऋग्वेद पुरुषसूक्त

२३. पञ्चास्तिकाय गाथा ३३

२४. गीता १३-३३

दिगम्बर मुनियों की जीवन चर्या

☐ कुमारी विभा जैन, एम. ए. शोध छात्रा

दिगम्बरत्व प्रकृति का रूप है। वह प्रकृति का दिया हुआ मनुष्य का वेष है। आदम और हव्वा इसी रूप मे रहे थे। दिशाएँ ही उनके अम्बर थे—वस्त्रविन्यास उनका वही प्रकृतिदत्त नग्नत्व था। वह प्रकृति की अचल मे सुख की नीद सोते और आनन्दलोरियां करते थे। इसलिए कहते हैं कि मनुष्य की आदर्श स्थिति दिगम्बर है। नग्न रहना ही इसके लिए श्रेष्ठ है। इसमें उसके लिए अशिष्टता असभ्यता की कोई बात नहीं है, क्योंकि दिगम्बरत्व अथवा नग्नत्व स्वयं अशिष्ट अथवा असभ्य वस्तु नही है। वह तो मनुष्य का प्राकृत रूप है। ईसाई मतानुसार आदम और हव्वा नंगे रहते हुए कभी न लजाये और न वे विकास के चगुल मे फँसकर अपने सदाचार से हाथ धो बैठे। किन्तु जब उन्होंने बुराई-भलाई, पाप-पुण्य का वर्जित फल खा लिया, वे अपनी प्रकृति दशा खो बैठे—सरलता उनकी जाती रही। वे ससार के साधारण प्राणी हो गये। बच्चे को लीजिए, उसे कभी भी अपने नग्नत्व के कारण लज्जा का अनुभव नही होता और न उसके माता-पिता अथवा अन्य लोग ही उसकी नग्नता पर नाक-भौ सिकोड़ते है।

मनुष्य मात्र की आदर्श स्थिति दिगम्बर ही है। आदर्श मनुष्य सर्वथा निर्दोष है—विकारशून्य ही होता है।

जन्म मरण पर्यन्त वस्त्रों मे जीवन व्यतीत करने वाला मानव दिगम्बर साधुओ की नग्नता को देखकर समाज में असभ्यता का प्रतीक मानता है। किन्तु वस्तुतः कृत्रिम जीवन में आनन्द से अनभिज्ञ होकर ही ऐसा करते हैं। उनका मन वासनाओं से शून्य होता है। लौकिक जीव से घृणा करते हैं, वे दिगम्बर मुनिराज अन्तर बाह्य में एक समान दिगम्बर है अर्थात् उनका अन्तःकरण वासनाओं से रहित है।

दिगम्बरत्व वस्तुतः प्राकृतिक और निर्विकारी वेष है और आत्मसाधना में निर्बंध मार्ग है। दिगम्बर मुनि की चर्या से ससार की मानव जाति का बहुत थोड़ा हिस्सा परिचित है।

दिगम्बर मुनि २८ मूलगुणों का निर्दोष परिपालन करते हुए आत्म साधना मे रत रहते है। साथ ही प्राणी मात्र के प्रति मैत्री प्रमोद कारुण्य और मध्यस्थ भावना की चरमोत्कर्षता को परिप्राप्त होते है। २८ मूलगुणों के अतिरिक्त दस लक्षण धर्म, द्वादशतप, द्वादशानुप्रेक्षाचिंतन, द्वविंशति, परीषह, जप आदि को भी वे जीवन का अभिन्न अंग मानते हुए शिवमुक्ति भाजन बनते है। मनोविजयी मे मुनिराज इस प्रकार पाँच इन्द्रिय रूप में ही परिगणित है, क्योंकि वे अनिन्द्रिय हैं और सभी इन्द्रियो का राजा समस्त जगत में मन के अधीन होकर पचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय भोगों में मग्न हैं। उससे विपरीत जिनके मन में भौतिकता का साम्राज्य नही है, ऐसे मनोविजयी मुनिराज पचेन्द्रिय का निरोध करते हुए आत्म निमग्नता प्राप्त करते है।

शेष गुण—केशलुंचन, नग्नता, अस्नान, पिच्छि-कमण्डलु तथा खड़े होकर आहार लेना आदि मुनि के विशेष गुण हैं। इन सभी के विषय मे अनेक प्रश्न उठते हैं कि मुनि उनको क्यो करते हैं? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है:—

केशलोंच :—

२२ परीषह का सहन करना अपेक्षित होता है। केशलोंच भी इसी के साथ जोड़ दिया गया है। इसके दो कारण हैं:—

(क) एक कारण तो शारीरिक शृंगार विहीनता और पीड़ा पर विजय पाना। दूसरा कारण है वैज्ञानिक सूर्य ऊर्जा का केन्द्र है और उसका आयात शरीर के ऊर्ध्व अंगों द्वारा हुआ करता है। शरीर का सबसे ऊँचा भाग है

सिर, अतः ऊर्जा आगम में किसी प्रकार की बाधा न हो अतः केशराशि का परित्याग आवश्यक होता है।

"मूलाचार आराधना कोष" मे केशलोच के विषय मे मूल गुणाधिकार एक मे इस प्रकार कहा है—मुनियो के पाई मात्र भी धन सग्रह नही है जिससे कि हजामत करावे और हिंसा का कारण समझ उस्तरा नामक शस्त्र भी नही रखते और दीन वृत्ति न होने से किसी से दीनता कर भी क्षौर नही करा सकते इसलिए समूर्छनादिक जुंआ, लीख आदि जीवो की हिंसा के त्यागरूप सयम के लिए प्रतिक्रमण कर तथा उपवास कर आप ही केशलोच करते है। यही लोचनामा गुण है।

नग्नता :—

चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग करना जिन साधु के लिए आवश्यक है। नग्नता इसीलिए आवश्यक है। अचेलतन चेल वस्त्र रहित होकर निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर अवस्था को प्राप्त करना, वासनाओ के अभाव की सबसे बड़ी कसौटी है। वासनाओ मे घिरा व्यक्ति कभी भी नग्न नही रह सकता। दिगम्बर मुनि भीतर से भी वासना शून्य होते है इसलिए बाह्य मे बिना सकोच के नग्न रह पाते है।

अस्नान : —

अस्नान वे रत्नत्रय से पवित्र रहने वाले मुनिराज कभी भी स्नान नही करते। शरीर के प्रति ममत्व भाव का न होना मुनिचर्या का विशेष अग है। अतः उसके रक्षण के लिए जागरुक रहना दोष और अतिचार मे आता है। स्नान आदि न करने से उन की वैचारिक दशा अन्तर्मुखी हो जाती है। अपने बाह्य वपु प्रदेश की चिन्ता ही छूट जाती है।

स्नान करने से उन्हे अपने शरीर के प्रति ममत्व भाव बढता है। उनके अंतर्मन मे शारीरिक सौन्दर्य की भावना जागृत होती है तथा उनकी भावना के साथ-साथ श्रावक की भावना में आकर्षण शक्ति जागने लगती है। मुनि को स्नान आदि से कोई मतलब नही होता उनका जीवन तो तपस्वी का होता है। जिससे उनका शरीर जीर्ण-शीर्ण तथा तपस्वी लगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि स्नानादि न करने से अशुचिपना होता है? इसका समाधान यह है कि मुनिराज व्रतों कर सदा पवित्र है, यदि व्रत रहित होकर जन स्नान से शुद्धता हो तो सामान्य जन, दुराचारी, अन्यायी, असंयमी सभी जीव स्नान करने से शुद्ध माने जायेंगे तो ऐसा नहीं है। प्रत्युत जलादिक बहुत दोषो से युक्त है, अनेक तरह के सूक्ष्म जीवों से भरे है, पाप के मूल है इसलिए संयमी जनो को स्नान व्रती ही पालन योग्य है।

खड़े होकर आहार लेना :—

मुनि भोजन एक ही स्थान पर खड़े होकर अपने पात्र मे लेते है। जैसा भी सद्ग्रहस्थ रूख-रूखा, नीरस अथवा सरस किन्तु प्रासुक एव सेव्य आहार देता है उसे गोचरी वृत्ति या भ्रामरी वृत्ति से गरीब-अमीर के भेदभाव से रहित होकर शरीर की स्थिति के लिए यथावश्यक ग्रहण करते है। सूर्योदय से ७२ मि० पश्चात् से लेकर सूर्यास्त के ७२ मि० पूर्व तक दिन मे एक ही बार आहार भोजन ग्रहण करते है। दूसरी बार जलादि का भी ग्रहण नही करते।

अब प्रश्न उठता है कि मुनि खड़े होकर ही आहार क्यो ग्रहण करते है? इसका समाधान यह है कि बैठकर भोजन सुरुचिपूर्वक लिया जाता है, जबकि उनकी साधना मे आहार की रुचिता का परित्याग रहता है। असुविधा तथा अरुचि के साथ लिया गया भोजन मुनि के बाईस परिषह के अन्तर्गत आता है।

पिच्छि कमण्डलु—

मुनि पिच्छि कमण्डलु लेकर क्यो चलते है? दिगम्बर मुनि के पास सयम तथा शौच के उपकरण के रूप मे पिच्छि कमण्डलु होते है। मानो पिच्छि-कमण्डलु स्वावलम्बन के दो हाथ है प्रतिलेखन शुद्धि के लिए पिच्छि की नितान्त आवश्यकता है और पाणि-पाद-प्रक्षालन के लिए, शुद्धि के लिए कमण्डलु वान्छनीय है। मयूरपिच्छि का लव भाग इतना मृदु होता है कि प्रतिलेखन से किसी सूक्ष्म जन्तु की हिंसा भी नही होती स्वयं मयूरी के पंख भी पिच्छि के निमित्त उपादान नही हो सकते। इन कारणों से मयूरपिच्छि धारण दिगम्बर साधु की मुद्रा है। पिच्छि रखने से वह नग्न मुद्रा किसी प्रमादी की न होकर त्यागी का परिचय उपस्थित करती है। "मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते"—नीतिसार की यह उक्ति

(शेष पृ० २६ पर)

चिन्तन के लिए :—

षट्खण्डागम और गोम्मटसार

□ श्री एम० एल० जैन ३०, तुगलक क्रीसेंट, नई दिल्ली

षट्खण्डागम की टीका धवला में अपने से पूर्ववर्ती कई आचार्यों की गाथाएँ उद्धृत हैं परन्तु सभी विद्वानों ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि जहाँ तक गोम्मटसार की गाथाओं का सवाल है, वे नेमिचन्द्र ने धवला से संग्रहीत की हैं। इस निष्कर्ष का मूल कारण यह है कि इस बात को अब सन्देह से परे समझा जाता है कि गोम्मटराय जिनका जयगान नेमिचन्द्र ने किया है वे कोई और नही गंगनरेश रायमल्ल के सेनानायक चामुन्डराय हैं जो दसवीं शताब्दि के द्वितीय चरण में हुए हैं। परन्तु क्या यह निष्कर्ष सही है ?

पं० हीरालाल शास्त्री ने पञ्चसंग्रह की अपनी प्रस्तावना पृ० ३९ में यह अनुमानलगाया है कि यह ग्रन्थ पांचवीं-छठी शताब्दि के बीच कभी संग्रहीत हुआ है।[1] इस ग्रथ का पहला अधिकार जीव समास है उसकी गाथा ५७ इस प्रकार है—

गइ इंदिय च काए जोए वेए कसाय णाणे य।
सजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

गोम्मटसार जीव काण्ड की गाथा १४२ इस प्रकार है—

गइ इंदिए सु काए जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजम दसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

दोनो गाथा लगभग एक है किन्तु पञ्चसंग्रह के 'इंदिय च' 'जोए वेए' के स्थान पर गोम्मटसार जीवकाण्ड में 'इंदिए सु' व 'जोगे वेदे' पद हैं।

षट्खण्डागम का सूत्र १।१।४ इस प्रकार है—

"गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाय णाणे संजमे दंसणे लेस्सा भविए सम्मत्त सण्णि आहारए चे दि।"

तुलना करने से दृष्टव्य है कि गोम्मटसार गाथा के शब्द 'सु' व 'य' उक्त सूत्र मे नहीं है और 'चेदि' शब्द सूत्र मे अधिक है तथा 'संजम दसण' शब्दो में सप्तमी विभक्ति सहित 'सजमे दंसणे' शब्द आए है। इन विशेषताओं को छोड़ दें तो गाथा व सूत्र का अन्तर नगण्य है।[2] यही कारण है कि धवला मे जीवकाण्ड की गाथा को उद्धृत नहीं किया गया। उद्धरण इस बात का प्रमाण होता है कि उद्धृत अंश पूर्ववर्ती होता है भविष्यवर्ती तो नही। ऐसी सूरत में निष्कर्ष यह होगा कि गोम्मटसार की संरचना धवला टीका के पहले याने सन् ८१६ के पहले हो चुकी थी। इस सिलसिले मे यह भी नही भुलाया जाना चाहिए कि नेमिचन्द्र ने अपने ग्रथो मे चामुण्डराय का व चामुण्डराय ने अपने ग्रंथो मे नेमिचन्द्र का नाम नही लिखा है। प्रचलित किंवदन्तियों व अनुमानो के आधार पर यह निश्चय कर लिया गया है कि नेमिचन्द्र के गोम्मटराय चामुण्डराय ही हैं।[1]

जीवकाण्ड की गाथा ५६१ इस प्रकार है—

छप्पच णव विहाणं अत्थाण जिणवरो वइट्ठाण।
आणाए अहिगमेण व सद्दहण होई सम्मत्त ॥

इस गाथा का यही स्वरूप पचसंग्रह के जीवसमास अधिकार की गाथा सख्या १५९ मे तथा षट्खण्डागम के सूत्र १।१।५ की धवला टीका मे गाथा ९६ का है। अब यह गाथा वीरसेन ने गोम्मटसार से उद्धृत की, यह उसी सूरत मे अस्वीकार किया जा सकता है जब कि हम गोम्मटराय व चामुण्डराय को एक मानने के निर्णय पर अटल रहे।

जीवकाण्ड की गाथा ५१२ यों है—

रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय भय बहुलो
असुयदि परिभवदि परं पसंसदि अप्पयं बहुसो।

यही रूप इस गाथा का पचसंग्रह के जीव समास अधिकार की गाथा १४७ का है। किन्तु धवला की गाथा संख्या २०३ इस प्रकार है—

रूसदि णिंददि अण्णे दूसदि बहुसो य सोय भय बहुलो।
असुयदि परिभवदि पर पससदि अप्पय बहुलो ॥

तुलना करने पर यह अन्तर दृष्टिगोचर होता है कि क्रिया के रूप मे जीवकाण्ड मे 'त' के स्थान पर 'द' है। किन्तु पञ्चसग्रह मे जो धवला से पहले का है 'त' का लोप है मगर धवला के शब्द विमर्श से देखा जाता है कि सूत्रों मे, टीका में व उद्धरणो मे कहीं 'त' का 'द', कही 'त' का लोप व कही अलोप है। लगता है धवलाकार ने इस विषय मे किसी एक नियम का अनुसरण नही किया है। इससे यह शका होती है कि गाथा मे क्रिया का रूप धवलाकार ने ही बदला हो। सम्भावना अधिक यही है कि धवलाकार के समक्ष गोम्मटसार मौजूद था।

सन्दर्भ-नोट

१. यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ काशी से १९६० मे प्रकाशित हुआ है। प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने अपने 'जैन साहित्य के इतिहास' मे इसका सग्रहकाल विक्रम की आठवी शताब्दि से पूर्व का माना है।

२ सूत्र की भाषा पर स्वय वीरसेन को शका समाधान करना पडा। गति आदि मार्गणाओ को जीवो का आधार बताने के लिए सप्तमी विभक्ति का निर्देश होना चाहिए था परन्तु गति, इन्द्रिय, काय, कषाय, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व और सज्ञी पदो म विभक्ति नही पाई जाती है। १४ पदो मे से केवल ६ पदो मे ही विभक्ति का प्रयोग क्यो किया जबकि सूत्र की भाषा मे व्याकरण का ध्यान रखना आवश्यक है इस कठिनाई का जवाब वीरसेन ने 'आइ-मज्झत-वण्ण-सर लोवो' यह अज्ञात प्राकृत व्याकरण का सूत्र उद्धृत करके कह दिया कि आदि मध्य और अन्त के वर्ण और स्वर का लोप हो गया है अथवा विभक्ति वाले पद के पूर्ववर्ती विभक्ति-रहित पदो को मिला कर एक पद समझना चाहिए। यह समाधान ठीक नही, क्योकि इसके अनुसार तो सब पद विभक्ति रहित होकर अन्तिम पद के साथ विभक्ति लगनी चाहिए थी या फिर प्रत्येक पद के साथ विभक्ति लगनी चाहिए थी। तभी सूत्र की एकरूपता होती और शका समाधान की आवश्यकता ही नही रहती। इसलिए लगता है कि सूत्र की रचना गाथा के रूप का ही अन्वय है तथा गाथा के रूप को कायम रखना ही इस विसगति का कारण है। उस दशा मे स्वय षट्खण्डागम ही पचसग्रह, गोम्मटसार के बाद का ठहरता है।

३. जैन शिलालेख सग्रह, भारतीय ज्ञानपीठ भाग ५ पृ० ५८ मे पेट्टतुम्बलम् (कुर्नूल, आंध्र प्रदेश) मे जिनमूर्ति के पाद पीठ पर अंकित लेख कन्नड भाषा मे १२वी सदी का (लेख न० १३०) दिया हुआ है जिसमे किसी चिकब्बे नाम की महिला द्वारा गोम्मट पार्श्व जिन की स्थापना का वर्णन है। तो क्या 'गोम्मट' शब्द केवल बाहुबलि की मूर्ति के लिए नही बल्कि शिल्प विशेष या स्थानविशेष का सूचक है न कि सेनापति चामुण्डराय के अपर नाम का?

४. (a) यही कारण हो कि नेमिचन्द्र ने वीरसेन का नाम स्मरण नही किया।

(b) पुष्पदत और भूतबलि का समय ६६-१५६ ई० माना गया है। यदि कुदकुंद २००० वर्ष पूर्व अर्थात् ई० पूर्व पहली सदी के है तो कहना होगा कि षट्खण्डागम की रचना समयसार के बाद की है व समयसार ही प्राचीनतम आगम ग्रथ है।

(पृ० २४ का शेषांश)

सारगर्भित है। मुद्रा चाहे शासन की हो, धार्मिक वर्ग हो सर्वत्र अपेक्षित होती है। वैष्णवो शायनमतानुयायियो, शैवो, राधा स्वामी सम्प्रदायिको आदि मे तिलक लगाने की पृथक-पृथक प्रणाली है। राजभृत्यो के कन्धो पर अथवा सामने वक्ष: स्थल पर वस्त्र निर्मित या धातुघटित मुद्रा होती है जिससे उनकी पद-प्रतिष्ठा जानी जाती है। और राजभृत्यता की प्रमाणिकता सिद्ध होती है। इसी प्रकार श्रमण परम्परा के आदिकाल से अधिकृत चिह्न के रूप मे पिच्छि कमण्डलु रखने का विधान चला आया है।

विशुद्धि के लिए शौचोपकरण में कमण्डलु की तथा सयमोपकरण रूप मे पिच्छि की आवश्यकता होती है।

२८ मूलगुणो के अतिरिक्त भी वे मुनिराज अन्य अनेक विशेषताओ को लिए हुए होते है। अहिंसा और अपरिग्रह की चरम सीमा को प्राप्त ये दिगम्बर मुनिराज समस्त विश्व के आराध्य है। अहिंसा का इतना सूक्ष्म परिपालन इनके जीवन में होता है। ये हरी घास पर भी पैर नही रखते।

अतः मानव समाज की सार्थकता यह है कि उनके परम पावन जीवन के आदर्श को प्राप्त करने हेतु उन्ही के पथ पर चलने का साहस करते हुए आत्म साधना में लग सकें।

गतांक से आगे—

सल्लेखना अथवा समाधिमरण

□ डा० दरबारीलाल कोठिया

स्मरण रहे कि जैन व्रती—श्रावक या साधु की दृष्टि मे शरीर का उतना महत्त्व नही है जितना आत्मा का है, क्योंकि उसने भौतिक दृष्टि को गौण और आध्यात्मिक दृष्टि को उपादेय माना है। अतएव वह भौतिक शरीर की उक्त उपसर्गादि संकटावस्थाओं में, जो साधारण व्यक्ति को विचलित कर देने वाली होती है, आत्मधर्म से च्युत न होता हुआ उसकी रक्षा के लिए साम्यभावपूर्वक शरीर का उत्सर्ग कर देता है। वास्तव मे इस प्रकार का विवेक, बुद्धि और निर्मोहभाव उसे अनेक वर्षों को चिरन्तन अभ्यास और साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी से सल्लेखना एक असामान्य असिधारा-व्रत है, जिसे उच्च मनःस्थिति के व्यक्ति ही धारण कर पाते है। सच बात यह है कि शरीर और आत्मा के मध्य का अन्तर (शरीर जड़, हेय और अस्थायी है तथा आत्मा चेतन, उपादेय और स्थायी है) जान लेने पर सल्लेखना-धारण कठिन नही रहता। उस अन्तर का ज्ञाता यह स्पष्ट जानता है कि 'शरीर का नाश अवश्य होगा, उसके लिए अविनश्वर फलदायी धर्म का नाश नही करना चाहिए, क्योंकि शरीर का नाश हो जाने पर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है। परन्तु आत्म-धर्म का नाश हो जाने पर उसका पुन. मिलना दुर्लभ है।'[1] अतः जो शरीर-मोही नही होते वे आत्मा और अनात्मा के अन्तर को जानकर समाधिमरण द्वारा आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ते हैं। जैन सल्लेखना मे यही तत्त्व निहित है। इसी से प्रत्येक जैन देवोपासना के अन्त मे प्रतिदिन यह पवित्र कामना करता है।[2]—

'हे जिनेन्द्र ! आपके जगत् बन्धु होनेके कारण मैं आपके चरणो की शरण मे आया हू। उसके प्रभाव से मेरे सब दुःखो का अभाव हो, दुःखों के कारण ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश हो और कर्मनाश के कारण समाधिमरण की प्राप्ति हो तथा समाधिमरण के कारणभूत सम्यक्बोध (विवेक) का लाभ हो।'

जैन संस्कृति मे सल्लेखना का यही आध्यात्मिक उद्देश्य एव प्रयोजन स्वीकार किया गया है। लौकिक भोग या उपभोग या इन्द्रादि पद की उसमे कामना नहीं की गई है। मुमुक्षु श्रावक या साधु ने जो अब तक व्रत-तपादि पालन का घोर प्रयत्न किया है, कष्ट सहे है, आत्म-शक्ति बढाई है और असाधारण आत्म ज्ञान को जागृत किया है उस पर सुन्दर कलश रखने के लिए वह अन्तिम समय मे भी प्रमाद नही करना चाहता। अतएव वह जागृत रहता हुआ सल्लेखना मे प्रवृत्त होता है।

सल्लेखनावस्था मे उसे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसकी विधि क्या है? इस सम्बन्ध मे भी जैन लेखकों ने विस्तृत और विशद विवेचन किया है। आचार्य समन्त-भद्र ने सल्लेखना की निम्न प्रकार विधि बतलाई है।[1]

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओ मे राग, अनिष्ट वस्तुओ मे द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनो मे ममत्व और धनादि मे स्वामित्व का त्याग करके मन को शुद्ध बनाये। इसके पश्चात् अपने परिवार तथा सम्बन्धित व्यक्तियो मे जीवन मे हुए अपराधो को क्षमा कराये और स्वय भी उन्हे प्रिय वचन बोलकर क्षमा करे।

इसके अनन्तर वह स्वय किये, दूसरो से कराये और अनुमोदना किये हिंसादि पापो की निश्छल भाव मे आलो-चना (उन पर खेद प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतो का अपने मे आरोप करे।

इसके अतिरिक्त आत्मा को निर्बल बनाने वाले शोक, भय, अवसाद, ग्लानि, कलुषता और आकुलता जैसे आत्म-विकारो का भी परित्याग करे तथा आत्मबल एव उत्साह को प्रकट करके अमृतोपम शास्त्रवचनो द्वारा मन को प्रसन्न रखे।

इस प्रकार कषाय को शान्त अथवा क्षीण करते हुए

शरीर को भी कृश करने के लिए सल्लेखना मे प्रथमतः अन्नादि आहार का, फिर दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों का त्याग करे। इसके अनन्तर कांजी या गर्म जल पीने का अभ्यास करे।

अन्त में उन्हें भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे। इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हुए पूर्ण विवेक के साथ सावधानी में शरीर को छोड़े।

इस अन्तरंग और बाह्य विधि से सल्लेखनाधारी आनद-ज्ञानस्वभाव आत्मा का साधन करता है और वर्तमान पर्याय के विनाश से चिन्तित नही होता, किन्तु भावी पर्याय को अधिक सुखी, शान्त, शुद्ध एव उच्च बनाने का पुरुषार्थ करता है। नश्वर से अनश्वर का लाभ हो, तो उसे कौन बुद्धिमान् छोड़ना चाहेगा? फलतः सल्लेखना-धारक उन पाँच दोषो से भी अपने को बचाता है, जिनसे उनके सल्लेखना-व्रत मे दूषण लगने की सम्भावना रहती है। वे पाँच दोष निम्न प्रकार बतलाये गये हैं :—

सल्लेखना ले लेने के बाद जीवित रहने की आकांक्षा करना, कष्ट न सह सकने के कारण शीघ्र मरने की इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियो का स्मरण करना और अगली पर्याय मे सुखो की चाह करना ये पाँच सल्लेखना-व्रत के दोष है, जिन्हे अतिचार कहा गया है।

सल्लेखना का फल :

सल्लेखना-धारक धर्म का पूर्ण अनुभव और लाभ लेने के कारण नियम से नि.श्रेयस अथवा अभ्युदय प्राप्त करता है। समन्तभद्र स्वामी ने सल्लेखना का फल बतलाते हुए लिखा है—

'उसम सल्लेखना करने वाला धर्मरूपी अमृत का पान करने के कारण समस्त दुःखो से रहित होकर या तो वह नि.श्रेयस को प्राप्त करता है और या अभ्युदय को पाता है, जहां उसे अपरिमित सुखों की प्राप्ति होती है।'

विद्वद्वर पण्डित आशाधर जी कहते हैं कि 'जिस महा-पुरुष ने ससार परम्परा के नाशक समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधि को परभव मे जाने के लिए अपने साथ ले लिया है, जिससे वह इसी तरह सुखी रहे, जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाने वाला व्यक्ति पास मे पर्याप्त पाथेय होने पर निराकुल रहता है। इस जीव ने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि सहित पुण्य-मरण कभी नही किया, जो सौभाग्य से या पुण्योदय से अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेव ने इस समाधि सहित पुण्य-मरण की बडी प्रशसा की है, क्योंकि समाधि-पूर्वक मरण करने वाला महान् आत्मा निश्चय से संसार-रूपी पिंजरे को तोड़ देता है—उसे फिर ससार के बन्धन मे नही रहना पड़ता है।'

सल्लेखना में सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य :

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है, तो वह उसमे बडे आदर प्रेम और श्रद्धा के साथ सलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्म-साधना मे गतिशील रहता है। उसके इस पुण्य कार्य मे, जिसे एक 'महान-यज्ञ' कहा गया है, पूर्ण सफल बनाने और उसे अपने पवित्र पथ से विचलित न होने देने के लिए निर्यापकाचार्य (समाधिमरण कराने वाले अनुभवी मुनि) उसकी सल्लेखना मे सम्पूर्ण शक्ति एव आदर के साथ उसे सहायता पहुचाते है और समाधिमरण मे उसे सुस्थिर रखते है। वे सदैव उसे तत्त्वज्ञानपूर्ण मधुर उपदेश करते तथा शरीर और ससार की असारता एव क्षणभगुरता दिखलाते है, जिससे वह उनमे मोहित न हो, जिन्हे वह हेय समझकर छोड़ चुका या छोड़ने का सकल्प कर चुका है, उनकी पुन. चाह न करे। आचार्य शिवार्य ने भगवती-आराधना (गा० ६५०-६७६) मे समाधिमरण-कराने वाले इन निर्यापक-मुनियो का बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उन्होने लिखा है :—

'वे मुनि (निर्यापक) धर्मप्रिय, दृढ़श्रद्धानी, पापभीरू, परीषहजेता, देश-काल-ज्ञाता, योग्यायोग्यविचारक, न्याय-मार्ग-मर्मज्ञ, अनुभवी, स्वपरतत्व-विवेकी, विश्वासी और पर-उपकारी होते है। उनकी सख्या अधिकतम ४८ और न्यूनतम २ होती है।'

'४८ मुनि क्षपककी इस प्रकार सेवा करे। ४ मुनि क्षपक को उठाने-बैठाने आदि रूप से शरीर की टहल करे। ४ मुनि धर्मश्रवण करायें। ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें। ४ मुनि देख-भाल रखे। ४ मुनि शरीर के मलमूत्रादि क्षेपण मे तत्पर रहे। ४ मुनि वसतिका के द्वार

पर रहें, जिससे लोग क्षपक के परिणामो में क्षोभ न कर सके । ४ मुनि क्षपक की आराधना को सुनकर आये लोगो को सभा मे धर्मोपदेश द्वारा सन्तुष्ट करे । ४ मुनि रात्रि रात्रि में जागें । ४ मुनि देश की ऊँच-नीच स्थिति के ज्ञान में तत्पर रहें । ४ मुनि बाहर से आये-गयो से बातचीत करें और ४ मुनि क्षपक के समाधिमरण में विघ्न करने की सम्भावना से आये लोगों से वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्म-प्रभावना) करें ।' इस प्रकार ये निर्यापक मुनि क्षपक की समाधि मे पूर्ण प्रयत्न से सहायता करते है । भरत और ऐरावत क्षेत्रो मे काल की विषमता होने से जैसा अवसर हो और जितनी विधि बन जाये तथा जितने गुण के धारक निर्यापक मिल जाये उतने गुणो वाले निर्यापको से भी समाधि कराये, अति श्रेष्ठ है। पर एक निर्यापक नही होने चाहिए, कम-से-कम दो होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपक की २४ घण्टे सेवा करने पर थक जायगा और क्षपक की समाधि अच्छी तरह नही करा सकेगा ।[७]

इस कथन से दो बाते प्रकाश मे आती है । एक तो यह कि समाधिमरण कराने के लिए दो से कम निर्यापक नही होना चाहिए । सम्भव है कि क्षपक की समाधि अधिक दिन तक चले और उस दशा मे यदि निर्यापक एक हो तो उसे विश्राम नही मिल सकता । अतः कम-से-कम दो निर्यापक तो होना ही चाहिए । दूसरी बात यह कि प्राचीन काल मे मुनियो कि इतनी बहुलता थी कि एक-एक मुनि की समाधि मे ४८, ४८ मुनि निर्यापक होते थे और क्षपक की समाधि को वे निर्विघ्न सम्पन्न कराते थे । ध्यान रहे कि यह साधुओं की समाधि का मुख्यतः वर्णन है । श्रावको की समाधि का वर्णन यहा गौण है ।

ये निर्यापक क्षपक को जो कल्याणकारी उपदेश देते तथा उसे सल्लेखना मे सुस्थिर रखते है, उसका पण्डित आशाधर जी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है ।[८] वह कुछ यहाँ दिया जाता है—

'हे क्षपक ! लोक मे ऐसा कोई पुद्गल नही, जिसका तुमने एक से अधिक बार भोग न किया हो, फिर भी यह तुम्हारा कोई हित नही कर सका । पर वस्तु क्या कभी आत्मा का हित कर सकती है ? आत्मा का हित तो उसी के ज्ञान, संयम और श्रद्धादि गुण ही कर सकते है । अतः बाह्य वस्तुओं से मोह को त्यागो, विवेक तथा संयम का आश्रय लो । और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हू और पुद्गल अन्य है : 'मै चेतना हू, ज्ञाता-द्रष्टा हू और पुद्गल अचेतन है, ज्ञान-दर्शन रहित है । मैं आनन्दघन हूं और पुद्गल ऐसा नही है ।'

'हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखना को तुमने अब तक धारण नहीं किया था उसे धारण करने का सुअवसर तुम्हें आज प्राप्त हुआ है । उस आत्महितकारी सल्लेखना मे कोई दोष न आने दो । तुम परीषहो—क्षुधादि के कष्टो से मत घबडाओ । वे तुम्हारे आत्मा का कुछ बिगाड नही सकते । उन्हे तुम सहनशीलता एव धीरता से सहन करो और उनके द्वारा कर्मों की असख्यगुणी निर्जरा करो ।'

'हे आराधक ! अत्यन्त दुःखदायी मिथ्यात्व का वमन करो, सुखदायी सम्यक्त्व की आराधना करो, पचपरमेष्ठी का स्मरण करो, उनके गुणो मे सतत अनुराग रखो और अपने शुद्ध ज्ञानोपयोग मे लीन रहो । अपने महाव्रतों की रक्षा करो, कषायो को जीतो, इन्द्रियो को वश में करो, सदैव आत्मा मे ही आत्मा का ध्यान करो, मिथ्यात्व के समान दुःखदायी और सम्यक्त्व के समान सुखदायी तीन लोक मे अन्य कोई वस्तु नही है । देखो, धनदत्त राजा का सघश्री मन्त्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्व की विराधना की और मिथ्यात्व का सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखे फूट गईं और ससार-चक्र मे उसे घूमना पड़ा । राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बाद को उसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, जिसके प्रभाव से उसने अपनी बँधी हुई नरक की स्थिति को कम करके तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध किया और भविष्यकाल मे वह तीर्थंकर होगा ।'

'इसी तरह हे क्षपक ! जिन्होंने परीषहो एव उपसर्गों को जीत करके महाव्रतों का पालन किया, उन्होंने अभ्युदय और नि:श्रेयस प्राप्त किया है । सुकमाल मुनि को देखो, वे जब वन मे तप कर रहे थे और ध्यान मे मग्न थे, तो शृगालिनी ने उन्हे कितनी निर्दयता से खाया । परन्तु सुकमाल स्वामी जरा भी ध्यान से विचलित नही हुए और घोर उपसर्ग सहकर उत्तम गति को प्राप्त हुए । शिवभूति महामुनि को भी देखो, उनके सिर पर आँधी से उड़कर

घास का ढेर आ पड़ा, परन्तु वे आत्म-ध्यान से रत्तीभर भी नहीं डिगे और निश्चल भाव से शरीर त्यागकर निर्वाण को प्राप्त हुए। पाँचो पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे, तो कौरवों के भानजे आदि ने पुरातन बैर निकालने के लिए गरम लोहे की साँकलो से उन्हे बाँध दिया और कीलियाँ ठोक दीं, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्गों को सह कर उत्तम गति को प्राप्त हुए। युधिष्ठर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल, सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए। विद्युच्चरने कितना भारी उपसर्ग सहा और उसने सद्गति पाई।'

'अतः हे आराधक! तुम्हे इन महापुरुषो को अपना आदर्श बनाकर धीर-वीरता से सब कष्टो को सहन करते हुए आत्म-लीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकार से हो और अभ्युदय तथा नि.श्रेयस को प्राप्त करो।'

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपकको समाधिमरण मे निश्चल और सावधान बनाये रखते है। क्षपकके समाधि-मरण रूप महान् यज्ञ की सफलता मे इन निर्यापक साधुवरो के प्रमुख एव अद्वितीय सहयोग होने की प्रशसा करते हुए आचार्य शिवार्य ने लिखा है[९]—

'वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य है, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बडे आदर के साथ क्षपक की सल्लेखना कराते है।'

सल्लेखना के भेद :

जैन शास्त्रो मे शरीर का त्याग तीन तरह से बताया गया है[१०]—एक च्युत, दूसरा च्यावित और तीसरा त्यक्त।

१. **च्युत**—जो आयु पूर्ण होकर शरीर का स्वत: छूटना है वह च्युत शरीर-त्याग (मरण) कहलाता है।

२. **च्यावित**—जो विष-भक्षण, रक्त-क्षय, धातु-क्षय, शस्त्र-घात, सक्लेश, अग्निदाह, जल-प्रवेश, गिरि-पतन आदि निमित्त कारणों से शरीर छोड़ा जाता है वह च्यावित शरीर-त्याग (मरण) कहा गया है।

३. **त्यक्त**—रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरण की आसन्नता ज्ञात होने पर जो विवेक सहित सन्यासरूप परिणामों से शरीर छोड़ा जाता है, वह त्यक्त शरीर-त्याग (मरण) है।

इन तीन तरह के शरीर-त्याग मे त्यक्तरूप शरीर-त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योकि त्यक्त अवस्था मे आत्मा पूर्णतया जागृत एव सावधान रहता है तथा कोई सक्लेश परिणाम नही होता।

इस त्यक्त शरीर—मरण को ही समाधि-मरण, सन्यास-मरण, पण्डित-मरण, वीर-मरण और सल्लेखनामरण कहा गया है। यह सल्लेखनामरण (त्यक्त शरीरत्याग) भी तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है--

१. भक्तप्रत्याख्यान, २. इगिनी और ३. प्रायोपगमन।

१. **भक्तप्रत्याख्यान**—जिस शरीर-त्याग मे अन्न-पान को धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते है। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तर्मुहूर्त से ऊपर तथा बारह वर्ष से नीचे का काल है। इसमे आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर-वस्तुओं से रागद्वेषादि छोड देता है और अपने शरीर की टहल स्वय भी करता है और दूसरो से भी कराता है।

२. **इंगिनी**[११]—जिस शरीर-त्याग मे क्षपक अपने शरीर की सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरो से नही कराता उसे इगिनी-मरण कहते है। इसमे क्षपक स्वय उठेगा, स्वय बैठेगा और स्वय लेटेगा और इस तरह अपनी समस्त क्रियाएँ स्वय ही करेगा। वह पूर्णतया स्वाव-लम्बन का आश्रय ले लेता है।

(क्रमशः)

सन्दर्भ-सूची

१. आशाधर, सागारधर्मामृत ८-७।
२. भारतीय ज्ञानपीठ पूजाजलि पृ० ८७।
३. समन्तभद्र, रत्नक० श्रावका० ५, ३-७।
४. वही ५, ८।
५. वही ५, ६।
६. आशाधर, सागारधर्मा० ७-५८, ८२७, २८।
७. शिवार्य, भगवती आराधना, गा० ६६२-६७३।
८. सागारधर्मामृत ८-१०७।
९. भ० आ०, गा० २०००।
१०. आ० नेमिचन्द्र, गो० क०, गा० ५६, ५७, ५८।
११. वही गा० ६१।

समाज और जैन-विद्वान्

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

कभी हमने एक पंक्ति दोहराई थी—**'हम यू ही मर मिटेंगे तुमको खबर न होगी।'** उक्त पंक्ति सिद्धान्तशास्त्री पं० बालचन्द्र जी के हैदराबाद मे १७ अप्रैल ८९ को स्वर्गवास के बाद पुनः सार्थक हुई। उक्त स्थिति विद्वानो के सन्मान के प्रति समाज की उपेक्षित मनोवृत्ति को प्रकट करने के लिए काफी है। पंडित जी चले गये और देर से—एक मास बाद समाचार पत्र ने बताया। काश, होता कोई लक्ष्मी-सग्राहक या साधारण-सा भी नेता तो खबर बिजली की भांति फैल जाती। खेद है विद्वानो के प्रति समाज की ऐसी मनोवृत्ति पर।

कुछ का ख्याल है कि शायद, समाजप्रमुख आदि की एक आवाज मात्र पर विद्वान् का किन्ही उत्सवों मे सहज भाव से उपस्थित हो जाना जैसी, विद्वान की उदारता ही उसकी उपेक्षा मे मुख्य कारण हो। विद्वान् को एक पत्र मिलता है कि—'ठहरने, भोजन और आने-जाने के किराए की व्यवस्था रहेगी' और विद्वान् पहुच लेता है। यदि ऐसे अवसरों पर मुख्य आयोजक, सवारी आदि की अनुकूल व्यवस्था करके विद्वान् को ससन्मान स्वय लेने आते और सन्मान सहित वापिस पहुंचाने के उपक्रम करते तो विद्वानों का सम्मान कायम रहा होता। गुरु गोपालदास जी आदि के समय में ऐसा ही चलन रहा। दूसरा कारण है—दान मे दी जाने योग्य आत्मोद्धारकारी धर्म-विद्या का विद्वान् द्वारा बेचा जाना और त्याज्य धन (पैसा परिग्रह) का संग्रह किया जाना आदि।

हमारी दृष्टि मे श्री पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री गोलापूर्व समाज मे अपने समय के सिद्धान्त के सर्वोच्च ज्ञाता थे। पंडित जी का जन्म झासी जिले के सोरई ग्राम में ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या सं० १९६२ को हुआ। आपके पिता का नाम श्री अच्छेलाल और मातुश्री का नाम उजियारी था। १२ वर्ष की आयु मे माता-पिता का वियोग सहना पड़ा। आपने सन् १९२१ से १९२८ तक स्याद्वाद विद्यालय वाराणसी मे रहकर सिद्धान्त व न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। पंडित जी के ठोस ज्ञान के साक्षी उनके द्वारा किए गए धवलादि के अनुवाद और अनेक सम्पादन है। प्रारम्भ मे आप सन् १९२८ से १९४० तक जारखी, गुना, चौरासी मथुरा, उज्जैन आदि मे अध्यापन कार्य करते रहे। सन् १९४० से धवला कार्यालय अमरावती और फिर सोलापुर ग्रन्थमाला मे संपादन आदि कार्य करते रहे। सन् १९६६ से १९७६ तक वीर सेवा मन्दिर दिल्ली मे 'जैन लक्षणावली' आदि का संपादन और अन्य ग्रन्थो के अनुवादादि करते रहे। पंडित जी ने तिलोयपण्णत्ति, धवला, जम्बूदीवपण्णत्ति सग्गहो, आत्मानुशासन, पद्मनंदि पंचविंशतिका, लोकविभाग, पुण्याश्रव कथाकोश आदि के अनुवादादि किए। इसके अलावा आपने ज्ञानार्णव, धर्म परीक्षा, सुभाषित रत्नसदोह के अनुवाद भी किए। पंडित जी की अन्तिम मौलिक रचना 'षट्खण्डागम परिशीलन' है जिसे ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया है। वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित 'जैन लक्षणावली' (तीन भागों मे) अपूर्व कोश है—इसमे श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों पंथो के मान्य आगम-सम्मत पारिभाषिक शब्द (सोद्धरण) दिए गए है और उनका पूर्ण खुलासा दिया गया है। जैन समाज मे ऐसा सर्वाङ्गीण कोश अभी तक देखने मे नही आया।

जैन विद्वानों की अपनी एक परिषद् है—विद्वानों का परस्पर ध्यान रखने एव विद्वत्तापूर्ण शास्त्रीय कार्यों को पूर्ण करना उसका उद्देश्य है। पंडित जी उक्त परिषद् के प्रतिष्ठित सदस्य थे। अतः परिषद् ने अवश्य समाचार पत्रों में स्वर्गीय को श्रद्धांजलि अर्पण के समाचार भेजे होंगे! पर, हमारे देखने मे नही आए, हां, काफी दिनो बाद वीर-वाणी सम्पादकीय मे समाचार मिले—जैन सदेश ने मासबाद समाचार दिए और गजट ने डेढ मास बाद।

वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी की बैठक में मान्य पंडित जी के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित की गई और पंडितजी की सज्जनता, सादगी, विद्वत्ता और शालीनता का गुण-गान किया गया।

कुछ कहते है कि—जैन समाज में जैन सिद्धान्त के ज्ञाता को पंडित कहा जाने का चलन रहा है और अतीत में यह पद सर्वोच्च पद माना जाता था। पंडित को ज्ञान के साथ आचारवान् होना भी जरूरी था। तब लक्ष्मी भी पंडित-पद की दासी थी और अच्छे-अच्छे नामी सेठ-साहूकार भी पडितो के सन्मान मे पलक-पावड़े बिछाए रहते थे—सभी जन पडितों का मुंह जोहते थे कि कब उनके मुख से किसी सेवा का आदेश मिले। पर, आज सरस्वती ने लक्ष्मी के चरण पकड रखे है—अधिकांश पंडित भी लक्ष्मी देवी की उपासना मे लग बैठे है। कोई आत्मसाधक-धार्मिक कार्यों—पूजा, पाठ, प्रतिष्ठा और विधानादि को लक्ष्मी-संचय का माध्यम बना बैठे। वे इनके बदले दक्षिणा में बड़ी राशियां तक वसूलने मे लगे है—किन्ही ने इस व्यापार के लिए साधुओं को पकड़ रखा है तो किन्ही ने किसी संस्था को। कोई किन्ही अन्य बहानो से लक्ष्मी का दासत्व स्वीकार कर रहे है। गोया, वे बरसो की सरस्वती उपासना (जो उन्होंने विद्यालयो मे की थी) को शिव-मार्ग के स्थान पर ससार बढाने का साधन बना बैठे है। क्या, जैनशिक्षा मे परिग्रह-सचय के उपदेश की ही प्रमुखता है? विद्वान् इसे सोचे।

कुछ लोगो के ख्याल मे हुआ यह कि कभी पूर्व समय में पंडित हिम्मत हार बैठे और उन्होने आत्म-साधना के स्थान पर पेट-साधना को प्रमुख बना लिया—वर्षों तक धर्मशास्त्र पढने के बाद भी उनकी दृष्टि परिग्रह—पैसे पर जा अटकी और वह इसलिए कि हमारा गुजारा कैसे होगा? उसने इस तथ्य को नही सोचा कि चारित्रवान् ठोस ज्ञानी की आवश्यकताएँ कभी अधूरी नही रहती—उन्हें आज भी हाथो-हाथ उठाया जा सकता है। हाँ, जिनका पाण्डित्य खोखला हो और कच्चा चारित्र हो—उन्हे अवसर खोजने और तरह-तरह के प्लान (Plan) बनाने पड़ते हैं—रटन्त भाषा के धनी व कोरे व्याख्याता ही ऐसा करने को मजबूर होते है और ज्ञान और चारित्र मे अधकचरे ऐसे ही लोगों के कारण आज समाज में पंडित के प्रति हीन-भावना का उदय हुआ है—कई लोगों को तो पडित नाम से भी चिढ़ जैसी हो गई है।

हमे याद है—एक दिन किसी ने एक ज्ञाता-चारित्र-पालक को पडित नाम से संबोधित किया, और दूसरे ने ऐसे संबोधन देने से उसे रोका। वे बोले—इन्हें पंडित मत कहो; भाई सा० जैसे सबोधन से सबोधित करो। उन्होंने कहा कि क्या आपको नही मालुम कि आज के अधिकांश पडित नामधारियों की स्थिति क्या है? उनमे बहुतेरे तो ज्ञानशून्य (मात्र उपाधिधारी) और जैन के नियम उप-नियमों के पालन से हीन है, कई ने धर्म जैसी विद्या को पेट-पूर्ति का साधन बना रखा है। भला, जिन्होंने जीवन भर जिनवाणी को पढ़ा—और उसके उपयोग करने को छोड सांसारिक वासनापूर्ति के साधनो को एकत्रित करने मे जुट गए, वे पडित कसे हो सकते है? इनमें कितनेक विवाह-सबन्धो की दलाली कर रहे है, तो कोई विवाह, अनुष्ठान, प्रतिष्ठा और पचकल्याणक आदि के माध्यमो से गहरी रकमे ऐंठ रहे है। वे बोले—हमारी दृष्टि से तो कुछ के गलत कारनामो से पूरा (श्रेष्ठ भी) पंडित समाज बदनाम हो गया है। अतः अधिकांश लोगो की धारणा पंडित उपाधिमात्र से हट गई है। कई बार तो यह उपाधि विवाह-सबन्ध मे भी आड़े आकर अच्छे सम्पन्न रिश्ते नहीं मिलने देती, आदि:

उक्त टिप्पणीकार को हमने विद्वानो के पक्ष में बहुत कुछ कहा। आखिर, क्यो न कहते—हम भी तो पंडित है, पद की अवहेलना कैसे सुनते? हमारे साथियो को भी गुस्सा आना स्वाभाविक है—सभी तो च्युत जैसे नही—अच्छे भी है। अस्तु: क्षमा हमारा भूषण है, इसलिए हमने सभलकर मौन धारण किया पर,

हम सोचते है—जैनधर्म शोध का धर्म है और इसमें स्व-शोध को प्रमुखता दी गई है—फिर चाहे वह शोध आत्मा की हो या शुद्धात्मा बनने के लिए उसके साधक अन्तरग-बहिरग चारित्र की शोध हो। ऐसी ही शोध पंडित का विषय है। पर, वर्तमान मे उक्त शोध का स्थान बहुलतया पुरातत्त्व, इतिहास और भूगोल जैसी वाह्य-शोधों को मिल बैठा है। हम आए दिन पढ़ते हैं—

ऋषभ के समय और भरत-भारत आदि के नामकरण की खोज, गणित के बहु आयामी प्रश्नों के हल की खोज। कोई ऋषभ और शिव को एक व्यक्तित्व सिद्ध करने की खोज मे है, तो कोई ऋषभ के काल को ईसापूर्व ५६२२–४०१६ बतला कर जैनियों को पुनर्विचार के लिए प्रेरित करने मे लगा है। गोया, प्रकारान्तर से वह चेलैंज दे रहा हो कि जब ऋषभ का काल लगभग ५००० वर्ष है तब बीच के शेष तीर्थंकरो के समय को अवकाश ही कहाँ? कोई महावीर के समय को विवादास्पद बना रहे है। कुन्दकुन्द के समय के विवाद मे तो हम आए दिन ही पढ़ रहे है। किन्ही २ साधुओ की प्रवृत्ति भी बाह्य (पर-) शोधों में ही है खेद;

पता नही, लोग क्यो स्व-शोधपरक जैन सिद्धान्त को जड-शोधो से जोड रहे है। जगह-जगह विभिन्न नामो के शोध-सस्थान खोल रहे है। हमे तो ऐसा भी सन्देह हो रहा है कि निकट भविष्य में कोई ऐसा शोध-संस्थान न खोलना पड़ जाय जो इस खोज को करे कि **उपलब्ध तथा कथित आगमों में जिनवाणी कौन सी है और पंडितवाणी कौन-सी है?** क्योकि आज जिसके मन मे जो जैसा आ रहा है—टीकाओ, व्याख्याओ मे वैसा ही लिख रहा है और सभी को जिनवाणी रूप मे पढ़ा जा रहा है, आदि। सभी प्रश्नो के हल खोजने चाहिए।

विद्वानों के बारे में—

निःसन्देह जैनधर्म की रक्षा और प्रचार मे विद्वानो का पूरा भाग है, इसे भुलाया नही जा सकता। आज हमारा जो अस्तित्व है और कुछ तन कर खड़े हो सकते है वह इन्ही की कृपा का फल है। इन्होने आड़े समयो मे भी धर्म की रक्षा की है। समाज इनके उपकारों से उऋण नही हो सकता। हमे तब दुख होता है जब समाज विद्वान् की जायज दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने से जी चुराता है और उसे अधीन समझने के बाद भी उतना नही देता जिससे वह ससम्मान गुजारा कर सके। फलतः वह अन्य मार्ग निकाल लेता है—उसका दोष नही। हाँ, उसका इतना मात्र दोष हो तो हो कि वह गृहस्थी के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझता है। स्मरण रहे—अब नए विद्वानो का निर्माण रुद्ध है और पुराने धीरे-धीरे बीत रहे हैं। अतः नव-निर्माण के लिए समाज को सोचना चाहिए और पडित पद का सम्मान कायम रहना चाहिए।

स्मरण रहे कि ज्ञानसाधना मे सतर्क आचारवान् पंडित का दर्जा किसी आचारहीन साधु से कही श्रेष्ठ है। जैसे एक सच्चे साधु को मुनि-मार्ग मे स्थिरता के लिए पहिले से ही परीषहों के सहने का अभ्यास करना होता है वैसे ही सच्चे पण्डित को अपने पाण्डित्य-पद की रक्षार्थ तंग-दस्त रहने का अभ्यस्त होना जरूरी है—उसे आगत कष्टो को सहते रहना चाहिए। यदि कष्ट न आएं तो उन्हें बुलाकर उनका मुकाबला करना चाहिए। ऐसे मे ही उसका पद प्रतिष्ठित रह सकता है। अन्यथा, सम्भव है कि पैसा-सग्रह उसे मजबूर कर विलासी और उच्छृङ्खल बनादे और वह अपनी ज्ञान-साधना से च्युत होकर चरित्र-भ्रष्ट तक हो जाय। या अपंडितो के झुण्ड मे जा बैठे—जैसा कि प्रायः हो रहा/हो गया/हो चुका है। यदि हमारा विद्वान् भर्तृहरि महाराज के '**त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुः, प्रज्ञाभिमानोन्नता.**' जैसे पाठ को पुन. पुनः दोहराता रहे तो उसका पद पुन. सुरक्षित हो सकता है।

प्रसग मे तगस्ती उपलक्षण है। इसमे अर्थ और यश दोनो की कामनाएँ भी सम्मिलित है। जब कोई अभिनदन करता है या कराता है, अभिनन्दन ग्रंथ के साधन जुटाता-जुटवाता है, पुरस्कार और भेंट आदि देता-लेता है, तब दोनो ही पक्ष गिर जाते है—देने वाला 'मैं गृहीता से ऊँचा हू—मैंने उसका सन्मान किया' और लेने वाला 'इसने मुझे ऊँचा उठाया अतः इसकी हर बात का मुझे समर्थन करना चाहिए' आदि जैसे भाव होने के कारण स्व-पद में स्थिर नही रह पाते।

हमारी दृष्टि से तो यदि जीव सम्यग्दृष्टि है तो वह स्वर्ग मे अवश्य पाश्चात्ताप करता होगा कि उसका अस्थायी और निरर्थक अभिनन्दन किसी पाप में निमित्त क्यों बना? क्या अभिनन्दन ग्रन्थ मे व्यय होने वाली विपुलराशि किन्ही असहाय जरूरतमन्दों की आवश्यकतापूर्ति कर उन्हें सुख-समृद्ध न बनाती? या कितने ही गृहीता तो इस भव मे '**जहाँ मिले तवा, परात, वहाँ गाँवें सारी रात**' जैसी प्रवृत्ति वाले भी हो सकते है। फलतः उक्त सभी प्रसंगो को सोचकर विद्वान् प्रवृत्ति करे, तभी कल्याण सम्भव है। □

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह । पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित । सं. पं. परमानन्द शास्त्री । सजिल्द । १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द । ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री । उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द । २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४२ : कि० ३ जुलाई-सितम्बर १९८९

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अग्रिम चेतावनी : सावधान !

मै नेता नहीं, पर बिन्ती तो कर ही सकता हूं कि--"जिनका नायक नहीं होता वे नष्ट हो जाते हैं और जिनके कई नायक होते है वे भी नष्ट हो जाते है।" आज धर्म के विषय में जैन के अधिसंख्य श्रावक और मुनि इसी दशा से गुजर रहे है प्रायः चारों संघ निरकुश है, मनमानी कर रहे हैं और कथित नेतागण मौन है। भला, ये कैसा नेतृत्व ? जिसमें बाड़ ही खेत को खाये जा रही हो ? हम समझे है कि यह सब एक सबल-नेतृत्व के अभाव और निर्बल-बहुनेतृत्व के सद्भाव का ही परिणाम है।

ऐसे नाजुक दौर में सब नेता पंथ-गत नेतृत्व को किनारे रख, मिल बैठें तथा सबल और निष्पक्ष एक धार्मिक नेतृत्व का निश्चय करे तथा उस नेतृत्व में 'धर्म-मार्ग-रक्षा' को समस्या को सुलझाये-शिथिलाचारियो में सुधार लाएँ। अन्यथा, वह दिन दूर नही जब दबी जुबान में काना-फूसी करने वाले खुलकर कहने को मजबूर होंगे कि ये और इनके गुरू तथा इनका धर्म सभी ढोंग है। और तब श्रावकों और दि० जैन मुनियो की चर्चा केवल प्राचीन-शास्त्रों तक ही सीमित रह जायगी। कहीं ऐसा न हो कि हम हाथ मलते ही रह जॉय ?

सुभाष जैन
महासचिव, वीर सेवा मन्दिर

कागज प्राप्ति :—श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

ओम् अर्हम्

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४२ किरण ३ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५१५, वि० सं० २०४६ | जुलाई-सितम्बर १९८९

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै ?

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै,
जाको जिनवाणी न सुहावै ।।
वीतराग सो देव छोड़ कर, देव-कुदेव मनावे ।
कल्पलता, दयालता तजि, हिंसा इन्द्रासन बावै ।।ऐसा०।।
रुचे न गुरु निर्ग्रन्थ भेष बहु, परिग्रही गुरु भावै ।
पर-धन पर-तिय को अभिलाषै, अशन अशोधित खावै ।।ऐसा०।।
पर को विभव देख दुख होई, पर दुख हरख लहावै ।
धर्म हेतु इक दाम न खरचै, उपवन लक्ष बहावै ।।ऐसा०।।
ज्यों गृह में संचे बहु अंध, त्यों वन हू में उपजावै ।
अम्बर त्याग कहाय दिगम्बर, बाघम्बर तन छावै ।।ऐसा०।।
आरंभ तज शठ यंत्र-मंत्र करि जनपै पूज्य कहावै ।
धाम-वाम तज दासी राखे, बाहर मढ़ी बनावै ।।ऐसा०।।

कनककीर्ति नाम के विभिन्न गुरु एवं मुनि

—इतिहास मनीषी, विद्यावारिधि स्व० डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन

शिलालेख संग्रहों, प्रशस्ति संग्रहो और इतिहास-पुस्तकों मे अब तक कनककीर्ति नाम के जिन १० गुरुओ का उल्लेख मिल सका है, उनका यथासम्भव कालक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण निम्नवत है :

१. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड दस, पृ० १४७ तथा पी० बी० देसाई कृत 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपीग्राफ्स, (शोलापुर, १९५७) मे पृ० २२ पर वह कनककीर्ति देव, जो गग-नरेशों के प्रसिद्ध विद्वान एव धर्मात्मा जैन महासेनापति श्री विजय के समाधिमरण स्मारक लेख के अनुसार उक्त राजपुरुष के गुरु थे (समय लगभग ८०० ई०)।

२. पेनगोल्ड के एक जैन व्यापारी के निषिधि लेख मे उसके गुरु के रूप मे उल्लिखित कनककीर्ति देव। (जैन शिलालेख संग्रह, खण्ड चार, लेख स० ५६३)।

३. 'कषाय-जय-भावना' अपरनाम 'कषाय-जय-चत्वारिंशत' (संस्कृत पद्य) के रचयिता कनककीर्ति मुनि (समय लगभग १२वी शती ई०)। (प्रशस्ति संग्रह, आरा, प्रशस्ति स० १७१-१७३)।

४. भकूर (गुलबर्ग, मैसूर) के जिनमदिर की त्रि-मूर्ति के पादपीठ पर उसके प्रतिष्ठापक रूप मे अंकित मुनि कनककीर्ति (समय लगभग १३वी शती ई०)। (जैन शिलालेख संग्रह, खण्ड पाँच, लेख १५८)।

५. महाकवि रईधू के 'सन्मति जिनचरित' (समय लगभग १४४० ई०) मे उल्लिखित सिद्धसेन के शिष्य कनककीर्ति मुनि। (प्रशस्ति संग्रह, वीर सेवा मंदिर, भाग दो, ३५)

६. 'अष्टाह्निकोद्यापन' तथा 'नदीश्वर-पंक्ति-जयमाल' (संस्कृत) के कर्ता कनककीर्ति। (प्रशस्ति स० १७३, प्रशस्ति संग्रह, आरा)

७. ईडर के भट्टारक कनककीर्ति, जिन्होने १८७५ ई० में कुंथलगिरि पर देशभूषण-कुलभूषण मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। (प० नाथूराम प्रेमी कृत 'जैन साहित्य और इतिहास', द्वितीय संस्करण, पृ० २१२, डा० कैलाशचद जैन कृत 'जैनिज्म इन राजस्थान' (शोलापुर, १९६३) पृ० ७७)

८. पावागढ़ के प्राचीन जिन मन्दिरो का १८८० ई० में जीर्णोद्धार कराने वाले भट्टारक कनककीर्ति। यह सम्भवतया ऊपर क्रमांक (७) पर उल्लिखित भ० कनककीर्ति से अभिन्न है। वहां की पाच प्रतिमाओ पर उनका नाम प्रतिष्ठापक रूप से अंकित है। (प्रेमी जी कृत उपरोक्त 'जैन साहित्य और इतिहास' मे पृ० २२०)

९. नागौर के भट्टारक क्षेमेन्द्र कीर्ति के आदेश से १८८२ ई० मे प० शिवजी लाल द्वारा रचित 'गजपथ-मडल विधान' मे जिन पुरातन मुनियो को अर्घ्य प्रदान किया गया है, उनमे एक कनककीर्ति भी है। (प्रेमी जी कृत उपरोक्त 'जैन साहित्य और इतिहास' मे पृ० १९८)

१०. मूलनन्दिसघ के नागौर पट्ट के भ० क्षेमेन्द्रकीर्ति (१८८२-८६ ई०) के प्रशिष्य, मुनीन्द्रकीर्ति के शिष्य और देवेन्द्रकीर्ति के गुरु कनककीर्ति (समय लगभग १९२५ ई०)।

टिप्पणी—उपर्युक्त लेख स्व० डाक्टर साहब द्वारा सकलित 'ऐतिहासिक व्यक्तिकोश' के अप्रकाशित अंश की पान्डुलिपि से व्यवस्थित किया गया है।

—(श्री रमाकन्त जैन के सौजन्य से)

मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व के बंध का कारण

ले० पं० मुन्नालाल जैन, 'प्रभाकर'

'अकिंचित्कर' पुस्तक मे मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व को न मानकर अनतानुबंधी कषाय को मिथ्यात्व के बंध का कारण कहा था, जिस पर मैंने मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व ही है, ऐसा अपने लेख मे लिखा था, जो अनेकान्त वर्ष ४१ किरण ३ मे छपा था। उसमे लिखा था कि मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों के बध का कारण मिथ्यात्व ही है और आगम के प्रमाण भी दिये थे तथा आगम के अनुसार १२० प्रकृतियो के बंध के कारण भी पृथक-पृथक बतलाये थे, उसके पश्चात् जैन-सदेश १६ जनवरी, १६८६ मे स्व० प० कन्छेदीलाल जी जैन ने अपने सम्पादकीय नोट मे लिखा था कि 'आचार्य श्री ने अपना मतव्य स्पष्ट किया है कि **"मिथ्यात्व आदि पांच प्रत्यय बंध के कारण है इसमें विवाद नहीं'** है किन्तु स्थिति एव अनुभाग बध कषाय से होता है।'

यह ठीक है कि स्थिति एव अनुभाग कषाय से पडता है तथा मिथ्यात्व के साथ कषाय तो रहती है और मिथ्यात्व के उदय के बिना भी कषाय रहती है किन्तु मिथ्यात्व के अभाव मे कषाय मे ७० कोडा-कोडी सागर की स्थिति डालने की शक्ति नही है, इससे सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व प्रकृति के बंध मे मूल कारण तो मिथ्यात्व है ही इसके अतिरिक्त स्थिति और अनुभाग डालने मे भी कषाय को ७० कोडा-कोडी सागर की शक्ति भी मिथ्यात्व के सहयोग से आयी है। जैसे अकेले एक अक का मान केवल एक ही होता है और यदि उसके आगे एक बिन्दु को लगा दें, तो उसका मान एक से दश हो जाता है ऐसी अवस्था मे मिथ्यात्व को अकिंचितकर नही कहा जा सकता। फिर यह विवाद समाप्त भी हो गया था, परन्तु काफी समय के बाद दुबारा उसको उठाकर विवाद खडा कर दिया गया।

एक लेख वीरवाणी वर्ष ४१, अक १२-१३ मे काफी बड़ा छपा है, उसमे बधने वाली कर्म प्रकृतियो के पृथक पृथक नाम तथा उनके बध के कारण बतलाये है, जो आगम में भी अनेक जगह मिलते है तथा हमारे लेख में भी पहले दिये जा चुके है। अब जिन बिन्दुओ पर विचार करना है, वे निम्न प्रकार है—(१) जब यह अभव्य जीव मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व का उदय रहते हुए भी व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान पूर्वक महाव्रतो मे प्रवृतिरूप आचरण करने लगता है तब उसके १६ प्रकृतियो का बंध नही होता, इसका प्रमाण समयसार की गाथा २७५ दी है ऐसा वीरवाणी मे १६० पृष्ठ पर कहा है। जब कि समयसार की गाथा २७५ मे जो कहा है वह उससे विपरीत है। समयसार की गाथा मे यह कहा है—
'सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पणो वि फासेदि।
धम्म भोगणिमित्त ण दु सो कम्मक्खय णिमित्त ॥' २७६

वह अभव्य जीव धर्म को श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है और स्पर्शता है वह ससार भोग के निमित्त जो धर्म है, उसी को श्रद्धान आदि करता है, परन्तु कर्म क्षय होने का निमित्त रूप धर्म का श्रद्धान नहीं करता। इसमे ऐसा कही नही कहा कि सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान निश्चय तथा व्यवहार रूप दो प्रकार का है, हा, मोक्षमार्ग प्रकाश (मुसद्दीलाल जैन चेरिटेबल ट्रस्ट से प्रकाशित), पृ० ४०४ पर ऐसा कहा है—विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान रूप आत्मा का परिणाम सो तो निश्चय सम्यक्त्व है, जाते यहु सत्यार्थ सम्यक्त्व का स्वरूप है। सत्यार्थ ही का नाम निश्चय है। बहुरि विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान को कारणभूत श्रद्धान सो व्यवहार सम्यक्त्व है ऐसे एक ही काल विषै दोउ सम्यक्त्व पाइए है अर्थात निश्चय का जो कारण है, वह व्यवहार होता है, अगर निश्चय नही है तो उसका कारण व्यवहार कहा से आ गया ? इससे स्पष्ट होता है कि प्रथम गुणस्थान में व्यव

हार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान तथा व्यवहार सम्यग्चारित्र कदापि नहीं बनता। वहा तो मिथ्या चारित्र ही होता है, और वह मिथ्याचारित्र बिना मिथ्यादर्शन के कदापि नही हो सकता। इससे सिद्ध है कि प्रथम गुणस्थान मे मिथ्याचारित्र का मूल कारण मिथ्यादर्शन ही है, न कि क्रियावती शक्ति जैसा कि लेख में क्रियावती शक्ति के कारण से होने वाला योग कहा है, ऐसा आगम मे कही भी देखने मे नही आया। हां, पचाध्यायी मे पृ०४६ पर क्रियावती शक्ति और भाववती शक्ति क्या है? इस बारे मे कहा है—

"तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पद लक्षणो वा स्यात्।
भाव: शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथवानिरशाशः॥१३४

इससे यह सिद्ध होता है कि जीव और पुद्गलो मे जो एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश मे जो गमन होता है, उसमे क्रियावती शक्ति कारण है और प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त अन्य गुणो मे जो तारतम्य रूप परिणमन होता है वह भाववती शक्ति है। इसीलिए जीव तथा पुद्गल के सिवाय बाकी के द्रव्यों को निष्क्रिय कहा है। प्रदेशत्व गुण के अतिरिक्त बाकी गुणो के अशो मे तरतम रूप से परिणमन होता है। अत. क्रियावती शक्ति को मिथ्या आचरण का कारण बताना आगम विपरीत है।

पचास्तिकाय पृ० २७६ गाथा १०७ की तात्पर्यवृत्ति टीका गाथा १ मे कहा है। *अथ-व्यवहारसम्यग्दर्शन कथ्यते*—

एव जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्सभावदोभावे।
पुरिसस्साभिणिबोधे दमण सद्दो हवदि जुत्ते।

अर्थ—जैसा पहले कहा है वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए पदार्थों को रुचिपूर्वक श्रद्धान करने वाले भव्य जीव के ज्ञान मे सम्यग्दर्शन शब्द उचित होता है। लेख मे वीरवाणी पृ० १६० पर लिखा है कि प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे अभव्य जीव के व्यवहार सम्यग्दर्शन से तत्त्व-*श्रद्धान व्यवहार सम्यग्ज्ञान (तत्त्व ज्ञान) पूर्वक महाव्रतो मे* प्रवृत्तिरूप आचरण करने लगता है तो उस समय उसके मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियो का बंध नही होना और इसका प्रमाण समयसार गाथा २७५ दिया है। पर, गाथा २७५ मे ऐसा बिलकुल नही कहा, उसमे तो केवल यह कहा है कि अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव संसार के भोगों के निमित्तभूत धर्म का श्रद्धान करता है, परन्तु कर्म क्षय निमित्तभूत जो धर्म है उसका श्रद्धान नही करता। मुझे तो बड़ा आश्चर्य है कि लेख में २७५ गाथा का अर्थ ऐसा कैसे कर लिया, जोंकि गाथा के बिलकुल विपरीत है। आश्चर्य है कि किसी विद्वान् ने भी इस विषय पर कुछ नही कहा। यदि आगम के अनुकूल है तो उसका खुलासा करके समर्थन करना चाहिए था अन्यथा विरोध।

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में जो मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहा गया था, पक्षपात व उसकी पुष्टि करने के लिए तोड़-मरोड़कर गाथा का अर्थ किया गया है। किन्तु गलत बात को सिद्ध करने के लिए कितने ही प्रमाण दिये जायें गलत बात सही सिद्ध नही हो सकती। गलत तो गलत ही रहेगा। हा, श्री कैलाशचंद्र सेठी जयपुर ने, तथा श्री पीयूष जी लशकर, ग्वालियर वालो ने इसका विरोध किया, जो सराहनीय है। क्योंकि मिथ्यात्व जैसे महान पाप को बंध का कारण न मानने के प्रचार से जनता का बहुत अहित होगा। साधारण जनता गहराई मे तो जाती नही है, कुछ विद्वान् भी हाँ मे हाँ करते है फिर साधारण जनता को कौन समझायेगा? साधारण जनता अनादि काल से मिथ्यात्व के चक्कर मे पड़कर ससार म भ्रमण कर रही है, उपदेश देते-२ भी मिथ्यात्व का त्याग नही करती। अगर उसको मिथ्यात्व का समर्थन भी प्राप्त हो जाय तो कहना ही क्या? निश्चय और व्यवहार तो दो नय है। नय वस्तु के स्वरूप का कथन करने वाली होती है। निश्चय नय वस्तु के सत्यार्थ स्वरूप को बतलाती है और व्यवहार नय उसके कारण को। जैसा प० दौलतराम जी ने बड़ी सरल भाषा मे कहा है, 'सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो' अर्थात् कार्य के होने पर उसमे जो कारण होता है उस कारण मे कार्य का आरोप करके व्यवहार से उसको उस रूप कहा जाता है।

जैसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का होना कार्य अर्थात् *आत्म-श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन और उसकी प्राप्ति मे* जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये सात तत्त्वों का चिंतन, जिसमे दर्शनमोह (मिथ्यात्व) का नाश होता है, वह सात तत्त्वो का चिंतन कारण है तथा सच्चे देवशास्त्र गुरु का श्रद्धान भी कारण होता है, इसलिए कारण मे कार्य का

उपचार करके इनको भी सम्यग्दर्शन कहते है, परन्तु इतना ध्यान रहे कि निश्चय सम्यग्दर्शन होने पर ही इनको व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहते है फिर प्रथम गुणस्थान मे दर्शनमोह (विपरीताभिनिवेश) के अभाव बिना व्यवहार-सम्यग्दर्शन, व्यवहार-सम्यग्ज्ञान रूप महाव्रतों का आचरण कहा से आ गया ? द्रव्यलिंगी तो मात्र बाह्य क्रियाये करता है। इसके अतिरिक्त आगम मे अनेको जगह पर बताया है।

कहा तक लिखे, तथा समयसार की गाथा १५५ मे भी परमार्थ स्वरूप मोक्ष का ही कारण बताया है।

जीवादि सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादि परिहरणं चरणं एसो दु मोक्ख पहो।

अर्थात् निश्चय से मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक्चारित्र है तथा पचास्तिकाय गाथा १०५ मे भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र को मोक्ष का मार्ग बताया है और यह भव्य जीव को होता है तथा गाथा १५९-१६१ मे निश्चय मोक्ष-मार्ग के साधन को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है, निश्चय और व्यवहार दो मोक्षमार्ग हैं, ऐसा नही कहा। इसके अतिरिक्त अष्ट सहस्री पृ० ३३५ पर कहा है कि मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व ही है तथा प० दौलतराम जी कहते है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र के वश होकर ससार मे भ्रमण करता हुआ जीव दुःख सह रहा है ऐसे महादुखदायी मिथ्यात्व को बध का कारण कैसे न कहे तथा वीरवाणी के लेख मे ये भी कहा है कि 'अभव्य जीव तत्त्व श्रद्धानी और तत्त्वज्ञानी होकर महाव्रतो मे प्रवृत्तिरूप आचरण करके उसके आधार पर चार लब्धियो को प्राप्त करता है जबकि आगम मे ऐसा कही नही कहा। आगम मे तो यह कहा है कि भव्यमिथ्यादृष्टि जीव को प्रथम चार लब्धियो की प्राप्ति होने पर (तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान या सम्यग्दर्शन कहो, एक ही बात है) मे होने का कोई नियम नही है। हाँ, पाचवी करणलब्धि के होने पर सम्यग्दर्शन (तत्त्वज्ञान) अवश्य होता है। लब्धिसार मे इसका विशेष वर्णन है। सक्षेप मे इसका वर्णन मो० मा० प्रकाश पृ० ३१७ पर इस प्रकार दिया है कि (१) ज्ञानावरणादिकर्मों का क्षयोपशम होने से आत्मा की ऐसी शक्ति का होना जिससे तत्त्वविचार कर सके, सो क्षयोपशम लब्धि, (२) कषाय की मदता का होना, जिससे तत्त्वविचार मे उपयोग लगावे, (३) देशना-जिनवाणी के उपदेश का मिलना, (४) प्रायोग लब्धि --पूर्व कर्मों की शक्ति घटकर अन्तःकोटाकोटिप्रमाण रह जाना और नवीन बध अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण सख्यातवा भाग होना।

इतना होने पर भी यदि जीवादि सप्त तत्त्वों के विचार करने मे उपयोग लगावे और जब तक करणलब्धि की प्राप्ति न हो जाय, तत्त्वविचार करता रहे, तब तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भव्य मिथ्यादृष्टि जीव को होती है। और यदि उपयोग को जीवादि सात तत्त्वो के विचार मे न लगाकर अन्य जगह लगावे तो सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती। अभव्य के तो सवाल ही नही, क्योकि अभव्य मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र को प्रकट करने की योग्यता ही नही। वह तो केवल भव्यमिथ्यादृष्टि जीव मे होती है अभव्य मे नही। तथा अभव्य जीव स्वर्ग आदि के सुखो को, जो प्राप्त करता है उसका कारण शुभोपयोग से होने वाला पुण्य है न कि प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे होने वाला महाव्रत जैसा कि लेख का आशय है।

वीरवाणी पृ० ३५० पर लिखा है कि करणलब्धि की प्राप्ति भेदज्ञानी होने पर ही होती है तथा भेदज्ञान की प्राप्ति क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना तथा प्रायोग लब्धियो की प्राप्ति होने पर होती है, ऐसा आगम मे कही नही कहा। लेख मे इसका आगम प्रमाण भी नही दिया। मोक्ष मार्ग प्र० मे पृ० ३१८ पर कहा है कि चार लब्धि वाले के सम्यक्त्व होने का नियम नही है। हाँ, करणलब्धि वाले के सम्यक्त्व होने का नियम है, जिसके सम्यक्त्व होना होता है उसी जीव के करणलब्धि होती है, अभव्य के करणलब्धि नही होती क्योकि अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव के भेदज्ञान (आत्मज्ञान) के अभाव मे जितनी भी क्रियायें होती हैं वह सब मिथ्याचारित्र होता है। यदि वह क्रियायें शुभोपयोग रूप है तो पुण्य का बध होता है और यदि अशुभोपयोग रूप होती है तब पाप का बध होता है। इसका जो पुण्य बध होता है, वह सम्यदृष्टी के पुण्य बध

से ज्यादा भी हो सकता है, जिससे मिथ्यादृष्टि अभव्य नवग्रीवक तक चला जाय और सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग तक ही जाय' जैसे दौलतराम जी ने छहढाला में कहा है—

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक लो उपजायो ।
पै निज आतमज्ञान बिना सुखलेश न पायो ।"

इसका कारण मिथ्यात गुणस्थान मे शुभोपयोग से होने वाला पुण्य है ।

वीरवाणी पृ० १६१ पर लिखा है कि मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियो का बध न होते हुए भी उसका उदय रहता है इसमे लेखक का कहना है कि उन महानुभावो को ध्यान देना चाहिए, जो मिथ्यात्व कर्म के उदय मे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बध नियम से मानते हैं पर मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बध नियम से होता है, इसका प्रमाण गोमटसार गाथा ९५ से १०३ तक प्रत्येक गुणस्थान मे कर्मों की सब प्रकृतियो की व्युच्छित्ति बताई है । उसमे प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे १६ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही है अर्थात् १६ प्रकृतियो का बंध मिथ्यात्व गुणस्थान मे नियम से होता है, उससे आगे के गुणस्थान मे नही होता । क्योंकि वहा बध का कारण मिथ्यात्व का अभाव है । इसी प्रकार आगे के गुणस्थानो मे बध के कारणों के अभाव हो जाने से बाकी प्रकृतियो की व्युच्छित्ति होती जाती है उनकी संख्या तथा नाम इन्ही गाथाओ मे बताये है । तथा गाथा ९७ मे स्पष्ट कहा है कि ये बंध व्युच्छित्ति नियम से होती है । गाथा—

अयदे विदिय कसाया वज ओराल मणु दुग णुमा वाऊ ।
देसे तदिय कसाया णियमेणिह बध वोच्छिण्णा ।।

इसके अतिरिक्त मो० मार्ग प्र० पृ० ३३ पर भी कहा है—"शुभयोग होउ वा अशुभयोग होउ, सम्यक्त्व पाये बिना घातिया कर्मन की तो समस्त प्रकृतिनिका निरंतर बंध हुआ ही करे है, कोई समय किसी भी प्रकृति का बंध हुआ बिना रहता नाही । बहुरि अघातियानि की प्रकृतिनिविसै शुभोपयोग होते पुण्य प्रकृतिनि का बध हो है ।' इस सब कथन का सारांश यह है कि मिथ्यात्व के बध का कारण मिथ्यात्व ही है अन्य कोई कारण नहीं । ऐसा आगम मे सब जगह कथन है । इसके विपरीत अन्य कोई कारण आगम में देखने मे नहीं आया और न वीरवाणी के लेख मे ही कोई आगम-प्रमाण दिया है । और ना ही जो प्रमाण दिये है उनमे ही कही मिथ्यात्व के बध का कोई दूसरा कारण बताया है ।

सभी भाँति 'मिथ्यात्व ससार-भ्रमण का मूल है, इसे अकिंचित्कर' सिद्ध करने का प्रयत्न करना तीर्थंकरो की वाणी के प्रति बगावत करना और जिनवाणी को झुठलाना है । फलत: ऐसा वचन जिनवाणी नही हो सकता, भले ही उसे 'आधुनिक-गुरुवाणी' कह दिया जाय ! हाँ, इतना अवश्य है कि—सभी गुरु छद्मस्थ होते है—अत: उनकी वाणी मिथ्या भी हो सकती है । हमे तो आश्चर्य है कि 'अकिंचित्कर' की पुष्टि मे सलग्न कुछ विद्वान् पक्षपात के व्यामोह में पड़, क्यो अपनी विद्वत्ता को प्रदर्शित कर रहे है ? ऐसे प्रयास से तो उनकी प्रतिष्ठा को बट्टा ही लगा है— ऐसा हमारा मत है ।

२१३४, दरियागंज, दिल्ली

"मिथ्याभाव अभाव तै, जो प्रगटै निज भाव ।
सो जयवन्त रहो सदा, यह ही मोक्ष उपाय ।।
इस भव के सब दुखनि के, कारण मिथ्याभाव ।
तिनकी सत्ता नाश करि, प्रगटै मोक्ष उपाय ।।
बहु विधि मिथ्या गहन करि, मलिन भयो निज भाव ।
ताको होत अभाव ह्वै, सहजरूप दरसाव ।।"

अज्ञात कायस्थ कवि-जिनधर्मी प्यारेलाल

□ सुषमा राहुल, एम० ए०, (शोध-छात्रा)

हिन्दी साहित्य में जैन साहित्यकारो की उपेक्षा के कारण हिन्दी साहित्य का इतिहास अपूर्ण है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि एव विद्वान भूतपूर्व कुलपति विक्रम-विश्वविद्यालय ने एक कृति 'जैन कथाओ का सांस्कृतिक अध्ययन' की भूमिका मे यथार्थ ही लिखा है। अभी तक जितने हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे गये है, उनकी सबसे बड़ी कमी यही रह गई है कि साहित्य की विभिन्न विधाओ के विकास मे जैन साहित्य के योगदान का आकलन ठीक प्रकार से नही किया जा सका।

जिस दिन कोई सुधी प्रबन्ध-काव्य, नाटक, कहानी आदि के विकास मे इस कड़ी को जोड़ देगा, उस दिन हिन्दी-साहित्य सचमुच ही वैभवशाली हो सकेगा। जैन-साहित्य की बहुमूल्य देन से वचित होकर हमारा साहित्य अभी वचितो की श्रेणी में है।

किन्तु इससे अधिक दुर्भाग्य का विषय है—जैन-साहित्य के इतिहास मे भी अनेक समर्थ साहित्यकारो का उल्लेख तक नही मिलता। सम्पूर्ण भारतवर्ष के जैन-शास्त्र-भण्डारों मे अनेक प्राकृत, सस्कृत, हिन्दी एव विविध भाषाओ की कृतिया अपने उद्धार की प्रतीक्षा में मौजूद है।

गुना जिले की प्राचीनता असंदिग्ध है। चन्देरी, बूढ़ी चन्देरी, तूमैन, थूबोन, बजरगढ़ अनेक ऐतिहासिक स्थल है। गुना जिले के अधिकांश देवालयो मे हस्तलिखित, प्रकाशित एव अप्रकाशित ग्रन्थ उपलब्ध है, इन्ही शास्त्र-भण्डारो के आधार पर कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी के व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दिया जा रहा है।

कायस्थ श्री प्यारेलाल की जीवनी अज्ञात है, बजरगढ़ के देवालय मे एक हस्तलिखित पोथी प्राप्त हुई है जिसमें स्वयं प्यारेलाल जी ने लिखा है—

पोथी फुन्दीलाल की मुकाम बजरंगढ के बासी। अक्षर लाला प्यारेलाल कायस्थ के उस वख्त लड़काबारे पढ़ा, उसे संवत १६१०, पौष शुद्ध १,, इसी से प्रतीत होता है कि उनका बाल्यकाल बजरंगढ़ मे बीता, तत्पश्चात वह ईसागढ़ आकर बस गये। ईसागढ़ उस समय तात्कालिक महाराज जार्ज जीवाजीराव सिन्धियों के राज्य के अन्तर्गत एक जिला था।

कायस्थ श्री प्यारेलाल के हमे दो रूप देखने को मिलते हैं—लिपिकार एव कवि। कायस्थ श्री प्यारेलाल जन्मजात जैन नही थे। किन्तु 'महावीराष्टक' के रचनाकार एवं जैनदर्शन के तलस्पर्शी मनीषी कवि एव विद्वान् पडित भागचन्द जी के सम्पर्क मे आने के कारण उनका जैन-दर्शन से परिचय हुआ, और उस महान व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर अपने को कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी लिखने लगे। अभी तक उनके द्वारा लिपिकार के रूप मे लिपि की गई सम्वत २०८६ की पाँडुलिपि उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, ग्राम पिपरई मे उपलब्ध हुई है। पडित भागचन्द जी की इस कृति मे उन्होने लिखा हैं—"इस पोथी के हरफ लिखे लाला प्यारेलाल कायस्थ जिनधर्मी ने।"

नाम माला उनकी एक स्वतंत्र एव मौलिक कृति है, इसके अतिरिक्त संवत २०१६ की एक हस्तलिखित पोथी में उनके द्वारा लिखे १८ गीत उपलब्ध होते हैं। नाममाला के शुभारम्भ मे कवि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि महान ज्ञानी एव प्रसिद्ध पडित भागचन्द की संगत में आकर उनकी जैनधर्म मे श्रद्धा उत्पन्न हुई।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः,
अथ नाम माला लिख्यते,
बंदो पाँचों परम गुरु,
मन वच शीश नवाय,

तिनके ही प्रताप से,
नसे विघ्न समुदाय,
बंदों जिनवाणी विमल,
जग माता सिर मौर,
तुम बिन को संसार से,
तार दिये शिव ठौर।

भागचन्द जी भाई

भागचन्द भाई महाज्ञानवान विख्यात।
तिनकी सगत पाय हम परखी जिन-ध्वनि बात॥
तब सम्यक सरधा भई, गई मुधा मत रीत।
सुधा जैन वचनान की, लगी निरन्तर प्रीत॥
ईसागढ़ माही बसे, कायस्थ प्यारेलाल।
बाल-बोध कारण निमित्त, रची नाम की माल॥
संवत सन् उन्नीस अरु, ऊपर सत्रह साल।
भादव शित पड़िमा सुदिन, बरतें पंचम काल॥

कवि कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी के अभी तक १८ गीत उपलब्ध हुए है। गीत के मूल्यांकन के पूर्व तीन गीत दिये जा रहे है—

न छोड़ी डौरतियाँ थारे चरण की,
ये जन्म भए चरन के चेरे,
हरी व्यथा जिन जनम मरण की,
न छोड़ी डौरतिया थारे चरण की,
तुमरे चरण-कमल ध्यावत,
पावत निधि शुभ ज्ञान चरन की,
न छोड़ी·····

जब लग चरण बसे प्यारे उर,
नास करो गति करम अरिन की,
न छोड़ी डौरतियाँ थारे चरण की॥

"जिनवाणी से नेह लगो,
जास, उदोत, जोत, रवि ऊगत,
मिथ्याति मृग भगो,
कुगुरु कुदेव धर्म लखे,
ये जिमि रंग पतंग लगो,
जिनवाणी से नेह लगो,
कल्पित ग्रन्थ रचे स्वारथ वश,
ता भ्रम जीव ठगो,
प्यारेलाल काल बहु सोयो,
सो जिन ध्वनि सुनत जगो
जिनवाणी से नेह लगो।"

× ×

श्रावक धर्म पाले नहीं,
जैनी हुआ तो क्या हुआ ·····
स्वाध्याय सुमरन ध्यान लग,
मिल मंद मति खेले जुआ'
वृषभादि अमृत द्वार तज,
अघवारि जल खोदे कुआ,
प्यारे धर्म धारे बिना,
गति चार में जन्मा मुआ,
जैनी हुआ तो क्या हुआ ?"

—कवि प्यारेलाल

कवि प्यारेलाल द्वारा रचित गीत उनकी प्रारम्भिक साधना काल के गीत प्रतीत होते है। किन्तु उनकी अपनी विशिष्ट शैली है, जिस बात को वे कहना चाहते है, कम-से कम शब्दों मे बड़ी सफाई मे अभिव्यक्त करते है। भाषा में बुन्देलखण्डी, राजस्थानी भाषा का सम्मिश्रण है। उनके चार-पाच पंक्तियो के गीत हृदय को छू लेते है। आवश्यकता है कि उनके अन्य गीतो की शोध की जाये।

नाममाला कवि कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी की एकमात्र दुर्लभ कृति है।

उपलब्ध पांडुलिपि का विवरण

नाम-माला

पांडुलिपि के पृष्ठ की ल० १ फुट १ इंच × ७ इंच, पृष्ठ सख्या—८०, दोहों की सख्या—६८६, लेखन-काल—१६१७, सवत भादो सुदी पचमी॥

नाम माला जैन धर्म के सन्दर्भ मे दोहो के माध्यम से अधिकतम ज्ञान देने वाली दुर्लभ कृति है। इस कृति मे श्रावकों से लेकर श्रमणो की आचार सहिता, स्वर्ग, नरक

(शेष पृ० १२ पर)

दर्शन-पाहुड : एक चिन्तन

□ डॉ० कस्तूरचंद्र 'सुमन'

आध्यात्मिक क्षेत्र में भगवान् महावीर के पश्चात् हुए आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द का योगदान सर्वेव स्मर्णीय रहेगा। उन्होने अपने आध्यात्मिक जीवन मे जो अनुभव प्राप्त किये, उन्हें अपने तक ही सीमित बनाये रखना उन्हें इष्ट नही रहा। उन्होंने अपने अनुभवो को युक्तियो के द्वारा ग्रन्थों के माध्यम से जन-जन तक पहुंचाया है। उनके ग्रन्थ आज जीवों के कल्याण मे कारण बने हुए है।

आचार्य-प्रणीत 'पाहुड' ग्रथो मे सर्वप्रथम रचा गया 'दर्शनपाहुड' ग्रथ है। इसमे मात्र छत्तीस गाथाएं है किन्तु उनमें प्रतिपादित विषय आत्मकल्याण की दृष्टि से हृदय-ग्राही है। इसका अध्ययन-मनन और चिन्तन करने से मुमुक्षु को अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का सहज ही बोध हो जाता है और वह बोधि की प्राप्ति मे लग जाता है।

इसमे प्रथम गाथा मे वृषभदेव और वर्द्धमान की वन्दना की गयी है। शेष गाथाओ मे सम्यक्त्व का महत्त्व (गाथा २-१२), सम्यक्त्व का स्वरूप—(गाथा १६-२१) सम्यक्त्व के कारण (गाथा १४-१८) और कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध (गाथा २२-३६) कराया गया है। इस प्रकार अल्पकाय होते हुए भी अध्यात्म के क्षेत्र मे इसका बड़ा महत्त्व है। यदि यह कहा जाय कि आचार्य ने 'गागर मे सागर' भर दिया है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

मंगलाचरण में आचार्य की अव्यक्त भावना—आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रस्तुत ग्रथ मे तीर्थंकर वृषभदेव और वर्द्धमान को नमस्कार किया है।[1]

गाथा मे प्रयुक्त 'जिन-वर' शब्द मे 'व' और 'र' अन्तस्थ वर्ण है। कोशकारो द्वारा मान्य अन्तस्थ वर्णों के 'य र ल व' क्रम मे[2] 'र' वर्ण दूसरे और 'व' वर्ण चौथे क्रम मे आने से 'वर' शब्द चौबीस सख्या का प्रतीक ज्ञात होता है। प्रस्तुत गाथा मे आदि और अन्तिम तीर्थंकरो के नामोल्लेखों का तात्पर्य भी यही है। इससे आचार्य की चौबीसों तीर्थंकरों को नमस्कार करने की भावना अभिव्यक्त होती है। आचार्य अकलकदेव ने भी इसी प्रकार लघीयस्तोत्र के आदि मे ऋषभ और महावीर का नाम-स्मरण कर चौबीसो तीर्थंकरो को नमन किया है।[3]

रचना का उद्देश्य—प्रस्तुत रचना का उद्देश्य आत्म कल्याण मे प्रवृत्ति और भव-बन्धनकारी प्रवृत्तियो से निवृत्ति के उपाय बताकर जीवो को मोक्षमार्ग मे सयोजित करना रहा ज्ञात होता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों मे दो साध्य और दो उनके साधन हैं। इनमे काम और मोक्ष साध्य है। इनके साधन है अर्थ और धर्म। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष के लिए धर्म को उपादेय बताया। उन्होंने इसीलिए ग्रंथके आरम्भ मे ही धर्म का मूल समझा देना आवश्यक समझा था। उन्होने कहा कि जिस धर्म से जीव को ससार के दुःखो से उत्तम सुख की ओर ले जाया जा सकता है उस कर्मविनाशक धर्म[4] का मूल दर्शन है।[5] उनका उद्देश्य था दर्शन सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत करना। ग्रथ की विषय वस्तु से ज्ञात होता है कि आचार्य अपने उद्देश्य मे सफल रहे है।

दर्शन का अर्थ—सामान्यतः दर्शन के तीन अर्थ प्राप्त होते है—(१) दृश् धातु मे ल्युट् प्रत्यय के संयोजन से निष्पन्न अर्थ देखना। (२) जिसके द्वारा देखा जावे।[6] (३) षड्दर्शन—बोद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनी।

आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शन की व्याख्या उक्त दर्शन के सामान्य अर्थों से भिन्न की है। भिन्नता का कारण है उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति और जीव कल्याण हितैषी भावना। उनकी दृष्टि मे दर्शन का अर्थ था—"सम्यक्त्व,

सयम और आत्मा के उत्तम क्षमा आदि निजधर्म रूप निर्ग्रन्थ ज्ञानमयी मोक्षमार्ग का दर्शन कराने वाला।[६]

यहा मोक्षमार्ग का दर्शक होने से दर्शन का अर्थ रत्नत्रय नही है। दर्शन का अर्थ है—सम्यक्त्वमयी दर्शन[७] और सम्यक्त्व का स्वरूप है—आगमोक्त षड्द्रव्य, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय और सप्त तत्त्व पर श्रद्धा।[८] आचार्य ने इसे व्यवहार सम्यग्ज्ञान और आत्मिक श्रद्धान को निश्चय सम्यग्दर्शन बताया है।[९]

कुन्दकुन्द के दार्शनिक विचार—कुन्दकुन्द की आस्था प्रदर्शन मे न रहकर दर्शन मे थी। वे जानते थे कि दर्शन दिखाने की वस्तु नही है। दिखाने से सुख नही दुःख ही प्राप्त होते है। बिना भावो के क्रियाएँ सुखकारी नही होती।[१०] इसीलिए उन्होने दर्शन को भावपूर्वक धारण करने के लिए कहा।[११]

कुन्दकुन्द पहले आचार्य है जिन्होने मानवो का तलस्पर्शी अध्ययन किया था। वे समझ गये थे कि शक्ति के बाहर धारण किया गया दर्शन स्थिर नही रह सकेगा। इसीलिए उन्होने उद्घोषणा की थी कि जितनी शक्ति हो, उतना ही दर्शन धारण करना चाहिए। यदि शक्ति न हो तो उस पर श्रद्धान अवश्य रखे क्योकि केवली जिनेन्द्र का वचन है कि सम्यक्त्व श्रद्धावान के ही होता है।[१२]

इस उद्घोषणा का फल यह हुआ कि चारित्र से शिथिल या च्युत हो जाने पर भी श्रद्धा बनी रहने से जीव पुनः आत्मकल्याण मे प्रवृत्त हुए। मुनि माघनन्दि का उदाहरण इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है।

आचार्य की मान्यताएँ शाश्वत है। दर्शन को मोक्ष का प्रथम सोपान होने की मान्यता[१३] आज भी प्रचलित है। प० दौलतराम द्वारा दर्शन को मोक्ष-महल की प्रथम सीढी कहा जाना इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय उदाहरण है।[१४] उनकी मान्यता थी कि दर्शन से जो जीव च्युत हो जाते है वे सासारिक दुःखो से मुक्त नही हो पाते। ससार मे ही भटकते रहते है। उनको मुक्ति की प्राप्ति नही होती। चारित्र से च्युत तो सिद्धि को प्राप्त हो जाते है, क्योकि वे पुनः दर्शन धारण कर लेते है।[१५]

आचार्य की दृष्टि मे मनुष्य के लिए यदि कोई सारवस्तु थी तो वह था ज्ञान। परन्तु सम्यक्त्व को उन्होने ज्ञान से भी बढ़कर माना था क्योकि ज्ञान और चारित्र सम्यक्त्व बिना नहीं होते और मोक्ष बिना चारित्र के नही होता।[१६] उन्होने जीव को सिद्ध होने मे सम्यक्त्व सहित ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र चारो की अपेक्षा की है।[१७] उनकी मान्यता थी कि जो बहुत शास्त्रों के पारगामी होकर भी सम्यक्त्व से रहित है, वे भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधनाओ से रहित होकर ससार मे ही भ्रमते है।[१८]

सम्यक्त्व का महत्त्व दर्शाते हुए उन्होंने कहा है कि सम्यक्त्व के बिना करोड़ो वर्ष तक उग्र तप करने पर भी बोधि-सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।[१९] दर्शन वृक्ष की जड के समान है। जड के न रहने से जैसे वृक्ष की शाखाएँ नही बढती, ऐसे ही दर्शन के बिना जीव मुक्त नही होता।[२०] तीर्थंकरो के पचकल्याणक भी विशुद्ध सम्यक्त्व के होने पर ही होते है।[२१]

सम्यक्त्वी के कर्त्तव्य—आचार्य ने सम्यक्त्वी को तीन देव ही आराध्य बताये है। उनकी दृष्टि मे चौसठ चमरों और चौतीस अतिशयो से युक्त प्राणियो के हितकारी और कर्मक्षय के कारण अर्हन्त प्रथम देव है।[२२] जरा और मरण-व्याधि के हर्ता, सर्वदुःख-क्षयकर्त्ता, विषय-सुख दूर करने के लिए अमृत तुल्य औषधि स्वरूप जिनवाणी दूसरा[२३] और तीसरे गुरु है। गुरुओ मे प्रथम निर्ग्रन्थ साधु दूसरे उत्कृष्ट श्रावक और तीसरे आर्यिकाओ का उल्लेख किया गया है।[२४]

कुन्दकुन्द की दृष्टि में वन्द्य और अवन्द्य—आचार्य ने उत्पन्न हुए बालक के समान सहज उत्पन्न निर्विकारी निर्ग्रन्थ रूप को वन्द्य कहा है। उनकी मान्यता है कि जो ऐसे सहज उत्पन्न रूप को देखकर मात्सर्य से नमन नही करता वह सयमी भी क्यो न हो, तो भी मिथ्या दृष्टि ही है[२५] सम्यक्त्व रहित है जो शीलव्रतधारी दिगबर साधुओ को नमन नही करते।[२६]

आचार्य की दृष्टि मे वस्त्रविहीन वे साधु भी वन्द्य नही, जो असयमी है। आचार्य ने देह, कुल और जाति

वन्ध नही माना। वे गुणहीनो को नमन करने के पक्ष मे नही रहे।[१७] उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे दर्शन-विहीन जन अवन्ध[१८] बताये है।

आचार्य की मान्यता थी—कि दर्शन से भ्रष्ट जो पुरुष, सम्यग्दृष्टियो से नमस्कार कराते है वे लूल और गूंगे होते है। बोधि न इन्हे प्राप्त होती है[१९] और न उन्हे प्राप्त होना है, जो लज्जा, भय या गौरव के कारण दर्शन-भ्रष्ट साधु की वन्दना करते है।[२०] अतः सुखी होने के लिए दर्शन को धारण करना और दर्शनधारियो को ही नमन करना आवश्यक है।

जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी

सन्दर्भ-सूची

१. 'काऊण णमुक्कार जिणवर वसहस्स वड्ढमाणस्स।' दर्शनपाहुड : गाथा प्रथम।

२. प्राकृत-हिन्दी कोश : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान आई. टी. आई. रोड वाराणसी, ई. १९८७ प्रकाशन।

२-ब धर्मतीर्थकरेभ्यऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्य. स्वात्मोपलब्धय ॥
जैन शासन का ध्वज, वीर निर्वाण भारती, मेरठ प्रकाशन, पृ० २२।

३. देशयामि समीचीन धम कर्मनिबर्हणम्।
ससारदु.खतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥
आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार: श्लोक २।

४. 'दसणमूलो धम्मा······'
दर्शनपाहुड : गाथा २।

५. 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्'
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : भाग २, पृ० ४०५।

६. दसेई मोक्खमग्ग सम्मत्तसयम सुधम्म च।
णिग्गथ णाणमय जिणमग्गो दसण भणिय ॥
बोधपाहुड : गाथा १४।

७. 'लह दसणम्मि सम्म······'
वही, गाथा १५।

८. छह दव्व णव पयत्था पचत्थी सत्त तच्च णिदिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूव सो सदिट्ठि मुणेयव्वो ॥
दर्शनपाहुड . गाथा १९।

९ जीवादि सद्दहण सम्मत जिनवरेहि पण्णत्त।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत ॥
वही, गाथा २०।

१०. जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव दुःखपात्र।
यस्मात्क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥
कल्याणमन्दिर स्तोत्र . श्लोक ३८।

११. एव जिणपण्णत्त दसण रयण धरेहभावेण।
दर्शनपाहुड गाथा २१।

१२. ज सक्कइ त कीरइ ज च ण सक्कइ त य सद्दहण।
केवलिजिणेहि भणिय सद्दहमाणस्स सम्मत्त ॥
वही, गाथा २२।

१३. सारगुण रयणत्तय सोवाण पढम मोक्खस्स।
वही, गाथा २१।

१४. मोक्षमहल की परथम सीढि, या बिन ज्ञान चरित्रा।
छहढाला . तीसरी ढाल, अन्तिम पद्य।

१५. दसणभट्टाभट्टा दसणभट्टस्स णत्थिणिव्वाण।
सिज्झति चरियभट्टा दसणभट्टा ण सिज्झति ॥
दर्शनपाहुड : गाथा ३

१६. णाण णरस्स सार सारोवि णरस्स होइ सम्मत्त।
सम्मत्ताओ चरण चरणाओ होइ णिव्वाण ॥
वही, गाथा ३१।

१७. णाणम्मि दसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।
चोक्कपि समाजोगे सिद्धा जीव ण सन्देहो ॥
वही, गाथा ३२।

१८. वही, गाथा ४।

१९. सम्मत्त विरहियाण सुट्ठु वि उग्ग तव चरताण।

ण लहति वोहिलाह अवि वास सहस्सकोडीहिं ॥
वही, गाथा ६।

२० जहमूलम्मिविणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परिवड्ढी।
तह जिणदसण भट्टा मुलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥
वही, गाथा १०।

२१. कल्लाण परपरगा लहति जीवा विशुद्ध सम्मत्त।
वही, गाथा ३३।

२२. वही, गाथा २६।

२३. वही, गाथा १७।

२४ एक्क जिणस्स रूप वीय उक्किट्ठ सावयाणतु।
अवरीट्ठयाण तइय चउथं पुण लिंग दसणे णत्थि ॥
वही, गाथा १८।

२५. सहजुप्पण्णं रूवं दिट्ठ जो मरण्णए णमच्छरिऊ।
सो सजम पडिवण्णो रूव दट्ठण सील महियाण ॥

वही, गाथा २४।

२६. वही, गाथा २५।

२७. असंजदं ण वन्द वच्छविहीणोवि सो ण वन्दिव्वो।
णवि देहो वंदिज्जइ णवि य कुलो णवि य जाइ संजुतो
को वंद्दवि गुणहीणो .... ॥
वही, गाथा २६-२७।

२८. दसणहीणो ण वंदिव्वो।
वही, गाथा २।

२९ जे दसणेसुभट्टा पाए पाडन्ति दसणधराणा।
ते हुंति लुल्लमूआ बोहि पुण दुल्लहा तेंसि ॥
वही, गाथा १२।

३०. जेवि पडन्ति च तेंसि जाणन्त लज्जगारव भयेण।
तेसिंपि णत्थि बोही पाव अणमोय माणाण ॥
वही, गाथा १३।

(पृ० ८ का शेषांश)

का वर्णन एव जैन धर्म की अधिकतम पारिभाषिक शब्दावली को एक स्थान पर सकलित करने का अनुपम प्रयत्न है। इस कृति के अध्ययन के पश्चात् कोई भी विद्वान् यह स्वीकार करने मे सकोच नही करेगे कि कायस्थ प्यारेलाल जैन-दर्शन के तलस्पर्शी विद्वान् थे। इस कृति के लिए समाज को उनका ऋणी होना चाहिए। प्रत्येक दोहे के पूर्व उन्होंने विषय-वस्तु को दर्शाने वाले शीर्षक दे दिये है: सम्पूर्ण कृति का सार सक्षेप मे लिखना अत्यन्त कठिन कार्य है। उदाहरण के लिए कुछ दोहे प्रस्तुत है—

एक भाग से दूसरा, जिसका काल न होय।
सोई समय सर्वज्ञ ने, कहो ज्ञान दृग जोय ॥

× × ×

हस्तदोय, पगदोय, सिर, मन वच काय मिलाय।
अष्ट अंग संयुक्तकर, नमस्कार जिनराय ॥

चार कषाय—

क्रोध, मान, माया अरु लोभा।
इन जुत जीवन पावहि भोगा ॥
एही चार कषाय विनाशी,
तिन सुख लहो अतुल अविनाशी।"

कृति के अन्त मे कवि ने २०१ जैन ग्रन्थो को ३६ चिकित्सा सम्बन्धी, १३ शृगार, २६ ज्योतिष, १४ शब्द-कानून, १६० व्याकरण, ८ महाकाव्य, ४ व्याकरण २ अन्य, इस प्रकार ३२० ग्रन्थो की सूची दी है। इस सूची के अध्ययन से यह सहज ज्ञात हो सकता है, कि कितने कितने ग्रन्थ काल कवलित हो गये। कायस्थ प्यारेलाल जिनधर्मी की यह बहुमूल्य कृति है, यह उनके महान ज्ञान और श्रम की साक्षी है।

जैन साहित्यकारो मे कविवर भागचन्द जी प्रथम साहित्यकार प्रतीत होते हैं, जिन्हे समकालीन कवियो ने स्मरण किया। जिनका प्रतिबोध पाकर कायस्थ प्यारेलाल जिन-धर्मी हो गये, उनके गुरु कवि एव विद्वान् भागचन्द की प्रतिभा का सहज अनुमान किया जा सकता हैं।

उनके उपलब्ध साहित्य और अनुपलब्ध साहित्य पर शोध किया जाना वर्तमान युग की अनिवार्यता है।

राहुल स्पोर्टस, गिफ्ट सेन्टर
गुना, (म०प्र०) ४७३००१

दिगम्बर-मुनि

... बाबूलाल जैन, कलकत्ते वाले

आगमानुसार छठे-सातवे गुणस्थानवर्ती ही मुनि होते हैं, जिनके कषायों की तीन चौकड़ी अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का तो अभाव हो गया हो और मात्र केवल सज्वलन कषाय का उदय हो। तीन चौकड़ी के अभाव से उतनी वीतरागता अर्थात् निवृत्ति हुई और एक चौकडी के सद्भाव से प्रवृति होती है। वह प्रवृति अट्ठाईस मूलगुणों की लक्ष्मण रेखा को पार नहीं कर सकती है। अगर अट्ठाईस मूल गुणो की मर्यादा का लोप होता है तो फिर एक चौकडी की जगह दो चौकडी का काम चालू हो जाता है और गुणस्थान छठे से पाँचवां हो जाता है, यद्यपि बाहरी भेष नग्न दिगम्बर ही रहता है। यदि एक अन्तर्मुहुर्त में छठे से सातवे मे नहीं जाते है तो भी छठा गुणस्थान मिटकर पांचवां हो जाता है। सातवें मे जाने का अर्थ है निर्विकल्प चेतना का अनुभव होना। किसी प्रवृत्ति को करना और रोकने का नाम छठा-सातवा नही है। रात्रि मे सोते हुए भी मुनि के अन्तर्मुहुर्त मे छठे मे सातवा होना ही चाहिए। उसकी अवस्था आचार्यों ने ऐसी बताई है जैसी उसी मुसाफिर की दशा, जो रात्रि मे स्टेशन पर रत्नो का पिटारा लिए बैठा है और झपकी ले रहा है साथ-साथ में पिटारे पर हाथ रखे है और उसको सम्भालता भी जा रहा है। ऐसे मुनि को आचार्यों ने चलता-फिरता सिद्ध की उपमा दी है। जैसे लुहार की सँडासी क्षण मे आग मे और क्षण मे पानी में होती है, जैसे हिन्डोले मे झूलता हुआ आदमी, जो कभी ऊपर की तरफ जाता है और कभी नीचे की तरफ आता है। ऐसा ही वह दिगम्बर मुनि क्षण मे आत्मानुभव का स्वाद लेता है क्षण मे बाहर आता है तो २८ मूल गुणों मे पांच समिति रूप प्रवृति होती है उसके बाहर प्रवृति होने के लायक कषाय ही नही रही।

जिन लोगो के सम्यकदर्शन नही है और मुनिपना धारण कर लिया है उनके कर्मफल के अलावा और कही ठहरने को जगह नही है, क्योकि स्वभाव की प्राप्ति तो हुई नही इसलिए एक कर्मफल से हटकर दूसरे कर्मफल में ठहर जाता है परन्तु कर्म-चेतना और कर्मफल चेतना मे ही लगा रहता है। इस प्रकार कर्मफल मे ही लगकर अहम् भाव को प्राप्त करता है, उसी को धर्म मानकर अहकार मे ग्रसित रहता है, जब अहकार को ठेस लगती है तो क्रोध मे पागल हो जाता है और जब अहकार की पुष्टि भक्तो के द्वारा, अखबार मे नई-नई पोज की फोटो के द्वारा, राजनैतिक लोगो के द्वारा अथवा सभा-सोसाइटियो द्वारा होती है, तब अह और गहरा हो जाता है। नही होने पर मायाचारी के द्वारा अह को पुष्ट किया जाता है इस प्रकार कर्म-चेतना मे लगा रहता है। इस प्रकार ज्ञान-चेतना का अनुभव न करके कर्म-चेतना का भोग करता है, जिससे चारो चौकडियो का बध होता रहता है। परिणामो मे सरलता नही रहती—पाखण्ड और मायाचारी जीवन का स्तर बन जाती है। इस प्रकार आप ही अपने जीवन का नारकीय जीवन बना लेता है। गृहस्थ के इतना मायाचार और पाखण्ड तो नही था इसलिए जीवन कदाचित् सरल हो सकता था अन्त मैं शान्ति का अनुभव कर लेता था। अब तो ऐसा हो गया कि साप के मुह मे छछुन्दर आ गया, न निगला जाता है और न छोड़ा जाता है। कषाय तो मिटी नही—मेटने का उपाय किया भी नही और भेष निष्कषाय का बना लिया, इसलिए वह कषाय बाहर आने के लिए नये-नये बहाने बनाकर बाहर आती है और उसको धर्म का चोला पहनाय कर अपने को ठगा जाता है और साथ-साथ मे समाज और अजान भक्त भी ठगाई मे आ जाते हैं। अनजान भक्तो को सस्ता धर्म मिल गया, जो पैसे से

खरीदा जा सकता है चाहे हमारा आचरण कैसा भी क्यो न हो। पैसे देकर स्वर्ग मोक्ष की टिकट खरीदी जाती है, अनेक प्रकार की उपाधियाँ और मान-पत्र खरीदे जाते हैं। इन सबके पीछे छिपी हुई है हमारी कषाय। अज्ञान भक्त शिथिलाचार को बढ़ावा देते है, उनको पुजवाते है, उसको पोषते है और शिथिलाचारी अन्ध-भक्तो का मान कषाय को बढ़ावा देता है। दोनो इसी काम मे लगे हुए है कुछ विद्वानो का भी पोषण इनके द्वारा होता रहता है इसलिए वे भी दोनो की हां मे हां मिलाते रहते है।

अगर बिना सम्यकदर्शन के भी मुनिव्रत धारण किया हो और व्रत लेने वाला यह माने कि मैंने मुनिव्रत तो लिया है परन्तु जब तक सम्यकदर्शन नही होगा तब तक मेरा मोक्ष-मार्ग नही होगा, व्रतो मे सच्चाई नही आयगी। मुझे सम्यकदर्शन प्राप्त करना है, जिसके बिना द्रव्यलिंगी मुनि को भगवान कुन्दकुन्द ने ससार-तत्त्व कहा है। जो मुनि २८ मूल गुणो का अच्छी तरह पालन करे, शरीर से चमड़ा भी खैंचकर उतारा जावे, तो भी मुह से आह न बोले फिर भी सम्यकदर्शन के बिना उसे संसार-तत्त्व कहा है। वहां उन शिथिलाचारियों को तो कोई स्थान ही नही है, जो परिग्रह रखते है—सावद्य कर्मों में लगे हुए है और २८ मुल गुणों का दिखावा मात्र करते है। अतः सम्यकदर्शन प्राप्त करने की चेष्टा निरन्तर रखे ऐसा व्यक्ति भद्र-परिणामी के बाहरी क्रियाएँ कदाचित अहंकार पैदा न भी करे और परिणाम सरल रह सकते है। परन्तु जिन्होने बिना सम्यकदर्शन के अपने को सम्यकदृष्टि मान लिया और अपने को पुजवाना ही धर्म मान लिया, उनके अहंकार का कौन रोके। इतना भी विचार नही रहता है कि यह भगवान आदिनाथ का भेष मैंने धारण किया है, और पिच्छि रूप मे आदिनाथ के चिह्न को हाथ मे लिया है, मेरे रहते इस भेष की, इस चिह्न की मर्यादा भग न हो जावे अन्यथा मेरा जीवन ही बेकार है। परन्तु उस भेष को और उनके चिह्न को भी अपनी कषाय पोषण को दांव पर लगा देता है। यह कैसी कषाय है? ऐसी कषाय तो किसी शत्रु के भी न हो।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय-णिद्दोसा।
णिम्मम-णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४९॥

जो परिग्रह रहित है, आसक्ति रहित है, मान रहित है, आशा रहित है, राग रहित है, दोष रहित है, ममत्व रहित है और अहंकार रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार-णिक्कलुसा।
णिब्भय-णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

जो स्नेह रहित है, लोभ रहित है, मोह रहित है, विकार रहित है, कालिमा रहित है, भय रहित है, आशा भाव से रहित है, ऐसी जिन दीक्षा कही गई है।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता।
परकिय-णिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५१॥

जिसमे जन्मे हुए शिशु के समान नग्नरूप रहता है, दोनों भुजाओं को लटका कर ध्यान किया जाता है, अस्त्र-शस्त्र नहीं रखा जाता है, और दूसरे के द्वारा छोडे गये आवास मे रहना होता है, ऐसी शान्त जिन-दीक्षा कही गई है।

एक चिन्तन :

क्या कभी 'मुनि-धर्म-रक्षा-पर्व' भी होगा ?

□ श्री दिग्दर्शनचरण जैन

'रक्षा-बन्धन' जैसा मुनि-रक्षा-पर्व श्रावण सुदी १५ को होता है। पर, न जाने **'मुनि-धर्म-रक्षा-पर्व'** कब, किस तिथि मे होगा अथवा होगा भी या नही ? कहते है कि 'अहिंसा परमो धर्म.' यह नारा बडा गम्भीर है, इसके भाव और अन्तरंग को समझने और सार्थक करने के लिए इसके मूल तत्त्व को समझना होगा—तब कही यह नारा सार्थक होगा। साथ ही अहिंसा की परिभाषा को भी गहराई मे जाकर मापना होगा। शास्त्रो मे छह काय के जीवों की रक्षा मे तत्परता और रागादि विकारो के निवारण को अहिंसा कहा है। प्राचीन मुनिराज इसी आदर्श को कायम रखते चले आए है।

जब हस्तिनापुर मे अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियो पर सकट आया तब मुनि विष्णुकुमार ने अपना पद त्यागकर भी मुनियो के सकट को दूर किया। सौभाग्य से आज ऐसा कोई पापी नही है जो बलि, नमुचि, प्रह्लाद और बृहस्पति जैसे मत्रियो वत् निर्दयी हो और मुनियो पर उपसर्ग करे। आज तो जन-जन मुनिराजो के सरक्षण करने में सावधान है और उन पर तन-मन-धन तक निछावर करने को तैयार है। श्रावकगण एक ही इशारे पर धर्म की परिभाषा विना विचारे ही मुनियो को सभी प्रकार की शारीरिक और मानसिक सुख-सामग्री जुटाने मे सन्नद्ध है। श्रावको की ऐसी सेवारूप जागरूकता के प्रमाण देने की आवश्यकता नही। मुनिराज के लिए उत्तम पौष्टिक आहार के चौके उनकी शारीरिक सुख-समृद्धि के साधन के प्रमाण है तथा मानसिक सुख-समृद्धि हेतु उनकी पूजा, प्रतिष्ठा, जय-जयकार जीते-जागते सबूत है। इतना ही नही, श्रावक तो उनके भी सुख-साधन जुटाने मे चूक नही करते, जिनकी इन्द्रियाँ वश मे नही हो—वे उन्हे कूलर, हीटर और टेलीविजन जैसे साधन भी जुटा देत हैं कि कही वे कष्ट मे घबराकर पद छोड न दे—भ्रष्ट न हो जायें। ठीक भी है कि श्रावक का कर्तव्य स्थितीकरण है—जैसे भी हो, उनका वह वेष न छूटे। आखिर, मुनि-वेष जीवनपर्यन्त के लिए ही तो स्वीकार किया जाता है, फिर व्यक्ति की रक्षा भी तो अहिंसा ही है। पर,

अहिंसा को हम जैसी और जितनी सोचते है वह वैसी और उतनी ही नही है—उससे भी बहुत ऊपर है। अहिंसा मे यह ध्यान रखना भी परम आवश्यक है कि -वह अहिंसा किस मात्रा म, कितनी विस्तृत या सकुचित है और उसका कितना और क्या फल है ? या उसका फल कही धर्म-घातक तो नही ? जिस अहिंसा मे धर्मरक्षण की जितनी अधिक मात्रा होगी वह उतनी ही अधिक प्रशस्त होगी। व्यापक-बहुमुखी धर्म-सरक्षण करने वाली अहिंसा प्रशस्त होगी और मात्र शरीर सरक्षण करने वाली अहिंसा एकागी होगी। और धर्म-घातक होने पर तो उसको अहिंसा कहा ही नही जाएगा—वह हिंसा की श्रेणी मे आ पड़ेगी। क्योकि अहिंसा का लक्षण उसका कार्य और फल सभी धर्मरूप और धर्म-सरक्षण के लिए है।

मुनि विष्णुकुमार ने मुनियो की रक्षा कर आदर्श उपस्थित किया। पर आज उससे भी बडा सकट है—आज केवल मुनि ही नही, मुनि के साथ मुनि-धर्म-रक्षा का प्रश्न भी उपस्थित है। जब आज हमारे बीच मुनि द्वारा वर्ज्य और मुनि के मूल गुणो के घातक मत्र-तंत्र, गण्डा-ताबीज, जादू-टोना, झाड़-फूक करने वाले (मुनि ?) प्रसिद्ध है और वे मोह से भ्रमित (शायद मिथ्यादृष्टि) श्रावकों-श्राविकाओं को, (जिन्हे 'मणि-मत्र-तत्र बहु होई, मरते न बचावे कोई' का ज्ञान नही है) अपने चक्करो मे फँसा रहे है। वे अज्ञानियो को चक्कर मे फँसाने की बजाय—पहिले अपने मत्र-तत्रादि का प्रयोग अपनी स्वय की मुनि-धर्म-रक्षा के लिए कर अपनी सफलता प्रदर्शित कर उत्तीर्णता का प्रमाण-पत्र प्राप्त करे—'मुनि-धर्म-रक्षा' नामक पर्व की स्थापना करे। अन्यथा, मत्र-तत्रादि का प्रयोग छाड़े या पद-मुक्त हो और श्रावकों को धर्म मे जीने दे। जैनधर्म मे सासारिक समृद्धि के लिए मत्र-तत्रादि के प्रयोग को सर्वथा मिथ्यात्व कहा गया है।

समन्वय में अपने को न भूलें

☐ श्री विमल प्रसाद जैन

पर्वराज दशलक्षण के उपरान्त आने वाला क्षमावणी पर्व जन-जन के मानस की शुद्धि और धर्म की स्थिरता के लिए होता है। सब भाई-बहिन परस्पर में एक दूसरे के प्रति सरल भाव रखे यही इस पर्व का उद्देश्य है। हमारा दिगम्बर जैन समाज इस पर्व की पूर्ण सार्थकता सदा काल करते रहें---ऐसी हमारी भावना है। साथ ही हम यह भी चाहेंगे कि हम इस क्षमावणी के उपलक्ष्य में किसी भावावेश-वश परस्पर गले मिलने के लिए अपनी भुजाएँ इतनी न फैला दें, कि वे हमारी मान्यताओं का उल्लघन ही कर जायँ---अपनी मान्यताएँ तो हमे सभी भाँति सुरक्षित ही रखनी हैं।

हमे खेद होता है जब कोई कर्णधार या कोई दि० जैन समिति—जैसी दिगम्बर सस्था परस्पर मिलन-प्रदर्शन के किसी प्रसग मे अपनी मान्यताओ को तिलांजलि तक दे देते हों, जब कि उनका कर्तव्य अपनी धर्म-मान्यताओ की वाड मे रहते हुए मानवता का पालन करना हो। उदाहरण के लिए जैसे—दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका के दिनाक १५ सितम्बर १९८९ के सम्पादकीय मे भ० महावीर के विषय मे लिखा गया है—"चन्द्रकौशिक सर्प डक मारता है। ग्वाला कानों मे कीलें ठोकता है तो गोशालक तेजोलेश्या छोड़ता है किन्तु महावीर के हृदय में उनके प्रति न क्रोध है, न घृणा है और न नफरत !" "पराजित संगमदेव जब जाने लगा तब महावीर की आखो मे आँसू आ गए। उन्होने इसका कारण पूछने पर सगम से कहा—तूने मुझे सुनार की तरह उपसर्गों की अग्नि से तपाकर तेजस्वी बनाया, निर्मल बनाया, मेरी आत्मा कर्मों से हल्की हो गई।"

पाठक देखें कि क्या दि० मान्यता ऐसी है? वहाँ न तो महावीर के कानो मे कीलें ठोकी गई और ना ही कोई तेजोलेश्या छोड़ी गई और न महावीर की आँखों में कभी आँसू आए। यह सम्भव ही नहीं कि उत्तम-संहनन, धीर-स्वभावी महावीर के कभी आँसू आएँ या उनके कानों में कीलें ठुक सके।

ऐसे ही इससे पहिले इसी प्रकार का एक लेख भा० दि० जैन परिषद के प्रमुख पत्र 'वीर' के २२ मई १९८९ के अंक मे मूर्ति स्थापन एवं प्रतिष्ठा-पचकल्याणकों के विरोध मे प्रकाशित हुआ। जबकि हमारे आगमों मे पंचकल्याणको और मूर्ति-प्रतिष्ठाओ के विधान हैं और हम सभी मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान की पूजा करने के अभ्यासी हैं? क्या, ऐसे लेखों से हम मन्दिरो के भी विरोधी न हो जावेंगे? लेख के अश निम्न प्रकार है—

"जब अन्य केवलियो के पचकल्याणक नही होते, फिर मूर्ति का पचकल्याणक करना कहाँ तक युक्ति सगत होगा? क्या मूर्ति के मुख से दिव्यध्वनि निकलती है? फिर मूर्ति का पंचकल्याणक करना किम धर्मशास्त्र तथा सिद्धान्त के अन्तर्गत आता है? जड़मूर्ति के द्वारा धर्म प्रभावना की जाने की उम्मीद कैसे की जा सकती है? काल्पनिक पंचकल्याणक महोत्सव का आयोजन मृग-मरीचिका के पीछे भाग-दौड़ के समान है।"

हमारे लिखने का तात्पर्य किसी से वैर-विरोध नही। हम तो दिगम्बरत्व की रक्षा मे श्रेय समझकर ही सब लिख रहे है। ताकि दिगम्बरत्व की रक्षा के उद्देश्य को लेकर निर्मित भारतवर्षीय सस्थाएँ इस बात का ध्यान रखे कि उनके द्वारा कोई ऐसी बात लिखी या कही न जाए जो दिगम्बर मान्यता को अमान्य हो। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ !

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

गतांक से आगे—

सल्लेखना अथवा समाधिमरण

☐ डा० दरबारीलाल कोठिया

३. प्रायोपगमन—जिस शरीर-त्याग में इस सल्लेखना का धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की, उसे प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। इसमे शरीर को लकड़ी की तरह छोड़कर आत्मा की ओर ही क्षपक का लक्ष्य रहता है और आत्मा के ध्यान में ही वह सदा रत रहता है। इस सल्लेखना को साधक तभी धारण करता है, जब वह अन्तिम अवस्था मे पहुच जाता है और उसका संहनन (शारीरिक बल और आत्मसामर्थ्य) प्रबल होता है।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना के दो भेद

इनमें भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरह की होती है :—

(१) सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान और अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान। सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान मे आराधक अपने संघ को छोड़कर दूसरे संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत मे ग्रहण की जाती है। इस सल्लेखना का धारी 'अर्ह' आदि अधिकारों के विचार-पूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसी से इसे सविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है। पर जिस आराधक की आयु अधिक नही है और शीघ्र मरण होने वाला है, तथा दूसरे संघ मे जाने का समय नही है और न शक्ति है, वह मुनि दूसरी अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना लेता है। इसके तीन भेद हैं :—(१) निरुद्ध, (२) निरुद्धतर और (३) परमनिरुद्ध।

१. निरुद्ध—दूसरे सघ में जाने की सामर्थ्य पैरों मे न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आ जायें और अपने सघ में ही रुक जाय तो उस हालत मे मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है। इसलिए इसे निरुद्ध-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। यह दो प्रकार की है—१. प्रकाश और २. अप्रकाश। लोक में जिनका समाधिमरण विख्यात हो जाये वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो वह अप्रकाश है।

२. निरुद्धतर—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट-पुरुषो आदि के द्वारा मरणान्तिक आपत्ति आ जाने पर आयु का अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिक के समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-समाधिमरण कहते हैं।

३. परमनिरुद्ध—सर्प, व्याघ्रादि के भीषण उपद्रवो के आने पर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समय में मन मे ही अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियों के प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु-शरीर त्यागे, तो उसे परमनिरुद्ध-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है।

सामान्य मरण की अपेक्षा समाधिमरण की श्रेष्ठता

आचार्य शिवार्य ने सतरह प्रकार के मरणो का उल्लेख करके उनमे विशिष्ट पाँच[१] तरह के मरणो का वर्णन करते हुए तीन मरणो को प्रशंसनीय एवं श्रेष्ट बतलाया है। वे तीन[२] मरण ये है :—(१) पण्डित-पण्डित-मरण, (२) पण्डितमरण और (३) बालपण्डितमरण।

उक्त मरणो को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है[३] कि चउदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान का निर्वाण-गमन 'पण्डित-पण्डितमरण' है, आचाराङ्ग-शास्त्रानुसार चारित्र के धारक साधु-मुनियों का मरण 'पण्डित-मरण' है, देशव्रती श्रावक का मरण 'बालपण्डितमरण' है, अविरत-सम्यग्दृष्टि का मरण 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टि का मरण 'बालबालमरण' है। ऊपर जो भक्तप्रत्याख्यान इंगिनी और प्रायोपगमन—इन तीन समाधिमरणो का

कथन किया गया है वह सब पण्डितमरण का कथन है। अर्थात् वे पण्डितमरण के भेद है।

समाधिमरण के कर्ता, कारयिता, अनुमोदक और दर्शकों की प्रशंसा :

शिवार्य ने इस सल्लेखना के करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि देने तथा आदर-भक्ति प्रकट करने वालों को पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी बड़ी प्रशसा की है। वे लिखते हैं :—

'वे मुनि धन्य है, जिन्होने संघ के मध्य में जाकर समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप) की आराधनारूपी पताका को फहराया है।'

'वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी हैं तथा उन्होने समस्त लाभ पाया है, जिन्होने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है।'

'जिस आराधना को संसार मे महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नही कर पाते, उस आराधना को जिन्होने पूर्णरूप से प्राप्त किया, उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है?'

'वे महानुभाव भी धन्य है, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्ति के साथ क्षपक की आराधना कराते हैं।

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपक की आराधना में उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादि के दान द्वारा सहायक होते है, वे भी समस्त आराधनाओं को निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं।'

'वे पुरुष भी पुण्यशाली है, कृतार्थ है, जो पापकर्मरूपी मैल को छुटाने वाले क्षपकरूपी तीर्थ मे सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ स्नान करते है। अर्थात् क्षपक के दर्शन, वन्दन और पूजन मे प्रवृत्त होते है।'

'यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनो से सेवित होने से 'तीर्थ' कहे जाते है और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है, तो तपोगुण की राशि क्षपक को 'तीर्थ' क्यो नही कहा जावेगा? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शन का भी वही फल प्राप्त होता है, जो तीर्थ-वन्दना का होता है।'

'यदि पूर्व ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वालो को पुण्य होता है, तो साक्षात् क्षपक की वन्दना एव दर्शन करने वाले पुरुष को प्रचुर पुन्य का संचय क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा।

'जो तीव्र भक्ति सहित आराधक की सदा सेवा-वैयावृत्य करता है उस पुरुष की भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अर्थात् वह भी समाधिपूर्वक मरण कर उत्तम गति को प्राप्त होता है।'

सल्लेखना आत्म-घात नहीं है

अन्त मे यह कह देना आवश्यक है कि सल्लेखना को आत्म-घात न समझ लिया जाय; क्योकि आत्मघात तीव्र क्रोधादि के आवेश मे आकर या अज्ञानता वश शस्त्र-प्रयोग विष-भक्षण, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरि-पात आदि घातक क्रियाओं से किया जाता है, जबकि इन क्रियाओं का और क्रोधादि के आवेश का सल्लेखना मे अभाव है। सल्लेखना योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण है, जो जीवन सम्बन्धी सुयोजना का एक अंग है।

क्या जैनेतर दर्शन में यह सल्लेखना है?

यह सल्लेखना जैन दर्शन के सिवाय अन्य दर्शनो मे उपलब्ध नही होती। हा, योगसूत्र आदि मे ध्यानार्थ समाधि का विस्तृत कथन अवश्य पाया जाता है। पर उसका अन्त.क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका प्रयोजन सिद्धियों के प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कार से है। वैदिक साहित्य मे वर्णित सोलह सस्कारो मे एक 'अन्तयेष्टि-सस्कार आता है', जिसे ऐहिक जीवन के अन्तिम अध्याय की समाप्ति कहा गया है' और जिसका दूसरा नाम 'मृत्यु-सस्कार' है। इस सस्कार का अन्त.-क्रिया के साथ सम्बन्ध हो सकता था। किन्तु मृत्यु-सस्कार सामाजिको अथवा सामान्य लोगो का किया जाता है, सिद्ध-महात्माओ, सन्यासियो या भिक्षुओं का नहीं, क्योकि उनका परिवार से कोई सम्बन्ध नही रहता और इसीलिए उन्हे अन्त्येष्टि-क्रिया की आवश्यकता नही रहती। उनका तो जल-निखात या भू-निखात किया जाता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूधर्म मे अन्त्येष्टि की सम्पूर्ण क्रियाओ मे मृत व्यक्ति के विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओ के लिए ही प्रार्थनाएँ की जाती है। हमे उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत

कम संकेत मिलता है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिए कोई प्रार्थना नही की जाती[९]। पर जैन सल्लेखना मे पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष-प्राप्ति की भावना स्पष्ट सन्निहित रहती है। लौकिक एषणाओ की उसमे कामना नही होती। इतना यहा ज्ञातव्य है कि निर्णयसिन्धुकार ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्षु (मरणाभिलाषी) और दु.खित अर्थात् चौरव्याघ्रादि से भयभीत व्यक्ति के लिए भी सन्यास का विधान करने वाले कतिपय मतो का उल्लेख किया है[१०]। उनम कहा गया है कि 'सन्यास लेने वाला आतुर अथवा दुःखित यह सकल्प करता है कि 'मैंने जो अज्ञान, प्रमाद या आलस्य दोष से बुरा कर्म किया, उसे मैं छोड रहा हूं और सब जीवो को अभय-दान देता हूं तथा विचरण करते हुए किसी जीव की हिसा नही करूंगा किन्तु यह कथन सन्यासी के मरणान्त-समय के विधि-विधान को नही बतलाता, केवल सन्यास लेकर आगे की जाने वाली चर्यारूप प्रतिज्ञा का दिग्दर्शन करता है। स्पष्ट है कि यहा सन्यास का वह अर्थ विवक्षित नही है, जो जैन-सल्लेखना का अर्थ है। सन्यास का यहा साधु-दीक्षा कर्मत्याग-सन्यास नामक चतुर्थ आश्रम का स्वीकार है और सल्लेखना का अर्थ अन्त (मरण) समय मे होने वाली क्रिया-विशेष[११] (कषाय एव काय का कृशीकरण करते हुए आत्मा को कुमरण से बचाना तथा आचरित सयमादि आत्म-धर्म की रक्षा करना) है। अत. सल्लेखना जैन-दर्शन की एक विशेष देन है, जिसमे पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन को उज्ज्वलतम तथा परमोच्च बनाने का लक्ष्य निहित है। इसमे रागादि से प्रेरित होकर प्रवृत्ति न होने के कारण वह शुद्ध आध्यात्मिक है। निष्कर्ष यह है कि सल्लेखना आत्म-सुधार एव आत्म-सरक्षण का अन्तिम और विचारपूर्ण प्रयत्न है।

(श्रीमती चमेलीबाई स्मृति-रेखाएँ)

सन्दर्भ-सूची

१. पडिद-पडिद-मरण पडिदय बाल-पडिद चेव ।
बाल-मरण चउत्थ पचमय बाल-बाल च ॥
—भ० आ०, गा० २६ ।

२. पाडिदपंडिदमरण च पणिद बालपंडिद चेव ।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्च पससति ॥
—भ० आ०, गा० २७ ।

३. वही, गा० २८, २६, ३० ।

४. वही, गा० १९९७-२००५ ।

५-६. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू सस्कार, पृ० ०६ ।

७. वही, पृ० ३०३ ।

८. वही, पृ० १६३ तथा कमलाकर भट्ट कृत निर्णय-सिन्धु, पृ० ४४७ ।

९. हिन्दू सस्कार, पृ० ३४६ ।

१० निर्णयसिन्धु, पृ० ४४७ ।

११. वैदिक साहित्य मे यह क्रिया-विशेष भृगु-पतन, अग्निप्रवेश, जलप्रवेश आदि के रूप में मिलती है। जैसाकि माघ के शिशुपाल वध की टीका मे उद्धृत निम्न पद्य से जाना जाता है—
अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यत ।
भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरण प्रविधीयते ।
—शिशुपाल वध ४-२३ की टीका

किन्तु जैन सस्कृति मे इस प्रकार की क्रियाओं को मान्यता नही दी गयी। प्रत्युत उन्हें लोकमूढता बतलाया गया है, जो सम्यक्दर्शन की अवरोधक है। यथा—
आपगासागरस्नानमुच्चय· सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढ निगद्यत ॥
—समन्तभद्र, रत्नकरण्डकश्रावका० ।१…।

शुद्धि-पत्र

धवल पु० ३ (संशोधित संस्करण)

☐ जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	५	ममाणत्तदगणादो	समाणत्तादसणादो ।
८	२०	समानता देखी	समानता नहीं देखी
८	१८	सख्वाओं	सख्याओं
१५	६	द्रव्यगतानन्यापेक्षया	द्रव्यगतानन्तापेक्षया
१८	१	नामिसमीक्ष्यते	नाभिसमीक्ष्यते
२४	१५	२अ+अ१	२अ+अ+१
२५	२०-२१	परन्तु जघन्य अनन्तानन्त के अधस्तन वर्गस्थानो की अपेक्षा जघन्य अनन्तानन्त से	परन्तु जघन्य अनन्तानन्त से, जघन्य अनन्तानन्त के अधस्तन वर्गस्थानो की अपेक्षा
२५	२२	अनन्तानन्त से अनन्तानन्तगुणे	अनन्तानन्त से जघन्य अनन्तानन्त के अधस्तन वर्गस्थानो की अपेक्षा अनन्तानन्त गुणे
३५	१३	बाद एक सूच्यंगुल	बाद साधिक एक सूच्यंगुल [गणित करके देख लें १.४६ सूच्यगुल शेष रहता है न कि पूर्ण एक]
३७	२१	अधस्तन वातवलय का अवस्थान रहता ही है ।	ही नीचे वातवलय का अवस्थान रहता है
३७	२८	ति. प. प. २२५	ति. प. प. ७६५
३७	२६	लड्ड	लडे
३८	२६	सामीवे	समीवे } —देखो ध. ११।१६
३८	३०	पुत्तीदो	पादिदो
३८	३०	समुग्घादो	समुहदो
३६	१२	और ज्ञान प्रमाण ये दोनों	ज्ञान और प्रमाण ये तीनों
४०	२३	राशि के विषय मे	राशि के प्रमाण के विषय मे
४१	२३	(वरलित)	(विरलित)
४४	१६-२१	प्रमारित कर देने पर अथवा सम्पूर्ण जीवराशि का दूसरा भागरूप विस्तार करके भागायाम क्षेत्र होता है	मिला देने पर सर्व जीवराशि के दूसरे भागप्रमाण चौड़ा तथा ३/२ भाग प्रमाण आयत (लम्बा) क्षेत्र होता है ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	२७-२८	प्रसारित कर देने पर षपूर्ण जीवराशि का तीसरा भागरूप विस्तार जाना जाता है। अनन्तर इन खंडो को	मिला देने पर सर्व जीवराशि के तीसरे भागप्रमाण चौडा और $\frac{3}{4}$ भागप्रमाण आयत (लम्बा) क्षेत्र प्राप्त होता है। इसको
४५	८	देने पर चौथा	देने पर प्रत्येक एक पर चौथा
४६	१४-१५	भागहार मे उसी के ....एक कम होता है।२४।	भागहार मे वृद्धिस्वरूप सख्या के अवहार (हर) से लब्ध (भजनफल) सख्या-स्थित हर "भागहर से भजनफल की" हानि की स्थिति मे तो रूपाधिक होता है और [भागहार से भजनफल की] वृद्धि की स्थिति मे रूप हीन (एक कम) होता है ॥२॥
४६	१८	(२) $\frac{१}{१+\frac{१}{२}} = \frac{३}{२}$	(२) $\frac{१}{१-\frac{१}{३}} = \frac{३}{२}$
४६	२०	हानि और वृद्धि मे भागहार	दोनो लब्धो की जोड़ अथवा बाकी को बताने के लिए: मूल भाज्य का भागहार
४७	६	१० वृद्धिरूप	१० = (६+४) वृद्धिरूप
४७	१४	भाज्यमान राशि मे	हीन भज्यमान राशि में
४७	१८	४+३६=४०	४; ४+३६=४०
४७	२०	गुणित करने पर	अपहृत करने पर [देखो प्रस्ता० पत्र ५३]
५१	१५	क—ब (मिथ्यादृष्टि)	क—अ (मिथ्यादृष्टि)
५२	२८	द्विगुणित	त्रिगुणित
५२	३०	ध्रुवराशि का प्रमाण १६-१/३	ध्रुवराशि (१६-१/३ प्रमाण गुणकार
५३	२३	उद्वर्तित	अपवर्तित
५४	२७	उद्वर्तित	अपवर्तित
५५	२८	का उपरिमवर्ग ६५५१६;	का उपरिमवर्ग ६५५३६;
५५	२९	$\frac{६५५१६}{१} \div \frac{६५५१६}{१३}$	$\frac{६५५३६}{१} \div \frac{६५५३६}{१३}$
५६	३	अतिमभागहारेण	अंतिमभागहारछेदणएहि
५६	१७	अन्तिमभागहार से	अन्तिमभागहार के अर्द्धच्छेदो से
५८	२६	मथ्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टि
५९	१६	१७×४=६८	१७; १७×४=६८
५९	३०	मथ्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टि
७०	१०	भागहर के	भागहार के
६१	९	२६२१४४;	२६२१४४;२६२१४४ का इच्छित वर्ग=६८७१९४७६७३६ (पृ० ५९,६० व ६२ को देखो)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	४	पलिदोवमा—	पलिदोवम—
६५	१५	निरन्तर चालू है।	चालू है। [सान्तरमार्गणात्वात् निरन्तर-शब्दस्यौचित्व न प्रतिभाति]
७०	१६	अवहारकाल असख्यात	अवहारकाल भी असख्यात
७४	२१	आवलियो से पल्योपम के	आवलियो का पल्योपम के प्रथमवर्गमूल मे भाग देने पर जो भाग लब्ध आवे उससे पल्योपम के
७४	२३	असख्यात आवलियाँ ८;	असख्यात आवलियाँ ३२
७४	२४	२५६ × ८ = २०४८ सा०	$\frac{२५६}{३२}$ = ८; २५६ × ८ = २०४८ सा०
७६	१८	पल्योपम को अवहारकाल से भाजित	पल्योपम के अधस्तन वर्गस्थानो को अवहार काल से केवल भाजित
७८	१३	३२ के त्रिकच्छेद $२^{\frac{३२}{३}}$ १	३२ के त्रिकच्छेद $३^{\frac{३२}{३}}$ १
७८	२५	सम्यग्दृष्टि	सम्यग्थृष्टि
८०	१८	परूपणा	प्ररूपणा
८१	२७	$\frac{२}{१}$ = २ × ३ = ६ — १ = ५	$\frac{२}{१}$ = २, २ × ३ = ६; ६-१=५; ५ × १६=८०, ८०+५=८५
८३	२५	१८-१=१७ × १६ =२७२+५=२७७	१८; १८-१=१७; १७ × १६=२७२; २७२+५=२७७
८५	१६	भास	भाग
८७	११	घनाघन के	घनाघनपल्य के
८७	३१	सयत सम्बन्धी	सयतसम्बन्धी
८७	३१	सम्यग्ज्ञानियों के द्वारा	सन्दृष्टि की अपेक्षा
८८	१४-१५	सम्यग्ज्ञानियों ने अवलोकन किया है।	सन्दृष्टि की अपेक्षा देखा अर्थात् माना गया है।
६१	२१	तीन सौ	तीन सौ
६१	२७	८-१=७÷२=३$\frac{१}{२}$ × ६ =२१+१७=३८ × ४=३०४	८-१=७; ७÷२=३$\frac{१}{२}$; ३$\frac{१}{२}$ × ६=२१-२१+१७=३८; ३८ × ८=३०४
६३	२०	क्षपकजीव	क्षपक व अयोगी जीव
६६	५	दुरहिय—	दुसहिय—
६८	३	एमा बहा	एसा गाहा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९९	१८	हो सकता, क्योंकि	हो सकता, क्योंकि वह (दूषणात्मक कथा) आनाचार्य के मुख से विनिर्गत अर्थात् कहा गया है। तथा क्योंकि
१०४	१५	$६ \frac{११}{९३}$	$६ \frac{११}{१३}$
१०७	२९	अपनेयमान	अपनीयमान
१०९	३४	$\frac{३२७६८}{३३२९}$ लब्ध	$\frac{२०४९६}{३३२९}$ लब्ध
१११	२५	नुणस्थानों का	गुणस्थानों का
११२	१४	$२ \frac{१५३४}{३३२९} + १$	$२ \frac{१५३४}{३३२९}$, $२ \frac{१५३४}{३३२९} + १$
११२	२३	$१ \frac{१५३४}{२५६२} + १$	$१ \frac{१५३४}{२५६२}$; $१ \frac{१५४४}{२५६२} + १$
११३	१४	$३ \frac{२५३}{२५७} + १$	$३ \frac{२५३}{२५७}$; $३ \frac{२५३}{२५७} + १$
११३	१०	विरलन के प्रति	विरलन के प्रत्येक एक के प्रति
११३	२२	२५६+१	२५६; २५६+१
११८	१७	५१२ × ३२ × १६३८४	५१२ × ३२=१६३८४
११९	१६	सबधी	सम्बन्धी
१२०	१९	असख्यात सम्यग्दृष्टि	असंयत सम्यग्दृष्टि
१२४	२६	कर्म स्थिति की	कर्म आदि की स्थिति की
१२९	१२	असख्यातासख्यात	जघन्य असख्यातासख्यात
१३०	२५	इस बात को	इस मान्यता को
१४२	१४	$२१८४५ \frac{१}{६}$	$२१८४५ \frac{१}{३}$
१५७	२०-२१	शका—शेष तीन .... प्रतिभाग का प्रमाण क्या है ?	शका—उसके [अर्थात् सामान्य असयत सम्यग्दृष्टिराशि के] प्रतिभाग का प्रमाण क्या है ?
१६४	१७	कृच्छ	कुछ
१६४	३१	द्रव्यराशियाँ होती हैं।	जीवराशि होती है।
१६५	२३	एक बार लाने की	एक बार मे लाने की
१६६	२१	(अर्थात् दूसरी पृथ्वी के द्रव्य को	(अर्थात् जगच्छ्रेणी से जगच्छ्रेणी को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
		जगच्छ्रेणी से अपनयन करके अर्थात् भाजित करके)	हटा करके, यानी काट करके) "अर्थात् हर मे स्थित जगच्छ्रेणी से अंश में स्थित जगच्छ्रेणी को काट करके" यही सदृश अपनयन का अर्थ है। [नोट—गणित विषयक ऐसी गलतियाँ, थोडी-सी भूल से शीघ्र हो जाया करती हैं।]
१६७	२७	तृतीयमूल—	तृतीयमूलहत—
१६८	चरम पक्ति	बारहवें वर्गमूल से नीचे जाकर	बारहवे वर्गमूल से असंख्यात वर्गस्थान नीचे जाकर, यानी [२] $\frac{१}{असंख्य}$
१६९	४	मवणीए	मवणीदे
१६९	५	पचम	पच
१६९	५	पचम	पंच
१६९	२०	पाँचवी	पांच
१७०	२५	$\frac{३९९४२०४}{९७}$	$\frac{४१९४३०४}{९७}$
१७१	३०	जैसे	वह इस प्रकार है—
१७५	२६	सातो विरलनो के ग्रहण करके भी	सातो ही विरलनो को ग्रहण करके
१७६	२४	$\frac{१०४८५७६}{१२३}=३२$	$\frac{१०४८५७६}{१९३}=३२$
१७८	१७	पृथिक् रूप से मध्य मे स्थापित	पृथक् रूप से मध्य मे स्थापित
१८०	८	भागो-१	भागो-२
१८०	१८	देने पर जगच्छ्रेणी के	देने पर जो आता है वह जगच्छ्रेणी के
१८०	१९	लब्ध आवे वह छठी	लब्ध आवे उतना होता है, और यही छठी
१८०	२५	विरसनो	विरलनो
१८०	२७	४० $\frac{२}{३}$ आते हैं	४२ $\frac{२}{३}$ आते है
१८३	१६	मिथ्यादृष्टि शलाकाओ से	मिथ्यादृष्टि अवहार शलाकाओं से
१८९	२९	एक जोड़ा तब	एक को जोड़ा तब
१९२	१३	शेष रही राशि	शेष रही प्रमाणराशि
१९८	१५	आदेस ससे	आदेश से
२०१	१४	वेदो मे	देवो मे

मनमानी व्याख्याओं का रहस्य क्या है ?

□ पद्मचंद्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

जैनियों की परम्परा मे 'देव-शास्त्र-गुरु' इस क्रम के उच्चारण का प्रचलन रहा है और वीतराग-देव की देशना को आगम, शास्त्र, सिद्धान्त आदि नाम दिए जाते रहे हैं और गुरु को भी ऐसा आदेश रहा है कि वह जिनवाणी के अनुकूल आचरण करे। इसका भाव ऐसा है कि देव पहले नम्बर पर, आगम दूसरे नम्बर पर और गुरु तीसरे नम्बर पर है। इसे ऐसे भी समझा जा सकता है कि समोसरण में वीतराग देव का आसन सर्वोच्च होता है, गुरु का आसन नीचे होता है और बीच मे तीर्थंकर की दिव्यध्वनि प्रवाहित होकर गुरु तक पहुचती है और इस भांति आगम का स्थान मध्य म ही ठहरता है। अतः 'देव-शास्त्र-गुरु' यही क्रम सुसगत है।

सभी जानते है कि गुरु-चारित्र के प्रतीक है और 'सम्यक् सार्थ ज्ञान' के बाद ही चारित्र का क्रम आता है और इसी क्रम में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि' सूत्र की रचना है। अतः गुरु का क्रम हर हालत मे ज्ञान (आगम) के बाद ही आता है। फिर, आचार्यों ने यह भी कहा है कि **'आगमचक्खू साहू'** अर्थात् साधु की आँखे शास्त्र है। इसका भाव भी यही है कि गुरु से आगम का स्थान पहले है और इसीलिए गुरु (मुनि) की समस्त चर्या आगम के अनुरूप होने जैसा विधान है।

यह बात तो विवादरहित है कि आगम 'आप्तोपज्ञ और अनुल्लघ्य है, क्योंकि वह सर्वज्ञ-प्रणीत है—छद्मस्थ-प्रणीत नही है। जब कि सभी आचार्य छद्मस्थ होते है, उनकी वाणी स्वतः प्रामाणिक भी नही मानी गई है - उन्हें सर्वज्ञ की देशना के अनुरूप ही कथन करने का आगम मे विधान है। कुंदकुद जैसे आरातीय आचार्य भी **'चुक्किज्ज'** जैसा शब्द कहकर आगम को गुरु से ऊपर मानने का आदर्श दे गए हैं। फलतः—सभी भांति शास्त्र को मुनि से बड़ा दर्जा दिया गया है और शास्त्र को मूल-ग्रंथ संज्ञा दी गई है। ग्रन्थ इसलिए कि उसमें ज्ञान-रूप जिनवाणी को द्वादशांग रूप में ग्रथित किया गया है—गूंथा गया है—**'गणधर गूंथे बारह सुअंग'**। मूल मे तो वह सर्वज्ञ की ही वाणी है—**'मूलग्रन्थकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवाः।'**—अतः जिन वाणी का क्रम वीतरागदेव के बाद का ही क्रम है तथा गुरु का क्रम तीसरा है।

हमे (जैसा कि श्री रतनलाल कटारिया भी कह रहे है) 'अकिंचित्कर' पुस्तक मे पृ० ७०, ७४ तथा 'प्रवचन-पारिजात' पुस्तक द्वितीय सस्करण सन् ८१, पृ० १५,६६, १०८ पर और हाल ही मे जुलाई ८६ की 'बावनगजा सन्देश' नामक पत्रिका, पृ० ६ पर प्रकाशित 'शान्ति का मार्ग शास्त्रो मे' शीर्षक मे 'देवगुरुशास्त्र' जैसा क्रम देखकर आश्चर्य और खेद हुआ कि जहाँ शान्तिका मार्ग शास्त्रो मे बताया जा रहा है वहीं शास्त्र को गुरु के बाद स्मरण किया जा रहा है। ऐसे मे शीर्षक होना चाहिए था—'शान्ति का मार्ग गुरुओं मे'। भले ही यह बाद को सोचना रह जाता कि कौन से गुरुओं से ? वर्तमान के या भूत के ? कही यह कोई योजनाबद्ध प्रक्रिया तो नही—जिसका विरोध श्री कटारिया जी और जैन-सन्देश के सम्पादक डा० देवेन्द्रकुमार जैन भी कर रहे हैं ? कही शास्त्रो को गुरुवाणी सिद्ध करने के लिए तो यह सब नही किया जा रहा ? शास्त्रों के मूल शब्दरूपों को बदलने की क्रिया तो पहले एक विद्वान् कर ही चुके है—हालांकि उसका जमकर विरोध हुआ और चोटी के विद्वानो ने भी विरोध प्रदर्शित किया और कर रहे है। इसके सिवाय कई जगह आगमो की कई व्याख्याएं परपरित व्याख्याओं मे विपरीत यद्वा-तद्वा रूप में करने की परिपाटी चल पड़ी है और स्वतन्त्र रूप म आगम-विरुद्ध लेखन भी हो रहे हैं।

हमें यह भी सन्देह है कि कही कुछ लोग स्व-प्रतिष्ठा की चाह मे नित नई-नई बातें गढ़कर धर्म-मार्ग का लोप ही न कर दें ? शास्त्र की व्याख्या मे एक वाचक का कहना है कि—'तीर्थंकर की वाणी को गुरु अपनी भाषा मे लिपिबद्ध करते है, वह शास्त्र कहलाता है।' यानी जैसे, उनकी दृष्टि से लिपिबद्ध काल से पूर्व—जब उस देशना को लिपिबद्ध नही किया गया था, तब शास्त्र ही नही हो ? केवल देव और गुरु ही हो। जब कि आगम, सिद्धान्त, शास्त्र, ग्रंथ कुछ भी कहो, जैन मान्यतानुसार ये सभी ज्ञान और दिव्य ध्वनि-रूप मे अनादि विद्यमान रहे है। और तीर्थंकरों द्वारा ध्वनित होते रहे है।

आगम की परिभाषाएँ जो उपलब्ध हैं उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

१. 'तस्स मुहग्गद वयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं। आगममिदि परिकहियं···(नियमसार ८)
२. 'अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंथियं सम्मं।' सुत्त पा०-१
३. 'सुत्तत्थं जिणभणियं'—सुत्तपाहुड ५
४. 'ज सुत्तं जिण उत्तं'— ,, ६
५. 'उवइट्ठ परमजिणवरिंदेहिं' १०
६. 'जिणमग्गे जिणवरिंदेहिं जह भणियं'—बो०पा० २
७. 'केवलिजिणपण्णत्त एयादस अंग सयल सुयणाणं' —भाव पा० ५२
८. 'आगमो हि णाम केवलणाणपुरस्सरो पाएण अणिंदियत्थविसओ अचिंतियसहाओ जुत्ति गोयरादीदो'—धव० पु० ६, पृ० १५१
९. 'आप्त वचनं ह्यागमः'—रत्न०-टो-५
१०. 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य'—रत्नक०
११. 'आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीतः' —भगवती आरा० विजय २३
१२. 'आप्तवचनादि निबंधनमर्थज्ञानमागमः' —परीक्षामु० ३/९९ न्याय दी०, पृ० ११७

अर्थात्—

१. तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित पूर्वापर दोषों से रहित और शुद्ध वचनो को आगम कहा जाता है।
२. अरहत द्वारा कथित, गणधर द्वारा ग्रथित आगम है।
३. सूत्रार्थ (आगम) जिनेन्द्र द्वारा कथित है।
४. जो सूत्र जिनेन्द्र ने कहे हैं, वे आगम है।
५. जो जिनेन्द्र ने कहा है वह आगम है।
६. जिन मार्ग मे जैसा जिनेन्द्र ने कहा है, वह आगम है।
७. केवली जिन मे कहे गये ग्यारह अंग पूर्ण श्रुतज्ञान है।
८. जो केवलज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्राय: अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाला है, अचिंत्य-स्वभावी है और युक्ति से परे है, उसका नाम आगम है।
९. आप्त के वचन आगम है।
१०. आगम आप्त का कहा हुआ और अनुल्लंघ्य है।
११. रागद्वेष रहित सर्वज्ञ से कहा गया आगम है।
१२. आप्त वचनादि द्वारा निबंधित पदार्थ ज्ञान आगम है।

उक्त लक्षण आगम के है और 'आगमसिद्धान्तः ग्रंथ. शास्त्रम्'—(नाममाला) ये सभी नाम भी आगम के हैं और आगम परम्परा तथा स्वरूपत. अनादि है। ऐसे मे प्रसिद्ध कर देना कि 'गुरु अपनी भाषा मे लिपिबद्ध करते है, वह शास्त्र कहलाता है' बडे महान् साहस की बात है।

स्मरण रहे मूलतः—आगम, सिद्धान्त, ग्रन्थ और शास्त्र (और श्रुत भी) सभी नाम ज्ञानमयी उसी दिव्य-ध्वनि के सूचक है, जिसके मूलकर्ता सर्वज्ञदेव (तीर्थंकर) है—अन्य कोई नही। इस भांति पूरे आगमो का अवतरण तीर्थंकर से ही होता है और पूरा आगम ज्ञानरूप है। फलतः—लिपिबद्ध होने के बाद उसकी संज्ञा 'शास्त्र' होती है यह कथन निःसार और लोगों मे भ्रान्ति उत्पादक है।

चूंकि जनसाधारण गहराई में न जाकर लोकानुकरण करता है और आज आगम के लिए प्रायः 'शास्त्र' शब्द अधिक प्रचलित है। जब लोग जानेंगे कि लिपिबद्ध होने

पर शास्त्र बनता है—तो लिपिरूप में बनाने को सर्वज्ञ तीर्थंकर तो आते नही, उसे तो गुरुगण ही अंकित करते है। फलतः—लोगों की आम धारणा सहज ही बन बैठेगी कि शास्त्र 'गुरुवाणी' हैं। फलतः—वे शास्त्रों को जिन-वाणी के स्थान पर 'गुरुवाणी' प्रसिद्ध कर बैठेंगे और तब योजको की (ईप्सित ?) योजना 'देव-गुरु-शास्त्र' क्रम की सार्थकता भी कारगर हो जायेगी अर्थात् छद्मस्थ गुरुओ को शास्त्र से ऊँचा दर्जा मिल जायगा और प्रचार में आ जायगा कि गुरु बड़े और शास्त्र छोटे है और ऐसा प्रचार मूल आगम को विपरीत सिद्ध करने और जिन-मार्ग के अपवाद मे कारण होगा।

क्या कहें, कहा तक कहे ? हमने तो यहा तक अनुभव किया है कि आज जो गुरु-देशनाएं हो रही है, और लेखन चल रहे है, उनमे कितनों मे ही तो ऐसे तत्त्व निहित हो रहे या निहित किए जा रहे है, जिनसे जिनवाणी का निश्चित ही घात हो रहा है। जैसे—एक सकलन छपा है—'प्रवचन पारिजात' के नाम से। और इसके संस्करण पर संस्करण छप चुके है ओर इसे सभी पढते और सराहते रहे है। सराहना इसलिए कि यह गुरुवाणी है और आज गुरु जो कहे या करे, उसे सच माना जा रहा है। गुरुओं मे कोई-कोई तो गर्हित आचरण करके भी पुज रहे हैं—समय की बलिहारी है। लोगों को सोचना चाहिए कि गुरु छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) होते है, उनकी वाणी अन्यथा भी हो सकती है; आदि।

पहले एक पुस्तक मिली थी—'अकिंचित्कर !' उसमे मिथ्यात्व को बन्ध के प्रति अकिंचित्कर बताया गया था, जबकि मिथ्यात्व ससार का मूल है। अब कहा जा रहा है वह कथन स्थिति और अनुभाग बध को लक्ष्य करके था और कुछ विद्वान् अब भी उसके पोषण मे लगे है—वे अनेकान्त सिद्धान्त की तोड़-मरोड़ में लगे है। हालांकि यह विषय जनसाधारण का नही। वह तो भ्रमित ही होगा कि 'जब मिथ्यात्व से बध ही नही होता तो कुदेवी-कुदेवो की खूब पूजा करो।' आखिर, उनकी दृष्टि मे देवी-देवता सासारिक सुख प्रदाता तो हैं ही—जिसकी लोगो को चाह है। भले ही वे परमार्थ का सुख न दिला सकें। साधारणजन 'अकिंचित्कर' के प्रभाव से 'कुदवागम लिंगिनां प्रणाम विनय चैव न कुर्युः', इस समन्तभद्र के वाक्य से सहज विरक्त होगें, इसमे सदेह नही।

हम समझते है—अपेक्षावाद से अनेको विरुद्ध-धर्म भी सिद्ध किए जा सकते है। यह वाद बडा लचीला है, इसे चाहे जिधर मोड ले जाओ—जैसा कि आज हो रहा है। पर स्मरण रहे कि यह 'वाद' तथ्य उजागर करने हेतु प्रयुक्त होने पर सत्य-वाद है और आगमिक तथ्य को मरोड़ने पर विवाद है। जैसे कि लोग आज तोड-मरोड कर रहे हैं। अस्तु।

हां, हम कह रहे थे 'प्रवचन-पारिजात' की बात। इसमे लिखा है—

"यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे सुख होता तो (सिद्धत्व मे) उनके अभाव करने की क्या आवश्यकता थी, सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए इनका अभाव परम अनिवार्य बताया है।" पृ० २४

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र मे भी आत्मा के स्वभाव नही है···इनका अभाव भी अनिवार्य आवश्यक है।···जहा उन्होने (उमास्वामी ने) "औपशमिकादिभव्यत्वानां च" कहा है वही उन्होने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप परिणत, जो भव्यत्वभाव है, उस भव्यत्व पारिणामिकभाव का भी अभाव दिखाया है। सिद्धालय मे मात्र जीवत्व भाव रह जाता है।"—पृ० २०

प्रसगवश हम यहा कुछ उन अन्य विचारको के प्रति भी संकेत दे दे, जो सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन मे सर्वथाभेद डालकर भ्रमित हो रहे हों और उक्त कारण से वे मोक्ष मे सम्यक्त्व को तो मानते हो और सम्यग्दर्शन को नही मानते हो। इसी प्रसग मे दो शब्द—

कुछ लोगो का भ्रम है कि सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन दोनों भिन्न-२ है। वे कहते है कि—सम्यक्त्व आत्मा का गुण है और सम्यग्दर्शन उसकी पर्याय है तथा गुण स्थायी

है और पर्याय विनाशीक। एतावता मुक्त जीव में सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय का अभाव रहता है और वहां सम्यक्त्व गुण शेष रह जाता है—'अन्यत्र केवल-सम्यक्त्व ज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्यः।' ऐसे लोगों को 'गुण पर्यायवद् द्रव्यम्' सूत्र पर चिंतन करना चाहिए कि क्या गुण कभी पर्यायरहित भी हो सकता है? आचार्यों के मत में तो द्रव्य सदा काल गुण-पर्याय युक्त होता है तथा गुण-पर्याय भी सदा समुदित ही रहते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उनके कथन के अनुसार मुक्त जीव में सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय का अभाव माना जाय तो प्रश्न खड़ा होता है कि यदि मुक्त जीव में सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय नहीं है तो वहां कौन-सी पर्याय सम्यग्दर्शन का स्थान ले लेती है? क्योंकि गुण के साथ पर्याय का होना अवश्यम्भावी है। तथा आचार्यों की दृष्टि से गुण और पर्याय सदाकाल द्रव्य के आत्मभूत लक्षण है और द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त अर्थात् परिवर्तनशील है। कहा भी है—

'अनाद्यनिधनद्रव्ये स्व-पर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जंति निमज्जंति जलकल्लोलवज्जले॥'

अर्थात् जैसे जल और उसकी कल्लोलरूपी पर्यायें अभिन्न हैं—लहरें जल से उत्पन्न होकर जल में ही लीन होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन-रूप से कथित पर्याय को भी सम्यक्त्व से पृथक् नहीं माना जा सकता। वास्तव में तो सम्यक्त्व कहो या सम्यग्दर्शन कहो, दोनों एक ही है—मात्र नाम-भेद है। अतः जहां आचार्य ने मुक्तात्माओं में सम्यक्त्व की घोषणा कर दी, वहां उन्होंने सम्यग्दर्शन के अस्तित्व की स्वीकृति दे ही दी, ऐसा समझना चाहिए। जो लोग कहते हैं कि मोक्ष में सम्यग्दर्शन नहीं रहता' वे भूल में है। वस्तुतः वहां रत्नत्रय अभेद रूप में है और मोक्ष-मार्ग प्रदर्शित करते हुए उसे तीन भेद-रूप में कहा समझा या चिन्तन किया जाता है। क्योंकि वस्तु के समस्त गुण और पर्यायों का युगपत् कथन और हृदयगम करना छद्मस्थ जीव के वश की बात नहीं।

प्रश्न उठता है कि क्या सम्यक्त्वादि (जिन्हें व्यवहार भाषा में भेद-रूप व्यवहृत होने से सम्यग्दर्शनादि कह दिया जाता है) आत्मा के स्वभाव नहीं है? यदि स्वभाव नहीं है तो मोहनीय कर्म को सर्वघाती और आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घातक क्यों कहा? और क्यों ही उसे संसार-भ्रमण के प्रमुख कारणों में गिनाया? क्या मोहनीय कर्म आत्मा के जिनगुणों का घात करता था, उस मोहनीय कर्म के क्षय से सिद्धों में वे गुण उजागर नहीं होते? यदि उजागर नहीं होते तो मोहनीय कर्म को घातक क्यों कहा, और मोक्ष के लिए उसके क्षय को अनिवार्य क्यों बतलाया? बड़ा आश्चर्य है कि एक ओर तो माना जाय कि भव्यत्व-भाव सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप परिणत होता है (यद्यपि यह कथन आगम-विरुद्ध है) और भव्यत्व के समाप्त होने के साथ ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान चरित्र को भी समाप्त माना जाय और दूसरी ओर माना जाय कि मोहनीय के क्षय पर आत्मा के सम्यक् और चारित्र गुण प्रकट होते है! यदि भव्यत्व के साथ इनका अभाव मानना ही इष्ट था तो मोहनीय के क्षय का उपदेश ही क्यों दिया होता? इससे तो संसार-दशा ही श्रेष्ठ थी, जहां कम-से कम औपशमिक क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सम्भव थे। स्मरण रहे कि मोहनीय कर्म घातिया कर्म है और वह दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय जैसे दो भेदों में विभक्त है, उसके क्षय होते ही आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते है। भेद इतना है कि जो संसार में भेदरूप में अनेक कहे जाते थे, वे मुक्त दशा में अभेदरूप से विद्यमान है। कहा भी है—'तत्तिय-मइयो णिओ अप्पा।'; 'ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाण चेव णिच्छयदो'। समयसार गाथा ४२८ की तात्पर्यवृत्ति मे आगत 'सम्यक्त्व' शब्द का अर्थ श्री आ० ज्ञानसागर जी ने 'सम्यग्दर्शन' किया है। अतः नामभेद होने पर भी दोनों को एक ही समझना चाहिए। तथाहि—'सम्माइट्ठी: सम्यग्दृष्टिरभेदेन सम्यक्त्वं जीवगुण'—'सम्यग्दृष्टिः जीव के गुणस्वरूप सम्यग्दर्शन को।' यहां इसे जीव का गुण ही कहा गया है। जब सम्यग्दर्शन जीव का स्वभाव है, तो मुक्त-जीव में इसका अभाव कैसे?

उमास्वामी या अन्य आचार्यों ने न तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में सुख का अभाव बतलाया और ना ही

उन्होंने कही भव्यत्व भाव के सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मे परिणत हो जाने जैसा कोई निर्देश ही दिया। भला, जब ससारी जीव मे रहने वाला भव्यत्व भाव सर्वथा कर्म आदि से निरपेक्ष और जीव की मौक्तिक योग्यता को इंगित करने मात्र से सम्बन्धित है, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों कर्म के उपशम, क्षयोपशम, क्षय की अपेक्षा रखने वाले व जीव की स्व-शक्ति रूप है अत. दोनों के एक दूसरे रूप परिणत होने की बात निराधार ठहरती है। क्योंकि दोनों ही भिन्न स्वभावी है—एक व्यक्तत्व की योग्यता-परिचायक रूप है और दूसरे यानी रत्नत्रय—जीव के स्व-स्वभाव रूप है। एक ससार दशा तक सदाकाल और अवस्थित रहने वाला और दूसरे तीनों शक्ति या व्यक्तिरूप मे ससार और मुक्त दोनों अवस्थाओं मे सदाकाल रहने के स्वभाव वाले है। तथा जीव का त्रिकाली-स्वभाव न होने से भव्यत्व-भाव का अन्त होता है और जीव के स्व-गुण-पर्याय होने से सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) ज्ञान और चारित्र का जीव मे त्रिकाल भी (शक्ति अपेक्षा भी) अभाव नहीं होता; हा, ससारी दशा मे इनकी कर्म-सापेक्ष सु-रूपता अथवा वि-रूपता अवश्य होती है। ऐसी स्थिति मे लिख देना कि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणत जो भव्यत्व भाव है'—पृ० २०, सर्वथा आगम के विरुद्ध है। जबकि भव्यत्वभाव अन्य किसी रूप मे भी परिणत नहीं होता।

यहा हमे ब्र० श्री राकेश की वे पंक्तियां भी याद है, जो उन्होंने 'समयसार' द्वितीय संस्करण के प्रारम्भिक 'सम्प्रति' शीर्षक मे २५-६-८७ मे लिखी है। इनमे वर्तमान आचार्य श्री विद्यासागर जी की प्रेरणा का संकेत-सा है कि उनके गुरु-प्रामाणिक है। तथाहि ब्र० जी ने लिखा है—"मैंने कई लोगो से कहते सुना, आचार्य विद्यासागर जी को, कि—'समयसार' यदि भी हिन्दी मे पढना है तो आचार्य ज्ञानसागर महाराज की टीका से पढो'—(आदि) फलत.—हम उसी को पढ़ रहे है।

उक्त ग्रथ मे आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति का भाषानुवाद (आ० ज्ञानसागर महाराज कृत) है। पाठकों की जानकारी के लिए हम दोनों को उद्धृत कर रहे है। पाठक देखें कि वहा भव्यत्व-भाव के रत्नत्रय रूप मे परिणत होने की बात कही है, या जीव के भावों को रत्नत्रय रूप परिणत होने की बात कही है ? हम निर्णय उन्ही पर छोड़ते है। तथाहि—

तात्पर्यवृत्ति—'यत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदाय **जीव** सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण **परिणमति**। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिक भावत्रय भण्यते'

—तात्पर्यवृत्ति गाथा ३४३ मे

भाषानुवाद- "जब काल आदि लब्धियो के वश से भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति होती है तब यह **जीव** सहज-शुद्ध पारिणामिक भावरूपी लक्षण को रखने वाली ऐसे निज आत्म-द्रव्य के सम्यक्श्रद्धान्, ज्ञान और आचरण की पर्याय के रूप मे **परिणमन करता है** उस ही परिणमन को आगम भाषा मे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक-भाव इन तीन नामो से कहा जाता है।"

समयसार, गाथा ३४३, पृ० ३०३-४

उक्त टीका की पुष्टि अन्य आगमो से भी होती है। सभी मे जीव के भावो के रत्नत्रय रूप मे परिणत होने की ही पुष्टि की है, न कि भव्यत्वभाव के रत्नत्रयरूप परिणत होने की। जैसे—

१. 'सम्यग्दर्शनादि भावेन भविष्यतीति भव्यः' (जीवः)
—सर्वार्थसि २।७

२. सम्यग्दर्शनादि पर्यायेण य **आत्मा** भविष्यतीति भव्य' (जीव)
—तत्वार्थरा-२।७।७

३. 'सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे **जीवा** हवंति भवसिद्धा।'
ध० १, पृ० १५०

४. 'मोक्षहेतुरत्नत्रयरूपेण भविष्यति परिणस्यतीति भव्यः' (जीव)
—लघीय० अभयवृ० पृ० ६६

अब रह जाती है रत्नत्रय में सुख न होने की बात। सो इस पर हम विशेष न लिखकर इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि जब सिद्धात्माओं में पूर्ण शुद्ध-ज्ञान का सद्भाव निश्चित है तब उस ज्ञान से उसकी सुखरूप पर्याय को पृथक् कैसे माना जा सकता है? आचार्यों ने सुख को ज्ञान की पर्याय माना है—'**सुखं तु ज्ञानदर्शनयोः पर्यायः तत एव सुखस्यापि क्षयो न भवति।**' –तत्त्वार्थ-वृत्ति, श्रुतसागरी-१०।४, इसे पाठक विचारें कि क्या ज्ञान से उसकी सुखपर्याय पृथक् हो सकती है या क्या रत्नत्रय मे सुख नही है।

निष्कर्ष—

१. आगम-जिनवाणी है, जो गुरु को मार्ग बताती है, इसलिए उसका दर्जा गुरु से ऊपर है और इसलिए 'देवशास्त्र-गुरु' क्रम ठीक है।

'णिच्छित्ती आगमदो, **आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा।**'

—**प्रव० सार २३२**

'आगमहीणो समणो, णेवप्पाणं पर वियाणादि॥'

—प्रब० सार २३३

२. 'शास्त्र' यह नाम ज्ञान से सम्बन्धित है और उस दिव्यध्वनि से सम्बन्धित है जो बोध देती है। अतः इसे लिपि वर्ण-माला मात्र से नहीं जोड़ा जा सकता और न यह ही कहा जा सकता है—'गुरु अपनी भाषा मे लिपिबद्ध करते है वह शास्त्र कहलाता है।' एतावता इस युग मे भी शास्त्रकार वीतराग देव ही है इसीलिए—इसे वीतराग वाणी कहते है। तथाहि—"**शिष्यते शिक्ष्यतेऽनेनेति शास्त्र तच्चाविशेषित सामान्येन सर्वमपि मत्याविज्ञानमुच्यते, सर्वेणापिज्ञानेन जन्तूना बोधनात्। अतो विशेषेस्थापयितुमाह**—आगमरूपंशास्त्रमागम— **शास्त्रं श्रुतज्ञानमित्यर्थः।**

—**अभि० रा० पृ० ६८५**

सासिज्जइ जेण तहि सत्थं ति चाऽविसेसिय नाणं।
आगम एव य सत्थं, आगमसत्य तु सुयणाणं॥"

—**विशेषा० ५५६**

३. भव्यत्वभाव रत्नत्रयरूप में परिणत नही होता, अतः भव्यत्व के अभाव होने पर रत्नत्रय का भी अभाव मान लेना मिथ्या है, क्योंकि मुक्तात्मा मे सम्यक्त्व और ज्ञान-गुण सदाकाल ही विद्यमान रहते हैं। इसी प्रसग से ज्ञानदर्शन की पर्याय होने से सुख भी रत्नत्रय मे गर्भित है—ऐसा सिद्ध होता है।

—कलिकालविषैं तपस्वी मृगवत् इधर उधर तैं भयवान होय वन तै नगर के समीप बसैं हैं, यहु महाखेदकारी कार्य भया है। यहाँ नगर समीप ही रहना निषेध्या, तो नगरविषैं रहना तो निषिद्ध भया ही।

—चेला चेली पुस्तकनि करि मूढ़ सन्तुष्ट हो है भ्रान्ति रहित ऐसा ज्ञानी उसे बंध का कारण जानता संता इनकरि लज्जायमान हो है।

—पापकरि मोहित भई है बुद्धि जिनकी ऐसे जे जीव जिनवरनि का लिंग धारि पाप करै हैं, ते पापमूर्ति मोक्षमार्ग विषै भ्रष्ट जानने।

—मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ० २२२

मुनि-रक्षा परम अहिंसा है

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

जब हम अपरिग्रह और महाव्रतो की बात करते हैं, तब कई साधु (?) समझ लेते है कि हम उनकी चर्चा कर रहे है, चाहे वे अपरिग्रही की श्रेणी मे न आते हों। हम स्पष्ट कर दें कि हमारा उद्देश्य अपरिग्रह और अपरिग्रही की व्याख्या होता है, न कि परिग्रह और परिग्रही की व्याख्या। पाठको को याद होगा कि पिछली बार हम अपरिग्रह को जैन का मूल बता चुके है। अपरिग्रही के कुछ नियम है, जिनका उसे निर्दोष रूप मे निर्वाह करना होता है। यदि प्रमाद-वश दोष लग जाय तो उसका प्रायश्चित करना होता है। स्मरण रहे कि अनजान मे हुए व्रतघात का नाम दोष है और जानकर किया गया व्रतघात व्रत का खंडित होना है।

अपरिग्रही को अपरिग्रही रहने के लिए सतत रूप मे निरतिचार अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य इन पांच महाव्रतों का पालन करना होता है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, उत्सर्ग इन पाच समितियो का पालन करना होता है। पांचो इन्द्रियो का शमन करना होता है। भावनाओं सहित समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग इन छह आवश्यको का पालन करना होना है। केशलुंचन, एक बार आहार, खड़े होकर आहार दातुन और स्नान का त्याग, भूमिशयन, और नग्नता धारण ये अपरिग्रही के २८ कठिन नियम (मूलगुण) होते हैं। उक्त नियमो का पालन खाला जी का घर नही—टेढ़ी खीर है। अपरिग्रही इन नियमो मे दृढ़ रह सके, और आपत्ति आने पर उसे सहन कर सके, इसके लिए उसे क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शैय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन परीषहों के जय का अभ्यास करना पड़ता है।

अपरिग्रही व्यक्ति अपरिग्रह व्रत में दृढ़ता और कर्मकृश करने के लिए अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसख्यान रस-परित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इन तपों को करता है। और अन्तरग के प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह तपों को तपता है। सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, और यथाख्यात इन पांच प्रकार के चारित्र की बढ़वारी करता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य सयम, तप, त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों को पालता है। निरन्तर द्वादश अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करता है।

अपने को अपरिग्रही घोषित करने वाला कोई व्यक्ति यदि हमसे कहे कि वह अपरिग्रही है, तो हमें क्या ऐतराज? भला, हम सत्यमहाव्रती का अविश्वास क्यों करें और क्यो ही उस पर कोई आरोप लगाएँ? हम तो हमारे हम-सफर श्रावकों से ही प्रार्थना कर सकते हैं कि वे अपरिग्रही की सही पहचान के लिए उसमें ऊपर लिखी बातें देख लें। प्रायः देखा गया है कि अधिकांश लोग मात्र नग्नता और पीछी-कमण्डलु को अपरिग्रही की पहचान मान बैठे हैं, जिसका परिणाम सामने है—आए दिनो कतिपय पीछी-कमण्डलु धारकों के विषय मे समाचार-पत्रों मे छपने वाली विसंगत चर्चाएँ। चर्चाएँ यदि तथ्य से परे होती हैं, तो चर्चाओ पर रोक क्यों नही, और यदि सत्य होती हैं, तो सुधार के प्रयत्न क्यों नही?

हम बहुत दिनों से देव-शास्त्र-गुरु रूप तीन रत्नों की बात कह रहे है। वर्तमान में देव अप्राप्य हैं, शास्त्रों का अस्तित्व खतरो से गुजर रहा है तथा लोगो को तलस्पर्शी ज्ञान भी नहीं है। ऐसे मे केवल आचार (चारित्र) के प्रतीक गुरुगण ही हमारे मार्ग-दर्शक है। यदि हम इनको भी सुरक्षित न रख सके तो धर्म गया ही समझिए, हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपरिग्रहत्व के जगम रूप की

रक्षा में सन्नद्ध हो। ऐसा न हो कि बाड़ ही खेत को खा बैठे और हम हाथ मलते रहें।

गत दिनों कुछ लोगो से उनकी नीति सम्बन्धी प्रश्न पूछा गया था कि 'वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरुओ के प्रति श्रद्धा-पूर्वक नमन करने के सम्बन्ध मे उनकी क्या नीति है?' प्रश्न बड़ा तर्कसगत और आचरणीय है। हम ऐसे मार्ग-दर्शन की प्रशंसा करते है और अपील करते है कि प्रथम दर्शन में—जब तक उनकी क्रियाओ को स्पष्ट देखा या सुना न हो, सभी निर्ग्रन्थो को वदना व आहारादि जैसे सम्मानों से सम्मानित करना चाहिए। पर, बाद को देख लेना चाहिए कि वे मात्र वेश-धर तो नही—उनका मुनिरूप चारित्र मुनिरूप तो है—जैसा कि ऊपर वर्णित है? कहा भी है, —सम्यग्दृष्टी जीव भी 'सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो।'

हम समझते है कि दीक्षा के समय साधु वैराग्य भाव—साधुता मे होता है। जब श्रावक किसी अपरिग्रही को अपार जनसमूह मे घिरे ऊँचे सिंहासन, स्टेज पर ले जाने, भीड़ द्वारा जय-जयकार करने, समाचार पत्रों मे उसके गुणगान करने, और तिरगे फोटुओ वाले उत्तम पोस्टरों मे उसे अंकित कराने आदि जैसे प्रलोभनो मे फँसाते है, तब निश्चय ही वे उसे पदच्युत कराने के साधन जुटाते है। ऐसे में अपरिग्रही स्वय की पूजा और यश-कामना के जंजाल में फँस जाता है—मोहित हो जाता है और पद से गिर जाता है। अतः श्रावको को ऐसे उपक्रमो का त्याग करना चाहिए क्योंकि साधुओं को उक्त प्रपचों से बचा लेने मे ही उनके पद की रक्षा है। साधु किसी जन समूह से न घिरे, उसके लिए निर्मित स्टेजो पर न बैठे, फोटुओं के खिचवाने से विराम ले। यदि किसी को धर्म लाभ लेना हो तो वह स्वय साधु के निवास स्थान पर जाय और साधु उसे लम्बे चौड़े भाषण न सुना—सूत्ररूप मे हित-मित वचन कहे; आदि। हम तो तब भी आश्चर्य होता है, जब वर्तमान मे साधु-पद-दुर्लभ मानने वाले कतिपय लेखक और सम्पादक समाचारो मे सभी वेष-धारियों को मुनि, आचार्य या उपाध्याय नाम से छापते है। ये तो दुरगी नीति हुई—कथनी और करनी और। हमारी दृष्टि मे तो मुनियो के प्रसगों को पत्र-पत्रिकाओ से दूर रखने से भी साधुपद की रक्षा है। समाचार पत्रो में उनके समाचार आदि उनके अहं को बढ़ाते है।

आज पैसे का जोर है, अधिकांश व्यक्ति और त्यागी भी पैसे की ओर खिचे हुए है। कोई किसी बहाने और कोई किसी बहाने लोगो की जेबें खाली कराने मे लगे है। यश के भूखो को तो यश चाहिए, सो कई पैसे वाले अपना मतलब साधते है, यश कमाते है—साधु के चारित्र से उन्हे क्या लेना-देना? साधु का चाहे शिथिलाचार बढ़े या उसे पापबन्ध हो: कुछ श्रावको की कायरता तो इतनी बढ़ चुकी है कि वे धर्म-निन्दा के भय से कई वेषधारियो के अनाचारों तक की लीपा-पोती मे लगकर दिगम्बरत्व को लांछित करने को प्रश्रय दे रहे है? उन्हे धर्मनिन्दा का भय है, धर्मलोप की चिन्ता नहीं—जबकि नीति कहती है कि 'सडे फोडे को काटकर फेंक देना चाहिए, ताकि वह नासूर न बने। लोगों से हमारी प्रार्थना है कि पैसे संबंधी समस्त क्रियाएँ दिगम्बरो के करने की नही—वे दिगम्बरों को इधर न घसीटे और स्वय ही धार्मिक उपकरणों की व्यवस्था करे। साधुओं को धार्मिक या तीर्थों-सम्बन्धी चंदो का सकल्प भी वर्ज्य है, सम्पत्ति कब्जा तो महा पाप।

आगे बढ़कर अहिंसा का नारा देने वालो को हम यह भी स्मरण करा दें कि उनका परम कर्त्तव्य है कि वे अपरिग्रहियों के सयमरूपी प्राणो की रक्षा करें। क्योंकि लौकिक दशप्राण तो साधारण के भी होते है। अपरिग्रही का असाधारण—मुख्य प्राण तो सयम है, जिससे उसका महाव्रत कायम रहता है। यदि महाव्रती के सयम का घात होता है, तो उसका महाव्रत मर जाता है और महाव्रती की हिंसा हो जाती है। ऐसे मे जैनियो का 'अहिंसा परमो धर्मः' नारा कैसे सार्थक होता है? जरा सोचिए।

□□

आगमों से चुने : ज्ञान-कण

संकलयिता—श्री शान्तिलाल जैन, कागजी

१. सिद्धान्त मे पाप मिथ्यात्वहीकू कहा है, जहां ताई मिथ्यात्व है, तहा ताई शुभ तथा अशुभ सर्वही क्रियाकू अध्यात्मविषै परमार्थकर पाप ही कहिये ।

२. सम्यग्दृष्टिकै ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य होना कहा है ।

३. मिथ्यादृष्टिका अध्यात्मशास्त्र मे प्रथम तो प्रवेश नाही, अर जो प्रवेश करै, तो विपर्यय समझे है ।

४ जाका संयोग भया, ताका वियोग अवश्य होयगा । तातै विनाशीकतै प्रीति न करनी ।

५ अतीत तो गया ही है, अनागतकी वाञ्छा नाही, वर्तमानकाल विषै राग नाही है, जो न जानै ताविषै राग कैसाहोय ?

६ परद्रव्य, परभाव ससारमे भ्रमणके कारण हैं, तिनतै प्रीति करै, तो ज्ञानी काहे का ?

७. निर्जरा तो आत्मानुभव से होय है ।

८ मोक्ष आत्माकै होय है, सो आत्माका स्वभाव ही मोक्ष का कारण होय । तातै ज्ञान आत्माका स्वभाव है । सो ही मोक्षका कारण है ।

९. जीव नामा पदार्थ समय है, सो यह जब अपने स्वभाव विषै तिष्ठै, तब तो स्वसमय है । अर परस्वभाव—राग द्वेष, मोहरूप होय तिष्ठै तब परसमय है, ऐसै याकै द्विधापणा आवे है ।

१०. काम कहिये विषयनिकी इच्छा, अर भोग कहिये तिनिका भोगना, यहु कथा तो अनतबार सुणी, परिचय मे करी, अनुभव मैं आई, तातै सुलभ है । बहुरि सर्व परद्रव्यनितै भिन्न एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपनी आत्मा की कथा तौ स्वयमेव ज्ञान करै । सो ज्ञान याकै भया नाही । अर जिनकै याका ज्ञान भया, तिनकी ये उपासना कदे करी नाही । यातै याकी कथा कदे न सुनी, न परिचई, न अनुभव मै आई । तातै याका पावना दुर्लभ भया ।

११. आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्ब, सुगुरु का उपदेश, स्वसवेदन, इनि चारि बातनिकरि उपज्या जो अपना ज्ञान का विभव, ताकरि एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप देख्या जाय है ।

१२. जो जिणमय पवज्जहु ता मा ववहार णिच्छये मुयहु । एक्केण विणा छिज्जइ, तित्थ अण्णोण उण तच्च । अर्थ—आचार्य कहे है जो है पुरुष हो तुम जो जिनमतकू प्रवर्त्तावो हो तो व्यवहार अर निश्चय इनि दोऊ नयनिकू मति छोड़ो । जातै एक जो व्यवहारनय ता विना तो तीर्थ कहिये व्यवहारमार्ग ताका नाश होयगा । बहुरि अन्येन कहिये निश्चयनय बिना तत्त्व का नाश होयगा ।

१३. वस्तु तो द्रव्य है, सो द्रव्य के निजभाव तो द्रव्य की लार है अर नैमित्तिकभाव का तो अभावही होय ।

१४. शुद्धनय की दृष्टिकरि देखीये तो सर्वकर्मनितै रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अतरग विषै आप विराजे है । यह प्राणी पर्याय बुद्धि—बहिरात्मा याकू बाह्य हेरै है सो बडा अज्ञान है ।

१५. सर्व ही लोककै कामभोग सबंधी बधकी कथा तो सुनने मे आई है, परिचय मे आई है, अनुभव मे आई है, तातै सुलभ है । बहुरि यह भिन्न आत्माका एकपणा कबहू श्रवणमें न आया, यातै केवल एक यहही सुलभ नाही है ।

१६. कदे आपकू आप जान्या नाही ।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का मगलाचरण सहित अपूर्व सग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और प० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थो की प्रशस्तियो का महत्त्वपूर्ण सग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रथ-परिचय और परिशिष्टो सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ सख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : सपादक प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयों पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन २-००

मूल जैन संस्कृति अपरिग्रह : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री २-००

Jaina Bibliography Shri Chhotelal Jain. (An universal Encyclopaedia of Jain-References) In two Vol (P. 1942) Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक · श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST

वीर सेवा मन्दिरका त्रैमासिक

अनेकान्त

(पत्र-प्रवर्तक : आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर')

वर्ष ४२ : कि० ४ अक्टूबर-दिसम्बर १९८९

इस अंक में—

प्रकाशक :

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

सावधान !

नीम हकीम खतरे जान,

नीम हकीम खतरे ईमान

हमारी जैन समाज में कई भारतीय स्तर की संस्थाएँ है जो दिन-रात भारत की राजनैतिक संस्थाओं की तरह जैनों की गरीबी दूर करने पर जोर देती है। इन संस्थाओं के बहुत से नेता जैन समाज को विघटन से बचाने का राग भी अलापते है।

इन नेताओं में बड़े नेताओं सहित, बहुतों को तो जैन धर्म मे वर्णित श्रावक के षट्आवश्यक कर्तव्यों के नाम तक मालूम नहीं है। इनमें अधिकतर नेता रात्रि में भोजन करते है, अनछने जल का प्रयोग करते है और कुछ नेता अबाध गति मे धूम्रपान करते है और कुछ तो उससे आगे भी पहुँच गये है।

ये ही नेता भगवान महावीर के संदेश का प्रचार करते हैं। कभी-कभी बच्चों को धार्मिक शिक्षा हेतु पाठशाला चलाने का आदेश भी देते है। इनका सबसे अधिक जोर सामाजिक संगठन पर रहता है। ये ही लोग गले फाड़ फाड़ कर माइक पर चिल्लाते है कि रात्रि में शादियां न करे। ये दहेज लेना-देना वर्जित बताते है। फिजूलखर्ची न हो ऐसा परामर्श देते है। जैन को जैन से ही सबन्ध करने की सलाह देते है। लेकिन अधिकतर नेताओं का आचरण इन सब बातो के विरुद्ध होता है। ये ही लोग अजैनों से रिश्ता करके गर्व महसूस करते है। रातों में शादी करते है। दहेज अधिक से-अधिक लेते है। कई के यहाँ व्यापार का बहाना लेकर काकटेल पार्टी भी होती हो तब भी आश्चर्य नहीं।

समाज को ऐसे नेताओं से सावधान रहना है। कहीं ऐसा न हो कि ये नेतागण अपने पद और नेतागीरी को सुरक्षित रखने के चक्कर में हमें हमारे धर्म के मूल स्वरूप से दूर करा दे और आगम सिद्धान्तों के विपरीत चलाकर हमें हमारे धर्म से च्युत न कर दे।

कागज प्राप्ति —श्रीमती अंगूरी देवी जैन (धर्मपत्नी श्री शान्तिलाल जैन कागजी) नई दिल्ली-२ के सौजन्य से

ओम् अर्हम्
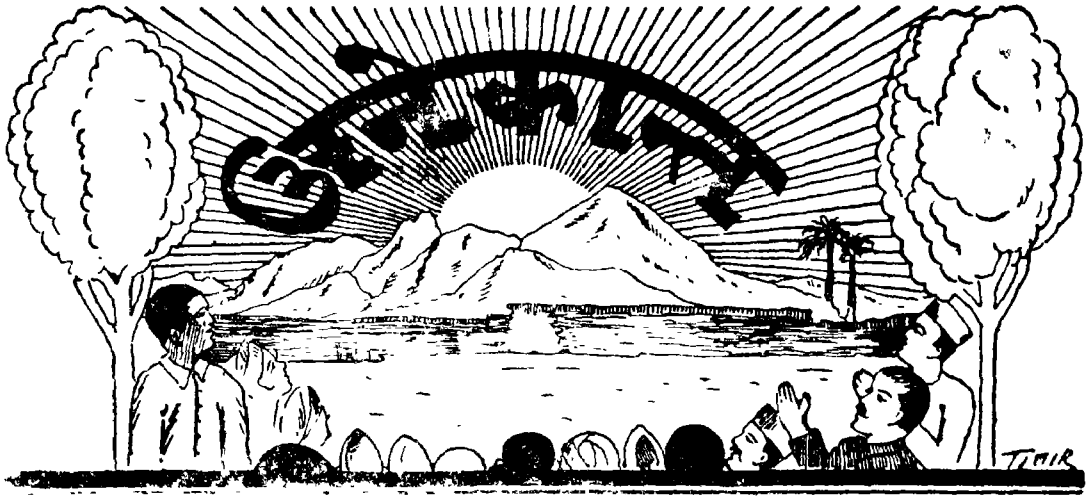
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।

वर्ष ४२ किरण ४ | वीर-सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण संवत् २५१६, वि० सं० २०४६ | अक्टूबर-दिसम्बर १९८९

शान्तिनाथ-जिन-स्तवन

जयति जगदधीशः शान्तिनाथो यदीयं,
स्मृतिमपि हि जनानां पापतापोपशान्त्यै ।
विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्न—
द्युतिचलमधुपाली चुम्बित पादपद्मम् ।।५।।
स जयति जिनदेवः सर्वविद्विश्वनाथो,
वितथवचनहेतु क्रोधलोभादि मुक्तः ।
शिवपुरपथपान्थप्राणिपाथेयमुच्चै—
जनित परमशर्मा येन धर्मोऽभ्यधायि ।।६।।

अर्थ--देवसमूह के मुकुटों में प्रकाशमान नील रत्नों की कांति जैसी चंचलभ्रमरों की पंक्ति से चुम्बित जिनेन्द्र शान्तिनाथ के चरणकमल, स्मरण करने मात्र से ही लोगों के पापरूप संताप को दूर करते हैं, ऐसे लोक के अधिनायक भगवान शान्तिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त होवें। जो जिन भगवान असत्य-भाषण के कारणीभूत क्रोध एवं लोभ आदि से रहित हैं तथा जिन्होंने मुक्तिपुरी के मार्ग में चलते हुए पथिकजनों के लिए, पाथेय (कलेवा) स्वरूप एवं उत्तम सुख को उत्पन्न करने वाले धर्म का उपदेश दिया है, वह समस्त पदार्थों के जानने वाले तीन लोक के अधिपति जिनदेव जयवन्त होवें।

आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनके सर्वोदयवादी सिद्धान्त

□ प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

विश्व संस्कृति के उन्नायकों में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोच्च है। उसका कारण यह नहीं कि वे किन्हीं भौतिकवादी चमत्कारों के द्वारा जनता को अपनी ओर आकर्षित कर अथवा किसी राजनैतिक दल को संगठित कर सभी पर अपना प्रभाव डालते थे। बल्कि उसका मूल कारण यह था कि वे लोकहित में जो भी कहना एवं करना चाहते थे, एक महान वैज्ञानिक की भाँति वे अपने विचारों एवं सिद्धान्तों का अपने जीवन में ही सर्वप्रथम प्रयोग करते थे और उनकी सत्यता का पूर्ण अनुभव कर बाद में उनका प्रचार करते थे। उनके सिद्धान्त मानव-मात्र तक ही सीमित नहीं थे, अपितु प्राणिमात्र तक विस्तृत थे और उनके आदर्श केवल भारतीय सीमा के घेरे तक ही सीमित नहीं थे बल्कि अखिल विश्व के समस्त प्राणियों के लिए थे अर्थात् उनके सिद्धान्त सार्वजनीन सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक थे। ऐसे महान साधक, विचारक एवं उपदेष्टा को आधुनिक भाषा-शैली में लोकनायक अथवा सर्वोदय के महान प्रचारक की संज्ञा प्रदान की जाती है।

प्रस्तुत लघु निबन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन वृत्त का ऊहापोह नहीं बल्कि उनके उपदेशों एवं कार्यों का वर्तमान सन्दर्भों में संक्षिप्त मूल्यांकन करना ही प्रधान उद्देश्य है। अत: यहाँ तद्विषयक अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जा रहा है। मेरी दृष्टि से जैन दर्शन के क्षेत्र में मौलिक चिन्तन के अतिरिक्त भी आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नलिखित कार्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं :—

१. स्वरचित साहित्य में समकालीन लोकप्रिय जन-भाषा (जैन शौरसेनी—प्राकृत) का आजीव प्रयोग,

२. सर्वोदयी संस्कृत का प्रचार, तथा

३. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए प्रयत्न।

समकालीन जनभाषा-प्रयोग

आधुनिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो आचार्य कुन्दकुन्द अपने समय के एक समर्थ जनवादी सन्त विचारक एवं लेखक थे। इस कोटि का लेखक बिना किसी वर्गभेद एवं वर्णभेद की भावना के, प्रत्येक व्यक्ति के पास पहुँचने का प्रयत्न करता है और उसके सुख-दुख की जानकारी प्राप्त कर उन्हें जीवन के यथार्थ सुख सन्तोष का रहस्य बतलाना चाहते हैं। यह तथ्य है कि जनता-जनार्दन से घुलने-मिलने के लिए किसी भी प्रकार की साज-सज्जा तथा वैभवपूर्ण आडम्बरों की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उनकी तडक-भडक से सामान्य जनता उनसे विश्वास पूर्वक घुल-मिल नहीं पाती। इसीलिए लोकहित की दृष्टि से कुन्दकुन्द ने अपने घर का वैभव छोड़ा, गृह-त्याग किया, निर्ग्रन्थ-वेश धारण किया, पद-यात्रा का आजीवन व्रत लिया और सबसे बड़ी प्रतिज्ञा यह की, कि वे सामान्य-जनता के हितार्थ लोकप्रचलित जनभाषा का ही प्रयोग करेंगे, उसी में प्रवचन करेंगे, उसी में बोलेंगे, उसी में सोचेंगे और उसी में लिखेंगे भी। वे कभी भी किसी सीमित दरबारी-भाषा का प्रयोग नहीं करेंगे। इस दृढ़ व्रत का उन्होंने आजीवन पालन किया भी।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय की (अर्थात् आज से दो हजार वर्ष पूर्व की) जनभाषा को भाषा-शास्त्रियों ने "प्राकृत-भाषा" कहा है। कुन्दकुन्द के पूर्व भी प्राकृतों का प्रयोग होता आया था। पूर्व-तीर्थंकरों के साथ-साथ पार्श्वनाथ, महावीर एवं बुद्ध ने अपने-अपने प्रवचनों में जनभाषा-प्राकृत का ही प्रयोग किया था। यही नहीं, प्रियदर्शी सम्राट अशोक ने भी अपने अध्यादेश जनभाषा-प्राकृत में ही प्रसारित किए थे तथा कलिंग-नरेश खारवेल ने भी अपने राज्य-काल का पूर्ण विवरण जनभाषा-प्राकृत में ही

प्रस्तुत किया था। किन्तु इन सभी की भाषा पूर्वी-भारत मे प्रचलित वह जनभाषा थी, जिसे मागधी एव अर्ध-मागधी के नाम से अभिहित किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द की स्थिति इससे भिन्न है।

आचार्य कुन्दकुन्द पहले समर्थ लेखक एव कवि है, जिन्होंने दक्षिणात्य होते हुए भी उत्तर-भारत मे जन्मी किसी जनभाषा, जिसे कि भाषाशास्त्रियों ने "जैन शौरसेनी-प्राकृत" कहा, का केवल प्रयोग मात्र ही नही किया, अपितु उसमे निर्भीकता पूर्वक बिना किसी सोच-सकोच के धाराप्रवाह विविध विषयक विस्तृत साहित्य का प्रणयन भी किया और उस के सामर्थ्य एव गौरव को द्विगुणित कर उसकी लोकप्रियता मे चार चाँद लगा दिए। उनके साहित्य की विशालता भी इतनी है कि उसकी पूर्ण सूची यहाँ प्रस्तुत कर पाना सम्भव नही। यही कहा जा सकता है कि उनके उपलब्ध एव अनुपलब्ध ग्रन्थो की कुल सख्या सम्भवत ७-१/२ दर्जन से भी अधिक है। परवर्ती लेखक-आचार्यों के सम्मुख उन्होने इतना सरस एव मर्मस्पर्शी साहित्य लिखकर एक ऐसा विशेष आदर्श उपस्थित किया कि जिससे प्रेरणा लेकर परवर्ती अनेक कवि १०वी, ११वी सदी तक निरन्तर उसी भाषा में साहित्य-प्रणयन करते रहे।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास के अध्ययन क्रम मे भाषा वैज्ञानिको ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ब्रजबोली का उद्भव एव विकास "शौरसेनी-प्राकृत" से हुआ है। अतः यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय, तो कुन्दकुन्द ही ऐसे प्रथम आचार्य है, जिनके साहित्य ने आधुनिक ब्रजभाषा एव साहित्य को न केवल भावभूमि प्रदान की, अपितु उसके बहु आयामी अध्ययन के लिए स्रोत भी प्रदान किए। इस दृष्टि से कुन्दकुन्द को हिन्दी-साहित्य, विशेषतया ब्रज-भाषा एव उसके भक्ति-साहित्य-रूपी भव्य-प्रासाद की नीव का ठोस पत्थर माना जाय, तो अत्युक्ति न होगी।

कुन्दकुन्द की दूसरी विशेषता है, उसके द्वारा सर्वोदयी संस्कृति का प्रचार। भारतीय सस्कृति वस्तुतः त्याग की संस्कृति है, भोग की सस्कृति नहीं। वे सिद्धान्तो के प्रदर्शन मे नही बल्कि उन्हे जीवन मे उतारने की आवश्यकता पर बल देते थे। उनके जो भी आदर्श थे, उनका सर्वप्रथम प्रयोग कुन्दकुन्द ने अपने जीवन पर किया और जब वे उसमे खरे उतरते थे, तभी उन्हे सार्वजनीन रूप देते थे। उनके "पाहुड-साहित्य" का यदि गम्भीर विश्लेषण किया जाय, तो उससे यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उनके अहिंसा एव अपरिग्रह सम्बन्धी सिद्धान्त केवल मानव समाज तक ही सीमित न थे, अपितु समस्त प्राणि-जगत पर भी लागू होते है। सर्वोदय का यह स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ ही है। "जिओ और जीने दो" के सिद्धान्त का उन्होने आजीवन प्रचार किया।

आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वोदयी सस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वह वस्तुत हृदय-परिवर्तन एव आत्म-गुणों के विकास की सस्कृति है। उसका मूल आधार—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एव माध्यस्थ-भावना ही रही है। यह विचारणीय है कि रुपयो, पैसो, सोना-चाँदी, वैभव, पद-प्रभाव आदि के बल पर अथवा भौतिक-शक्ति के बल पर क्या आत्मगुणो का विकास किया जा सकता है? क्या शारीरिक-सौन्दर्य तथा उच्चकुल एव जाति मे जन्म ले लेने मात्र से ही सद्‌गुणो का आविर्भाव हो जाता है? सरलता, निश्छलता, दयालुता, परदुःखकातरता, श्रद्धा एव सम्मान की भावना क्या दूकानों पर बिकती है, जो खरीदी जा सके? नहीं। सद्‌गुण तो यथार्थतः श्रेष्ठगुणी-जनो के ससर्ग से एवं वीतराग-वाणी के अध्ययन से ही आ सकते है। कुन्दकुन्द ने कितना सुन्दर कहा है —

णवि देहो वदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइ-सजुत्तो।
को वदइ गुणहीणो णहु सवणो णेव सावओ होइ ॥दसण० २७

अर्थात् न तो शरीर की वन्दना की जाती है और न कुल की, उच्च जाति की भी वन्दना नही की जाती। गुणहीन की वन्दना कौन करेगा? क्योंकि न तो सद्‌गुणो के बिना मुनि हो सकता है और न ही श्रावक।

पुनः कुन्दकुन्द कहते हैं :—

सव्वे वि य परिहीणा रूव-विरूवा वि वदिदसुवया वि।
सीलं जेसु सुसील सुजीविदं माणुस तेसिं ॥सील० १८

अर्थात् भले ही कोई हीन जाति का हो, सौन्दर्य विहीन कुरूप हो, विकलांग हो, झुर्रियों से युक्त वृद्धावस्था को भी प्राप्त क्यों न हो? इन विरूपों के होने पर भी यदि वह उत्तमशील का धारक हो तथा उसके मानवीय गुण जीवित हो तब भी उस विरूप का मनुष्य-जन्म श्रेष्ठ माना गया है।

आत्मगुण के विकास का अर्थ कुन्दकुन्द ने यही माना है कि जिससे व्यक्ति अपना अपने परिवार, समाज एव देश का कल्याण कर सके। यही सार्वकालिक एव सार्वभौमिक सत्य है। सम्राट अशोक तब तक 'प्रियदर्शी" एवं सर्वत: लोकोपचारी न बन सका और तब तक वह भारत माता के गले का हार न बन सका, जब तक उसने कलिंग युद्ध मे सहस्रो सैनिको की हत्या के अपराध के प्रायश्चित मे अपनी तलवार तोड़कर नही फेक दी और अहिंसक-जीवन व्यतीत नही करने लगा। मोहनदास करमचन्द गांधी, तब तक महात्मा एवं राष्ट्रपति नहीं बन सके, जब तक उन्होंने महर्षि जनक, तीर्थंकर महावीर एव गोतम बुद्ध की भूमि का स्पर्श कर अहिंसा, सत्य ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह को अपने जीवन मे नही उतार लिया।

जीवन के सन्तुलन एवं सरसता के लिए ज्ञान एव साधना अथवा तप के समन्वय पर कुन्दकुन्द ने विशेष बल दिया क्योकि एक के बिना दूसरा अन्धा एवं लगडा है। पारस्परिक सयमन के लिए एक को दूसरे की महती आवश्यकता है।

कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है :—

तवरहियं जं णाणं णाणविजुतो तवो कि अकयत्थो।
तम्हा णाण तवेण संजुतो लहइ णिव्वाण ॥मोक्ख० ५६

अर्थात् तप रहित ज्ञान एव ज्ञान रहित तप ये दोनो ही निरर्थक है (अर्थात् एक के बिना दूसरा अधा एव लगडा है) अतः ज्ञान एव तप से युक्त साधक ही अपने यथार्थ लक्ष्य को प्राप्त करता है।

पूर्व-परम्परा प्राप्त कर आचार्य कुन्दकुन्द ने संसार की समस्त समाज-विरोधी दुष्प्रवृत्तियो एव अनाचारो को पाँच भागो मे विभक्त किया :—१. हिंसा, २. झूठ, ३. चोरी, ४. कुशील एव ५. परिग्रह। इनका यथाशक्ति त्याग करना ही श्रावकाचार है तथा सर्व देश त्याग करना ही मुनि-आचार। जैनधर्म की यह आचार-व्यवस्था वस्तुतः सर्वोदय का अमर नाम माना जा सकता है क्योंकि उन दोनों मे न केवल मानव के प्रति, अपितु समस्त प्राणि-जगत् के प्रति भी सद्भावना सुरक्षा एवं उसके विकास की प्रक्रिया मे उसके सहयोग की पूर्ण कल्याण कामना निहित रहती है। अत: यदि जैनाचार का मन, वचन एवं काय से निर्दोष पालन होने लगे तो सारा ससार स्वत: ही सुधर जाएगा। कोर्ट-कचहरियो एव थानो की भी आवश्यकता नही रहेगी। उनमे ताले पड जायेगे। पुलिस, सेना, तोप एव तलवारो की भी फिर क्या आवश्यकता?

इण्डियन-पैनल-कोड मे वर्णित अपराध-कर्मों तथा पूर्वोक्त ५ पापों का यदि विधिवत् अध्ययन किया जाए, तो उनमे आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर होती है। उक्त इण्डियन पैनल कोड मे भी पाँच बातों का बिभिन्न धाराओ मे वर्गीकरण कर उनके लिए विविध दण्डो की व्यवस्था का वर्णन किया गया है। अन्तर केवल यही है कि एक में प्रायश्चित, साधना, आत्म-सयम तथा आत्म-शुद्धि के द्वारा अपराध-कर्मों से मुक्ति का विधान है, तो दूसरे मे कारागार की सजा, अर्थदण्ड एवं पुलिस की मार-पीट आदि मे अपराध-कर्मों की प्रवृत्ति को छुडाने के प्रयत्न की व्यवस्था है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो स्वस्थ समाज एव कल्याणकारी राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से कुन्द-कुन्द द्वारा निर्दशित जैनाचार अथवा सर्वोदय का सिद्धांत आज भी उतना ही प्रासगिक है, जितना कि आज से २००० वर्ष पूर्व। विश्व की विषम समस्याओ का समाधान उसी से सम्भव है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तीसरा महत्वपूर्ण कार्य किया राष्ट्रीय अखण्डता एव एकता का। वे स्वय तो दाक्षिणात्य थे। उन्होने वहाँ की किसी भाषा में कुछ लिखा या नहीं, उसकी निश्चित सूचना नही है। तमिल के पंचम वेद के रूप में प्रसिद्ध "थिरुकुरल" नामक काव्य-ग्रन्थ का लेखन

उन्होंने किया था, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है किन्तु यह मान्यता अभी तक सर्वसम्मत नही हो पाई है। फिर भी, यदि यह मान भी ले कि वह उन्ही की रचना है, तो भी उन्होने बाद मे प्रान्तीय सकीर्णता से ऊपर उठने का निश्चय किया और शूरसेन देश (अथवा मथुरा) के नाम पर प्रसिद्ध शोरसेनी-प्राकृत-भाषा का उन्होंने गहन अध्ययन किया तथा उसी मे उन्होंने यावज्जीवन साहित्य की रचना की। उसमे जीवन की यथार्थता का चित्रण, भाषा की सरलता, सहज वर्णन-शैली वव मार्मिक अनुभूतियो से ओत-प्रोत रहने के कारण वह साहित्य इतना लोकप्रिय हुआ कि प्रान्तीय, भाषाई एव भौगोलिक सीमाएँ स्वतः ही समाप्त हो गइ। सर्वत्र उसका प्रचार हुआ। आज भी पूर्व से पश्चिम एव उत्तर से दक्षिण कही जाये आचार्य कुन्दकुन्द सभी के अपने है। उनके लिए न दिशाभेद है, न देशभेद है, न भाषाभेद है, न प्रान्तभेद है, न धर्मभेद है और न वर्णभेद ही।

इस प्रकार एक दाक्षिणात्य सन्त कुन्दकुन्द ने अपने केवल एक भाषा-प्रयोग से ही समस्त राष्ट्र को एकबद्ध कर चमत्कृत कर दिया। आधुनिक दृष्टि से भाषा-प्रयाग के माध्यम से राष्ट्र को एकबद्ध बनाए रखने का इससे बड़ा उदाहरण और कहाँ मिलेगा ?

शोरसेनी-प्राकृत के क्षेत्र से यदि कुन्दकुन्द को पृथक् कर दिया जाय तो उसकी उतनी ही क्षति होगी, जितनी कि शोरसेनी-प्राकृत से उत्पन्न ब्रजभाषा के महाकवि सूरदास को पृथक् कर देने पर हिन्दी-साहित्य की क्षति। शोरसेनी-प्राकृत तथा ब्रजभाषा सहित उत्तर भारत की प्रमुख आधुनिक भाषाओं का प्राकृतो से गहरा सम्बन्ध है। अतः हिन्दी-साहित्य विशेषतया ब्रजभाषा के साहित्य को यदि उत्तरोत्तर समृद्ध बनाना है, तो कुन्दकुन्द की भाषा एव साहित्य का अध्ययन एवं प्रचार-प्रसार करना ही होगा।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द की देन के विषय में यहाँ सक्षिप्त विचार प्रस्तुत किए गए किन्तु उनके अवदानों की यही अन्तिम सीमा नही है। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व तो इतना विराट है कि उसे शब्दो मे गुथ पाना कठिन ही है। अभी तक विद्वानो ने उनका केवल दार्शनिक मूल्यांकन ही किया है। किन्तु मेरी दृष्टि से वह भी अपूर्ण ही है क्योकि विश्व के प्रमख दर्शनों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन तथा उसमे पारस्परिक आदान-प्रदान की दिशा मे कोई भी विचार नही किया गया जो कि आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है।

इसी प्रकार कुन्दकुन्द की भाषा का भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण, उनके साहित्य का सांस्कृतिक, सामाजिक एव काव्यात्मक मूल्यांकन भी अभी तक नही हो पाया है। इन पक्षों पर जब तक प्रामाणिक अध्ययन नही हो जाता तब तक कुन्दकुन्द के बहुआयामी व्यक्तित्व से अपरिचित ही रहेगे। श्रमण सस्कृति के महान सवाहक आचार्य कुन्दकुन्द के इस द्विसहस्राब्दि, समारोह के प्रसंग मे यदि उनके सर्वांगीण पक्षो को प्रकाशित किया जा सके, तो उसे इस सदी का भारतीय इतिहास एवं सस्कृति के लिए बहुमूल्य उपहार माना जायगा।

—प्राचार्य एव अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर सस्कृत-प्राकृत विभाग,
ह० दा० जैन कालेज, आरा (बिहार) ०स०३११

वादिराजसूरि के जीवनवृत्त का पुनरीक्षण

डॉ० जयकुमार जैन

संस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार के अनुशीलन से पता चलता है कि भारतवर्ष में सुरभारती के सेवक वादिराज नाम वाले अनेक विद्वान् हुए हैं। इनमें पार्श्वनाथ चरित-यशोधर चरितादि के प्रणेता वादिराजसूरि सुप्रसिद्ध है, जो न्यायविनिश्चय पर विवरण नाम्नी टीका के भी रचयिता है। प्राकृत निबन्ध मे इन्ही वादिराज को विषय बनाया गया है। उनकी सम्पूर्ण कृतियो का भले ही विधिवत् अध्ययन न हो पाया हो, परन्तु उनके सरस एकीभाव स्तोत्र से धार्मिक समाज, न्यायविनिश्चय विवरण से तार्किक समाज और पार्श्वनाथ चरित-यशोधरचरितादि से साहित्यज्ञ समाज सर्वथा सुपरिचित है। जहा एक ओर उन्हे महान् कवियो मे स्थान प्राप्त है, वहा दूसरी ओर श्रेष्ठ तार्किको की पंक्ति मे भी उत्तम स्थान पाने वाले हैं।

वादिराजसूरि द्राविड संघीय अरुगल शाखा के आचार्य थे।[1] द्राविड संघके अनेक प्राचीन शिलालेखों में द्रविड़, द्रमिड़, द्रविण, द्रविड, द्रमिल, दविल, दरविल आदि नामो से उल्लेख पाया जाता है।[2] ये नामगत भेद कही लेखकों के प्रमादजन्य है तो कही भाषा वैज्ञानिक विकासजन्य। प्राचीनकाल मे चेर, चोल और पाण्ड्य इन तीन देशो के निवासियो को द्राविड़ कहा जाता था। केरल के प्रसिद्ध आचार्य महाकवि उल्लूर एस० परमेश्वर अय्यर द्राविड़ शब्द का विकास विठास या विशिष्टता अर्थ के वाचक तमिष शब्द से निम्नलिखित क्रमानुसार मानते हैं—तमिष, ममिल, दमिल, द्रमिल, द्रमिड़, द्रविड़, द्राविड़।[3]

महाकवि वादिराज ने किस जन्मभूमि एव किस कुल को अलंकृत किया—इस सम्बन्ध में कोई भी आन्तरिक या बाह्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। यत: वादिराजसूरि द्राविड़ संघीय थे, अतः उनके दक्षिणात्य होने की सम्भावना की जाती है। द्रविड देश को वर्तमान आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु का कुछ भाग माना जा सकता है। जन्मभूमि, माता-पिता आदि के विषय मे प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी उनकी कृतियो के अनन्य प्रशस्ति पद्यो मे ज्ञात होता है कि वादिराजसूरि के गुरु का नाम श्री मतिसागर और गुरू के गुरू का नाम श्रीपालदेव था।[4]

यशस्तिलक चम्पू के संस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने वादिराज और वादीभसिंह को सोमदेवाचार्य का शिष्य बतलाते हुए लिखा है कि —"स वादिराजोऽपि श्री सोमदेवाचार्यस्य शिष्य:।" "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्य:, वादिराजोऽपि मदीय शिष्य" इत्युक्तत्वात्।[5] इसके पूर्व श्रुतसागरसूरि ने "उक्तं च वादिराजेन" कहकर एक पद्य उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—

"कर्मणा कवलितो सोऽजा तत्पुरान्तर जनांगमवाटे।
कर्मकोद्रवरसेन हि मत्त: किं किमेत्यशुभधाम न जीव.॥[6]

यह श्लोक वादिराजसूरिकृत किसी भी ग्रन्थ में नही मिलता है और न ही अन्य वादिराजविरचित ग्रन्थो मे ही। सोमदेवसूरि के नाम से उल्लिखित "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्य. वादिराजोऽपि मदीयशिष्य:' वाक्य का उल्लेख भी उनकी किसी भी रचना (यश०, नीतिवा०, अध्यात्मतरंगिणी) मे नही है। अत: वादिराज का सोमदेवाचार्य का शिष्यत्व सर्वथा असंगत है। यशस्तिलक चम्पू का रचनाकाल चैत्र शुक्ला त्रयोदशी शक स० ८८१ (९५९ ई०) है[7] जबकि वादिराज के पार्श्वनाथचरित का प्रणयनकाल शक सं० ९३७ (१०२५ ई०) है।[8] इस प्रकार दोनो ग्रन्थों के रचनाकाल का ६६ वर्षो का अन्तर भी दोनो के गुरूशिष्यत्व मे बाधक है।

शाकटायन व्याकरण की टीका "रूपसिद्धि" के रचयिता दयापाल मुनि वादिराज के सतीर्थ (सहाध्यायी या सधर्मा) थे। मल्लिषेण प्रशस्ति मे वादिराज के सतीर्थों में, पुष्पसेन और श्रीविजय का भी नाम आया है।[९] किन्तु इन दोनों का कोई ग्रंथ उपलब्ध नही है। हुम्मुच के इन शिलालेखों मे द्राविड़ सघ की परम्परा इस प्रकार दी गई है—
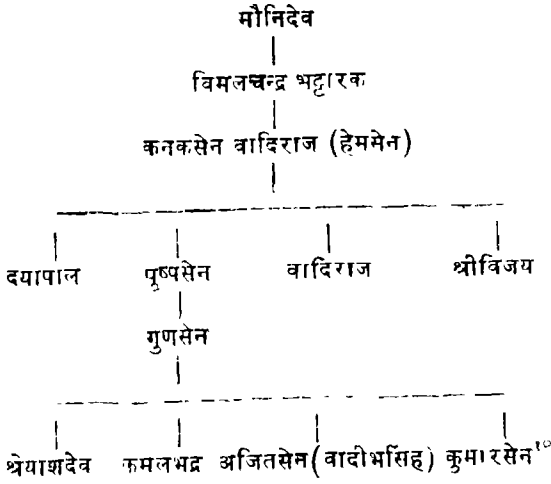
यहा वादिराज के गुरू का नाम कनकसेन वादिराज (हेमसेन) कहा है और अन्यत्र मतिसागर निर्दिष्ट है। इसका समाधान यही हो सकता है कि कदाचित् मतिसागर वादिराज के दीक्षा गुरू थे और कनकसेन वादिराज (हेमसेन) विद्या गुरू। श्री नथूराम प्रेमी का भी यही मन्तव्य है।[११] साध्वी सघमित्रा जी ने वादिराज जी के सतीर्थ का नाम अनेक बार दयालपाल लिखा है।[१२] जो सम्भवत: मुद्रण दोष है क्योकि उनके द्वारा प्रदत्त सन्दर्भ मल्लिशेणप्रशस्ति म भी दयापाल मुनि ही आया है।

वादिराज कवि का मूलनाथ था। या उपाधि—इस विषय मे पर्याप्त वैमत्य है। श्री नाथूराम प्रेमी की मान्यता है कि उनका मूल नाम कुछ और ही रहा होगा, वादिराज तो उनकी उपाधि है। और कालातर मे वे इस नाम से प्रसिद्ध हो गये।[१३] टी० ए० गोपीनाथ राव ने वादिराज का वास्तविक नाम कनकसेन वादिराज माना है।[१४] इसका कारण यह हो सकता है कि कीथ, विन्टरनित्स आदि कुछ पाश्चात्य इतिहासज्ञों ने कनसेन वादिराज कृत २९६ पद्यात्मक एव ४ सर्गात्मक यशोधरचरित नामक काव्य का उल्लेख किया है।[१५] किन्तु यह भ्रामक है। विभिन्न शिलालेखों में कनसेन वादिराज और वादिराज का पृथक्-पृथक् उल्लेख है।[१६] एक अन्य शिलालेख मे जगदेकमल्ल वादिराज का नाम वर्धमान कहा गया है।[१७] वादिराज सूरि द्वारा विरचित एकीभाव स्तोत्र (कल्याणकल्पद्रुम) पर नागेन्द्रसूरि द्वारा विरचित एक टीका उपलब्ध होती है। टीकाकार के प्रारम्भिक प्रतिज्ञा वाक्य मे स्पष्ट रूप से वादिराज का दूसरा नाम वर्धमान कहा गया है—

"श्रीमद्वादिराजापरनामवर्धमानमुनीश्वरविरचितस्य परमाप्तस्तवस्यातिगहनगभीरस्य सुखावबोधार्थं भव्यासुजिघृक्ष,पारतन्त्रैर्ज्ञानभूषणभट्टारकैरूपरुद्धो नागचन्द्रसूरिर्यथाशक्ति छायामात्रमिदं निबन्धनमभिधत्ते।"[१८] किन्तु यह टीका अत्यन्त अर्वाचीन है। टीका की एक प्रति झालरापटन के सरस्वती भवन मे है। यह प्रति वि० स० १६७६ (१६१९ ई०) मे फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मण्डलाचार्य यशःकीर्ति के ब्रह्मदास ने वैराठ नगर म आत्म पठनार्थ लिखी थी।[१९]

यत: वादिराज ने पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति[२०] तथा यशोधरचरित[२१] के प्रारम्भ मे आपना नाम वादिराज ही कहा है, अत: जब तक अन्य कोई प्रबल प्रमाण नही मिलता है, तब तक हमे वादिराज ही वास्तविक नाम स्वीकार करना चाहिए।

वादिराज सूरि के समय दक्षिण भारत मे चालुक्य नरेश जयसिंह का शासन था। इनके राज्यकाल की सीमाये १०१६-१०४२ ई० मानी जाती है।[२२] महाकवि विल्हण ने चालुक्य वश की उत्पत्ति दैत्यो के नाश के लिए ब्रह्मा की चुलुका (चुल्लू) मे बताई है। उन्होने चालुक्य वश की परम्परा का प्रारम्भ हारीत से करते हुए उनकी वशावली का निर्देश इस प्रकार किया है— मानव्य, तैलप, सत्याश्रय, जयसिंहदेव।[२३] जयसिंहदेव के उत्तराधिकारी आहवमल्ल द्वारा अपनी राजधानी कल्याण नगर बसाकर

उसे बनाने का उल्लेख विक्रमांकदेवचरित मे किया गया है।[१४] जिससे स्पष्ट होता है कि उनके पूर्व शासक की राजधानी अन्यत्र थी। पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति मे महाराज जयसिंह की राजधानी "कट्टगातीरभूमौ"[१५] कहा गया है। किन्तु दक्षिण में कट्टगा नामक कोई नदी नही है। हाँ, बादामी से लगभग १८-१९ कि० मी० दूर तक कट्टगेरी नामक स्थान जरूर है जो कोई प्राचीन नगर जान पडता है। ऐसा लगता है कि प्रमादवश "कट्टगेरीतिभूमौ" के स्थान पर हस्तलिखित प्रति मे "कट्टगातीरभूमौ" लिखा गया है। कट्टगेरी नामक उक्त स्थान पर चालुक्य विक्रमादित्य (द्वितीय) का एक कन्नड़ी शिलालेख भी मिला है, जिससे स्पष्ट है कि चालुक्य राजाओ का कट्टगेरी स्थान से सम्बन्ध रहा है। यही कट्टगेरी जयसिंहदेव की राजधानी होना चाहिए।

पार्श्वनाथचरित के अतिरिक्त न्यायविनिश्चय विवरण एव यशोधरचरित की रचना भी जयसिंह की राजधानी मे ही सम्पन्न हुई थी। न्यायविनिश्चय विववरण[१६] मे तो इसका उल्लेख किया ही गया है, यशोधरचरित मे भी जयसिंह पद का प्रयोग करके बड़े कौशल के साथ इसकी सूचना दी गई है। यथा—

"व्यातन्वन्जयसिंहता रणमुखे दीर्घं दधौ धारिणीम्।"

"रणमुखजयसिंहो राज्यलक्ष्मी बभार।"[१७]

किसी भी आन्तरिक या बाह्य प्रमाण द्वारा वादिराज का जन्मकाल ज्ञात नही हो सका है। परन्तु यत. उन्होने पार्श्वनाथचरित की रचना शक स० ९४७ कार्तिक शुक्ला तृतीय को की थी[१८], अत: उनका जन्म समय ३०-४० वर्ष मानकर ९८५-९९५ ई० के लगभग माना जा सकता है। पंचवस्ति के ११४७ ई० उत्कीर्ण शिलालेख मे वादिराज को गगवंशीय राजा राजमल्ल (चतुर्थ) सत्यवाक् का गुरू बताया गया है। यह राजा ९७७ ई० मे गद्दी पर बैठा था। समरकेसरी चामुण्डराय इसका मन्त्री था।[१९] अत: वादिराज का समय इससे पूर्व ठहरता है। इन आधारो पर वादिराज का समय ९५०-१०५० ई० के मध्यवर्ती मानने मे कोई असंगति प्रतीत नही होती है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पार्श्वनाथचरित का प्रणयन सिंहचक्रेश्वर चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंहदेव की राजधानी मे शक सं० ९६४ में लिखा है।[१०] उनका यह कथन पार्श्वनाथचरित के नग=सात वधि=चार और रन्ध्र=नव की विपरित गणना (अकाना वामा गति.) ९४७ शक सं० से विरुद्ध, अतएव असगत है। एक और विचित्र बात देखने मे आई है कि डा० हीरालाल जैन जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान् ने भी वादिराज को कही दसवी, कही ग्यारहवी और कही-कही तेरहवी शताब्दी तक पहुंचा दिया है। डा० जैन ने यशोधरचरित का उल्लेख करते हुए १०वी शताब्दी[११], एकीभाव स्त्रोत के प्रसग मे ११वी शताब्दी, पा० ना० च० के सम्बन्ध मे भी ११वी शताब्दी[१२], तथा न्यायविनिश्चय विवरण टीका के उल्लेख में १३वी शताब्दी[११] का समय वादिराज के साथ लिखा है। स्पष्ट है कि वादिराजसूरि का तेरहवी शती मे लिखा जाना या तो मुद्रणगत दोष है अथवा डा० जैन ने काल-निर्धारण मे पार्श्वनाथचरित की प्रशस्ति का उपयोग नही किया है तथा पूर्वापरता का ध्यान रखे बिना एक ही व्यक्ति को ११वी से १३वी शताब्दी तक स्थापित करने का विचित्र प्रयास किया है।[१४]

अनेक शिलालेखों तथा अन्यत्र वादिराजसूरि की अतीव प्रशसा की गई है। मल्लिषेण प्रशस्ति मे अनेक पद्य इनकी प्रशसा मे लिखे गये है। यह प्रशस्ति १०५० शक स० (११२८ ई०) मे उत्कीर्ण की गई थी जो पार्श्वनाथवस्ति के प्रस्तर स्तम्भ पर अंकित है। यहा वादिराज को महान् कवि, वादी और विजेता के रूप मे स्मरण किया गया है। एक स्थान पर तो उन्हे जिनराज के समान कहा गया है।[३५] इस प्रशस्ति के "सिंहसमर्च्यपीठविभव" विशेषण से ज्ञात होता है कि महाराज जयसिंह द्वारा उनका आसन पूजित था। इतने कम समय मे इतनी अधिक प्रशसा पाने का सौभाग्य कम ही कवियों अथवा आचार्यों को मिला है।

काव्य पक्ष की अपेक्षा वादिराजसूरि का तार्किक (न्याय) पक्ष अधिक समृद्ध है। आचार्य बलदेव उपाध्याय

की यह उक्ति कि "वादिराज अपनी काव्य प्रतिभा के लिए जितने प्रसिद्ध है उससे कही अधिक तार्किक वैदुषी के लिए विश्रुत है।"[36] सर्वथा समीचीन जान पड़ती है। यही कारण है कि एक शिलालेख में वादिराज को विभिन्न दार्शनिको का एकीभूत प्रतिनिधि कहा गया है—

"सदसि यदकलंक कीर्तने धर्मकीर्तिः
वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इति समयगुरूणामेकतः संगतानां
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥"[37]

अन्यत्र वादिराजसूरि को षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वाद-विद्यापति, जगदेकमल्लवादी उपाधियो से विभूषित किया गया है।[38] एकीभाव स्त्रोत के अन्त मे एक पद्य प्राप्त होता है जिसमे वादिराज को समस्त वैयाकरणो, तार्किको एव साहित्यिकों एव भव्यसहायों मे अग्रणी बताया गया है।[39] यशोधरचरित के सुप्रसिद्ध टीकाकार लक्ष्मण ने उन्हे मेदिनीतिलक कवि कहा है।[40] भले ही इन प्रशसा-परक प्रशस्तियों और अन्य उल्लेखो मे अतिशयोक्ति हो पर इसमे सन्देह नहीं कि वे महान् कवि और तार्किक थे।

वादिराजसूरि की अद्यावधि पाच कृतियाँ असंदिग्ध है—(१) पार्श्वनाथचरित, (२) यशोधरचरित, (३) एकीभावस्त्रोत, (४) न्यायविनिश्चय विवरण और (५) प्रमाण निर्णय। प्रारम्भिक तीन साहित्यिक एवं अन्तिम दो न्याय-विषयक है। इन पाच कृतियो के अतिरिक्त श्री अगरचन्द नाहटा ने उनकी त्रैलोक्यदीपिका और अध्यात्माष्टक नाम दो कृतियो का और उल्लेख किया है।[41] इनमे अध्यात्माष्टक भा० दि० जैन ग्रथमाला से वि० १९७५ (१९१८ ई०) में प्रकाशित भी हुआ था। श्री परमानन्द शास्त्री इसे वाग्भटालंकार के टीकाकार वादिराज की कृति मानते है।[42] त्रैलोक्यदीपिका नामक कृति उपलब्ध नही है। मल्लिषेण प्रशस्ति के "त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्या-मेवोद्गादिह। जिनराजत एकस्मादेकस्माद् वादि-राजतः॥"[43] मे कदाचित् इसी त्रैलोक्यदीपिका का संकेत किया गया है। श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि सेठ माणिकचन्द जी के ग्रथ रजिस्टर में त्रैलोक्यदीपिका नामक एक अपूर्ण ग्रथ है जिसमे प्रारम्भ के १० और अन्त मे ५८ पृष्ठ के आगे के पन्ने नही है।[44] सम्भव है यही वादिराजकृत त्रैलोक्यदीपिका हो। विद्वद्रत्नमाला में प्रकाशित अपने एक लेख मे प्रेमी जी ने एक सूचीपत्र के आधार पर वादिराजकृत चार ग्रथों—वादमंजरी, धर्मरत्नाकर, रुक्मणी यशोविजय और अकलकाष्टकटीका का उल्लेख किया है।[45] किन्तु मात्र सूचीपत्र के आधार पर कुछ भी नही कहा जा सकता है।

इस प्रकार वादिराजसूरि के परिचय, कीर्तन एव कृतियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वे बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न कवि एव आचार्य थे। वे मध्ययुगीन संस्कृत-साहित्य के अग्रणी प्रतिभू रहे है तथा उन्होने संस्कृत के बहुविध भाण्डार को नवीन भावराशियो का अनुपम उपहार दिया है। उनके विधिवत् अध्ययन से न केवल जैन साहित्य अपितु सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का गौरव समृद्धतर होगा।

प्रवक्ता संस्कृत विभाग
एस. डी. स्नातकोत्तर कालेज, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)

सन्दर्भ-सूची

१. श्रीमद्द्रविडसघेऽस्मिन् नन्दिसघेऽस्त्यरुङ्गलः।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवारासिपारगैः॥
एत्र गुणिनस्सर्वे वादिराज त्वमेकतः।
तस्यैव गौरव तस्य तुलायामुन्नति. कथम्॥
—जैन शिलालेख सग्रह भाग-२, लेखांक २८८

२. द्रष्टव्य : वही भाग ३ की डा० चौधरी द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ० ३३

३. द्रष्टव्य : श्री गणेशप्रसाद जैन द्वारा लिखित "दक्षिण भारत मे जैन धर्म और सस्कृति" लेख। "श्रमण" वर्ष २१, अक १ नवम्बर १९६९, पृ० १७

४. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्तिपद्य १-४

५. यशस्तिलक चम्पू (सम्पा० : सुन्दरलाल शास्त्री) श्रुतसागरी टीका, द्वितीय आश्वास, पृ० २६५

६. वही, पृ० २६५

७. शकनृपकालातीत सवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अंकतः, सिद्धार्थसवत्सरान्तर्गतचैत्रमासदनत्रयोदश्याम्……।
—यशस्तिलक चम्पू, पृ० ४८१

८. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ५
९. द्रष्टव्य : जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेखांक २१३-२१६
१०. वही भाग ३ की डा० गुलाबचन्द चौधरी द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ० ३८ से उद्धृत
११. द्रष्टव्य . श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखित "वारिदराज सूरि" लेख । जैन हितैषी भाग ८, अक ११ पृ० ५११
१२. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य (द्वितीय सस्करण) वादिराज पचानन आचार्य वादिराज (द्वितीय), पृ० ५७०
१३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४७८
१४. इन्ट्रोडक्शन टू यशोधरचरित, पृ० ५
१५. सस्कृत साहित्य का इतिहास (कीथ, अनु०—मगलदेव शास्त्री) पृ० १७७ एव जैनिज्म इन दा हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर : एम० विन्टरनित्ज, पृ० १६
१६. जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेखाक ४९३
१७. वही भाग ३, लेखांक ३४७
१८ द्रष्टव्य : सरस्वती भवन, झालरापाटन की हस्तप्रति का प्रारम्भिक प्रतिज्ञावाक्य
१९. वही, अन्त्यप्रशस्ति
२०. पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ४ (वादिराजेन कथा निबद्धा)
२१ यशोधरचरित १/६ (तेज श्रीवादिराजेन)
२२. द्रष्टव्य : कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य वश की वंशावली फादर हराश एव श्री गुजर, विक्रमाकदेवचरित भाग २ (हिन्दू वि० वि० प्रकाशन) परिशिष्ट तथा जैन शिलालेख सग्रह भाग ३ की डा० चौधरी द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ० ८८
२३. विक्रमांकदेवचरित १/५८-७९
२४. वही, २/१
२५. पार्श्वनाथचरित प्रशस्ति पद्य ५
२६. न्यायविनिश्चय विवरण प्रशस्ति पद्य ५
२७. यशोधरचरित ३/८३ एवं ४/७३
२८. शाकाब्दे नगवाधिरन्ध्रगणने······। पार्श्वनाथचरित, प्रशस्ति पद्य ५
२९. द्रष्टव्य : "एकीभाव स्त्रोत" की परमानन्द शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ० ४ एवं नाथूराम प्रेमी का "वादिराजसूरि" लेख, जैन हितैषी भाग ८ अंक ११ पृ० ५११
३०. सस्कृत साहित्य, प्रथम भाग, काव्य खण्ड, पंचम परिच्छेद पृ० २४५
३१. भारतीय सस्कृति के विकास मे जैनधर्म का योगदान पृ० १७१
३२. वही, पृ० १२६
३३. वही, पृ० १८८
३४. वही, पृ० ८९
३५. त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोद्गादिह ।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद् वादिराजः ॥
—जैनशिलालेख सग्रह भाग-१
लेखाक ५४, मल्लिषेण प्रशस्ति, पद्य ४०
३६. सस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १, पचम परिच्छेद, पृ० २१५
३७ जैन शिलालेख संग्रह भाग २, लेखांक २१५ एव वही भाग ३ लेकांक ३१९
३८. जैन शिलालेख सग्रह भाग २, लेखाक २१३ एव भाग ३ लेखाक ३१५
३९. वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहा
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभाव्यसहायाः ॥
एकीभाव, अन्त्य पद्य
४० वादिराजकवि नौसि मेदिनी तिलकं कविम् ।
यदीय रसनारगे वाणी नर्तनमातनोत् ॥
यशोधरचरित, टीकाकार का मगलाचरण
४१. श्री अगरचन्द्र नाहटा द्वारा लिखित "जैन साहित्य का विकास" लेख । जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १६ किरण १ जून ४० पृ० २८
४२. एकीभाव स्त्रोत, प्रस्तावना, पृ० १६
४३. जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेखांक ५४, प्रशस्ति पद्य ४०
४४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४०४
४५. विद्वद्रत्नमाला मे प्रकाशित हिन्दी लेख का पार्श्वनाथचरित के प्रारम्भ मे संस्कृत में वादिराजसूति का परिचय ।

मुनि घातक कौन ?

❑ बाबूलाल जैन, कलकत्ते वाले

आगम मे यह बताया है कि जिसने मुनिराज को एक ग्रास आहार दान दिया उसने मुनि को मोक्ष दे दी। यह व्यवहार दृष्टि का कथन है। इसी का खुलाशा करते हुए बताया है कि मुनिराज के आहार का विकल्प हुआ—ध्यान से हटे--जब आहार दिया गया तो वह विकल्प टूट गया और मुनिराज ध्यान मे स्थिर होकर केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। इसलिए वह आहारदान मुनिराज के निर्विकल्प समाधि मे स्थित होने मे परम्परा साधन हुआ अतः ऐसा कथन किया गया है। उसी प्रकार जिस श्रावक ने मुनि को रुपिया-पैसा दिया—परिग्रह दिया-मान-सम्मान की चाह मे सहयोगी हुआ अथवा अनेक प्रकार के विकल्पो के उत्पन्न होने मे सहयोगी हुआ। २८ मूल गुणो के, संयम के घात मे सहयोगी हुआ उसने मुनि को नरक दे दिया। जो मुनि के सयम घात मे सहयोगी होगा चाहे किसी भी रूप में हो वह तीव्र पाप का बन्ध बाधेगा यह निश्चित है।

यह बात इसलिए लिखी जा रही है कि आज समाज मे लोग बिना समझे त्यागियो को सयम की घातक सामग्री देकर यह समझते है कि हम धर्मात्मा है, हमने इस कार्य मे इतना पैसा खर्चा परन्तु उनको यह नही मालूम है कि वे संयम के घात मे निमित्त बने है इससे तो उल्टा पाप का बन्ध ही होगा।

श्रावक निज मे संयम की आराधना नही कर सकता है तब वह जो लोग संयम में लगे है उनके सयम के पालन में सहयोगी बनता है जो कि सयम के प्रति रुचि का कारण है। वह सब तरह से दूसरे संयमधारी के संयम मे सहयोगी होना चाहता है परन्तु सयम के घात मे सहयोगी नही हो सकता। परन्तु आजकल जाने-अनजाने हम लोग सयमी के संयम के घात मे सहयोगी बन जाते है जिससे पुण्य बन्ध तो दूर रहा पाप का बन्ध ही होता है।

त्यागी तो सयमरूपी प्राणो से जीता है वह इस प्राणो से नही जीता अतः जिसने उनके सयम की रक्षा करी उसने मुनि की रक्षा करी और जिसने उनके संयम के घात का उपाय किया उसने मुनि हत्या ही करी। इतना बडा पाप का बन्ध हम अपनी अज्ञानता मे कर रहे है वह भी धर्म के नाम पर।

आजकल मुनिजन पुस्तक छपाने के लिए चदा करते है, मदिर बनाने के लिए चन्दा इकट्ठा करते है अथवा और कोई प्रचार कार्य के लिए चन्दा इकट्ठा करते है। यही काम कोई श्रावक करता तो प्रशसा का पात्र होता परन्तु मुनि अवस्था मे यह कार्य उस पद के लायक नहीं है। किसी भी रूप मे पैसा का सम्बन्ध और पैसे को मागना मुनि के लिए उपयुक्त नही है। आजकल ऐसा समझा जाता है कि मुनि ही रुपिया इकट्ठा कर सकता है इसलिए कई सस्था वाले भी मुनियो के माध्यम से पैसा इकट्ठा करवाते हैं और बदले मे मुनियो को उपाधिया बाँटते है। यह कार्य कहाँ तक उपयुक्त है हमने सयमियो को चन्दा इकट्ठा करने का साधन बनाया है वह चाहे तीर्थ क्षेत्र रक्षा के लिए हो चाहे मन्दिर बनवाने को परन्तु सयमी के लिए उपयुक्त नही है। यह कार्य श्रावक के करने का है।

इसी प्रकार संयमी के तेल मालिश करना वह भी रात को कपडे से शरीर को रगड़वाना, गरिष्ट भोजन देना, उनकी फोटो खिचवाना, नये-नये पोज़ो को छपवाना, अनेक प्रकार की उपाधियाँ देनी। रात-दिन का भेद नही रखना। रात्रि में चलना-फिरना बोलना। आहार के लिए पैसा इकट्ठा करना शासन देवो को पूजवाना। ये सब बाते तो आजकल दैनिक कार्य हो गया है पूजवाना और उन सब कार्यों मे सहायक है श्रावक, यह कहाँ तक ठीक है ?

मेरा सभी भाई-बहनों से अनुरोध है कि वे कोई ऐसा

(शेष पृ० १२ पर)

जैन चम्पूकाव्य : एक परिचय

□ श्रीमती संगीता अग्रवाल

काव्य के दृश्य व श्रव्य दोनो भेदो मे से श्रव्य काव्य के गद्य, पद्य व मिश्र तीन भेद है। मिश्र काव्य मे चम्पू-काव्य की गणना की जाती है। कहा गया है कि गद्य पद्यमय काव्य चम्पूरित्यभिधीयते। अर्थात् गद्य व पद्य मिश्रित काव्य चम्पू काव्य कहलाता है। चम्पू काव्यो का परम्परा का श्रीगणेश आठवी शती मे त्रिविक्रमभट्ट के नल चम्पू से होता है। तबसे यह धारा अविच्छिन्न चली और लगभग दो सौ पचास चम्पू काव्यो क सृजन हुआ। चम्पू काव्य परम्परा मे जैन चम्पू काव्यो का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा है। जैन चम्पू काव्यो मे सोमदेव का "यशस्तिलक" हरिचन्द्र का "जीवन्धर" और अर्हद्दास का "पुरूदेवचम्पू" अति प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त दयोदय

(पृ० ११ का शेषांश)

कार्य न करें जिससे सयम का घात होत हो, अगर कोई साधु भेषधारी आगम के विरुद्ध कुछ भी चाहे तो उसको ना कह देना यह आगम को मानना है। अगर बाप बीमार हो और डाक्टर ने ठडा पानी मना किया हो और बाप ठडा पानी मागे तो उसके देने वाला गलत है, नही देने वाला सही है। उस बाप की बात नही मानने वाला सही माने मे बेटा है। हमारे लिए आगम ही प्रमाण है वही हमारा डाक्टर है उसमे जिस-जिस काम का निषेध है वह हम नही कर सकते अपने लिए भी और दूसरो के लिए भी चाहे वह कोई भी क्यो न हो। व्यक्ति की प्रमाणता नहीं है प्रमाणता तो उस सर्वज्ञ की वाणी की है वही सर्वोपरि है। तीर्थंकर भी पूज्य तभी होते है जब उस आगम के अनुसार हो। उस आगम की अवहेलना करने वाला न मुनि है न श्रावक है न जैनी है न वह पूजने योग्य है उनको पूजने वाला भी आगम की अवहेलना करने वाला है जिन शासन का घातक है। जैनम् जयत् शासनम् यही सर्वोपरि है। □

चम्पू, वर्धमान चम्पू तथा महावीर तीर्थंकर चम्पू भी हैं। वर्तमान में वर्धमान चम्पू की रचना की गई है। इन सबका परिचय प्रस्तुत है—

यशस्तिलक चम्पू के कर्ता आचार्य सोमदेव है जिनका समय ई० की १०वीं शताब्दी तथा रचनाकाल शकसवत ८८१ है। सोमदेव महान तार्किक व अखंड विद्वान थे। वे राजनीति के भी महाज्ञानी थे। यशस्तिलक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे वेद, उपनिषद, रामायण, षड्दर्शनादि के भी अप्रतिम ज्ञाता थे। यशस्तिलक की कथावस्तु हिंसा व अहिंसा के द्वन्द्व की कहानी है। इसमे आठ आश्वास है। प्रथम आश्वास मे कथावतार तथा अन्तिम तीन आश्वास मे जैन श्रावकाचार वर्णित है। मुख्य कथावस्तु तो मध्य के चार आश्वास मे ही हैं।

उज्जयिनी के राजा मारदत्त ने मनुष्य युगल की बलि चण्डमारि देवी के सामने देने का सकल्प किया। इस हेतु लाये गये जोड़े को देखकर उसका मन रुक गया और उसने उनसे बाल्यावस्था मे दीक्षित होने का कारण पूछा—उन्होने अपनी कथा मे बताया कि हिंसा का सकल्प और आटे की मुर्गी मात्र की बलि का विधान करने के कारण किस प्रकार क्रमश: मोर-हिरण-जलजन्तु-बकरी-बकरा-मुर्गा छ योनियो मे भटकना पड़ा। यह सुनकर राजा हिंसा से विरत हुआ और सुदत्त मुनिराज के पास गया। इसी संदर्भ मे सप्तम व अष्टम आश्वास मे विभिन्न व्रतो व विधियो व दोनों का वर्णन है। सुदत्ताचार्य कथित गृहस्थ धर्म को सुनकर दोनो मुनि व आर्यिका का व्रत ग्रहण किया।

दूसरा महत्त्वपूर्ण जैन चम्पूकाव्य जीवन्धर है जिसके कर्ता महाकवि हरिश्चन्द्र है। हरिश्चन्द्र नोयक वशीय कायस्थ कुल के आर्द्रदेव व पत्नी रूपा के पुत्र थे। हरिश्चन्द्र वैष्णव परिवार में पैदा होकर स्वेच्छा से जैन बने।

इनका समय ११-१२वी शती है। इनकी अन्य कृति धर्मशर्माभ्युदय प्राप्त होती है। जीवन्धर चम्पू की कथा-वस्तु इस प्रकार है—हेमागद देश के राजपुरी नामक नगरी के राजा सत्यन्धर व रानी विजया थी। मन्त्री काष्ठाङ्गर ने छल से राजा को मार दिया। इधर रानी ने मयूर यन्त्र से उड़कर श्मशान मे पुत्र को जन्म दिया जिसे उसने देवी के वचनानुसार गन्धोत्कट वैश्य को दिया। उसने उसका "जीवन्धर" नाम रखा। द्वितीय लम्ब मे शिक्षा का तथा अपनी वीरता से गोपो की गाये छुड़ाकर नन्द गोप की कन्या से अपने मित्र के विवाह का प्रसग है। तृतीय लम्ब मैं श्रीदत्त द्वारा किये गये स्वयंवर मे जीवन्धर ने वीणावादन में गन्धर्वदत्ता को हराकर उससे विवाह किया। चतुर्थ लम्ब मे अपने वीरता व हाथी से गुणमाला को बचाने से जीवन्धर का गुणमाला का विवाह होता है। पच लम्ब मे काष्ठागार द्वारा शूली की सजा दी जाने पर वहाँ से वे यक्ष का स्मरण कर चन्द्राभ नगरी पहुंचे जहाँ सर्प द्वारा डसी हुई पदमा की रक्षा की तथा पदमा से विवाह किया। षष्टम लम्ब मे प्रेमश्री से विवाह का वर्णन है तथा सप्तम लम्ब मे हेमा मथुराधीश राजा दृढामित्र अपनी पुत्री कनकमाला का विवाह जीवन्धर के साथ करता है। अष्टम लम्ब मे सागरदत्त की पुत्री विमला से विवाह होता है। नवम लम्ब मे सुरमजरी से विवाह किया। दशम लम्ब मे गोविन्द की सहायता से काष्ठागार को मारा और गोविन्द महाराज की पुत्री लक्ष्मणा से विवाह किया है। एकादश लम्ब मे आठो रानियो ने आठ राजपुत्रो को जन्म दिया और उनके साथ जैन मन्दिर म पूजा कर अपने पूर्वभव सुने तथा अन्त मे पुत्र सत्यन्धर को राज्य सौप रानियो सहित दीक्षा ली।

तीसरा चम्पूकाव्य पुरूदेव है। इसके रचयिता महाकवि अर्हद्दास हैं। इनका समय १३-१४वी शती है। इनकी अन्य दो रचनाये और उपलब्ध है—मुनिसुव्रतकाव्य तथा भव्यजनकण्ठाभरण। प्रस्तुत काव्य के कथा नायक भगवान वृषभदेव है। इसमे दस स्तवक है। प्रथम मे अतिवल व मनोहरा के महावल पुत्र हुआ। जिसके राज्य-भार सम्भालने पर उसके मन्त्री स्वयबुद्ध ने सुमेरू पर्वत पर दो ऋषियो से उसका पूर्वभव सुना। प्रथम तीन स्तबको में पुरदेव भगवान आदिनाथ के पूर्वभवों का वर्णन है। शेष स्तबकों मे भगवान आदिनाथ व उनके पुत्र भरत तथा बाहुबली का चरित्र चित्रण है। ग्रन्थ का कथाभाग अत्यन्त रोचक है जिसे कवि की कल्पनाओं ने और भी मर्म स्पर्शी बना दिया है। इसी कारण इस अल्पकाय काव्य मे कवि आदिपुराण का समावेश सफलतापूर्वक कर सके।

दयोदय चम्पू मुनि श्री ज्ञानसागर की रचना है जिनका जन्म १९४८ विक्रम स० है। इन्होने हिन्दी व संस्कृत मे २१ ग्रन्थो की रचना की जिनमे दयोदय भी एक है। दयोदय की कथावस्तु मे कथा के बहाने धर्मोपदेश है। इसमें सात लम्ब है। प्रथम लम्ब मे एक सुन्दर बालक पूर्व जन्म के पापो के कारण सडक पर जूठन खा रहा है जो आगे चलकर गुणपाल सेठ की पुत्री विषा मे विवाह करेगा। तत्पश्चात मृगसेन धीवर एक महाराज के उपदेशनुसार अपने जाल मे प्रथम आने वाली मछली को छोड़ने का व्रत लेता है। द्वितीय लम्ब मे उसे खाली हाथ घर लौटा देखकर उसकी पत्नी कुपित होती है और दोनों सर्प द्वारा डसे जाते है तथा सोमदत्त व विषा बनकर पैदा होते है। तृतीय लम्ब मे गुणपाल सेठ सोमदत्त को अपनी पुत्री का भर्ता सुनकर मारने की कोशिश करता है परन्तु उसे एक ग्वाला उठाकर ले जाता है तथा पालता है। चतुर्थ लम्ब मे भी शंकित गुणपाल सोमदत्त को मारने की कोशिश करता है परन्तु भाग्यवश वहाँ भी उसका विषा के साथ विवाह हो जाता है। पचम लम्ब मे पुनः वह उसे अपने पुत्र महाबल द्वारा मरवाना चाहता है और उल्टे महाबल ही मारा जाता है। सोमदत्त पुनः बच जाता है। षष्टम लम्ब मे गुणपाल की पत्नी उसे मारने की कोशिश करती है वहाँ भी गुणपाल मारा जाता है। पश्चताप करती हुई वह स्वय भी मर जाती है। सप्तम लम्ब मे महाराजा वृषभदत्त सोमदत्त की विनयशीलता से प्रभावित हो अपनी पुत्री गुणमाला का भी उसी से विवाह कर देता है। एक दिन सोमदत्त एक मुनिराज को आहार देता है और उनके उपदेशो स प्रभावित हो दीक्षा ग्रहण करता है और विषा व वसन्तसेन भी आर्यिका व्रत लेती है।

पाँचवां चम्पूकाव्य "महावीर तीर्थकर" है जिसके

(शेष पृ० १५ पर)

रेल की जैन प्रतिमा

□ डॉ० प्रदीप शालिग्राम

महाराष्ट्र राज्य के अकोला जिले में अकोला से २० कि० मी० दूर चोहाटा के पास 'रेल' नामक एक छोटा-सा कस्बा है। यहाँ पर उगलियो पर गिनने लायक दि० जैन परिवार बसे हैं। अधिकाश परिवारो मे पीतल की बनी आधुनिक मूर्तियां पूजा मे है। लेकिन श्री शंकरराव फुलबरकार के घर एक सफेद सगमरमर की बनी पार्श्वनाथ की मूर्ति बरबस ही ध्यान खीच लेती है। यह मूर्ति उनके मन्दिर कोष्ठ मे है तथा रोज पूजी जाती है। शोधकर्ता किसी व्यक्तिगत कार्य से रेल गया था तब यह मूर्ति देखने का सुअवसर मिला। लेखक फुलबरकार जी का कृतज्ञ है जिन्होने कुछ मिनट मूर्ति का अध्ययन करने का अवसर दिया।

सफेद संगमरमर की बनी २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पद्मासन मुद्रा मे बैठी यह अत्यन्त आकर्षक प्रतिमा है। यह ८" लम्बे तथा एक इच मोटे पादपीठ पर बनी है। पादपीठ सहित मूर्ति की ऊँचाई बारह इच याने एक फीट है। इसमे पार्श्वनाथ के सिर पर दो इंच ऊँच सात सर्पफणो का छत्र भी सम्मिलित है। पादपीठ का आकार त्रिकोण है।

पार्श्वनाथ के सिर पर भगवान बुद्ध के उष्णीष की भांति तीन घुघराले केशो की लटें मात्र हैं। शेष भाग केश रहित या मुण्डित है जिस पर सर्पफण अवशिष्ट है। कान कधे पर लटक रहे है। आँखें अधखुली है तथा भौहें लम्बी है। ओठ किंचित मोटे तथा नासाग्र सीधा है। ग्रीवा तथा पेट का हिस्सा समतल है किन्तु सीना थोड़ा बाहर निकला प्रतीत होता है जिसके मध्य मे श्रीवत्स चिह्न अकित है। स्तनो के घुंडियो की जगह बारीक छिद्र मात्र दृष्टिगोचर होते है। नाभि को अर्धचन्द्राकार रूप मे प्रदर्शित किया गया है। इसके नीचे तीन चौकोर पद्मको का अंकन है। सम्भवत: अधोवस्त्र को बाधने के लिए मेखला के रूप में इसे प्रयुक्त किया गया हो। लेकिन प्रतिमा में वस्त्र के कही भी लक्षण नही हैं। इसके सामने ही बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखा है जिनकी चारों उगलियां स्पष्ट दिखाई देती है जो अगुष्ठ से जुड़ी हुई है।

मूर्ति को धोते समय जल सग्रहन की सुविधा हो इसलिए कमर के चारो ओर खाचा नुमा परिखा बनाई गई है। जिससे पानी मूर्ति के पीछे न बहे। इतना ही नही नाभि के नीचे जो स्थान बना है उससे पानी बाहर निकलने के लिए एक छिद्र बनाया गया है जो सहजता से दृष्टिगोचर नही होता।

पार्श्वनाथ के सिर पर सात सर्पफण का छत्र प्रदर्शित किया गया है जिसमे वह ध्यान मुद्रा मे विराजमान है। प्रत्येक फन पर दोनो ओर दो-दो वर्तुलाकार आखे उत्कीर्ण की गई है। सिर पर धरे सातों सर्प फन पीछे से भी सिर पर सात खाचाओ से अकित है जो गर्दन तक पहुचकर एक मे विलीन हो जाते हैं। इतना ही नही रीढ़ की हड्डी के साथ इसे एकाकार कर कमर के नीचे तक पहुचाया गया है। मूर्ति का पिछला हिस्सा नाग शरीर के सिवा समतल है। इस प्रतिमा मे शासन देवी तथा यक्ष आदि की अनुपस्थिति महत्त्वपूर्ण है.

पादपीठ की विशेषता यह है कि इस पर दो पक्तियों में लेख विद्यमान है जो अधिकाश घिस गया है। लेखक का अधिक समय तक मूर्ति का अध्ययन करने का अवसर नही दिया जिससे उसे आसानी से पढ़ा जा सकता हो। फिर भी लिपी नागरी मिश्रित अक्षरों की है और १८वी शताब्दी की तो निश्चित ही है। और यही इस प्रतिमा का समय भी है। प्रथम पंक्ति मे कुछ शब्दों के बाद 'मूलसघे' शब्द स्पष्ट रूप से पढ़ा जा सकता है। निचली

पंक्ति में एक त्रिकोण आकार का चिन्ह बना है जिसके बाद लेख की द्वितीय पंक्ति आरम्भ होती है।

प्रस्तुत मूर्ति का पिछला हिस्सा कुछ लाल-पीला पड़ गया है। पता चला कि लगभग ५० वर्षों पहले घर मे लगी आग की वजह से ऐसा हुआ है। इसके सिवा कोई क्षति नही पहुची। शेष प्रतिमा का पालिश अब भी जैसा का वैसा है।

प्रस्तुत मूर्ति सम्भवत. गुजरात या राजस्थानी कला का प्रतिनिधित्व करती है क्योकि इसी क्षेत्र मे सात सर्प-फनों के छत्र के साथ ही लेखो मे पार्श्वनाथ नामोल्लेख की परम्परा लोकप्रिय थी। सम्भव है यह शब्द भी उक्त मूर्ति लेख मे आया हो। वैसे ही यहां के जैन परिवारो की पिछली पीढ़ी कही बाहर से आकर बसी है। आस-पास के इलाके मे विरले ही जैन लोग मिलते है।

वर्तमान युग मे २४ तीर्थंकरों मे से अन्तिम दो तीर्थंकरों पार्श्वनाथ एव महावीर की ही ऐतिहासिकता सर्वमान्य है। पार्श्वनाथ को ही जैन धर्म का वास्तविक सस्थापक माना गया है। पार्श्वनाथ की यह मूर्ति विदर्भ के जैन धर्म के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है इनमे सदेह नही।

□□

(पृ० १३ का शेषांश)

रचयिता परमानन्द वैद्यरत्न पाण्डेय है जो वैष्णव परिवार के है परन्तु जैनधर्म के प्रति उनके मन मे बड़ा सद्भाव था। इसी कारण २५००वें वीर निर्माण महोत्सव के उपलक्ष में प्रस्तुत चम्पूकाव्य की रचना की। प्रस्तुत चम्पू का प्रारम्भ यजुर्वेद के उस मन्त्र से होता है जिसमे गणराज्य की मूल भावना निहित है। अनन्तर णमोकार मन्त्र का स्मरण कर लाल किले पर निर्वाणोत्सव पर हुए सम्मेलन का वर्णन है। ऋषभदेव को नमस्कार करके चौबीस तीर्थंकरो के जन्मादि का वर्णन है। इसके आगे १/३ भाग मे महावीर भगवान का चरित्र चित्रित है। आगे १/३ भाग मे जैनधर्म व उसके सिद्धान्तो का वर्णन है। अनन्तर महावीर निर्वाण वर्णन, महावीर के ११ गणधर, सत्पुरुष व नारी का लक्षण महावीराष्टकस्त्रोत का वर्णन् है। अन्त मे आवाहन किया है कि महावीर के उपदेशो का क्रियान्वन ही आज उनका वास्तविक स्मारक और यथार्थ श्रद्धांजलि है।

इनके अतिरिक्त "वर्धमान चम्पू" मे तीर्थंकर महावीर के पाँच कल्याणको का विवेचन है। इसके रचयिता मूल चन्द शास्त्री हैं। प्रस्तुत रचना अभी अप्रकाशित हैं। पुण्याश्रव चम्पू के रचयिता श्री नागराज है। सम्भवतः इसमे किसी पुण्य के महत्व का दर्णन होना चाहिए। "भारतचम्पू" का उल्लेख श्री जुगल किशोर मुख्यार ने किया है। प० आशाधर कृत भरतेश्वराभ्युदयचम्पू मे भारत के अभ्युदय का वर्णन होना चाहिए।

जैनाचार्य विजयचम्पू के लेखक अज्ञात है। इसमे ऋषभदेव से लेकर मल्लिषेषण तक अनेक जैनाचार्यो की वादप्रियता के साथ उनकी अन्य सम्प्रदायो पर प्राप्त विजय का वर्णन है।

इस प्रकार प० सोमदेव से प० परमानन्द तक जैन चम्पू काव्यो की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही। यद्यपि ये सख्या मे अल्प है परन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से अग्रगण्य हैं। प्रत्येक चम्पू काव्य मे अपनी कुछ-न-कुछ विशेषता है जिससे वे विद्वत्समाज के शिरोहार है।

३३० ए, छीपी टैंक, मेरठ

आर्थिक समस्याओं का हल—अपरिग्रह

डॉ० सुपार्श्व कुमार जैन

विश्व समाज की सभी क्रियायें अर्थ अर्थात् धन से सम्बन्धित हैं। जो समाज या राष्ट्र जितना अधिक धनी है, वह उतना ही अधिक व्याकुल और असन्तोषी है। प्राचीन और अर्वाचीन प्राय: सभी अर्थशास्त्री अर्थ को ही विकास का स्वरूप-मापक मानते हैं, अतः प्रत्येक देश सर्व-शक्तिशाली एव विकसित बनने के लिए और भी अधिक अर्थ-प्राप्ति का इच्छुक दिखाई पडता है। फलस्वरूप विश्व-समाज मे इस अर्थ-प्राप्ति के लिए अशान्ति एव संघर्ष व्याप्त है।

अर्थ शब्द ऋ धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है—पाना, प्राप्त करना या पहुचना। अत: अर्थ का तात्पर्य है—जो पाये, प्राप्त करे या जिसे पाया जाये या प्राप्त किया जाये। इस प्रकार हीरे, जवाहरात, स्वर्ण, रजत आदि बहुमूल्य धातुयें, वैधानिक मुद्रा तथा भौतिक सम्पत्ति आदि सभी अर्थ कहलाते है। यह तो भौतिकी दृष्टिकोण है। किन्तु जैनाचार्यों ने इसके अतिरिक्त अर्थ को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी परिभाषित किया है। आ० कुन्दकुन्द ने द्रव्य, गुण और उनकी पर्यायो को 'अर्थ" नाम से कहा है, उनमें गुण-पर्यायों वाला आत्मा द्रव्य है।[1] "अर्यते गम्यते परिच्छिद्यते इति अर्थो नव पदार्थः"[2]—जो जाना जाता है वह अर्थ है, जो नव पदार्थ रूप है। "अर्यते गम्यते जायते इत्यर्थः"[3] जो जाना जाये सो अर्थ है। "अर्थध्येयो द्रव्यं पर्यायो वा"[4] अर्थध्येय को कहते है, इसमे द्रव्य और पर्याय लिये जाते है। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि वास्तव में आत्मा ही अर्थ है और यही प्राप्तव्य है। धन स्वरूप अर्थ की उपादेयता उन्ही के लिए है जो शारीरिक-ऐन्द्रिक सुख प्राप्त करना चाहते है, किन्तु जो मोक्षार्थी हैं उनके लिए तो इसका पारमार्थिक तात्पर्य ही प्रयोजनीय है क्योकि इस त्रिलोक मे समस्त ज्ञेयों मे आत्मा स्वरूपी अर्थ ही एकमात्र ज्ञेय है। इसे जानकर अन्य पदार्थों को जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती क्योंकि वे स्वत: ही ज्ञेय हो जाते है। किन्तु आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त ज्ञेयों को जानकर भी व्यक्ति अज्ञेय ही रहता है।

आज विश्व मे वर्ग सघर्ष की जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, विषमताये बढ रही है, असन्तोष और ईर्ष्या जन्म ले रही है, धनी व निर्धन, श्रम व पूजी, नियोजक व नियोजित आदि के मध्य जो अन्तर वढ़ता जा रहा है, मानव, मानव का शोषण कर रहा है तथा हिंसक घटनायें, बेईमानी, चोरी-डकैती, व्यभिचार व अपहरण तथा युद्धो की विभीषिकाये धधक रही है—उन सबका मूल कारण यह है कि समाज-विश्व के लोग प्रत्येक वस्तु को अपनी समझकर उसे येन-केन-प्रकारेण प्राप्त करना चाहते हैं। यह तो स्पष्ट है कि विश्व मे सम्पत्ति एवं भोगोपभोग की सामग्री अर्थात् आवश्यकता पूर्ति के साधन कम है और और जन-समाज बहुत अधिक असीमित माना जा सकता है। इन सबसे अधिक है—व्यक्ति की तृष्णा या मूर्च्छा-भाव। मूर्च्छा अर्थात् "यह मेरा है, यह वस्तु मेरी है" ऐसा ममत्व परिणाम की परिग्रह कहलाता है।[5] कुबेर के समान वैभव होते हुए भी जिसमे किंचित् भी लालसा, तृष्णा या मूर्च्छा नही है, वह अपरिग्रह-समान है। इसके विपरीत जो अकिंचन है किन्तु कुबेर के वैभव को पाने की लालसा रखता है, वह महापरिग्रही के समान है। इससे स्पष्ट होता है कि मात्र बाहरी पदार्थों का सचय परिग्रह नही है किन्तु उनके प्रति जो लगाव 'अटैचमैण्ट' है, जो रागानुभूति है तथा उनको प्राप्त करने की सतत वाञ्छा है, वह ऐसी स्थिति मे परिग्रह नाम पा जाता है। यह मूर्च्छा ही पाँचो प्रकार के पापो का मूल स्रोत है। जो परिग्रही है तथा परिग्रह के अर्जन, सम्बर्धन एवं संरक्षण के प्रति जो सदैव

सचेत है, वह हिंसा, झूठ, चोरी व अब्रह्म से बच ही नहीं सकता।

अर्थ संचय की भावना या तृष्णा के कारण समाज में मत्स्य-न्याय प्रचलित हो जाता है अर्थात् जो शक्तिशाली होता है वह दूसरे का शोषण करने लगता है। फलस्वरूप खींचतान व छीना-झपटी चलने लगती है और शुरू हो जाता है संघर्ष, विविध अत्याचार व अन्याय, आर्थिक शोषण आदि। जैसे हिंसा में प्राणों की हानि होती है, वैसे ही आर्थिक शोषण में भी हिंसा होती है अतः आर्थिक शोषण भी हिंसा है। हिंसा मे तो व्यक्ति मर जाता है किन्तु शोषित होने पर या धन के हरण हो जाने पर मनुष्य जीवित रहते हुए भी मरण के समान होता है। धन-सम्पत्ति के एकत्रीकरण के लिए व्यक्ति न केवल बेईमानी करते है बल्कि चोरी का सहारा भी लेते है। धन के मद में आकर वह अब्रह्म का भी सेवन करने लगता है। इस तरह पांचों प्रकार के पापो में रत रहता है। स्पष्ट है कि परिग्रह अर्थात् अनावश्यक संचय पाप है, अपराध है और एक सामाजिक अन्याय है। इससे दूसरों क आधिकारिक वितरण का अपहरण होता है। आवश्यकता पूर्ति के लिए वस्तुयें उपलब्ध नहीं होने के कारण दूसरों की कार्यक्षमता का ह्रास होता है। जिससे राष्ट्रीय उत्पादन मे कमी आती है। इस प्रकार सामाजिक व राष्ट्रीय हित प्रतिकूल रूप से प्रभावित होते हैं। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह आवश्यक रूप से दूसरो के हिस्से का अपहरण है, अनार्जित आय है और विविध आर्थिकी समस्याओ का मूल है।

परिग्रह दो प्रकार का है—बाह्य परिग्रह एवं अतरंग परिग्रह।

१. बाह्य परिग्रह—इसमे भूमि, मकान, स्वर्ण, रजत, धन-धान्य आदि अचेतन तथा नौकर-चाकर, पशु,स्त्री आदि सचेतन पदार्थ शामिल किये जाते है।[1] इनके संयम के लिए व्यक्ति अवैधानिक तरीको का उपयोग करता है जिससे समाज में भ्रष्टाचार व अनैतिकता बढ़ जाती है और समाज के निम्न व मध्यम वर्ग के लोगों के आर्थिक शोषण के असह्य कष्टो में वृद्धि हो जाती है। जब व्यक्ति इन्हें अपनी आवश्यकता पूर्ति का साधन मानकर साध्य मानने लगता है, तभी गरीब-अमीर, छोटे-बड़े का वर्गभेद पैदा होता है और तभी से संघर्षों का जन्म होता है। हड़तालें, तालाबन्दियां, तोड़-फोड़ आदि सब इसी के परिणाम हैं। अतः समाज में आर्थिक शोषण की समाप्ति, अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति, समत्व की स्थापना तथा समाज को समान रूप से सुखी, समृद्ध और सुगठित करने के लिए बाह्य भौतिक पदार्थों का आवश्यकता से अधिक संचय करने पर नियन्त्रण-नियमन आवश्यक व अनिवार्य है।

२. अन्तरंग परिग्रह—क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नौ कषाय और एक मिथ्यात्व आदि भावनायें व्यक्ति के अन्तरंग परिग्रह हैं।[2] अकिंचन होने पर भी यदि व्यक्ति या समाज की संचयशील बुद्धि बनी रहे तो न तो आर्थिक शोषण रुकेगा और न ही आर्थिक सामाजिक विषमता दूर होगी, अतः व्यक्ति को अपने आंतरिक विकारों पर स्वयं ही नियन्त्रण पाना होगा। परिग्रह हो या न हो, किन्तु यदि अनावश्यक संचयशील बुद्धि न हो तो सामाजिक क्षितिज पर कोई प्रभाव नही होगा और न ही कोई समस्यायें पैदा होंगी। आत्महित की बुद्धि रखने वाला पारिवारिक भरण-पोषण के लिए आवश्यक व पर्याप्त तो धनादि का संयम करेगा किन्तु अनावश्यक संयम कभी नहीं करेगा, फलस्वरूप आर्थिक शोषण नही होगा और समाज में आर्थिक समानता सुस्थापित होगी। पूंजीवाद का मूल यह मूर्च्छाभाव है जिस पर नियन्त्रण आवश्यक है अन्यथा पूंजीवाद के समस्त दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

समस्याजनक तरीके—प्रायः व्यक्ति दूसरो से अधिक धनी बनने का स्वप्न देखते हैं और इसके लिए वह कोई भी तरीका अपनाने के लिए तत्पर रहते हैं। जैसे कुछ तरीके निम्न हैं—

१. प्रत्यक्ष व परोक्ष कर आदि सार्वजनिक राजस्व एवं किसी व्यक्ति की धन-सम्पत्ति आदि को चोरी करना, चोरी करने की प्रेरणा देना या दिलाना, चोरी के उपाय बताना या चोरी करने वाले व्यक्ति के कार्यों से सहमति प्रकट करना आदि।

In Rajasthan and Gujarat specially—where our feather co-operatives are—it lives just outside the villages and is almost tame, an easy mark for traps, bullets and even village bows and arrows.

Please don't believe that the bird, just because it is venerated and protected by law, is not killed even now. The religious centres of Hardwar, Benares, the tourist shops in small and big hotels, at the Red Fort, in Agra--where do you think they get their feathers from? Professional fowlers who stalk the bird and kill it. The best time is in the morning while it dances or at roosting time, for these beautiful silly birds sleep in the same trees every night and the hunters wait under the trees. It is killed the way you kill a chicken. The head is chopped off, the crest pulled out and then all the tail feathers The hunters keep the meat, the shops get the feathers. Sometimes when they don't want to risk blood on the feathers, the btrd is caught in a trap, its legs are broken, it lies there screaming with short gasping shrieks—ka-aan ka-aan—while the hunter plucks its feathers one by one before killing it. The equivalent of pulling bunches of hair off your head or the nails off your fingers.

This bird of ours is not going to last another 10 years for the male is killed usually during the mating season for that is when he has his full train--the longest or last rows of his upper tail which are the feathers the shops want most. When the male is killed before he mates, it is only a matter of time before the species dies out. And now, of course, the government will recruit more fowlers, more killers and earn a lot of foreign exchange - which it can use to buy more guns and fighter planes.

Is there no limit to the venality of this government? I would like to see any other country export its national bird—or kill its national bird and export the feathers for gross ugly handicrafts like fans, brushes, piano dusters or just arrangements in vases instead of flowers.

Don't buy peacock feathers. They have not been collected naturally for any shop in India. In our religious and mythological sculptures and paintings the presence of the peacock is meant to shwo an idyllic and sanctified state of being. They will bring you happiness they will destroy evil represented by snakes which peacocks eat in great quantities I know they bring joy, for often, careering across the country on a political tour I have come across them in the monsoon and my heart has always felt lighter If you believe, as the Sanskrit books believe, that a peacock is the glory of God, then help protect them not only by stopping tourist shops from stocking feathers but also by writing to your state government, the co-operatives and to the Chief Controller of Imports and Exports to ban the export of the feathers. □□

(Borrowed from the Illustrated Weekly of India with thanks)

(गतांक से आगे)

शुद्धि-पत्र

धवल पु० ३ (संशोधित संस्करण)

☐ जवाहरलाल सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०६	१३	सूत्र सख्या २ की	सूत्र संख्या २ एव १५ की
२१६	७	सासणसम्माइट्ठि	तिरिक्खसासणसम्माइट्ठि [परिशिष्ट दृश्यताम् पृष्ठाक २३]
२१६	२१	जीवो की	तिर्यंचो की
२१८	२६	गुणस्थान के काल से	गुणस्थान मे स्थिति अर्थात् टिकाव के काल से
२२४	११	कहेग ओर	कहेगे ओर
२२४	१२	जयगा	जायगा
२३७	२८	पचेन्द्रियतिर्यंच तिर्यंचयोनिनी	पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिनी
२४०	२६	सबसे बडा	सबसे स्तोक (थोड़ा)
२४२	१६	असंख्यातगुणा	असख्यातगुणा
२४५	१६	का कथन करना	है, ऐसा कहना
२४६	२	तप्पाडिसेघगट्ठं	तप्पडिसेहणट्ठ
२४८	२८	विकल्प के होने मे	विकल्पस्वरूपता प्राप्त होने मे
२४६	३	घणंगुलतदियवग्गमूल—	× × × × × × × [चार भागहार कहाँ से आगये? तीन धाराओं के लिए तीन ही भागहार चाहिए। देखो—पृ. १४१, १५०, १५६, २२५ आदि]
२४६	३	—विदियवग्गमूलाणि	—विदियवग्गमूलाणं
२५२	१८	दून	दूने
२५२	२५	आय	आये
२५४	७	—संजदरासि	—संजदरासि च [देखो—परिशिष्ट पत्र २३]
२५४	१६	आदि की	आदि नौ
२५६	३	णादव्वा	णादव्वं (देखो—ध. पु. ४।१६३, चि. सा. ३१३ आदि)
२५६	१२	पचास योजन	पचास वर्ग योजन
२५६	१४	७६०५६६४१५०	७६०५६६४१५० (वर्ग योजन)
२५७	२२-२४	यहाँ धवला के उपलब्ध .... निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—	× × × × ×

शुद्ध	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५७	२८	पच्चीस हजार से	पच्चीस हजार योजन से
२५८	१६	संख्या प्रतरांगुलों से	संख्यात प्रतरांगुलों से
२५६	११	जयगी	जायगी
२६१	२८	स्त्रिवेदियों के अल्प होने के कारण का	स्त्रिवेदियो में सासादनसम्यग्दृष्टित्व आदि भावों के कारण का [यानी उनमें विशुद्धि लब्धि आदि हेतुओं का]
१६१	३०	योनिनियों का	मनुष्यनियो का
२६३	२१	अवयवो के	अवयवी के
२६५	१३	गुणकार है जो	प्रतिभाग है जो
२६६	२	वतव्वं ।	वत्तव्वं । [मणुस अप्पज्जत्ताण णत्थि परत्थाण-प्पाबहुग ।]
२६६	१५	कथन करना चाहिए	कथन करना चाहिए । [लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों में (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से व्यतिरिक्त शेष गुणस्थानों के अभाव के कारण) परस्थान अल्प-बहुत्व नहीं है ।]
२६७	३२	ी प्राप्त ोति	ही प्राप्त होती
२७१	३	तं	ते (परिशिष्ट पत्र २४)
२७८	१६-२०	सूच्यगुल के प्रथमवर्गमूल को द्वितीय वर्गमूल से	सूच्यंगुल को सूच्यंगुल के प्रथम वर्गमूल से
२८०	१	आघ ॥६६॥	ओघं ॥
२८३	१०	असंखेज्जगुणा	संखेज्जगुणा
२८३	२७	असंख्यातगुणे	सख्यातगुणे
२८३	२६	असंख्यातगुणे	संख्यातगुणे
२८५	३०	गो. जी. ६६५-७०	गो. जी. ६३५-४०
२८८	१६	घनांगुल गुणकार है ।	घनागुल प्रतिभाग है ।
२८८	३०	घनांगुल गुणकार है ।	घनांगुल प्रतिभाग है ।
२८६	३०	ऊपर वाणव्यन्तरों से	ऊपर अल्पबहुत्व अपने स्वस्थान अल्पबहुत्व के समान है । वाणव्यन्तरो से
२८६	३१	ग्रैवेयक तक अपने स्वस्थान के समान है ।	ग्रैवेयक तक परस्थान अल्पबहुत्व जानकर कहना चाहिए ।
२६०	२	सगसत्थाणभंगो	सगसत्थाणभंगो ।
२६०	३	त्ति । उवरि	त्ति [परत्थाणप्पाबहुग जाणिय णेयव्वं] । उवरि
२६२	८	सोहम्मीसाणमिच्छाइट्ठिविक्खंभ-सूई व ।	सोहम्मीसाणमिच्छाइट्ठिविक्खंभसूईमेत्त-सूचि-अंगुलपढमवग्गमूलाणि ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९२	२४	विष्कंभसूची के प्रतिभाग के समान	विष्कम्भसूची प्रमाण सूच्यंगुल के प्रथम वर्गमूल [आज्ञा दें तो पूरी गणित करके उससे सिद्ध कर भेज दूं।]
२९६	१	होंती।	होंति।
३०१	१७	भाग से।	भाग से
३०३	२६	जगच्छ्रेणी के	जगत्श्रेणी से
३०४	२	संखेज्जसूई	सखेज्जसूचि-अंगुल
३०६	२७	आदर	प्रारम्भ
३०६	२९	आदर	प्रारम्भ [नोट—आदरेदव्व होता तो 'आदर' अर्थ ठीक था। आढवेदव्वं का 'प्रारम्भ' अर्थ ही ठीक है। देखो—ज. ध. पु. १४।३२३ में आढ़त्तसादो का अर्थ तथा ज. ध. १५।२२६ में आढवेइ आदि के अर्थ। देखो—ज. ध. १५।१९० में आढविज्जदे का अर्थ।]
३०७	१९	सरागस्वरूप से	एक स्वरूप से
३१४	२	विगलिंदियअपज्जत्तेहिय	विगलिंदियअपज्जत्तेहि य
३१८	चरम पंक्ति	अरने पर	करने पर
३१९	३०	अपर्याप्त जीव हैं।	अपर्याप्त जीव है। शेष एक खण्ड प्रमाण द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीव हैं।
३२०	१७	तक एकेन्द्रिय	तक सर्व एकेन्द्रिय
३३८	१८	असख्यातगुणे जाकर	संख्यागुणे जाकर
३३९	१०	अनेकान्त है।	अनेकान्तिक (हेत्वाभास) दोष है।
३४१	१३	अब द्विरूप मे	अब घनाघन में
३४२	२६	घटा देना चाहिए ॥७५॥	घटा देना चाहिए [तब जो आता है वही अभीष्ट राशि का अवहारकाल होगा।] ॥७५॥
३४४	११	पल्योपम सागर में	पल्योपम से न्यून सागर में
३४७	१०	जीवरसि के	जीवराशि के
३६०	१	गुणदे	गुणिदे
३६०	२१	पर्याप्तराशि के	राशि के
३६५	१६	असख्यातसम्यग्दृष्टि	असंयतसम्यग्दृष्टि
३६६	५	बादरवणफइपज्जत-पत्तेय सरीरपज्जत्त—	बादरवणप्फइपत्तेयसरीरपज्जत्त—
३६६	२०	वनस्पतिकायिक पर्याप्त, प्रत्येकशरीर पर्याप्त	वनस्पतिकायिक-प्रत्येकशरीर-पर्याप्त

(क्रमशः)

तीर्थंकर ऋषभ स्मृति पर विशेष :

निर्माणोत्सव : समय की पुकार

☐ पद्मचन्द्र शास्त्री संपादक 'अनेकान्त'

वृषभ-ऋषभ उत्तम को कहते है और जैनियो मे इस युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भी उत्तम थे। उनका निर्वाण हुए कितना काल बीत चुका यह किसी को मालुम नही और न कोई मनीषी ही इसकी गणना कर सका। फिर भी लोग निर्वाण की स्मृति ढोये और उनका निर्वाणोत्सव मनाते चले जा रहे है। भला, निर्वाण—अन्त, का उत्सव क्यों और कैसे? जो बीत चुका, चला गया उसकी जय बोलना लकीर को पीटना ही है—निष्फल। उत्सव तो निर्माण में और निर्माण का ही सार्थक है, जिसमे कुछ बने या बन सके, प्रगति हो सके। सो लोग अपना निर्माण तो करते नहीं—ऋषभवत् आचार-विचार तो बनाते नही, कोरे निर्वाण की जय बोले चले जा रहे है जैसे वे अजान हों या विकृत परम्पराओं द्वारा अजान कर दिये गये हों। ऐसे ही कुछ लोग है जो जन्म-जयन्तियों की परम्पराओ को ढो रहे है। गोया, उन्हे दो ही बाते याद रह गई हैं जन्म और अन्त की—जयन्ती और निर्वाण की।

स्मरण रहे कि जैन मान्यता मे उत्पाद-व्यय के साथ द्रव्य का एक तीसरा स्वभाव भी है—ध्रौव्य। जिसे जैनी भुला बैठे है। वे जन्म-मरण की बात करते है वस्तु का जो थिर स्वभाव ध्रौव्यरूप धर्म है और जिससे ध्रौव्य—आत्म स्वरूप तक पहुंचा जा सकता है—उस धर्म सेवन को भूल बैठे हैं। जब तक मानव स्व-जीवन में अपने निर्माण करने के मार्ग पर नही चलेगा, तब तक वह अनगिनत जयन्तियो और निर्वाणोत्सवो के मनाने के बाद भी गिरता ही जायगा। क्योंकि जन्म-मरण वस्तु की पर्याएँ हैं जो अथिर है और अथिर के सहारे बढने की बात भी अथिर है। भला, जो स्वय अथिर है वह किसी को थिर कैसे बनायेगा। अतः इन अथिर उत्सवो अर्थात् जयन्तियों और निर्वाणोंके मनाने मात्रसे कुछ हाथ नहीं आयेगा। मनाना है तो साथ मे स्वयं के निर्माण उत्सवो को मनाएँ—अपना निर्माण करें—आचार-विचार सुधारें।

हम देख रहे है कि आज जैन की हर शाखा वाले गतानुगतिक भेड़चालो से हो रहे है। सभी सम्प्रदायो के सभी वर्गों मे श्रावक तो श्रावक, साधुगण भी आचार-विचार से हटकर पैसे और दिखावे की चपेट में आ गये हैं। सभी वर्गों में भीषण काण्ड हो रहे है और कोई उन्हें वर्जन मे समर्थ नहीं है। इधर लोग अहिंसा की बात करते है और हिंसा के मूल परिग्रह को आत्मसात् किये जा रहे है। हर एक शाखा ने स्व-उपकार को छोड केवल परोपकार करने को ध्येय बना रखा है यह बड़ी भारी कमजोरी है।

आज का जैन नामधारी प्राणी सर्वानुमत मान्यताओं (जो जैनों मे भी हैं) को पोषण दे रहा है। पर, मूल जैन मान्यता अपरिग्रह (जिसके होने पर शेष सभी धर्म स्वय पल जाते है) को भूल चुका है। स्मरण रहे जिनका आप निर्वाण मनाते है उन्होने भी पहिले परिग्रह त्याग कर अपना निर्माण किया। इस निर्माण अवस्था मे उनका साधु रूप था—उस साधुत्व की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। आज तो आपका साधु भी विचलित है; और नही, तो उसके शुद्ध रूप का ही निर्माण कीजिए।

तीर्थंकर ऋषभदेव के बारे मे हम क्या कहे वे महान् और महानतम थे। इस युग के वे आदि पुरुष थे, उन्होने धर्म का प्रकाश किया। यदि वे न होते तो आज जैनी भी न होते। उनके बतलाये मार्ग से आत्मोत्थान की दिशा का बोध होता है और मार्ग पर चलने से सिद्ध-पद की

(शेष पृ० ३२ पर)

दिगम्बर साधु की मोर-पिच्छी ?

❑ पद्मचन्द्र शास्त्री, संपादक 'अनेकान्त'

गत दिनों हमें एक पत्र मिला है और हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया है कि क्या मयूर पिच्छी धारण करने से वर्तमान दिगम्बर साधु-साध्वियों का हिंसा के व्यापार में योगदान नहीं ?

लेखक ने हमें 'The Illustratad weekly of India, oct. 15, 1989 का वह पृष्ठ भी भेजा है जिसमे 'Maneka Gandhi calls for a ban on the wanton Killing of our national bird, The pecock for the export of its Feathers' लेख छपा है।

उक्त लेख को पढ़कर हम सिहर उठे कि ऐसी निर्दयता से भी मयूर पंख प्राप्त किए जाते हैं क्या ? यदि ऐसा है तो हमारा कर्तव्य है कि हम महाव्रती मुनियों को तो हिंसा में निमित्त कारण होने से बचाएँ, आदि। हम उक्त अंग्रेजी लेख पाठकों की जानकारी के लिए अनेकान्त के पृष्ठ १९-२० पर दे रहे हैं।

उक्त लेख के प्रसंग से हमने उचित समझा कि पिच्छी पर कुछ चिंतन दिया जाय। क्योंकि जब आज मुनिगण सैकड़ों (शायद वे ५००-१००० तक भी होते हों) पिच्छो- (पंखों) की पीछी रखते है और श्रावक उन्हे पीछी देते हैं, तब इतने अधिक मयूर पखों की उपलब्धि के तरीके का प्रश्न सहज ही उठ जाता है कि क्या मयूर पंखों को श्रावक स्वयं बीनकर लाते है या बाजार से खरीदते हैं ? क्योंकि वर्तमान साधु तो बस्तियों के रहने मे अभ्यस्त हैं, वे पख कैसे ला सकेंगे. आदि। पिच्छी पर चिंतन देने से पहिले हम यह और स्पष्ट कर दें कि दिगम्बर साधु को पीछो अनिवार्य क्यों है --जबकि वह सर्वथा अपरिग्रही हैं ?

जैसे पिता से उत्पन्न पुत्र अपने पिता के पितृत्व गुण का ख्यापन करता है—पितृत्व गुण को पुष्ट करता है, वैसे ही अपरिग्रह से फलीभूत अहिंसा आदि भी अपरिग्रही के अपरिग्रहत्व गुण का ख्यापन करते हैं। सर्वथा अपरिग्रही होने के कारण ही दिगम्बर साधु में अहिंसादि महाव्रत फलित होते हैं। यदि ऐसा न होता और अपरिग्रह की उपेक्षा कर अहिंसा आदि को प्रधान-धर्म माना गया होता तो आचार्यों ने पूर्ण दिगम्बरत्व में ही अहिंसादि महाव्रतों का ख्यापन न किया होता अर्थात् उन्होने परिग्रहियो मे भी अहिंसा आदि महाव्रतों के हो जाने का विधान कर दिया होता ? पर, ऐसा किया नही गया है। जब भी महाव्रत होंगे—सदा पूर्ण अपरिग्रही में ही होंगे। फलत: —मूल धर्म अपरिग्रह ही है और दि० साधु इसी रूप मे होते हैं—वे अपने पास तिल-तुष मात्र बाह्य और रागादि-रूप अन्तरग परिग्रह नही रखते। भावपाहुड में दि० साधु के विषय में कहा है—

'णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४९॥
तिलतुसमत्तणिमित्तसम वाहिरगंथ संगहो णत्थि' ॥५५॥

प्रव्रज्या—निर्ग्रन्थस्वरूप, परिग्रह से रहित, मान-रहित, आशा से रहित, राग-द्वेष से रहित, ममत्वभाव रहित और पर कर्तृत्व के अभिमान से रहित होती है। उसमें बाह्य रूप मे भी तिल-तुष मात्र परिग्रह नही होता।

साधु के पूर्ण अपरिग्रह रूप में होने पर वह स्वयं में अन्य पाप-जनक सभी दोषों से बचा रहता है पर—उसकी शारीरिक हलन-चलन आदि क्रियाओं में अन्य जीवों की विराधना से नहीं बचा जा सकता—सूक्ष्म जीवों के घात की सम्भावना नही रहती है। फलत: उस सम्भावना के निवारण हेतु शास्त्रों मे साधु को मयूर पिच्छी रखने का विधान किया गया है और मयूर पिच्छी को परिग्रह संज्ञा से मुक्त रखकर उसे उपकरण की संज्ञा दी गई है। पिच्छी उपकरण इसलिए है कि उससे जीवों का प्राणरक्षणरूप उपकार होता है।

आगम में पिच्छी के निम्नगुण बतलाए हैं—

'रजसेयाणमगहणं मद्दवसुकुमारदा लघुत्तं च ।
जत्थेदे पंचगुणा त पडिलिहणं पसंसति' ॥
—भ० आ० २/६८

विजया०—'रजसः सचित्तस्य अचित्तस्य वा स्वेदस्य अग्राहकं, मदुस्पर्शता, सुकुमार्यं, लघुत्व चैते पंचगुणा सन्ति ।'

अर्थात् जो सचित्त और अचित्त रज-धूलि को ग्रहण न करे, पसीने से गीली न हो, कोमल स्पर्श वाली और स्वयं में कोमल हो तथा हल्की हो ऐसी प्रतिलेखना (पिच्छी) प्रशस्त कही गई है। क्योंकि सूक्ष्म जीवो की रक्षा करने मे ऐसी पिच्छी ही समर्थ हो सकती है और उक्त गुण मयूर पिच्छी मे ही पाए जाते है—इससे कोमल उपकरण अन्य नही। मूलाचार के समयसार अधिकार में इसी गाथा की टीका में उक्त पांचों गुणो को बतलाकर लिखा है—

'यत्रैते पचगुणाः द्रव्ये सन्ति तत्प्रतिलेखन मयूरपिच्छ-ग्रहणं प्रशसन्ति आचार्याः गणधर देवादय इति ।'

मूलाचार के समयसार अधिकार मे गाथा १७ मे 'पडिलिहण'—प्रतिलेखन शब्द है, वहा वसुनन्दी आचार्य-कृत टीका मे प्रतिलेखन शब्द का अर्थ 'मयूरपिच्छी' किया गया है—'दया प्रतिपालनस्यलिङ्गं मयूर पिच्छिका ग्रहणमिति ।' मयूर पिच्छिका ग्रहण दया-पालन का चिह्न है। अमरकोश २।५।३१ मे 'शिखण्डस्तु पिच्छ बर्हेनपुंसके' कहकर स्पष्ट किया है कि—पिच्छ शब्द मयूर पख का वाचक है। जैन आगमो मे इस पिच्छ शब्द का अनेक स्थलो पर उल्लेख मिलता है।

नवीन—दीक्षा देते समय आचार्य दीक्षित शिष्य को 'णमोअरहंताण भो अन्तेवासिन्, षड् जीवनिकाय रक्षणाय मार्दवादि गुणोपेतमिदं पिच्छिकोपकरणं गृहाण'—(क्रिया-कलाप पृ० ३३७) बोलकर पिच्छिका देता है। इसी क्रियाकलाप मे दीक्षा गृहण की विधि मे आचार्य द्वारा पिच्छिका के दिए जाने का उल्लेख है—

'सिद्धयोगिवृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम् ।
लुंचाख्या नाग्न्य पिच्छात्मक्षम्यतां सिद्धभक्तितः ॥'

गुरु वन्दना के सम्बन्ध मे भी पिच्छिका के उपयोग का उल्लेख है। तथाहि—'विगौरवादिक्षेपेण सपिच्छांजुलिशालिनः। (आ० सा० २।७२) साधु वन्दना के प्रसग में लिखा है—'पश्वर्धशय्ययाऽऽनम्य सपिच्छांजुलिभालक' (आचारसार २२।७)

उक्त सभी भाति दिगम्बरो मे मयूर पिच्छी का विधान है। और श्वेताम्बर आगमो मे श्वेताम्बर साधुओ के लिए पिच्छिका के स्थान पर रजोहरण रखने का विधान मिलता है। वहा रजोहरण के अनेक प्रकार बत-लाए गए हैं। जैसे—औणिकम् (ऊनकी) औष्ट्रिकम् (ऊट के बालो की) सनकं (सन की) वल्कल (छाल से बनी) मुंजदसा (मूंज की) कौसेज्जदसा (रेशमी) आदि। हमारी दृष्टि मे रजोहरण के उक्त रूप किसी भी भाति मयूर पिच्छि के गुणो की समता नही कर सकते और ना ही उनमें पिच्छिका मे बताए गए पाँचो गुण ही सम्भव हो सकते है। मयूर पिच्छी मे तो इतनी कोमलता होती है कि उसे आंख की पुतली मे फिराने पर भी कोई हानि नही होती। ऐसे गुण के कारण ही वह जीव रक्षा मे समर्थ है।

जहां तक मयूर-पिच्छ प्राप्त करने की विधि का प्रश्न है कि साधु को पिच्छ (मयूरपख) की प्राप्ति कैसे हो? वह स्वयं मयूरपख को उठाए—एकत्रित करे या श्रावक उसे पिच्छ दान दे? सो अभी तक तो हमारे देखने मे नही आया कि पिच्छ-दान नामक भी कोई दान हो। प्राचीन आरातीय आगमो मे भी कही ऐसा उल्लेख हमारी दृष्टि में नही आया। हां, इसके विपरीत ऐसा सिद्ध अवश्य होता है कि प्राचीनकाल मे मुनिराज स्वय ही जगल से मयूर पंख चुन लेते रहे हो। श्लोकवार्तिक मे 'अदत्तादान स्तेयम्' सूत्र की व्याख्या मे कहा गया है—

'प्रमत्तयोगतो यत् स्यादत्तादानमात्मनः ।
स्तेयं तत्सूत्रित दानादानयोग्यार्थगोचरम् ॥
तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः ।
सरिन्निर्झरणाद्यम्भ: शुष्कगोमयखण्डजम्—
भस्मादि वा स्वयमुक्त पिच्छालाबुफलादिकम् ।
प्रासुकं न भवेत् स्तेय प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥'
—श्लो० वा० ७।१५।१-६

अदत्तवस्तु के आदान (ग्रहण करने) मे जहाँ प्रमत्त योग (प्रमाद) है वहाँ चोरी है और जब प्रमाद का योग नही है वहाँ चोरी नहीं है। इसलिए प्रमाद (राग-कषायादि) के न होने से मुनि को सरिता, झरने आदि के प्रासुक जल, गोमयखण्डज—भस्म आदि मयूर पिच्छ और प्रासुक अलाबु-फल (तूबी) आदि के लेने मे चोरी का दोष नही होता है। अर्थात् इससे सिद्ध होता है कि मुनियों को उक्त वस्तुओ के स्वतः ग्रहण करने का विधान रहा है और उसमे चोरी नही मानी गई है। फलतः—

मुनिगण उक्त वस्तुओं की भांति मयूरपखो को भी जगल से स्वयं ग्रहण करते रहे है। उनके जंगलो मे रहने से यह सहज साध्य भी रहा है। पर, आज बड़े नगरो की बडी इमारतो तक मे महीनो पडाव डाले हुओं को सब शक्य नही। ऐसे मे सम्भव है कि कभी ऐसे ही साधुओ ने श्रावको को मयूरपखो के लिए प्रेरित किया हो और ऐसा प्रचलन चल पड़ा हो कि श्रावक मुनियो की पिच्छी का प्रबन्ध करे, आदि। फिर श्रावक का भी क्या ? उसे तो जहाँ जैसी सुविधा दिखी वैसे मयूरपिच्छी का प्रबन्ध करने का क्रम बना लिया और इसके लिए उसे बाजार अधिक सरल और उपयुक्त दिखा—उसने मयूरपख खरीद कर सब प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दिया। अतः पक्की जानकारी कर लेनी चाहिए कि वे मयूरपख जैनी के स्वयं द्वारा ही जंगल से उठाए गए है ? वरना, बकौल श्री मैनका जी के, बड़े व्यापार मे अहिंसा मे पक्का सदेह ही है—अवश्य ही मयूर को पीडित किया जाता होगा।

अब रह जाती है पीछी के पखो की सख्या की बात। कि एक पीछी मे पखो का परिमाण कितना हो ? हमे नही मालूम कि आज कौन सा परिमाण प्रचलित है ? पर हमारे ख्याल से ४००-५०० पख तो एक पीछी मे होते ही होंगे ? किम्वदन्ती तो ऐसी है कि जब कुन्दकुन्द स्वामी की पीछी गिर गई तो उन्होने गृद्ध पख से कार्य चलाया। तो क्या उन्हें वह पंख एक ही मिला था या दो, चार, हजार या पाँच सौ, आदि। विचार करने से तो यही फलित होता है कि साधुगण स्वयं ही परिमित पखो का चयन कर बाँध लेते रहे होगे और वह बन्धन भी शिथिल और किसी मयूर पंख द्वारा ही किया जाता रहा होगा। क्योंकि सूत या धागा और सन भी मुनि के लिए परिग्रह होता है—मुनि को उसका वर्जन अनिवार्य है। वर्तमान साधुओं की पीछियाँ तो दृढ़बध वाली और इतनी सघन होती है कि उनके बन्धन-स्थल का परिमार्जन भी कठिन हो—उनमे सूक्ष्म त्रस जीवो की उत्पत्ति भी सम्भव हो। पीछियों का गुन्थन सम्भवतः सन या धागे से भी होता हो तब भी आश्चर्य नही।

हमे तब खेद होता है जबकि अहिंसा का ढोल पीटने वाले कुछ लोग जीव रक्षा के प्रचार मे पानी मे माइक्रोस्कोप लगाकर जीवराशि दिखाने की बात कर जनता को वैसी हिंसा के वर्जन को कहें और वे सघन रूप से गूथी महाव्रती की पिच्छी पर माइक्रोस्कोप लगाकर उसमे सम्भावित जीव राशि का कभी निरीक्षण भी न करें। आज के बहुत से साधु तो धागो से निर्मित सीतलपाटी जैसी चटाइयों का प्रयोग भी खुलेआम करने लगे है। शायद ये सब उन साधुओं द्वारा धागे को परिग्रह से बाह्य मानने पर ही सम्भव हुआ हो। कई साधु तो तेल की मालिश भी कराते हैं, जबकि तैलयुक्त उनके शरीर और आसन पर सूक्ष्मत्रस जीवो के चिपकने की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता।

कोई लोग 'गृद्ध-पिच्छ' शब्द का अर्थ ऐसा करने लगे हैं कि पिच्छी मे गृद्धता होने से कुन्दकुन्द या उमास्वामी का नाम गृद्ध-पिच्छ पड़ा होगा। सो यह भ्रान्ति है। भला जो आचार्य 'समयसार' मे रहे हो या जिन्होने तत्वो का निरूपण किया हो उनमें गृद्धता कैसे सम्भव है ? फिर, उक्त शब्द का उक्त अर्थ करना व्याकरण-सम्मत भी नहीं जँचता। यदि उक्त अर्थ रहा होता तो 'पिच्छगृद्ध' रूप अधिक उपयुक्त होता। अर्थात् पिच्छ में जो गृद्ध हो वह पिच्छगृद्ध होता है। पर यहाँ न तो गृद्धता अर्थ है और ना ही गिद्ध अर्थ है। अपितु यह शब्द किसने प्रयुक्त किया और किस भाव मे किया ये वही जाने ? दूसरी बात गृद्ध (पक्षी) के पखो को पिच्छ नही कहा जाता। वे तो संस्कृत में गरुत्, पक्ष, छद, पत्र, पतत्र और तनूरुह नामो से कहे जाते है तथा सभी पक्षियो के पखो के लिए भी उक्त शब्द निर्धारित है। तथाहि—'गरुत्पक्षच्छदाः पत्र पतत्रं च

तनूरुहम्—' अमरकोश। मयूर के पिच्छ को पंख नहीं कहा जाता और उक्त नामों से भी सम्बोधित नहीं किया जाता। मोर के पिच्छ को शिखण्ड, पिच्छ और वर्ह नाम ही दिए गए है—'शिखण्डस्तु पिच्छ-वर्हे नपुंसके'—अमरकोश। फलतः गृद्ध के साथ पिच्छ शब्द उपयुक्त नही है और पिच्छ के साथ गृद्ध शब्द उपयुक्त नही है। पिच्छ और पंख दोनों ही नाम भिन्न प्राणियो के लिये निश्चित हैं अतः मयूर-पिच्छ को पख कहा जाने का प्रचलन ठीक नहीं। तथा यह भी सोचने की बात है कि गिद्ध पक्षी का पख जो सर्वथा कठोर-कर्कश होता है, वह पिच्छ जैसे कोमल उपकरण के कार्य की पूर्ति कैसे करेगा? उसके प्रयोग मे तो सूक्ष्म जीवो की हिंसा ही अधिक सम्भावित है। उक्त सभी प्रसग विचारणीय है।

आजकल देखने मे आ रहा है कि साधुवर्ग की पिच्छी का उपयोग सूक्ष्मत्रस जीवों की रक्षा की अपेक्षा स्थूल पचेन्द्रिय जीवो की रक्षा मे अधिक हो रहा है। साधुगण स्त्रीलिग और पुलिग का भेद किये बिना सर्वसाधारण को पीछी छुआ (मार) कर आशीर्वाद देने में लगे हैं। उनके पास दो ही चीजें सुरक्षित है—भाग्योदय के लिए **रामबाण औषधि** पीछी और आरोग्यता प्रदायक **वेदना-हर रस** जैसा कमण्डलु का पानी। और लोग हैं कि उनमे होड़ लगी है इन्हें अधिक-से-अधिक मात्रा मे प्राप्त करने की। आखिर साधु भी क्या करें? वह कोई तीर्थंकर तो नही जो पहिले अपना हित करे। आज तो अधिकांश साधु का ध्येय मानों परोपकार करना मात्र बनकर रह गया है—कही यंत्र-मंत्र दान से और कहीं पीछी-कमण्डल जैसे उपकरण से। उसे अपने आत्महित से प्रयोजन नहीं। और ठीक भी है कि जब इस काल मे यहाँ मोक्ष नही तो आत्मा से ही क्या प्रयोजन? फिर, आत्मा की चर्चा के ऊपर तो आज परिग्रहियों का राज्य है—उन्होने ही आत्म चर्चा को पकड़ रखा है। खैर,

पीछी के सम्बन्ध मे उक्त प्रचलित प्रक्रिया को प्राचीन शास्त्रो में देखना चाहिए और तदनुरूप पीछी का निर्माण और उपयोग होना चाहिए—जैसी आगमाज्ञा हो वैसा करना चाहिए। हमारा कोई आग्रह नही।

(पृ० १८ का शेषांश)

न होने से वह पापो से तो बचता ही है बल्कि उसका व्यवहार विनम्र व सरल होने के कारण आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार अपरिग्रही मानवीय, भौतिकी व आध्यात्मिक तीनों लक्ष्यो की पूर्ति करता है।

अन्त मे, जैन समुदाय का वर्तमान समाज-देश में सर्वाधिक महत्व है क्योंकि अधिकांश वाणिज्य इनके हाथो मे है और समाज मे दहेज आदि जैसी भयावह समस्याओं का जनक है। यदि इसने अपनी करनी और कथनी मे अन्तर रखा तो भावी पीढ़ी इसे माफ नही करेगी।

जैन कालेज क्वार्टर्स,
नेहरू रोड, बड़ौत-२५० ६११

सन्दर्भ-सूची

१. प्रवचनसार, गा० ७८
२. धवला १३-३, ५, ५, ५०-२८१
३. राजवार्तिक १-२-६-१६
४. सर्वार्थसिद्धि ६-४४-४५५
५. "मूर्च्छा परिग्रहः"—उमास्वामी-तत्त्वार्थसूत्र ७-१७
६. अमृतचन्द्राचार्य—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ११७
७. अमृतचन्द्राचार्य—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ११६
८. उमास्वामी—तत्त्वार्थसूत्र, ७-२७,२६
९. उमास्वामी—तत्त्वार्थसूत्र, ६-१७

जरा-सोचिए !

१. अहिंसा के पुजारी रक्षा करें

जैनी सच्चा और जयनशील होना है। जैन आगमो म जैनी की परिभाषा मे बतलाया गया है कि जो जिन देव का भक्त और जिनोपदेश के अनुसार चले वह जैनी है। प्रामाणिक पूर्व जैनाचार्य, जैनी की परिभाषा मे खरे उतरते रहे है और इसीलिए वे जैन धर्म को सुरक्षित रखने में समर्थ हुए है। आज जैसी स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है वह सर्वथा विपरीत है। न तो वैसे जैनाचार्य है और न ही वैसे श्रावक है। फलत. जैन धर्म ह्रासोन्मुख है। लोग धर्म प्रचार का ढोल भले ही पीटते रहे पर ऐसे मे धर्म सुरक्षित नही रह सकता।

भला, जब आज मूल धर्म अपरिग्रह की उपेक्षा है, तब अहिंसा आदि धर्म भी कैसे पनप सकते है? आगम मे स्पष्ट कहा है कि पापो का मूल परिग्रह है। और इसीलिए आत्म-कल्याणार्थी को परिग्रह के त्याग का प्रथम उपदेश है। लोक म मोक्षमार्ग के गमन के लिए भी प्रथम सीढ़ी मुनित्वरूप को स्वीकार करना बतलाया है—तीर्थंकर भी सर्वप्रथम परिग्रह से निवृत्ति लेते है और तब अहिंसादि महाव्रत धारण करते है। पर, आज तो लोग अहिंसा का उपदेश पहिले देते है—परिग्रह परिमाण और परिग्रह त्याग पर उनका ध्यान ही नही है।]

यही कारण है कि आज परिग्रह सर्वोपरि बन बैठा है और वही धर्म की जड़ को खोखला किये दे रहा है। आज किसी भी वर्ग को देखिये वह परिग्रह से ही जुड़ा हुआ है। और तो और; आज स्थिति ऐसी आ गई है कि घोर परिग्रही भी आत्म चर्चा मे लग रहा है और बाह्य वेष में नग्न पुरुष आडम्बर और क्रियाकाण्ड में रप ले रहा है। जब आचार्य कुन्दकुन्द सर्व परित्याग कर आत्मानुभव कर सके—समयसार (आत्मा) के स्वरूप वर्णन के अधिकारी बने, तब कई नामधारी आत्मार्थी घोर परिग्रह से जकड़े हुए, आत्मदर्शन मे लगे हो—वे कह रहे हो—तू आत्मा को देख, पहिचान, तो भी अचंभा नही जबकि वे स्वयं मे आत्मा से अजान और अन्तरग वहिरग दोनों प्रकार के परिग्रहो मे मोही तक देखे जाते है। यदि अत्युक्ति नही तो हम तो अब तक अधिकांश ऐसा देख पाये हैं कि आत्मा की चर्चा अधिकाशत: लोग बाह्याचार की उपेक्षा करके भी कर रहे हैं और वह इसलिए कि इस चर्चा की आड़ मे उनका परिग्रह पाप छिपा रह सके और वे धर्मात्मा कहलाएँ। और यह फलित भी हो रहा है। अर्थात् जो चर्चा मन्द राग भाव मे करने की है उसे परिग्रही अपना बैठे है और बाहर से नग्न व्यक्ति परिग्रह के चक्कर में फँस गये है और कई श्रावक उन्हे फँसा भी रहे हैं।

क्या कभी आपने सोचा है कि—आत्मा को देखने-दिखाने, पकड़ने-पकड़ाने का प्रयत्न अन्तारक्ष के पकड़ने-पकड़ाने के समान असम्भव है। पकड़ने के लिए बढ़ते जाने पर अन्तरिक्ष दूर-ही दूर होता जाता है और कुछ हाथ नही लगता। जैसे अन्तरिक्ष अनन्त है वैसे आत्मा भी अपने गुण-स्वभाव मे अनन्त है। आत्मा का, आत्मा के गुणो का, संकोच-विस्तारण स्वभाव का कोई अन्त नही—यह सूक्ष्म भी है और लोकपूर्ण भी है। अन्तरिक्ष और आत्मा दोनो ही अरस, अरूप, अगन्ध है शब्द और स्पर्श से रहित हैं—इन्द्रिय और मन के ग्राह्य नही। फलत: इनका साक्षात्कार निर्विकल्प और स्वानुभूति की दशा में ही सम्भव है और ऐसा राग-भाव की अनासक्ति मे होता है।

आत्मा के दर्शन करने कराने—पहिचानने पहिचनवाने और साक्षात्कार का जो मार्ग परिग्रहीमनोवृत्ति में अपना रखा है वह तीर्थंकरो और कुन्दकुन्दादि के मार्ग से सर्वथा विपरीत और बालू से तल निकालने के प्रयत्न की भाँति है उससे परमार्थ लाभ नहीं; लाभ तो राग के कृश करने मे है।

तीर्थंकर की बाल्यावस्था मे भी वे बड़े-से-बड़े विद्वानो से भी बड़े ज्ञानवान् थे। शुद्धात्म-प्राप्ति के लिये उन्होने

उन्होंने उन पदार्थों के स्वभाव का चिन्तन किया जो सामान्य जगत को भी इन्द्रियग्राह्य-रूपी और पर थे। इसीलिए उन्होंने बारह भावनाओं के चिन्तन द्वारा पहिले पर-पदार्थों से विरक्ति ली। संसार के अनित्य, अशरण आदि स्वरूप का मुहुर्मुहु चिन्तन किया और उनसे विरक्त होकर *दृष्टिगोचर बाह्य से निवृत्ति ली। बाह्य-निवृत्ति हो* जाना ही तो स्वात्म प्रवृत्ति है। स्मरण रखना चाहिए कि रागी प्राणी की पकड़ आत्मा पर असम्भव है और वह इन्द्रियमन-ग्राह्य को ही, सरलता से पहिचान सकता है—उसकी असारता को जानकर उससे केवल विरक्त हो सकता है।

पर, आज उल्टे मार्ग पर चलने की कोशिश की जा रही है—अरूपी आत्मा को देखने-दिखाने, पहिचानने-पहिचनवाने की चर्चा चल रही है और साक्षात् दिखाई देने और इन्द्रिय गोचर होने वाले नश्वर पदार्थों की विरक्ति से मुख मोड़ा जा रहा है—परिग्रह का सचय किया जा रहा है। ऐसे मे आत्मा का अनुभूति मे आना कैसे सम्भव है ? इसे पाठक विचारें।

हम तो जहाँ तक समझ पाए है वह यही है कि लोगो की परिग्रह वृत्ति ने आत्मचर्चा करने मे लगे रहने के बाद भी उन्हे आत्मा से दूर रखा है, यहाँ तक कि वे बाह्याचार को भी भुलावा मान बैठे है। यद्यपि वे व्यवहारिक सभी कार्य कर रहे है—पूजा: प्रतिष्ठादि मे भाग ले रहे है—श्रावक और साधु की पहिचान भी उनके बाह्याचार से कर रहे है। फिर, मजा यह है कि वे जिसे हेय बता रहे है, उसी से चिपके जा रहे है। अहिंसा का नारा दे, परिग्रह को आत्मसात् किये जा रहे है। अन्यथा इन वक्ताओं और वाचकों से पूछा जाय कि इनके भाषण से कितनों ने आत्मदर्शन किये और कितन परिग्रह से मुख मोड़ गये ?

तब तीर्थंकरो ने परिग्रह से मुख मोडा और अब सच्चे ज्ञानी लोग इन परिग्रहियो से भयभीत हैं कि कही ये परिग्रही उन्हे भी परिग्रही न बना दें ? आखिर, इन परिग्रहियों ने लेने के साथ देने का धन्धा भी तो बना रखा है—ये लेते अधिक और देते कम है। ये देते है अपनी ख्याति और मान-बडाई के लिये। इन्होंने अनेकों साधु, सन्यासी और मोही-ज्ञानियों तक को खरीद रखा है—धन-वैभव और चांदी के टुकड़ों को डालकर। अन्यथा, जैसी खिलवाड़ आज धर्म के नाम पर चल रही है, वह न होती—साधु और पडित धर्म के मूल अपरिग्रह के पाठ को पीछे न फेंक देते।

हमे बड़ा अटपटा-सा लगता है जब हम आचार्य कुन्दकुन्द की द्वि सहस्राब्दी मनाने के ढंगों को देखते है। कुन्दकुन्द के प्रति दिखावटी गुणगानो को देखते है और कुन्दकुन्द द्वारा बतलाये हुए मार्ग की अवहेलना को देखते हैं। जो आचार्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुके है उन्हें लोग निष्फल ढो रहे हैं, उन्हे दूरदर्शन और आकाशवाणी तक ले जा रहे है—जैसे वे कुन्कुन्द की ख्याति में चार चाद लगाते हों, खेद ? भला, जो लोग स्वय को कुन्दकुन्द के उपदेशानुकूल न ढाल सके हो, उनकी बात न मानते हो, उन्हे क्या अधिकार है कुन्दकुन्द के नाम तक के लेने का ? ऐसे विपरीत कार्य तो परिग्रह-सचय-दृष्टि ही कर सकते हैं।

बुरा न माने, क्या कुन्दकुन्द द्वारा निर्मित आचार-संहिता की अवहेलना कर, नई आचार संहिता बनाने का प्रसंग उठाना ही द्वि-सहस्राब्दी मनाने की सार्थकता है ? क्या, उक्त प्रस्ताव का अर्थ यह नही होता कि वर्तमान मुनि शिथिलाचार के समक्ष अपने हथियार डालने को सनद्ध है और हम जैसे-तैसे उन्हे समर्थन देने के मार्ग खोज रहे है ? और वर्तमान मुनियो की दशा आज किसी से छिपी नही है—कही-कही तो घोर अनर्थ भी हो रहे है। क्या ऐसी दशा में कुन्दकुन्द द्वारा निर्मित आचार संहिता को आगे लाना और मुनियों व श्रावकों को तदनुरूप आचरण करने को मजबूर करना कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी की सार्थकता नही ? जो नई सहिता बनाने का प्रस्ताव है ? और कुन्दकुन्द की सहिता को पीछे किया जा रहा है, खेद।

कुन्दकुन्द ने समयसार रचा और आचार्य अमृतचन्द्र ने अमृतकलश। उन्होंने 'स्वानुभूत्या चकासते'—आत्मा

अपनी अनुभूति-अनुभव से प्रकाशित होता है ऐसा कहा। और आज आत्मा को प्राप्त करने का मार्ग पर—परिग्रह मे लीन रहकर, उसके सहारे खोजा जा रहा है। प्रचार भी परिग्रह के बल पर किया जा रहा है—कही जलसे करके और कही साहित्य छपवाकर। किसी का भी ध्यान स्वानुभूति के मार्ग—पर-निवृत्ति पर गया हो तो देखे, आत्मचर्चा वालो मे कोई मुनि बना हो तो देखें।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ही क्यो ? अन्य सभी आचार्यों ने भी 'चारित्त खलु धम्मो' की पुष्टि की है और सभी ने स्वय तद्रूप आचरण किया—चारित्र की सम्पुष्टि के लिए परिग्रह का त्याग किया है। वे भली भांति समझ चुके थे कि जब तक पर से निवृत्ति नही ली जायगी तब तक स्वानुभूति करने की बात व्यर्थ है।

काफी अर्से पूर्व आत्मज्ञान—समयसार वाचन का मार्ग हमारे समक्ष आया यह हमारा पुण्योदय था। तब लोग प्राय. बाह्य क्रिया-काण्ड मात्र मे धर्म समझे हुए—एकागी थे और अब क्रियाकाण्ड से हट केवल आत्मार्थी रहकर एकांगी हो गये है। शायद आज के मुनि २८ मूल गुणो के पालन को भी क्रियाकाण्ड मान बैठे है—जो उनके पालन से विमुख है। पर, स्मरण रखना चाहिए कि जैन धर्म मे सम्यग्दर्शन;ज्ञान और चारित्र इन तीनो की एकरूपता को स्थान दिया गया है अकेले एक या दो को अपूर्ण माना गया है। फलत.—कोरी आत्मा—आत्मा की रटन और साथ मे परिग्रह सचय की भरमार व्यर्थ है।

स्मरण रहे कि ऐसी थोथी बातो से न तो आत्मा मिलेगी और न ही सम्यग्दर्शन मिलेगा—इनकी प्राप्ति तो पर-परिग्रह की निवृत्ति और वैराग्य भाव से ही होती है। तथा वैराग्य भाव दृश्य और अनुभूत नश्वर सामग्री के स्वरूप चिन्तन से होता है। फलतः—पहिले बाह्य से निवृत्ति लेनी चाहिए, चारित्र धारण करना चाहिए, परिग्रह को कृश करना चाहिए तब आत्मचर्चा की सार्थकता होगी। परिग्रह से तो आत्मा का घात ही होता है—अहिंसा के पुजारी इसकी रक्षा करे।

२. साधु बनना टेढ़ी खीर है :

भव-सुधार के लिए वेष धारण करने की अपेक्षा मोह को कृश करने की प्रथम आवश्यकता है—सब बन्धनों की जड़ मोह है इसीलिए स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—"गृहस्थोमोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैवमोहवान्। अनगारो गृहीश्रेयान् निर्मोहो मोहिनेमुन॥"—निर्मोही गृहस्थ किसी मोही साधु से श्रेष्ठ है।

ऐसा सर्वथा ही नही है कि वर्तमान साधु उक्त तथ्य को न समझते हो—वे समझते भी है पर, कई की मजबूरी ये है कि वे इस तथ्य को तब समझ पाये, जब वे मुनि-दीक्षा ले चुके। और ऐसा तब हुआ जब उन्हे मुनि-पद जैसी कठोर परीषहो से गुजरना पडा। और ठीक भी है कठोर परीषहो का सहना कोई खाला जी का घर तो नही, बड़ी दिलेरी और हिम्मत का काम है। पर. क्या करे जिनमत मे व्रत लेकर छोड़ देने का विधान भी नही है। वहा तो साँप-छछूंदर जैसी गति बन बैठती है, जिसे न निगले ही बनता है और न उगलते बनता है—बेचारे बीच में लटके रहते है—'त्रिशकु' न श्रावक और न मुनि। ऐसे व्यक्ति वेष से मुनि और आचरण से श्रावक जैसा परिग्रही जीवन यापन करने लगते है या उससे भी कम।

आपको ये जो मन्दिर मे दिखने वाले श्रावक है, उनमे कई ऐसे दिख सकते है जो सरल-स्वभावी, मद-परिणामी और श्रावक की दैनिक क्रिया मे जागरूक हो और ऐसे मुनि भी जहा कही भी दिख सकते है जो मन से भी परिग्रह के चारो ओर चक्कर लगा रहे हो। ऐसी बात नही कि सभी श्रावक और सभी मुनि शिथिलाचारी हों—कुछ मुनि कर्तव्य के प्रति जागरूक भी होगे। पर, वर्तमान के वातावरण को देखते हुए अधिकांशतः दोनों ही वर्गों मे शिथिलाचार अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है। हमारे साधुओ के शिथिलाचार मे श्रावको का भी बड़ा हाथ है। कुछ श्रावक निज स्वार्थ पूर्तियो के लिए भी साधुओं को घेरते है—कही मन्दिर, कही तीर्थों के चन्दों के लिये भी साधुओ का उपयोग किया जाता है : आदि।

साधु की निन्दा कई लोग करते देखे जाते हैं। पर, निन्दा करने से कुछ हाथ नही आयेगा। यदि श्रावकगण अपने मे सावधान हों और साधुओ का घिराव बन्द करे—उनसे पीछी का आशीर्वाद, कमण्डलु का पानी, गण्डा, तावीज, मन्त्र-तंत्र न मागे। बड़े-बड़े पण्डालो में ऊची स्टेजें बनाकर हजारों की भीड मे उन्हे न घेरें, तो साधु के अहं को ब्रेक लग सकता है—वह अपने मे सावधान रह सकता है। कुछ समाचार पत्र भी साधुओ को उछाल कर उनके अहं को बढ़ावा देते हैं। जब साधु समाचार मे अपने को आगे पाता है तो उसे यश का अहं जागता है—वह पद से च्युत भी हो जाता है सामाजिक उथल-पुथल और दूसरो के सुधार के चक्कर मे पड़ जाता है।

आज जैन समाचार पत्रो की दशा भी दयनीय है—प्राय: सभी मे एक जैसे समाचार ही रहते है जैसे इसके सिवाय उन्हें छापने को कुछ और रह ही न गया हो। फलत:—जनता के मन बहलाव को वे मुनियो की स्थान-स्थान पर उपस्थिति दिखाकर उनके आशीर्वादो की घोषणा का प्रचार भी करते रहते है और इससे मुनि के अहं को पोषण मिलता है। पेपर वाले मुनि का आशीर्वाद ले, अपनी दुकानदारी जमाते हो, यह बात दूसरी है।

यदि सुधार अपेक्षित है तो सभी को एकमत होकर साधु संस्था को ठीक करना चाहिए। क्योंकि आज मुनियों के शिथिलाचार के प्रति त्यागी भी चिंतित हैं। श्री ऐलक सुध्यान सागर जी ने अभी जो विज्ञप्ति प्रकाशित कराई है वह ध्यान देने योग्य है। उसे हम यहां उद्धृत कर रहे है—

"जितनी हमारी जैन संस्थाएँ हैं उनके पदाधिकारी गण मिलकर आजकल साधु मार्ग मे जो शिथिलाचार की वृद्धि हो रही है उसको दूर करने का प्रयत्न करें तो मूलसंघाधिपति प० पू० १०८ अजितसागर जी का आशीर्वाद तथा आदेश लेकर प्रत्येक शिथिलाचार का पोषण करने वाले आचार्य साधुओ के पास पहुंचें, उनसे शान्ति से स्पष्ट कहें कि जो-जो आगम विरुद्ध क्रिया उनसे हो रही है, जैसे—एकाकी रहना, एक स्त्री साध्वी को रखना चन्दा-चिट्ठा करना, गंडा-तावीज बेचना, बस (मोटर)-वाहन रखना, संस्था बनाके वही पर जम जाना, कूलर, फ्रीज, पखा, वी० सी० आर० टेलीविजन आदि जिनागम के विरुद्ध वस्तुओ का रखना तथा उपयोग करना एवं जवान कन्याओं को साथ रखना, उनका ससर्ग करना, एकाकी साध्वी को बगल के कमरे मे सोने देना, इत्यादि धर्म-ह्रास क्रियाओ को अवश्य रोकना चाहिए। साम, दाम, दण्ड-भेद से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा रखते हुए अवश्य धर्म की संरक्षा करनी चाहिए।"

—सम्पादक

(पृ० २४ का शेषांश)

प्राप्ति होती है। प्रामाणिमक पूर्वाचार्य गणधरादिक उनकी वाणी का विस्तार करने मे समर्थ हुए। सभी ने राग-द्वेष की निवृत्ति को आत्मधर्म बताया। राग-द्वेष ही घोर परिग्रह है—इनमे ही क्रोध, मान-माया-लोभ का उदय होता है। हिंसादिक पाप भी इन्हीं परिग्रहो के कारण से होते है—अत: परिग्रहों के त्याग पर बल देना जैनी का कर्तव्य है। स्मरण रहे कि आज जैन के ह्रास मे मूल कारण परिग्रह और परिग्रहियो की परिग्रह वृत्ति है।

तीर्थंकर ऋषभदेव की धर्म सभा मे प्रधान शासन गणधरदेव का ही रहा—उन्हीं के व्याख्यान को प्रामाणिकता मिली। और वह इसलिए कि गणधर भी अपरिग्रही थे—अत: वे तत्त्व को यथार्थ कह सके। आज तो वैसे गणधर दुर्लभ है—अब तो प्राय. वाचक भी परिग्रह के नशे मे झूमते है कई परिग्रह की बढ़वारी मे और कई परिग्रह की तृष्णा में। कई तो शास्त्र-निर्माता या व्याख्याता बनकर गणधरो के ऊपर जैसे बैठना चाहते हो—अपनी रचनाओ को जिनवाणी मनवाने के जाल बुन रहे हो, तब भी आश्चर्य नही। पर, स्मरण रहे; हम तत्त्व के सम्बन्ध मे लिखी आधुनिक सभी व्याख्याओ या भावान्तरों को किसी भी भांति आगम मानने के पक्षधर नही। हमारी दृष्टि आरातीय निष्परिग्रही आचार्यों की मूल शब्दावली पर ही है—हम उसे ही आगम मानते है और बार-बार उद्घोष करते है कि आगम सुरक्षा के लिए फर-बदल के बिना मूल शब्दो के अर्थ मात्र दिए जायं और यदि व्याख्या करना इष्ट हो तो मौखिक ही की जाय ताकि गलत रिकार्ड की आशंका से बचा जा सके। यदि उक्त विसगतियो के ठीक होने की दिशा मे कदम उठाया जाता है तो निर्वाण उत्सव के बहाने जैन के निर्माण मे सहायता मिल सकेगी। शुभमस्तु सर्वजगतः।

□□

आगम से चुने ज्ञान-कण

संकलयिता : **श्री शान्तिलाल जैन कागजी**

१. आत्मा ज्ञानकरि तादात्म्यरूप है, तोऊ एक क्षणमात्र भी ज्ञानकूं नाही सेवै है। ये बड़ी भूल है।

२. परद्रव्य मो स्वरूप नाहीं है। मैं तो मैं ही हू, परद्रव्य है सो परद्रव्य ही है।

३. परद्रव्यकू पर जान्या फेरि परभावका ग्रहण नाही, सोही त्याग है, ऐसैं यह जानना ही प्रत्याख्यान है।

४. क्रोधादिक अर ग्यान न्यारे-न्यारे वस्तु है, ग्यान मे क्रोधादिक नाही, क्रोधादिक मे ग्यान नाही। ऐसा इनिका भेद ज्ञान होय तब एकपणाका अज्ञान मिटै। तब कर्मका बध भी न होय।

५. जो द्रव्यस्वभाव है, ताहि कोई भी नाही पलटाय सकै है, यह वस्तु की मर्यादा है।

६. ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाधीन है, किन्तु ज्ञेयो का परिणमन ज्ञान के आधीन नाहीं है।

७. जीव या आत्म-पदार्थ इन्द्रिय का विषय नाहीं है।

८. सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक रूप मे तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

९. सम्यग्ज्ञान क्षायोपशमिक और क्षायिक रूप मे दो प्रकार का होता है।

१०. मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र ये दोनों औदयिक ही होते है।

११. मिथ्याज्ञान क्षायोपशमिक ही होता है।

१२. जाननेमात्रतै बध कटै नाही। बध तो काट्या कटै।

१३. ससार देह भोगों से विरक्तता होना। असीम इच्छा रुक कर सीमित होना। निरर्गल प्रवृत्ति का बन्द होना और यत्नाचार पूर्वक क्रिया का होना ये मोक्ष मार्ग है।

१४. तीनों कालो में और तीनों लोकों में जीव को सम्यक्त्व के समान कोई दूसरा कल्याणकारी नही है।

१५. कोई भी कर्म बिना फल दिये निर्जीर्ण नही होता, ऐसा जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है; जयधवल पुस्तक ३ पृ. २४५।

१६. अन्तरात्मा की गति मिथ्या दृष्टि कहा जाने।

१७. ज्ञानी ऐसे जानै है, जो सत्तारूप वस्तु का कदाचित् नाश नही और ज्ञान आप सत्तास्वरूप है।

१८. बन्ध होने मे प्रधान मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी का उदय ही है।

१९. जो जाने है सो करे नही है और जो करे है सो जाने नही है।

२०. झूठा अभिप्राय सो ही मिथ्यात्व, सो ही बन्ध का कारण जानना।

२१. क्या सयम धारण करने की चटापटी लगी है, क्या पर पदार्थ के प्रति उदासीनता आई है, क्या पर पदार्थ में स्वामीपना छूटा है, क्या भय लगा रहता है, क्या वर्तमान पर्याय में और रहने का मन करता है, क्या संसारी अनुकूलता मे आनन्द आता है, क्या प्रतिकूलता मे भय लगता है, ये कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनके बारे में हमें खुद ही सोचना है और उसका उत्तर भी हमे अन्दर से ही मिलेगा। फिर इसका निर्णय कर सकेगे कि हमारे पास सम्यक्त्व है या नही ?

२२. प्रथम सम्यग्दर्शन के होते ही जीव के पर पदार्थों में उदासीनता आ जाती है और जब उदासीनता की भावना दृढतम हो जाती है तब आत्मा ज्ञातादृष्टा ही रहता है।

२३. पर के सम्बन्ध से रागादिक ही होते हैं और रागादिकों के नाश के अर्थ ही हमारी चेष्टा है।

२४. केवल बाह्य पदार्थों के त्याग से ही शान्ति का लाभ नहीं; जब तक मूर्च्छा की सत्ता न हटेगी।

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१.०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) रु०, इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. No. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	६-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१५-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	५-५०
श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	३-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।	७-००
कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२५ ००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : स० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री	प्रत्येक भाग ४०-००
जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रसंग : श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, सात विषयो पर शास्त्रीय तर्कपूर्ण विवेचन	२-००
परमाध्यात्म-तरंगिणी	प्रेस मे
Jaina Bibliography : Shri Chhotelal Jain, (An universal Encyclopaedia of Jain-References.) In two Vol. (P. 1942)	Per set 600-00

सम्पादन परामर्शदाता : **श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन,** सम्पादक : **श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**

प्रकाशक—बाबूलाल जैन वक्ता, वीरसेवामन्दिर के लिए मुद्रित, गीता प्रिंटिंग एजेन्सी, डी०-१०५, न्यूसीलमपुर, दिल्ली-५३

BOOK-POST